अंक : 64, भाग : 1, वर्ष : 2018-19
Vol. : 64, No. : 1, Year : 2018-19

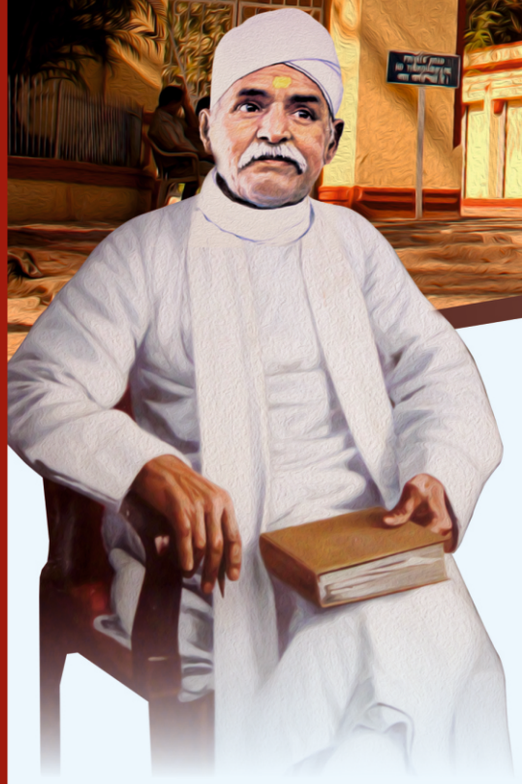

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका

प्रज्ञा

PRAJÑĀ

अंक : 64, भाग : 1, वर्ष : 2018-19
Vol. : 64, No. : 1, Year : 2018-19
प्रज्ञा PRAJÑĀ
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका

'प्रज्ञा' पत्रिका, अंक–63, भाग–2, वर्ष 2017–18 के 'योग, शिक्षा एवं सस्कृति विशेषांक' का लोकार्पण करते हुए कुलपति, प्रो. राकेश भटनागर

स्थान – हिन्दी भवन का सभागार, 29 अप्रैल, 2018 सायं 4:30 बजे
मध्य में – कुलपति, प्रो. राकेश भटनागर
कुलपति के दायें – प्रो. श्रीनिवास पाण्डेय, सम्पादक, 'प्रज्ञा' जर्नल एवं डॉ. सत्यपाल शर्मा, हिन्दी विभाग;
कुलपति के बायें – प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय, निदेशक, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा;
प्रो. कपिल लामिछाने, नेपाल एवं प्रो. वशिष्ठ द्विवेदी, हिन्दी विभाग।

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम् ।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ।।

भारतरत्न पं० मदन मोहन मालवीय जी

संस्थापक - काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

आविर्भाव : वि.सं. 1918 पौषकृष्ण 8 (25.12.1861)
तिरोभाव : वि.सं. 2003 मार्गशीर्षकृष्ण (12.11.1946)

Kul-Geet

ENGLISH TRANSLATION

SO SWEET, SERENE, INFINITELY BEAUTIFUL,
THIS IS THE PRESIDING CENTRE OF ALL LEARNING.

RADIANT KASHI, WONDER OF THE THREE WORLDS
TREASURE-CHEST OF JNANA, DHARMA AND SATYA
NESTLING ON GANGA'S BANK, CENTRE FOR ALL DISCIPLINES.
(SO SWEET, SERENE, INFINITELY BEAUTIFULY ....)

NO RECENT WORK OF BRICK AND STONE
PRIMORDIAL DESIGN OF DIVINITY ALONE
MANSIONS OF VIDYA, CENTRE FOR ALL CREATION.
(SO SWEET, SERENE, INFINITELY BEAUTIFULY ....)

CLEAR HERE IS THE DOCTRINE PURE
TRUTH FIRST, THEN ONLY ONE'S SELF
HOME OF HARISHCHANDRA, TRUTH'S TESTING GROUND.
(SO SWEET, SERENE, INFINITELY BEAUTIFULY ....)

THE VOICE OF GOD IN VEDIC RECORD
CONSTANT INSPIRATION FOR SOUL-ACCORD
WORK-SHOP OF VEDA VYASA, CENTRE FOR BRAHMA VIDYA.
(SO SWEET, SERENE, INFINITELY BEAUTIFULY ....)

FIND HERE THE STEPS TO FREEDOM
TREAD HERE THE PATH OF DHARMA
FLAMING TRAIL BUDDHA'S AND SHANKARA'S CENTRE FOR PHILOSOPHER KINGS.
(SO SWEET, SERENE, INFINITELY BEAUTIFULY ....)

LIFE-GIVING WATERS OF VARUNA AND ASSI
SUSTENANCE OF KABIR AND TULSI
FOUNTAINHEAD OF ELOQUENT SPEECH AND POETRY.
(SO SWEET, SERENE, INFINITELY BEAUTIFULY ....)

MUSIC, ECONOMICS, OTHER ARTS SO MANY
MATHS, MINING, MEDICINE AND CHEMISTRY]
FRATERNAL FORUM OF EAST AND WEST, UNIVERSITY IN TRUEST SENSE.
(SO SWEET, SERENE, INFINITELY BEAUTIFULY ....)

PATRIOTISM OF MALAVIYAJI
HIS INTREPIDITY AND ENERGY
ALL IN YOUTHFUL MANIFESTATION,
CENTRE FOR MEN OF ACTION

SO SWEET, SERENE, INFINITELY BEAUTIFUL,
THIS IS THE PRESIDING CENTRE OF ALL LEARNING.

Composed by the Eminent Scientist **Prof. Shanti Swarupa Bhatanagar, Deptt. of Chemistry, B.H.U.*

प्रो. राकेश भटनागर
कुलपति
Prof. Rakesh Bhatnagar Ph.D.
FNA, FASc, FNASc
Vice-Chancellor

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
Banaras Hindu University
(Established by Parliament by Notification No. 225 of 1916)
Varanasi–221005 (INDIA)
Phone : 91-542-2368938, 2368339
Fax : 91-542-2369100, 2369951
E-mail : vc@bhu.ac.in
Website : www.bhu.ac.in

३ मई २०१८

संदेश

मुझे यह जानकर अत्यंत प्रसन्नता हो रही है कि सन् १९५८ ई० से निरन्तर प्रकाशित हो रही अर्धवार्षिक शोध पत्रिका "प्रज्ञा" के वर्तमान अंक (अंक ६४, भाग १, वर्ष २०१८-१९) का प्रकाशन किया जा रहा है।

भारत रत्न महामना पंडित मदन मोहन मालवीय जी द्वारा स्थापित काशी हिन्दू विश्वविद्यालय भारतीय ज्ञान-विज्ञान एवं आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तन दृष्टि का एक अद्भुत संगम है। अपने ज्ञानदीप्त संस्थापक द्वारा पल्लवित-प्रतिपादित शिक्षा की समग्र और पवित्रतामूलक पद्धति को नूतन आयामों से जोड़कर यह विश्वविद्यालय युवा वर्ग के उन्नयन तथा उनकी सृजनात्मक प्रतिभा का संपोषण कर रहा है। शोध पत्रिका "प्रज्ञा" का प्रकाशन भी इसी क्रम में किया जा रहा एक प्रयास है। यह पत्रिका महामना के विचारों, संकल्पों एवं उनके आदर्शों का सफल निर्वहन करती चली आ रही है। "प्रज्ञा" के वर्तमान अंक में देश एवं विदेश के कई विद्वानों के हिन्दी, संस्कृत एवं अंग्रेजी भाषा में लिखे गये स्तरीय लेख संकलित किये गये हैं, जो न केवल वर्तमान परिवेश की अत्यंत ज्वलन्त समस्याओं के समाधान हेतु प्रेरणास्रोत सिद्ध होगें अपितु जिज्ञासु पाठकों में समादृत होगें और उससे पाठकगण भी लाभान्वित होंगे।

मैं शोध पत्रिका "प्रज्ञा" के वर्तमान अंक के संपादन एवं प्रकाशन से जुड़े समस्त लोगों को बधाई देता हूँ तथा इसके सफल प्रकाशन हेतु शुभकामनाएँ प्रेषित करता हूँ।

(राकेश भटनागर)

सम्पादकीय

बहुआयामी प्रतिभा एवं दूरदृष्टि से सम्पन्न भारत रत्न महामना पण्डित मदन मोहन मालवीय द्वारा संस्थापित यह महान विश्वविद्यालय उनकी अक्षय कीर्ति का साक्षात् विग्रह है। वे सच्चे राष्ट्रभक्त, स्वतंत्रता आंदोलन के अग्रगण्य राजनेता, भारत की राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के प्रबल समर्थक, भारत की मूल्यवान सांस्कृतिक परम्परा एवं धरोहर के संरक्षक तथा युग पुरूष एवं कालजयी चिंतक थे। उनकी हिन्दू धर्म में दृढ़ आस्था थी। उनका हिन्दू धर्म अत्यन्त उदार, व्यापक एवं सहिष्णु था, जिसमें सभी जातियों के प्रति प्रेम एवं सम्मान का भाव था। यही कारण था कि उन्होंने तत्कालीन संकीर्ण सोच वाले पुरोहितों एवं पण्डितों के विरोध के बावजूद हरिजनों का भी यज्ञोपवीत संस्कार कराया। वे सत्य एवं सदाचार के समर्थक व झूठ तथा कदाचार के विरोधी थे। उन्होंने **22 जुलाई 1936** ई0 को गीता प्रवचन के अवसर पर कहा था कि **''गाँव का मेहतर यदि सत्य बोलता है तो उसका आदर होता है और यदि कोई पण्डित है, झूठ बोलता है तो उसकी निन्दा होती है।''**

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से लगभग 60 वर्षों से निरन्तर प्रकाशित होने वाली अर्द्धवार्षिक शोध पत्रिका **'प्रज्ञा'** के वर्तमान अंक-64, भाग-1, वर्ष 2018-19 में कुल-49 (उन्चास) शोध प्रपत्र/लेख प्रकाशित हैं, जिनमें 41 लेख हिर्दी एवं संस्कृत भाषा में तथा 8 लेख अंग्रेजी भाषा में लिखे गये हैं। इसमें ज्ञान/विज्ञान के क्षेत्रों से सम्बन्धित अनेक स्तरीय लेख हैं, जिनमें धर्म एवं दर्शन, हिंदी भाषा एवं साहित्य, भाषा विज्ञान एवं लोक साहित्य, योग दर्शन एवं श्रवण धर्म, शिक्षा एवं संगीत शास्त्र, मूर्ति एवं चित्रकला, अथर्ववेद एवं ऋग्वेद, संस्कृत भाषा एवं साहित्य, संस्कृत व्याकरण एवं ज्योतिष, भारतीय संस्कृति एवं पुरातत्व, विधि एवं प्रबंध शास्त्र तथा वनस्पति विज्ञान एवं अंग्रेजी साहित्य आदि के विविध पक्षों से सम्बन्धित शोध प्रपत्र/लेख विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मेरा दृढ़ विश्वास है कि प्रस्तुत अंक भी गत अंकों की भाँति वृहद् पाठक वर्ग में समादरणीय होगा एवं लोगों की ज्ञान पिपासा को तृप्त करेगा।

'प्रज्ञा' के प्रस्तुत अंक-64, भाग-1, वर्ष 2018-19 के अवसर पर मैं सर्वप्रथम विश्वप्रसिद्ध वैज्ञानिक एवं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो. राकेश भटनागर के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। इनमें विद्या एवं प्रतिभा तथा विनय एवं शील का मणिकाञ्चन संयोग है। ये अपार बौद्धिक क्षमता एवं उदार मानवीय संवेदना से युक्त हैं। इनके जीवन संघर्ष, कर्त्तव्य परायणता, ज्ञान के प्रति गहरी ललक एवं विकट परिस्थितियों में अपराजेय रहने वाले व्यक्तित्व से हम सभी को पर्याप्त प्रेरणा एवं ऊर्जा मिलती है। तत्पश्चात कुलसचिव डॉ. नीरज त्रिपाठी, वित्त अधिकारी श्याम बाबू पटेल, परीक्षा नियन्ता डॉ. मनोज कुमार पाण्डेय एवं अन्य सभी अधिकारियों को उनके सकारात्मक सहयोग के लिए धन्यवाद व्यक्त करता हूँ। इस अंक को समृद्ध करने में जिन महानुभावों ने अपना शैक्षणिक योगदान दिया है उनके प्रति मैं आभार ज्ञापित करता हूँ। मैं बी.एच.यू. प्रेस के प्रभारी प्रो. राकेश रमन को पत्रिका के मुद्रण हेतु शुक्रिया अदा करता हूँ। अन्त में मैं **'प्रज्ञा'** कार्यालय के सभी सहयोगियों श्री राजेश कुमार, श्री जयप्रकाश एवं श्री अशोक कुमार को उनके सकारात्मक एवं सक्रिय सहयोग हेतु साधुवाद देता हूँ।

(प्रो. श्रीनिवास पाण्डेय)
सम्पादक, 'प्रज्ञा' जर्नल
28 सितम्बर 2018

प्रज्ञा

PRAJÑĀ

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

अंक 64, भाग 1

वर्ष 2018-19

Published
by
The Banaras Hindu University

PRAJÑĀ
(Journal of the Banaras Hindu University)
Vol. 64 No. 1, 2018-19
ISSN 0554-9884

© Banaras Hindu University
April - 2018

All correspondence should be addressed to
The Editor 'PRAJÑĀ'
BANARAS HINDU UNIVERSITY
VARANASI - 221 005

Printed at
B.H.U. Press
BANARAS HINDU UNIVERSITY

प्रज्ञा

मुख्य संरक्षक : प्रो0 राकेश भटनागर

कुलपति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

संरक्षक मण्डल

प्रो. विजय कुमार शुक्ला
निदेशक, चिकित्सा विज्ञान संस्थान

प्रो. ए0 वैशम्पायन
निदेशक, कृषि विज्ञान संस्थान

प्रो. राजकुमार
निदेशक, प्रबन्ध शास्त्र संस्थान

प्रो. संध्या सिंह कौशिक
प्राचार्या, महिला महाविद्यालय

प्रो. जय कान्त तिवारी
प्रमुख, सामाजिक विज्ञान संकाय

प्रो. सी0 पी0 मल्ल
प्रमुख, वाणिज्य संकाय

प्रो. राजीव संगल
निदेशक, भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान (बी.एच.यू.)

प्रो. नवीन कुमार
निदेशक, विज्ञान संस्थान

प्रो. कविता शाह
निदेशक, पर्यावरण एवं
धारणीय विकास संस्थान

प्रो. चन्द्रमा पाण्डेय
प्रमुख, संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय

प्रो. देवेन्द्र कुमार शर्मा
प्रमुख, विधि संकाय

सम्पादक मण्डल

प्रो. राधेश्याम राय
हिन्दी विभाग, कला संकाय

प्रो. सदाशिव कुमार द्विवेदी
संस्कृत विभाग, कला संकाय

प्रो. देवेन्द्र कुमार
सिरामिक अभियांत्रिकी विभाग,
भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान (बी.एच.यू.)

प्रो. आनन्द प्रसाद मिश्र
भूगोल विभाग, विज्ञान संस्थान

डॉ0. ज्ञान प्रकाश मिश्र
पत्रकारिता एवं जनसम्प्रेषण विभाग,
कला संकाय

प्रो. जय शंकर झा
अंग्रेजी विभाग, कला संकाय

प्रो. राघवेन्द्र प्रताप सिंह
राजनीति विज्ञान विभाग,
सामाजिक विज्ञान संस्थान

प्रो. कमल नयन द्विवेदी
द्रव्यगुण विभाग, आयुर्वेद संकाय,
चिकित्सा विज्ञान संस्थन

प्रो. मिथिलेश कुमार पाण्डेय
अंग्रेजी विभाग, कला संकाय

डॉ. शत्रुघ्न त्रिपाठी
ज्योतिष विभाग,
संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय

सम्पादक

प्रो. श्रीनिवास पाण्डेय

प्रमुख, कला संकाय

कुलगीत

मधुर मनोहर अतीव सुन्दर, यह सर्वविद्या की राजधानी ।
यह तीन लोकों से न्यारी काशी ।
सुज्ञान धर्म और सत्यराशी ।।
बसी है गंङ्गा के रम्य तट पर, यह सर्वविद्या की राजधानी । मधुर० ।।

नये नहीं हैं ये ईंट पत्थर ।
है विश्वकर्मा का कार्य सुन्दर ।।
रचे हैं विद्या के भव्य मन्दिर, यह सर्वसृष्टी की राजधानी । मधुर० ।।

यहाँ की है यह पवित्र शिक्षा ।
कि सत्य पहले फिर आत्म-रक्षा ।।
बिके हरिश्चन्द्र थे यहीं पर, यह सत्यशिक्षा की राजधानी । मधुर० ।।

वह वेद ईश्वर की सत्यबानी ।
बनें जिन्हें पढ़ के ब्रह्मज्ञानी ।।
थे व्यास जी ने रचे यहीं पर, यह ब्रह्म-विद्या की राजधानी । मधुर० ।।

वह मुक्तिपद को दिलानेवाले ।
सुधर्मपथ पर चलाने वाले ।।
यहीं फले-फूले बुद्ध शंकर, यह राज-ऋषियों की राजधानी । मधुर० ।।

सुरम्य धाराएँ वरुणा अस्सी ।
नहाए जिनमें कबीर तुलसी ।।
भला हो कविता का क्यों न आकर, यह वागविद्या की राजधानी । मधुर० ।।

विविध कला अर्थशास्त्र गायन ।
गणित खनिज औषधि रसायन ।।
प्रतीचि-प्राची का मेल सुन्दर, यह विश्वविद्या की राजधानी । मधुर० ।।

यह मालवी की है देशभक्ति ।
यह उनका साहस यह उनकी शक्ति ।।
प्रकट हुई है नवीन होकर, यह कर्मवीरों की राजधानी ।
मधुर मनोहर अतीव सुन्दर, यह सर्वविद्या की राजधानी ।।

- डॉ. शान्ति स्वरूप भटनागर

★

विषय-सूची

1. स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि में मानव-एकता का आदर्श 1
अश्वनी कुमार एवं प्रो. श्रीप्रकाश पाण्डेय

2. विदेशी (विशेषतः योरोपीय, सविशेषतः अंग्रेजी भाषी) भाषावैज्ञा- 7
निकों द्वारा की गई, देशी (भारतीय),भाषाओं की सराहनीय सेवाएँ
डॉ. महेन्द्र नाथ दुबे

3. 'निराला' साहित्य के विविध आयाम और डॉ0 रामविलास शर्मा 16
की आलोचना दृष्टि
श्रृतम्भरा तिवारी एवं प्रो. बलिराज पाण्डेय

4. घनानन्द : साक्षात् रसमूर्ति 21
प्रो. रामकली सराफ

5. वर्तमान परिवेश की चुनौतियाँ और समकालीन हिन्दी कविता 36
अभिषेक कुमार सिंह एवं प्रो. श्रीनिवास पाण्डेय

6. लोक साहित्य का सामाजिक, सांस्कृतिक व राष्ट्रीय चेतना 41
में महत्त्व
शिव कुमार राय एवं प्रो. राधेश्याम राय

7. महामना पं0 मदन मोहन मालवीय की शिक्षा-दृष्टि 44
सूर्य प्रकाश गोंड एवं डॉ. दीपा मेहता

8. प्राचीन भारतीय योग दर्शन का स्वरूप 50
डॉ. अनुराधा सिंह

9. विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों के शैक्षिक वातावरण को 55
कैसे बेहतर बनायें?
प्रो. सिद्ध नाथ उपाध्याय

10. धनानन्द के काव्य में प्रेम और भक्ति-तत्व 62
डॉ. राकेश कुमार द्विवेदी

11. कबीर के काव्य में प्रेमतत्व 68
उत्कर्ष कुमार मिश्र एवं प्रो. राधेश्याम राय

12. श्रमण धर्मों में लेश्या सिद्धान्त : एक मनोवैज्ञानिक एवं 71
नैतिक विमर्श
जुली सिंह एवं डॉ सतीश चन्द्र दूबे

13. वैदिक काल में जल संरक्षण 76
डॉ. रंजीत प्रताप सिंह

14. ईश्वर *विचार : केनोपवाक्यभाष्य* 79
डॉ. मिथिलेश पाण्डेय

15. भारतीय संगीत : एक अध्ययन 82
जागृति पाठक एवं प्रो. विरेन्द्रनाथ मिश्र

16. उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत का वर्तमान स्वरूप 88
डॉ. भीमसेन सरल

17. शमशेर बहादुर सिंह की कविता में प्रगतिवादी तत्व 95
प्रो. राधेश्याम राय एवं आनन्द कुमार सिंह

18. कबीर,तुलसी,धूमिल एवं केदारनाथ सिंह की कविताओं में 98
प्रयुक्त भोजपुरी के शब्दों की सांस्कृतिक
चेतना और उसका अर्थ गाम्भीर्य
उज्ज्वल सिंह एवं प्रो. श्रीनिवास पाण्डेय

19. बाङ्ला-विभूति शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय महासम्मान पर उफन 104
पड़ी महावेदना
प्रो. एम.एन. दुबे

20. योग एवं शिक्षा की विद्यार्थियों हेतु उपादेयता : 114
सम्प्रत्यात्मक अनुशीलन
विरेन्द्र कुमार सिंह एवं डॉ. आलोक गार्डिया

21. कलाभास नायिका (छवि) का चित्र पक्ष 118
प्रो. दीप्ति प्रकाश मोहन्ती एवं डॉ. राजेश कुमार शुक्ल

22. सूर और तुलसी के काव्य में नारी 125
डॉ. सत्यपाल शर्मा

23. वर्तमान परिप्रेक्ष्य में मन्नू भण्डारी के उपन्यासों की प्रासंगिकता 132
नेहा यादव एवं प्रो. राधेश्याम राय

24. जनकल्याण हेतु अशोक द्वारा नियुक्त दक्ष अधिकारी तन्त्र की 136
भूमिका (एक अभिलेखीय अध्ययन)
कृष्णा सिंह एवं प्रो. सुमन जैन

25. समकालीन भारतीय कला में अमूर्तन 141
शालिनी सिंह एवं प्रो. अजय कुमार सिंह

26. नज़ीर : बनारसी बनाम अकबराबादी 146
डॉ. राकेश कुमार राम

27. बलात्कार : देवी स्वरूपा नारी के साथ घृणित अपराध के 153
निवारण हेतु संवैधानिक एवं मानवाधिकार तथा दण्डात्मक...
डॉ. अशोक तिवारी

28. नरेश मेहता के काव्य में बिम्ब विधान 158
डॉ. प्रेम निवास सिन्हा

29. श्रमण संस्कृति 167
अपर्णा पाण्डेय तिवारी एवं डॉ. सचिन कुमार तिवारी

30. मानवीय सम्बन्धों का आदर्श और रामचरितमानस 174
प्रो. आर. एस. राय एवं डॉ. अपर्णा पाण्डेय

31. पुराणों में नारी शिक्षा-विमर्श 178
नागमणि त्रिपाठी एवं प्रो. युगल किशोर मिश्र

32. अथर्ववेद में आयुर्वेद के विभिन्न आयाम 182
संगीता आर्या एवं प्रो. मनुलता शर्मा

33. नैषधीयचरितम् के आलोक में श्रीहर्ष का वेदविषयक-पाण्डित्य 186
डॉ. शिल्पा सिंह

34. मृच्छकटिकम् के आलोक में निर्धनता एक अभिशाप 192
किरन प्रकाश एवं डॉ. प्रदीप कुमार

35. संस्कृत रूपकों में वर्णित ''कञ्चुकी'' का अध्ययन 195
डॉ. प्रदीप कुमार

36. महामना पण्डित मदनमोहन मानवीय जी का संस्कृत प्रेम 198
डॉ. राजेश सरकार

37. ऋग्वेद में संगीत 202
चार्वी वर्मा एवं प्रो. बिरेन्द्रनाथ मिश्र

38. पाणिनिकृतसूत्रेषु सूक्तिविमर्शः 207
डॉ. भूपेन्द्रकुमार ओझा एवं प्रो. भगवत्शरणशुक्लः

39. ग्रहाणां मन्दस्पष्टीकरणविमर्शः 211
अश्विनीपाण्डेय एवं प्रो.. विनयकुमारपाण्डेय

40. विश्वरूपतया भाति विश्वोत्तीर्णमहेश्वरः 217
डॉ. सिद्धिदात्री भारद्वाज

41. वानप्रस्थाश्रमविमर्शः 221
डॉ. सन्तोषकुमारतिवारी

42. Roots of Indian Culture and Holistic way of Life and Living in Ancient India: A Study 226
Dr. Ashok Kumar Singh

43. Traditional Methods of Water Resource Management in Ancient India 230
Dr. Vinay Kumar

44. Vision of Swami Vivekanand in Musical Spiritual and Personality Development 237
Smriti Shukla And Prof. K. Shashi Kumar

45. An Introduction to Phosphoproteomics: Techniques for Detection and Identification of ... 242
Dr. Aditya Abha Singh and Prof. S.B. Agrawal

46. Regulation of Prokaryotic Transcription 247
A. Srivastava, R. Mondal, S. Yadav, S. Biswas & Dr. Yogesh Mishra

47. Understanding Creativity 252
Dr. Sanjukta Ghosh

48. Interpretation Issues of Polysemous Particales 255
Dr. Anil Thakur

49. Human-Animal Studies: An Emerging Field of Study 258
Prof. Jai Shankar Jha And Subodh Mahato

50. **''प्रज्ञा'' : नियम एवं निर्देश** 49

चित्र एवं आवरण परिकल्पनाः श्री कृष्णा सिंह, एम.एफ.ए. 2016
दृश्य कला संकाय, का0हि0वि0वि0

आवश्यक सूचना : **''प्रज्ञा''** पत्रिका के इस अंक में छपे हुए सभी लेखों/शोध-प्रपत्रों में व्यक्त विचार लेखकों के स्वयं के विचार हैं। उनसे सम्पादक, प्रकाशक अथवा विश्वविद्यालय प्रशासन का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि में मानव-एकता का आदर्श

अश्वनी कुमार एवम् प्रो. श्रीप्रकाश पाण्डेय***

यदि दर्शन जीवन और जगत् को उसकी समग्रता में देखने का प्रयास है, तो इस समग्रता में एकता का सूत्र ढूँढ़कर जीवन को दिव्य एवं आनन्दमय बनाना आदिकालीन मानवीय-अभीप्सा रही है। यह अभीप्सा जीवन के तमाम संघर्षों, द्वन्द्वों एवं परिस्थितियों के थपेड़े सहते हुए भी अपनी मूलेच्छा से कभी विचलित नहीं हुई। कभी-कभी व्यवहार एवं परमार्थ, यथार्थ एवं आदर्श, भौतिकता एवं आध्यात्मिकता जैसे तमाम द्वन्द्वों ने उसको उसकी इस मूलेच्छा से विचलित करने का बौद्धिक प्रयास किया है, तथापि इसमें ऐसा कुछ तो अवश्य है, जो उसके स्वरूप में ही निहित है और जिसके कारण वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, विविधताओं में, उस मूलेच्छा की पृष्ठभूमि में एकता का सूत्र ढूँढ़ता है। उसे विश्वास है कि अन्त:करण पूत उसकी ऋषि-परंपरा ने इसे पाया है एवं अपने वंशजों के लिए इसके प्राप्ति का व्यावहारिक-आनुभविक मार्ग भी प्रशस्त किया है। इसी पृष्ठभूमि पर विकसित भारतीय पुनर्जागरण काल के महान विचारक स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि भी कुछ ऐसी ही व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक एकता के सूत्रों को ढूँढ़ने की रही है, जो अपने भीतर निहित उस ऋषि-ज्ञान-बीज के विस्तारित एवं फलवती होने की प्रक्रिया में संरचित है, केवल अपने लिए ही नहीं, समष्टि के लिए भी। उनकी यह दृष्टि वैदिक ऋषियों की उस कामना को चरितार्थ करने की है, जिसे 'सर्वे भवन्तु सुखिन:' एवं 'वसुधैव-कुटुंबकम्' के रूप में वे चाहते थें। अत: वह ऋषियों की जीवन के प्रति उक्त मंगलदायी कामना के स्वरूप को मनुष्य के मूलभूत स्वरूप से एकीकृत करते हुए मानव के चरम भाग्य का निर्धारण करते हैं एवं इस कामना के विस्तार को मनुष्य की स्वयं की चेतना के विस्तार के रूप में देखते हैं। उन्हीं के शब्दों में – ''कामना का यह विस्तार वास्तव में मनुष्य की अपनी ही असीमता का चिह्न है। चूँकि वह असीम है, इसलिए वह केवल तभी संतुष्ट किया जा सकता है, जब उसकी कामना असीम हो और उसकी परितुष्टि भी असीम हो।''[१]

यद्यपि विवेकानन्द के दार्शनिक-चिन्तन पर आचार्य शंकर प्रवर्तित अद्वैत-वेदान्त का गहरा प्रभाव रहा है, परन्तु उनकी अपनी मौलिकता अद्वैत-वेदान्त के विचारों को समय की मांगों के अनुरूप अर्थनिरूपित करने में रही है। विवेकानन्द अपनी इस मौलिकता का प्रयोग मानव-जीवन की न केवल तत्वमीमांसीय अपितु व्यावहारिक समस्याओं के समाधान में भी करते हुए दिखलायी पड़ते हैं। इस सन्दर्भ में जहाँ एक तरफ वह सैद्धान्तिक-दृष्टि से जीवन को प्रयोजनपूर्ण मानते हुए उसमें अन्तर्निहित मूल्यों की खोज कर उन्हें आदर्श के अनुरूप उच्च बनाने की अनुशंसा करते हैं, वहीं दूसरी तरफ व्यावहारिक दृष्टि से उन्नीसवी शताब्दी में क्षीण होते भारतीय जीवन-मूल्यों की समय और परिवेश के अनुरूप सकारात्मक एवं नवीन व्याख्या करके उन्हें पुनरूज्जीवित करने की अथक चेष्टा भी करते हैं। यदि हम इन प्रशंसनीय प्रयासों के मूल में उनके सृजनशील व्यक्तित्व का अवलोकन करें, तो हम पायेंगे कि उनकी सतर्क बुद्धि और संवेदनशील हृदय ने उन्हें उन तमाम चीजों को आत्मसात करने के लिए प्रेरित किया, जो किसी भी विचारधारा में निहित विधायकता का प्रतिनिधित्व करने में सक्षम थीं। उदाहरणस्वरूप यूरोपीय विज्ञान, उदारतावाद तथा राजनीतिक और समाजशास्त्रीय साहित्य में अभिव्यक्त पश्चिमी समाज के जनतांत्रिक रूप ने जहाँ उन्हें भारत की पिसती हुई गरीबी, दीनता, सामाजिक पिछड़ेपन और मानसिक जड़ता को देखने तथा भारत को उससे उबारने की प्रेरणा प्रदान की, वहीं उनके गुरू रामकृष्ण परमहंस द्वारा प्रदत्त प्राच्य आध्यात्मिक मूल्यों की समझ ने उन्हें भारत की सांस्कृतिक संपदा, उसकी परंपराओं की शक्ति, उसकी ग्रहणशीलता और उसकी निहित आध्यात्मिक ऊर्जा को पहचानने की शक्ति प्रदान की। इस प्रकार स्वामी जी के व्यक्तित्व की इस विशेषता ने उन्हें भारतीय पुनर्जागरण काल में संस्कृति एवं राष्ट्र के अन्तर्संवाद को स्थापित करने का एक सशक्त माध्यम बना दिया, जिसकी महत्ता को महसूस करते हुए राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर ने उन्हें सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के पिता की उपाधि से अलंकृत किया। राष्ट्रकवि दिनकर के अनुसार- ''भारत में सांस्कृतिक राष्ट्रीयता पहले उत्पन्न हुई, राजनैतिक राष्ट्रीयता बाद को जन्मी है और इस सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के पिता स्वामी विवेकानन्द थें।''[२] अत: इस तथ्य को इन्कार नही किया जा सकता कि स्वामी विवेकानन्द के समन्वयवादी दृष्टिकोण तथा प्रवृत्तिपरक चिन्तन-शैली ने भारतीय पुनर्जागरण काल को उचित ओर पर्याप्त मार्गदर्शन देने में

* शोध छात्र, दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
** प्रोफेसर, दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। किन्तु इस भूमिका का महत्व तब और भी बढ़ जाता है, जब हम वर्तमान जीवन की जटिल समस्याओं से जूझते हुए इनसे निजात पाने हेतु स्वामी विवेकानन्द के विचारों को एक सार्थक विकल्प के रूप में प्रस्तुत पाते हैं। इसलिए इस रूप में आज भी विवेकानन्द के विचार प्रासंगिक बने हुए हैं।

आज जब हम विकास की दृष्टि से मनुष्य का मूल्यांकन करते हैं, तो जहाँ एक तरफ उसके भौतिक एवं बौद्धिक पक्ष की समृद्धि हमें अपार खुशी प्रदान करती है, वहीं दूसरी तरफ उसके व्यक्तित्व में आयी मूल्यात्मक गिरावट हमें बेहद निराश भी करती है। यह निराशा तब और भी प्रबल हो जाती है, जब वह जीवन जीने की कला से भी स्वयं को जाने-अनजाने अलग कर लेता है। कुछ ऐसी ही एक समस्या आज उसमें जीवन के प्रति धुँधली दृष्टि होने के कारण देखने को मिल रही है, जिसके अन्तर्गत उसने प्रकृति-प्रदत्त भेदों को मिटाने के मूढ़तापूर्ण प्रयासों में अपने जीवन के अन्तर-संगीत को बाधित कर दिया है, जीवन के रस से स्वयं को वंचित कर लिया है। इस समस्या के संबंध में मुख्यत: वर्ण-व्यवस्था के मनोवैज्ञानिक भेद और स्त्री-पुरूष के जैविक भेद को समाप्त करने के निमित्त किए जाने वाले प्रयास विशेष रूप से कष्टदायक हैं, जिनके विवरणों एवं दुष्प्रभावों को आधुनिक चिन्तक आचार्य रजनीश (OSHO) का यह वक्तव्य स्पष्टत: सूचित करता रहा है- ''स्त्री और पुरूष का साइकोलॉजिकल भेद है। शूद्र और वैश्य का मनोवैज्ञानिक भेद है, स्त्री और पुरूष का जैविक भेद है। लेकिन हमने भेद तोड़ने को तय कर रखा है। हम भेद को इनकार करने को उत्सुक हैं। तो हमने पहले वर्णों को तोड़ने की कोशिश की सारी दुनिया में। एक तो सारी दुनिया में वर्ण बहुत स्पष्ट नहीं थें, सिर्फ इसी मूल्क में थें। हमने उनको तोड़ने की कोशिश की। हमने करीब-करीब उनको जराजीर्ण कर दिया। अब एक दूसरा जैविक भेद है स्त्री-पुरूष का, उसको भी तोड़ने की कोशिश की जा रही है। तो एक बहुत मजेदार घटना यह घट रही है कि लड़कियाँ यूरोप और अमेरिका में लड़कों के कपड़े पहन रही हैं और लड़के लड़कियों जैसे बाल बढ़ा रहे हैं। दोनों करीब आ रहे हैं। बायोलॉजिकल भेद तोड़ने की कोशिश चल रही है। लेकिन इससे क्या होगा? इससे क्या भेद टूट जाएगा? इससे भेद नहीं टूटेगा; सिर्फ लड़कियाँ कम लड़कियाँ हो जाएंगी, और लड़के कम लड़के हो जाएंगे, और दोनों के बीच जो फासले से, भेद से, जो रस पैदा होता था, वह क्षीण हो जाएगा। इसलिए आज यूरोप और अमेरिका में लड़के और लड़की के बीच से रोमांस विदा हो रहा है, रोमांस नहीं है। हो नहीं सकता। वह भेद पर निर्भर है। जितना भेद है, उतना रस है। जितना भेद टूटा, उतना रस टूट जाता है।''[३]

उपर्युक्त समस्या का समाधान हम विवेकानन्द के दर्शन से प्राप्त कर सकते हैं, जहाँ वह भेद में अभेद की तलाश पर बल देते हैं। इस सन्दर्भ में उनके अनुसार वेदांत का मूल मन्त्र विशुद्ध एकत्व नहीं बल्कि बहुत्व में एकत्व है, जिसके कारण ही वह वर्ण-व्यवस्था का समर्थन करते हैं। चूँकि उन्हें इस बात की भली-भाँति अवगति थी कि वर्ण की व्यवस्था भेद को स्वीकृति प्रदान करते हुए गुण व कर्म के आधार पर समाज का विभाजन करती है, न कि जन्म के आधार पर, इसलिए उन्होंने इसकी इस मनोवैज्ञानिकता को दृष्टिगत रखते हुए ही अपना निम्न अभिमत प्रकट किया था – ''जाति-व्यवस्था का नाश नहीं होना चाहिए, उसे केवल समय-समय पर परिस्थितियों के अनुकूल बनाया जाना चाहिए। हमारी पुरानी व्यवस्था के भीतर इतनी जीवनी-शक्ति है कि उससे दो लाख नयी व्यवस्थाओं का निर्माण किया जा सकता है। जाति-व्यवस्था को मिटाने की बात करना कोरी बुद्धिहीनता है। नयी रीति यह है कि-पुरातन का विकास हो।''[४]

वस्तुत: मनुष्य आज भेद में अभेद की तलाश तो कर रहा है, परन्तु भेद की स्वीकृति को नकारते हुए और जब तक वह इस अस्वीकृति में एकत्व की तलाश करेगा, उसके जीवन में कोई वास्तविक प्रगति नहीं हो सकेगी, उसका जीवन रसमय व आनन्दयुक्त नहीं हो सकेगा, क्योंकि विवेकानन्द के अनुसार बहुत्व में एकत्व मानव-जाति का वह आदर्श है, जो वैषम्य की नैसर्गिक अनिवार्यता की स्वीकृति में ही प्राप्त किया जा सकता है। यह वैषम्य जीवन की मूल भित्ति है। इसके अभाव में जीवन का विकास संभव नहीं है। इस वैषम्य की महत्ता को अपने सार्वभौम-धर्म की अवधारणा में रेखांकित करते हुए वह कहते है-''जैसे हम सब ने स्वाभाविक रूप से एकत्व को स्वीकार किया है, उसी प्रकार हमको वैषम्य भी स्वीकार करना पड़ेगा। हमको यह शिक्षा लेनी होगी कि एक ही सत्य का प्रकाश लाखों प्रकार से होता है और प्रत्येक भाव ही अपनी निर्दिष्ट सीमा के अन्दर प्रकृत सत्य है।''[५]

आज समाज जिन विभेदकारी चुनौतियों से जूझ रहा है, शांति की तलाश में अशांति का बीज वपन कर रहा है एवं मानवता की कीमत पर उसका फल परोसने के लिए उद्यत है, क्या यह उसके मूल स्वरूप के अनुकूल है? क्या वह वैयक्तिक जीवन में भी इसकी अपेक्षा करता है? यदि नहीं, तो आज उसे मैथिलीशरण गुप्त की कविता की उन पंक्तियों पर विचार करना ही होगा-

''हम कौन थें, क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी,
आओ, विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी।।''[६]

वस्तुत: ये समस्याएँ व्यक्तिगत हैं ही नहीं, समष्टिगत हैं। ऐसा भी नहीं है कि इन समस्याओं से मुक्ति पाने का प्रयास न

हुआ हो। राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बने अनेक धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक संगठनों ने समय-समय पर इसके समाधान का प्रयास भी किया है, तथा उनका वह प्रयास ऊँट के मुँह में जीरा ही साबित हुआ है। भूख, गरीबी, लाचारी, बेबसी में तड़पती मानवता के प्रति असंवेदनशीलता ने आज हमें इस कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है कि अब हम इसका भी सौदा करने लगे हैं और वैश्विक –स्तर पर प्राप्त पुरस्कारों के दंभ में उन्मत्त हैं। यह वर्तमान जीवन की एक कड़वी सच्चाई है, लेकिन क्या मानवीय-जीवन की भी यही सच्चाई है?शायद नहीं।

आज वैज्ञानिक चमत्कारों एवं वैश्वीकरण के स्वप्निल प्रलोभनों ने चेतन मनुष्य को अचेतन वस्तु की तरह क्रय-विक्रय की वस्तु बना दिया है एवं उसकी अर्थ-पिपासा ने उसे अधिकतम आर्थिक-पैकेजों पर बिकने को मजबूर कर दिया है। अब तो संसार में मानवता के भी तथाकथित व्यापारी पैदा हो गए हैं और ये व्यापारी कहीं धर्म के नाम पर, कहीं संप्रदाय के नाम पर, कहीं राष्ट्रीयता , तो कहीं भौगोलिक परिधियों की अस्मिता के नाम पर इसका आर्थिक व्यापार करने लगे हैं। इन सभी वैश्विक परिस्थितियों के साथ अपने इतिहास के काले धब्बों को लेकर मानवता कब तक शर्मसार होती रहेगी? इस विचारणा का समय अब आ गया है। अब समय आ गया है, एकता के उन सूत्रों को ढूँढ़ निकालने का, जो इस शर्मसार मानवता से हमें मुक्ति दिला सकें एवं ऐसे इतिहास के स्याह पन्नों को श्वेत –शांति में बदल सकें।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि विविध देशों में उठने वाली सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक क्रांतियों ने इस शर्मसार मानवता से मुक्ति पाने का प्रयास किया है, चाहे वह यूरोप में चर्च के विरूद्ध, अफ्रीका में रंग-भेद के विरूद्ध तथा भारत में सती प्रथा या अस्पृश्यता आदि के विरूद्ध जन-आंदोलन के रूप में ही क्यों न हो। भारतीय पुनर्जागरण काल तो अपनी उक्त विशेषता का ऐसा संवाहक रहा है, जिसने सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में ऐसे महापुरूषों को पैदा किया, जिनके व्यक्तित्व को देखकर सहसा विश्वास नहीं होता कि एक ही व्यक्ति में जीवन की पूर्णता के सभी सूत्र भला कैसे संभव हो सकते है। उदाहरण के लिए प्राय: सभी समकालीन भारतीय दार्शनिकों में जितनी राजनीतिक स्वतंत्रता की चाह है, उससे कहीं अधिक आध्यात्मिक स्वतंत्रता की भी है। उनके लिए स्वतंत्रता मनुष्य की, उसके राष्ट्र की, संपूर्ण मानवता की वह गरिमा है, जो उसे स्वयं या उसे उसके राष्ट्र के रूप में एवं अन्तत: वैश्विक एकता के सूत्र के रूप में अवश्य ही मिलनी चाहिए। स्वामी विवेकानन्द की वैश्विक धर्म की चाह इस स्वतंत्रता का अवान्तर रूप है। चूँकि यह स्वतंत्रता उनकी दृष्टि में मानव का स्वरूप भी है तथा उनका चरम आदर्श भी, अत: मानव तात्त्विक दृष्टि से तथा अस्तित्व की दृष्टि से भी स्वतंत्र है। स्पष्ट अर्थों में वह स्वाधीनता के उच्चतम रूप का प्रतिनिधि है। इसीलिए स्वामी विवेकानन्द के चिन्तन का केन्द्र-बिन्दु न आकाश में स्थित कोई अतीन्द्रिय सत्ता है और न ही हृदय में विराजमान कोई देवता, बल्कि यदि कोई है, तो वह है- इस धरा का मानव, उसकी समस्याएँ तथा उसमें छिपी संभावनाएँ, जिसे वे मानव-एकता के रूप में उभरते हुए देखना चाहते हैं। उनके अनुसार – ''मानवात्मा कुछ ऐसी चीज पाने की इच्छा करती है, जो अचल हो- अविनाशी हो। शरीर और मन, यही क्या, नाना रूपात्मक समस्त प्रकृति ही अनवरत परिवर्तनशील है। पर हमारी अन्तरात्मा की सर्वोच्च अभीप्सा यही है कि उसे कुछ ऐसा प्राप्त हो जाए, जिसका परिवर्तन नहीं होता, जो चिर पूर्णता को पा चुकी हो। और यही है उस असीम के लिए मानवता की अभीप्सा। हमारा नैतिक और मानसिक विकास जितना ही सूक्ष्मतर होता जाएगा, उस अपरिवर्तनशील शाश्वत सत्ता के प्रति हमारी अभीप्सा भी उतनी ही दृढ़ होती जाएगी।''[७]

स्वामी विवेकानन्द इस मानव-अभीप्सा की पूर्ति में धर्म की भूमिका को विशेष महत्व प्रदान करते हैं । वे धर्म को मानव-जीवन के एक ऐसे अनिवार्य पक्ष के रूप में देखते हैं, जो मनुष्य को उसकी ऐन्द्रिक एवं बौद्धिक चेष्टाओं से ऊपर उठाकर उसे उसके मूल स्वभाव में प्रतिष्ठित करता है। किन्तु जब वह धर्मों के इतिहास का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करते हैं, तो पाते हैं कि धर्मों ने जितना बड़ा योगदान मानव-जाति के उत्थान के लिए दिया है, उतना ही बड़ा योगदान उसके पतन के लिए भी दिया है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए वे कहते है- ''अब हम देखते हैं कि यद्यपि मानव-जीवन में धर्म ही सर्वाधिक शान्तिदायी है, तथापि धर्म ने ऐसी भयंकरता की सृष्टि की है, जैसी कि किसी दूसरे ने नहीं की थी। धर्म ने ही सर्वापेक्षा अधिक शांति और प्रेम का विस्तार किया है और साथ ही धर्म ने सर्वापेक्षा भीषण घृणा और विद्वेष की भी सृष्टि की है। धर्म ने ही मनुष्य के हृदय में भ्रातृभाव की प्रतिष्ठा की है, साथ ही धर्म ने मनुष्यों में सर्वापेक्षा कठोर शत्रुता और विद्वेष का भाव भी उद्दीप्त किया है। धर्म ने ही मनुष्यों और पशुओं तक के लिए सबसे अधिक दातव्य चिकित्सालयों की स्थापना की है और साथ ही धर्म ने ही पृथ्वी में सबसे अधिक रक्त की नदियाँ प्रवाहित की है।''[८] अत: ऐसी स्थिति में वे एक ऐसे धर्म की आवश्यकता का अनुभव करते हैं, जो अपने स्वरूप व संरचना में इस तरह का हो, जिससे मानव-जाति में आपसी संघर्ष की स्थिति उत्पन्न न हो, जो हर प्रकार की मानसिक अवस्था वाले लोगों के लिए उपयोगी हो। इस सन्दर्भ में अपने दार्शनिक चिन्तन की प्रक्रिया द्वारा वे अन्तत: इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ऐसा धर्म तो वस्तुत: पहले से ही विद्यमान है, अस्तु हमें इसे स्थापित करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। वह इस धर्म को सार्वभौम धर्म की संज्ञा से विभूषित करते हैं। वह

कहते हैं कि – ''जिस प्रकार विश्व-बन्धुत्व के संबंध में कहा जा सकता है कि विश्व-बन्धुत्व वास्तविकता है, उसी प्रकार सार्वभौम धर्म के संबंध में कहा जा सकता है कि वह भी वास्तविकता है। विश्व-बन्धुत्व एक तात्विक तथ्य है, मानवमात्र में एक मौलिक एकत्व है, यह और बात है कि अधिकाँश व्यक्तियों को उसकी चेतना नहीं है। उसी प्रकार 'सार्वभौम धर्म' भी एक वास्तविकता है, भले ही बहुत से व्यक्तियों को उसकी अवगति नहीं है।''[९]

इस 'सार्वभौम धर्म' से विवेकानन्द का आशय किसी ऐसे धर्म से नहीं है, जिसका दर्शन सार्वभौम हो या जिसकी पौराणिकता (मिथक) सार्वभौम हो या जिसकी अनुष्ठान-पद्धति सार्वभौम हो। उन्हें ज्ञात है कि कोई सार्वभौम दर्शन, सार्वभौम मिथक तथा सार्वभौम अनुष्ठान-पद्धति संभव ही नहीं है। इसलिए वे मानते है कि यह कोई अलग कोटि का सर्वथा अनूठा धर्म नहीं है, बल्कि यह एक ऐसा धर्म है जो वस्तुत: प्रत्येक धर्म में उसकी आत्मा के रूप में सदा से विद्यमान है। यह समस्त धर्मों के धार्मिक-बाह्याचार, रूढ़िवाद और अन्धविश्वास से रहित उनके आंतरिक स्वरूप को अभिव्यक्त करने वाली वह दृष्टि है, जो जीवन्त और सार्वकालिक है। केवल कुछ धर्मान्ध लोगों द्वारा समय-समय पर अपने स्वार्थ-सिद्धि के निमित्त इसके प्रकाश में निरंतर बाधा डालने की चेष्टा की गई है, जिससे यह अदृश्य मालूम पड़ती है। इस प्रकार विवेकानन्द प्रत्येक धर्म के अनावश्यक बाह्य तत्त्वों की उपेक्षा करते हुए उसके मूलभूत आंतरिक तत्त्व को ही सार्वभौम धर्म की संज्ञा देते हैं। इस संबंध में वह मानते है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने धर्म का पालन खुले हृदय से करे अर्थात् यह समझते हुए करे कि मेरे लिए तो यही मार्ग है, किन्तु अन्य मार्ग भी संभव हैं, तो वह अपने धर्म के साथ-साथ अन्य धर्मों में भी सार्वभौम धर्म की उपस्थिति को महसूस कर सकता है।

स्वामी विवेकानन्द 'स्वीकृति' को सार्वभौम धर्म का मूलमन्त्र मानते है और इसे सहिष्णुता की धारणा मान लेने के भ्रम से हमें आगाह करते हैं। उनके अनुसार सहिष्णुता एक अभावात्मक अवधारणा है, जो बर्दाश्त करने, सहन करने की बात करती है। अत: इसके प्रभाव में यदि एक धर्म दूसरे धर्म को केवल 'सहन' करता है, तो उसमें 'सार्वभौमता' की दृष्टि नहीं जाग सकती। उसके लिए अन्य धर्मों के प्रति भावात्मक दृष्टि अनिवार्य है, जिससे वह उनकी तमाम अच्छी बातों को ग्रहण कर सके। यह ग्रहण की प्रवृत्ति ही स्वीकृति है, जो व्यक्ति को संकीर्णता के दायरे से मुक्त कर उसकी दृष्टि को सार्वभौम बनाती है। विवेकानन्द मानते है कि यदि इस प्रकार की सार्वभौम मानसिकता से हम धर्म-स्थित हो जाएँ, तो हम शायद सभी धर्मों की एक समानता को भी देख पाएँ। उनके अनुसार सभी धर्मों में विद्यमान वह समान बिन्दु 'ईश्वर' है, जो सभी धर्मों को आपस में जोड़ता है। अपनी इस बात का स्पष्टीकरण करते हुए वे कहते हैं कि जहाँ विभिन्नतायें रहती हैं, वहाँ एकता भी रहती है। सभी स्त्री-पुरूष एक दूसरे से भिन्न हैं, किन्तु वे सभी 'जीव' तो हैं ही। ठीक इसी प्रकार सभी धर्म एक दूसरे से भिन्न हैं, किन्तु वे धर्म तो हैं ही। धर्मों में इस समानता का आधार है- 'ईश्वर', जो सभी धर्मों का केन्द्र बिन्दु है। यह ईश्वर ही सभी धर्मों का चरम लक्ष्य है, जिसे सार्वभौम धर्म के आदर्श के रूप में स्वीकारा जा सकता है।

विवेकानन्द मानते हैं कि जब जीवन का आदर्श ईश्वर सार्वभौम है, तो उसके प्राप्ति का साधन भी सार्वभौम ही होना चाहिए। अत: उक्त परिप्रेक्ष्य में वह योग को एक सार्वभौमिक साधन के रूप में देखते हैं, जो भिन्न-भिन्न अभिरूचि वाले प्रत्येक मन के लिए सहजग्राह्य है। उनके अनुसार – ''कर्मी के लिए यह मनुष्य के साथ मनुष्य –जाति का योग है, योगी के लिए जीवात्मा और परमात्मा का योग, भक्त के लिए अपने साथ प्रेममय भगवान का योग और ज्ञानी के लिए बहुत्व के बीच एकत्वानुभूतिरूप योग है। 'योग' शब्द से यही अर्थ निकलता है।''[१०]

इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द का सार्वभौम धर्म उनके दर्शन का वह व्यावहारिक पक्ष है, जो विविधता में एकता के सिद्धान्त में विश्वास ही नहीं करता, बल्कि इस सत्य को अनुभूत करने के लिए मानव-मन को प्रेरित भी करता है। अत: यदि उनके बताए हुए मार्ग पर चलकर इस सत्य को अनुभूत कर लिया जाय, तो वर्तमान परिदृश्य में फैल रही सांप्रदायिकता, क्षेत्रीयता, अलगाववाद, आतंकवाद, उपभोक्तावाद तथा वैश्विक अपसंस्कृति जैसी विकृतियों से निजात पाने का अमोघ सूत्र मिल सकता है।

विगत कुछ दशकों से वैश्विक-पटल पर होने वाले विभिन्न परिवर्तनों ने धर्म एवं संस्कृति से जुड़े मुद्दों को ज्वलन्त रूप प्रदान किया है। उपनिवेशवाद, युद्ध-पश्चात् आर्थिक-पुनर्निर्माण, गृह-युद्धों से उपजी शरणार्थी-समस्या, भूमण्डलीकरण इत्यादि परिस्थितियों ने कनाडा, आस्ट्रेलिया, नीदरलैण्ड तथा ब्रिटेन आदि देशों में बहुसंस्कृतिवादी समाजों को जन्म दिया है, जिनसे जुड़ा प्रत्येक वर्ग अपनी भौगोलिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक अस्मिता को संरक्षित रखने हेतु संघर्षरत दिख रहा है। इस बहुधर्मिता के प्रभाव में अपनी मौलिकता को खो देने के भय ने उसे दिशाहिन बना दिया है, जिसका फायदा उठाते हुए कुछ धर्मान्ध लोगों ने उसकी सोच को सांप्रदायिक बनाने की कोशिश की है। अत: ऐसी स्थिति में धार्मिक संघर्ष बढ़े हैं। ऐसे संघर्षों में ईश्वरवादी धर्मों का आपसी टकराव विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिसकी भयावहता को महसूस करते हुए पश्चिमी विचारक सैमुअल पी० हटिंगटन ने अपने लेख ''Clash of Civilization'' में लिखा है कि – ''मेरी यह प्राक्कल्पना है कि नूतन विश्व में संघर्ष का आधारभूत कारण

प्राथमिक रूप से वैचारिक अथवा आर्थिक नहीं होगा। मानवता के बीच महान मतभेद और संघर्षों का मूल कारण सांस्कृतिक होगा..... भविष्य में युद्ध का कारक सभ्यताओं के बीच मतभेद होगा।''[११] पुनश्च इसी अवधारणा को पुष्ट करते हुए सैमुअल हटिंगटन अपनी पुस्तक ''The Clash of Civilization and the Remarking of World Order'' में लिखते हैं कि अगला विश्व-युद्ध धर्म के नाम पर ही होगा और वह विशेषत: इस्लाम एवं ईसाई के बीच अथवा मुसलमान एवं अ-मुसलमान के बीच होगा। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से पैदा होता है कि बहुसंस्कृतिवादी समाजों में विविध संस्कृतियों के बीच पारस्परिक एकता एवं समरसता की भावना कैसे स्थापित की जाय? विविधता के आलोक में उनकी सांस्कृतिक विरासत तथा सांस्कृतिक अस्मिता को कैसे सुरक्षित रखा जाये? ठीक ऐसी ही समस्या का जिक्र स्वामी विवेकानन्द ने अपनी वैश्विक-धर्म की अवधारणा में किया है, जहाँ वे कहते है- ''संसार के सभी धर्म सत्य हैं, यह तो अनेकों ने स्वीकार किया है- परन्तु उन सबको एकत्र करने का उन्होंने कोई ऐसा उपाय नहीं दिखाया, जिससे वे इस समन्वय के भीतर रहते हुए भी अपनी विशिष्टता को सुरक्षित रख सकें। वही उपाय यथार्थ में कार्यकारी हो सकता है, जो किसी धर्मावलम्बी व्यक्ति की विशिष्टता को नष्ट न करते हुए, उसको औरों के साथ सम्मिलित होने का पथ बता दे।''[१२] अन्तत: विवेकानन्द को यह उपाय सार्वभौम-धर्म के रूप में दिखलाई पड़ता है, जहाँ प्रत्येक धर्म अलग-अलग होते हुए भी लक्ष्य की दृष्टि से एक हो जाते हैं। अत: बहुसंस्कृतिवाद से उपजी समस्याओं के सन्दर्भ में यह कहना असंगत नहीं होगा कि इनका समाधान भी सार्वभौम-धर्म की स्वीकृति में ही मौजूद है, जो समस्त मानवता का वह आदर्श है, जिससे भविष्य में धर्म के नाम पर हो सकने वाले तृतीय विश्व-युद्ध से बचने की पूरी उम्मीद की जा सकती है।

आज मनुष्य-जाति तीव्र संक्रमण के दौर से गुजर रही है। इस प्रक्रिया का प्रभाव काफी व्यापक है और इसके कुछ परिणाम बहुत ही विघटनकारी है। इस प्रसंग में यह देखा जा सकता है कि अभूतपूर्व वैज्ञानिक उपलब्धियों ने जितनी मात्रा में मानव-जीवन के भौतिक पक्ष को समृद्ध किया है, उतनी ही मात्रा में उसके आंतरिक पक्ष को जीर्ण-शीर्ण भी किया है। विकास के आर्थिक मॉडल ने जितना बाह्य विन्यास उत्पन्न किया है, उतना ही आंतरिक व्यतिक्रम भी, जिसका भयावह रूप मूल्यों के क्षरण के रूप में हमारे समक्ष आ रहा है। इतना ही नहीं यांत्रिक तथा भोगवादी प्रवृत्तियों ने मनुष्य में उपभोग की चेतना का इस रूप में विस्तार किया है कि उसे स्वयं को छोड़कर अन्य सभी एक वस्तु (Object) के रूप में ही नजर आते हैं, जिसका वह चाहे जितना दोहन एवं शोषण कर ले। इन सभी स्थितियों को उत्पन्न करने में पश्चिमी देशों का विशेष योगदान है, जिन्होंने भौतिकवादी जीवन-दृष्टि के प्रभाव में स्वयं को विनष्ट तो किया ही है, साथ ही पूर्वी देशों को भी इसकी गिरफ्त में ले लिया है। पश्चिमी देशों में घट रही इस विनष्टकारी प्रक्रिया को कार्टेशियन विभाजन (विखण्डित दृष्टि)और विश्व के प्रति यांत्रिक दृष्टिकोण का परिणाम मानते हुए प्रसिद्ध अमेरिकी भौतिकविद् फ्रित्जॉफ काप्रा अपनी पुस्तक 'The Tao of Physics' में लिखतें हैं कि- ''यह आंतरिक बिखराव, हमारे बाह्य जगत् के उस दृष्टिकोण को प्रतिबिम्बित करता है जो संसार को अलग-अलग वस्तुओं और घटनाओं के एक समूह के रूप में प्रस्तुत करता है। प्राकृतिक पर्यावरण के साथ ऐसा व्यवहार किया जाता है, जैसे वह उन अलग-अलग भागों का एक समुच्चय है, जिसका शोषण विभिन्न तत्व अपने निहित स्वार्थों के लिए करते हैं। यह विभक्त या विखण्डित दृष्टि उस वृहत् मनुष्य समाज में भी प्रतिबिम्बित होती है, जो भिन्न-भिन्न राष्ट्रों, जातियों, धार्मिक और राजनैतिक समूहों में खण्ड-खण्ड हो चुका है। हमारे आंतरिक और बाह्य जीवन, हमारे पर्यावरण और समाज में जो यह खण्ड-खण्ड की स्थिति है, उसमें कोई आंतरिक अन्विति नहीं है। हमारी यह धारणा और विश्वास, कि यह सब अलग-अलग हैं, वर्तमान में शृंखलाबद्ध रूप से घटित हो रहे सामाजिक, सांस्कृतिक और पर्यावरणीय संकटो के लिए उत्तरदायी है।''[१३] पश्चिमी-जगत् का यह वर्तमान परिदृश्य हमें सहज ही स्वामी विवेकानन्द के उस वक्तव्य की याद दिलाता है जिसमें उन्होंने पश्चिमी सभ्यता को भौतिकता के आवेश में डूबे होने के कारण विनाश के कगार पर खड़ा माना है। उन्हीं के शब्दों में – ''सारा पाश्चात्य जगत् मानों एक ज्वालामुखी पर स्थित है, जो कल ही फूटकर उसे चूर-चूर कर सकता है। उन्होंने सारी दुनियाँ छान डाली, पर उन्हें तनिक भी शांति नहीं मिली। उन्होंने इन्द्रिय –सुख का प्याला पीकर खाली कर डाला फिर भी उससे उन्हें तृप्ति नहीं मिली।''[१४] इन आशंकाओं के होते हुए भी विवेकानन्द मानव –जाति के भविष्य के संबंध में हताश नहीं थे। उन्होंने पश्चिम को पूर्व की आध्यात्मिकता तथा पूर्व को पश्चिम के विज्ञान को अपनाने की सलाह दी तथा विश्व-एकता को स्थापित करने के लिए दोनों ही सभ्यताओं को आध्यात्मिक मानवतावाद के सिद्धान्त को अपनाने का सन्देश दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी विवेकानन्द इतिहास के एक ऐसे व्यक्तित्व हैं, जिन्होंने अध्यात्म को विज्ञान से, परमार्थ को व्यवहार से तथा परंपरा को आधुनिकता से जोड़ते हुए वैयक्तिक, सामाजिक एवं वैश्विक जीवन में समस्वरता के लिए एकता के सूत्रों की खोज की। स्वामी जी के विचार तथा आदर्श इन सूत्रों के रूप में समाज को सदा ही दिशा-निर्देशित करते रहेंगे। अतः आज आवश्यकता है तो सिर्फ इस बात की कि हम

उनके विचारों पर अमल करें एवं उसे अपने आचरण में उतारने का प्रयत्न करें।

सन्दर्भ सूची

१ स्वामी बोधसारानन्द (प्रकाशक), विवेकानन्द साहित्य-षष्ठ खण्ड, अद्वैत आश्रम, कोलकाता, प्रथम संस्करण : वर्ष १९६२ ई० पृष्ठ संख्या - २८६

२ दिनकर, रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण : वर्ष २०१० ई०, पृष्ठ संख्या- ४२७

३ ओशो, कर्मयोग-भगवद्गीता का मनोविज्ञान, भाग-३, फ्यूजन बुक्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : वर्ष २०१५ ई०, पृष्ठ संख्या – १९०,१९१

४ स्वामी तत्त्वविदानन्द (प्रकाशक), विवेकानन्द साहित्य- चतुर्थ खण्ड, अद्वैत आश्रम, कोलकाता, प्रथम संस्करण : वर्ष १९६३ ई० पृष्ठ संख्या - २५४

५ स्वामी बोधसारानन्द, विवेकानन्द साहित्य-तृतीय खण्ड, प्रथम संस्करण : वर्ष १९६३ ई० पृष्ठ संख्या - १४६

६ गुप्त, श्री मैथिलीशरण, भारत-भारती, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण : वर्ष २०१४ ई०, पृष्ठ संख्या – ११

७ स्वामी बोधसारानन्द, विवेकानन्द साहित्य- प्रथम खण्ड, प्रथम संस्करण : वर्ष १९६३ ई० पृष्ठ संख्या - २५५

८ स्वामी बोधसारानन्द, विवेकानन्द साहित्य-तृतीय खण्ड, प्रथम संस्करण : वर्ष १९६३ ई० पृष्ठ संख्या – १२४-१२५

९ लाल, बसन्त कुमार, समकालीन भारतीय दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण : वर्ष १९९१ ई०, पृष्ठ संख्या- ५७

१० स्वामी बोधसारानन्द, विवेकानन्द साहित्य-तृतीय खण्ड, प्रथम संस्करण : वर्ष १९६३ ई० पृष्ठ संख्या - १५१

११ पाण्डेय, ऋषिकान्त, धर्म-दर्शन, पीयर्सन प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण : वर्ष २०१६ ई०, पृष्ठ संख्या - ३८३

१२ स्वामी बोधसारानन्द, विवेकानन्द साहित्य-तृतीय खण्ड, प्रथम संस्करण : वर्ष १९६३ ई० पृष्ठ संख्या - १४७

१३ फ्रित्जॉफ काप्रा, भौतिकी का सतपथ, अनुवाद : धर्मराज वाघेला, न्यू एज बुक्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : वर्ष २०१४ ई०, पृष्ठ संख्या – ३१,३२

१४ स्वामी तत्त्वविदानन्द, विवेकानन्द साहित्य-पंचम खण्ड, प्रथम संस्करण : वर्ष १९६३ ई० पृष्ठ संख्या -१७१

●

विदेशी (विशेषतः योरोपीय, सविशेषतः अंग्रेजी भाषी) भाषावैज्ञानिकों द्वारा की गई, देशी (भारतीय), भाषाओं की सराहनीय सेवाएँ

डॉ. महेन्द्र नाथ दुबे *

भाषा के किसी भी अपरिचित रूप के बारे में कुछ भी समझने-समझाने के लिए प्राथमिक आवश्यकता होती है, उसे जानने की।

चूँकि भाषा के माध्यम से ही कोई दूसरी भाषा जानी जा सकती है अतः दूसरी आवश्यकता होती है, कि जो भाषा आप जानना चाहते हैं, उसके जानकार को अपनी भाषा से परिचित करवाएँ ताकि आप की भाषा में वह अपनी भाषा के बारे में बता सके। तीसरा – स्तर है, उसकी भाषा सीख लेने पर उसे भी अपनी भाषा में दक्ष बना देने का और चौथा स्तर है, पारस्परिक आलोचना-प्रत्यालोचना का। जिससे दोनों पक्ष यह जानकर आश्वस्त हो सकें, कि एक-दूसरे की भाषा के सम्बन्ध में आप दोनों पक्षों ने जो जाना है, वह पूरी तरह ठीक है, अथवा नहीं ?

यह सुगम-मार्ग उस समाज के लिए है, जहाँ दोनों पक्षों में कोई-कोई अपनी–अपनी भाषा है। जो कि हर जगह, हर दशा में संभव नहीं हैं। एक पक्ष में भाषा है, बोलने की भी, लिखने की भी। जबकि दूसरे पक्ष में बोलने की भाषा तो है, किन्तु लिखने की नहीं है। तब कठिनाई अधिक होती है। लिखने की भाषा-मानो-लिपि- और उस लिपि के वे चिह्न जो उस बोली जाने वाली भाषा के ध्वनि-प्रतीकों के प्रतीक हैं। तब उन प्रतीकों को सीखकर उनकी मुखोच्चरित भाषा को कठिनाई से ही सही, सीखा जा सकता है। किन्तु जहाँ लिपि और वर्णमाला नहीं होती, वहाँ उस दूसरे पक्ष के मौखिक ध्वनि-प्रतीकों की अलग-अलग पहचान जानने, उस समाज के लिए भिन्न-भिन्न लिपि-चिह्न निर्धारित कर उनकी वर्णमाला निर्धारित करने का काम और बढ़ जाता है।

अपेक्षाकृत एक - सुगम रास्ता यह होता है कि आप अपनी ही वर्णमाला उन्हें सिखा दें और उनकी ध्वनियों को आप अपनी वर्णमाला मे जैसे लिख सकते हैं, ठीक वैसा ही उन्हें सिखा दें। इस प्रकार का कार्य वहाँ सुगम होता है, जहाँ दोनों पक्ष इस प्रकिया में सहयोग देने को प्रस्तुत हों। परन्तु अक्सर ही स्थिति यह होती है कि किसी बाहरी या विदेशी आदमी को अपने समाज में घुसपैठ करते देख, सारा-का-सारा समाज उद्वेपित हो उठता है। नाना कारणों से एक-दूसरे पर अविश्वास होने से कोई अपनी भाषा दूसरे को बतलाना ही नही चाहता। सहयोग करने की जगह कभी-कभी मार-पीटकर भगा देना चाहता है। ऐसी दशा में अधिकतर लोग तो कोशिश करना ही छोड़ देते हैं। परन्तु कुछ ऐसे होते हैं कि सारी कठिनाइयाँ झेलकर भी लगे रहते है। कुछ दूसरा कौशल अपनाते हैं। जैसे – मार-पीट करने वालों के जुल्म बरदास्त कर उन लोगों को जो कठिनाइयाँ हैं, जैसे – खाने-पीने की कमी है, तो उसे मुहैइया करवाना। हारी-बीमारी है, तो यदि स्वयं डॉक्टर हैं तो उनका इलाज करना, यदि नहीं हैं, तो सुयोग्य डॉक्टर बुला उनकी दवा करवाना। अतिशय गरीब हैं, तो अपने यहाँ रखकर अथवा यदि स्वयं सामर्थ्य हों, तो हॉस्पीटल खोलकर अथवा दूसरों के सहयोग से हॉस्पीटल खुलवाकर उन्हें भर्ती-कर उनका यथोचित उपचार करवाना। उनके बच्चों को स्वस्थ रखने के उपायों, के अलावा उनकी पढ़ाई-लिखाई का बन्दोबस्त करना। उनकी कोई पारिवारिक-समस्या, जैसे कि झगड़ा-झंझट है, तो उनके निपटाने में सहायक बनाना। परिवार की आर्थिक-दशा या सामाजिक ऊँच-नीच के भाव के कारण उनके बच्चों के शादी-ब्याह नहीं हो पा रहे हैं, तो उनकी पसन्द के पक्षों मे उनके बेटे-बेटियों की शादियाँ निश्चित करवाना। जरूरत हो तो आर्थिक मद्द करना।

राजनैतिक जोर न हो, तो धार्मिक-दृष्टि से अपने धर्म का प्रचार ऐसे वर्गों में आसान होने से धार्मिक संस्थाएँ धर्म-प्रचार के साथ-साथ भाषा-प्रचार के भी कार्य करते हुए अपनी भाषा के प्रचार के साथ-साथ ही दूसरे-पक्ष की भाषा को भी सीखने – समझने में रूचि लेती हैं।

आधुनिक-युग में नाना-अनुबन्धों में भारत आने वाली देश-देश की जातियों में; विशेषतः जो पश्चिम से आई, व्यापार बढ़ाया, अधिक दिनों तक टिके रहने का मन बनाया; तो यहाँ की भाषाओं से परिचित होना उनके लिए नितान्त आवश्यक हो गया। लगे हाथ वे अपनी भाषाओं को भी भारत में प्रचारित करने में लगते रहे। उनकी भाषा के भारत में विस्तार से उन्हे अधिकाधिक लाभ थे, किन्तु भारतीय-भाषाओं को सीख लेने से भी कोई कम लाभ नही था। अतः भिन्न-भिन्न उदेश्यों से आए हुए पुर्तगाल, डच, स्पेनिश, इटैलियन, फ्राँसीसी, जरमन, स्विस भाषा-भाषी समाज के कुछ लोग भारतीय भिन्न-भिन्न भाषाओं को सीखने में परिश्रम करने लगे। इस कम में कुछ ऐसे हुए, जिन्होंने व्यापक-विश्व को भारत की किसी विशेष भाषा से परिचित करवाने का भी मन बना लिया। फिर नाना प्रकार के कष्ट झेलकर भी उन्होंने भारतीय-भाषाओं की सराहनीय सेवाएँ कीं।

इनकी सेवाओं का उल्लेख मे दो विशेष दृष्टियों से करना चाहता हूँ। पहली, इसलिए कि विदेशी भूमि पर पहुँचने और वहाँ

* 5, गोपालकुंज, कालोनी बी. एम. खान, आगरा – 282002 (उ. प्र.)

क्रमशः आधिपत्य जमा लेने, प्रायः ही बलशाली शासक और मिशनरीज मिलकर, उन समूहों की जनता की भाषा-संस्कृति का ही समूल विच्छेद कर देने पर तुल जाते हैं। कहीं-कहीं तो वहाँ की मूल आबादी का ही विनाश कर देते हैं। कोलम्बस के पहुँचने के पहले उत्तरी-अमरीका, वेस्टइंडीज,विशीगन और उसके आस-पास के द्वीपों की मूल भाषाओं का ही नहीं, कहीं-कहीं तो मूल-जातियों का ही सफाया हो गया है। दक्षिणी-अमरिका में जातियाँ बची भी हैं, तो स्पेनिश-भाषा के प्रभुत्व के तले उनकी मूल-भाषाएँ जाने कहाँ खो गयीं। दक्षिणी-अफ्रीका में जाति सँहार कम नहीं हुआ, फिर भी कुछ बन्दी है किन्तु गायना की तरह कोई फ्रेन्च, कोई जरमन, कोई ब्रिटिश गायना अर्थात् अंग्रेजी-शासन और भाषा की सरपरस्ती में अपनी मूल भाषाएँ भूल चुकी हैं।

इस दृष्टि से भारत में आई योरोपियन विभिन्न जातियों ने व्यापारिक या प्रशासनिक किसम की चाहे जितनी क्षति की हों, उन्होने यहाँ जाति-संहार या भाषा-संस्कृति संहार का घिनौना काम ही न किया, बल्कि कई वर्णमालाहीन भारतीय-भाषाओं की वर्णमालाएँ और व्याकरण भी तैयार किए। दूसरी दृष्टि इस देहाती कहावत को लक्ष्य कर कि ''कहले बिना कहिनी भुलाय जाले।'' अतः जो काम विदेशी भाषाविद हमारी देशी भाषाओं के लिए कर गए हैं। उसका एक बार पारायण कर लिया जाय। ताकि सनद रहे। क्योंकि विदेशी हमारी देशी दूर-दृष्टि को समझने में असफल रहे। उन्होंने सोचा कि देशी सुजन अपनी ही भाषा को बनाए रखेगे, सो विदेशियों की सीखनी पड़ेगी। किन्तु अब ऐपिल माने सेव, सन्डे माने रविवार नहीं बल्कि सेंव माने ऐपिल, रविवार माने सन्डे का जमाना है, तो पुरानी बाते कौन याद दिलाएगा यें खुद भी क्यों याद रखेगा?

यूरोप से आई विभिन्न द्वीपों की विभिन्न जातियों में ग्रेट-ब्रिटेन के तीन द्वीपों-आयरलैण्ड, इग्लैण्ड और स्काटलैण्ड - की जातियाँ, मातृ भाषा रूप में अपनी-अपनी अलग-अलग भाषाऐं बोलते हुए भी, अपने राष्ट्र के बाहर इंग्लिश (जिसे भारत के अधिकांश भाग में अंग्रेजी पुकारते हैं) – भाषा का ही प्रयोग करते हैं। परिस्थितियों के सन्निकर्ष में वे तो हमारे देश मे सबसे लम्बे समय तक टिके रहे और पूरे देश को अपने साम्राज्य के अन्दर भी दबाए रखा, फिर भी उन्होंने ही भारतीय भाषाओं के संबंध में सर्वाधिक काम किया है। स्वाभाविक है कि आज जब हम बाहर से आई विभिन्न जातियों के भाषा वैज्ञानिको-मिशनरीज-द्वारा की गई सेवाओं का स्मरण करेंगे तो इन तीन छोटे द्वीपवासियों द्वारा की गई सेवाओं की चर्चा ही अधिक हो जाए। भारतीय भाषाओं को जानने-जानकर अपने दूसरे साथी को बतलाने और उस उपलब्ध हुए तथ्यों को उससे जान लेने का इन परस्पर बड़ा ही सराहनीय सौहार्द्र रहा है। हालांकि इनमें से कई ऐसे है, जो एक-दूसरे- के प्रति प्रचण्ड-राग-द्वेष का भाव रखते हैं। फ्रेन्च-भाषी तो भूलकर भी अंग्रेजी नहीं बोलना चाहता। जरमनों को तो अंग्रेजी भाषा बोलने लायक चीज ही नहीं लगती। यहाँ तक कि ब्रिटिश-ऐम्पायर के अपने लोगों में भी भाषा को लेकर जो पारस्परिक नाक-भौं सिकोड़ने का भाव है, वह हमारे भोजपुरी-बिहारी भाषा-भाषियो के प्रति बाङ्ला-भाषा-भाषी-भद्रोजनों की अवेहलनाभरी नजरों में, छिह्-छिह्-भरी छीछालेदार की प्रवृत्ति और स्वयं को सर्वोत्तम समझने की सुपीरि आरिटी काम्प्लेक्स की आकाशीय परिकल्पना में जैसा दीखता है, उससे भी अधिक धिक्कार भरी जलन स्काटलैण्ड और इंग्लैण्ड के भाषा-भाषियों में मैंने स्वयं अपने धुर-बचपन मे देखी हैं। असम के काछाड़ जिले की सुरमावैली के अन्तर्गत तब जो मैकनेल ऐण्ड-बेरी कम्पनी की तारापुर देवान डस्टेट ऑफ टी गार्डेन्स (चायबागान) जिसके मालिक खास इंग्लैण्ड के निवासी लार्ड इन्वकेप जो लन्दन में ही रहते थे। चायबागान के मुनाफे से ही उनका मतलब था। भारत में आकर धिक्कारभरी जलन स्काटलैण्ड और इंग्लैण्ड के भाषा-भाषियों में मैंने स्वयं अपने धुर-बचपन में देखी है। असम के काछाड़ जिले की सुरमाबैली के अन्तर्गत तब जो मैकनेल ऐण्ड बेरी कम्पनी की तारापुर टी इस्टेट ऑफ टी गार्डेनस थी, जिसका केन्द्रीय कार्यालय उसके देवान था। आफीसर्स प्रायः स्काटलैण्ड के होते थे। किन्तु उनकी वार्षिक जाँच-परख के लिए कलकत्ते से (जहाँ 'फेयरली-प्लेस' मुहल्ले में इसका हेतु आफिस था) से इंग्लैण्ड निवासी उच्चाधिकारी आते थे। जो अपनी जाँच-रिपोटों में प्रायः ही स्काचों के काम में खामियाँ निकालते थे। फिर भी उन्हें जब चाय बागान के लाभक बागान क्लब में विदाई-पार्टी दी जाती थी, जिसमें अक्सर मेरे बाबा मार्कण्डे दुबे को भी बुलाया जाता था। पार्टी के बाद जो स्काच-आफीसर्स बाबा को घर पहुँचाने के लिऐ आते थे, जब तक वे हमारी पुष्करसी और बाडी के गुवा-पान-लीची-नारंगी-अग्गा-गंभार-चम्पा-नारियल बागान में घूमते रहते थे, बराबर उन अँग्रेज-उच्चाधिकारियों की यही शिकायत करते थे कि, ये इंग्लैण्ड-निवासी बस हथियारबन्द सिपाही गिरी और खदान-मजदूरी ही तो जानते हैं। चाय-बागानों मे बस नालियों की खुदाई और चायबागानों की रखवाली की ही खामियाँ गिनाते रह जाते है। हम स्काचलोग जो अपने विशिष्ट-कल्चर और शालीन-भाषा में सांस्कृतिक-समारोहों में अपने बागान के कुलियों तक से नाच-गाना करवा लेते हैं, उसे ये बद्जुबान-अशिष्ट-अंग्रजी भाषा-भाषी लंदनवासी क्या सकझेगी वैसे हम भारतीयों की भावनाएँ भी इंग्लैण्डवासी उन खाँटी-अंग्रेजों के प्रति अच्छी नहीं थी। हालाँकि बड़ी शालीन-भाषा में ही बाबा और उनके साथी कहते थे, किन्तु ईसाई मिशनरियों के ब्रिटिश अस्पतालो में भर्ती किए गए आदिवासी सीधे सादे गरीब मरीजों को सेवा-भाव के बदले में मिशनरी-अस्पतालों द्वारा वनवासियों को ईसाई बनाने की प्रवृत्ति को वे सुई लगाकर खून निकालने जैसी चालाकी ही बतलाते थे। भारतीयों ही नहीं, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया तक, जो उन्होंने अनेक जातियों के साथ-साथ उन अनेक भाषाओं और अनेक संस्कृतियों का सर्वनाश कर डाला था, उस पर भी वे काफी कुछ लांछन भरी तोहमत ही लगाते, किन्तु जिस निष्ठा से बड़े-बड़े अंग्रेजो ने यहाँ तक कि तब की सुप्रीम कोर्ट के जज तक जो संस्कृत सीखते और उसकी प्रशस्ति समस्त विश्व में करते हुए, पश्चिमी योरोपीय-अमेरिकन-भाषाओं की गठनात्मक-संरचनाओं को नये सिरे

से व्यवस्थित कर रहे थे और प्राचीन भारतीय धरोहरों से भी विश्व को परिचित करवा रहे थे। जैसा कि सर विनियम जोंन्स ने किया था। ब्रिटिश-शाशित भारत की तत्कालीन राजधानी-कलकत्ता-स्थित सुप्रीम-कोर्ट के चीफ जस्टिस थे, फिर भी समय निकालकर अतिशय सेंवाभाव से संस्कृत सीखने, कालिदास की रचना-'अभिज्ञान शाकुन्तलम'- का अनुवाद करने के अतिरिक्त संस्कृत-भाषा को विश्व के व्यापक-परिप्रेक्ष्य मे रखते हुए-यूनानी-गाथिक-केल्टिक लैटिल-ग्रीक-जैसी विदेशी और भारतीय सी बन चुकी तुर्की-फारसी एवं तथाकथित हिन्दुस्तानी एवं संस्कृत, ब्रजभाषा आदि के संबंध मे तुलनात्मक विश्लेषण करते हुए, बंगाली की **एशियाटिक सोसाइटी** की तीसरी वार्षिक सभा में जो इतना महत्त्वपूर्ण भाषण दिया था-जिसका इतना भारी प्रभाव समस्त विश्व भाषा-संवार पर पड़ा था, कि एक यूरोपीय भाषा परिवार Indo Eoropeian Language Family की स्वीकृति हो जाने के बाद विश्व की तमाम भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन की एक महत्त्वपूर्ण भाषाशात्रीय की आधुनिक शिक्षा-शाखा ही आरंभ हो गई थी। स्वयं संस्कृत-साहित्याचार्य होने के नाते बाबा ''अभिज्ञान-शाकुन्तलम'' के अनुवाद जरमनी और अंग्रेजी भाषाओं में किए जाने की कहानी सुनाते हुए प्रायः कहतेः- कुछ अंग्रेजी अफसरों ने शासन करने वालो से बिल्कुल अलग प्रकार का कार्य करके भारत का सर ऊँचा किया यह तथ्य तो सर्वविदित है कि अंग्रेज लोग कोई पढ़ने-पढ़ाने के उद्देश्य से भारत नहीं आए थे। ग्रेट-ब्रिटेन के तीनों द्वीपों वाले आपस में चाहे जैसी श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता की भावना रखते रहे हैं, किन्तु जहाँ उनका सामना, फ्रांस, जर्मनी, स्पेन-पुर्त्तगाल और डेनमार्क जैसे पड़ोसी देशो से होता था, वे पूरी तरह संगठित एक ईकाई-वाले एक राष्ट्रीय बन जाते थे। सोलवी शताब्दी तक वे इन पड़ोसियों की अपेक्षा पिछड़े हुए ही लगते थे। जीविका के संसाधनों की कमी हालांकि उन सभी को थी, किन्तु ब्रिटेन की हालात और भी खस्ता थी।

किसी भी समृद्ध देश के बारे में सुनने पर प्रायः समुद्री तीरवर्ती उनके वे पड़ोसी-देशवाले अपनी व्यापारिक-नौकाएँ ले, वहाँ पहुँचने और वहाँ से अधिकाधिक उपयोगी-सामग्री अपने देश में ले आने मे जुट जाते थे। उनकी सफलता देखने के बाद ये ब्रिटिश वाले भी उनके पीछे-पीछे लग जाते थे। उस जमाने में जो सुसम्पन्न देश थे, भारतवर्ष ऐसे ही समृद्ध देशों में था, जिसके बारे मे पश्चिमी देशों मे आम प्रसिद्धि थी कि वह ''सोने की चिड़ियाँ'' है। अन्यान्य देश जहाँ धूल-मिट्टी को लोंदे भर माने जाने पर भी पश्चिमी योरोपियनों के लिए कुछ-न कुछ पा लेने लायक देश थे वहाँ ''सोने की चिड़ियाँ'' वाले इस देश तक पहुँच जाने पर उन्हें चिड़िया फँसाने का अवसर मिल जाने पर कितना कुछ मिलेगा? इसी सोच मे डूबे वे भारत पहुँचने-विशेषतः किसी सरल-सुगम रास्ते से पहुँचने की कोशिशों मे सालों-साल लगे रहते थे। इन्ही कोशिशों में स्पेन का कोलम्बस, भारत ढूढते-टूँढते अमरीका के तटवर्ती द्वीपों तक पहुँच गया। लेकिन वहाँ एक-की जगह-कई द्वीप पाकर उसने एक इंडिया की जगह अनेक इंडिया या इंडिज होने का प्रचार किया। ब्रिटेन के अंग्रेज भी वहाँ जा पहुँचे। मगर जब पुर्त्तगाल के वास्कोडिगामा ने असली इंडिया ढूँढ लेने की खबर फैलाई,तब तो पुर्त्तगालियों के पीछे-पीछे डच (डेनमार्क निवासी) स्पेनिस, स्लाव, नार्वेनियन आदि योरोपियनो के भारत आने का सिलसिला पुर्त्तगाल के वास्को-दि-गामा द्वारा अपने जहाजी बेड़ों के साथ भारतवर्ष के तत्कालीन कालीकट बन्दरगाह पर पहुँच आने के बाद ही शुरू हुआ जो नितान्त गलत धारण है। योरोपियन्स-विशेषतः ग्रीक-यूनानी-केल्टिक लोगो तथा यहूदी लोगों का व्यापारिक एवं अन्यान्य उद्-देश्यों से यहाँ आना बहुत प्राचीन काल से लगा हुआ था। जो लोग क्राइस्ट-जीशू खीष्ट के जन्म काल के पहले B.C. और बाद के A.D. से ही दुनियाँ की इतिहास की गणना करते हैं, वे अपने महान् धर्मग्रन्थ तक में स्वयं लिखते हैं, कि क्राइस्ट के जन्म लेने की सूचना पूरबी देश से महीनों तक की कष्ट-साध्य यात्रा कर के जेरूशलम (क्राइस्ट के जन्म स्थान) पहुचे पूरबी देश के ज्योतिषियों ने दी थी। ईसाई धर्म का प्रचार प्रारम्भ होने के पचास 50 वर्षो की वर्षगाँठ भी पूरी न हो पाई थी, कि भारतवर्ष के केरल-मालावर-प्रदेश में सेंट पाल आ गए थे, और चर्च की स्थापना हो गई थी, अतः नई बात बस इतनी हुई थी, कि समुद्री जहाजों के लिए एक नया रास्ता खोज लिया गया था।

इस नये समुद्री मार्ग के खुलते ही फ्रांसीसी और ब्रिटिश सभी पहुँचने लगे। शुरू में जो देशवासी इस इंडिया के जिस भाग में ही पहुँचा और वहाँ अपना व्यापारिक कारोबार जमा लिया, उसके लिए वहीं इंडिया हो गया। इन कोशिशों में कोई-कोई जो इंडिया के और भी पूरब के दूसरे देशों तक पहुँच गए, उन्होंने उसे ही इंडिया घोषित कर दिया। जैसे भारत का दक्षिण-पश्चिमी-समुद्र तटवर्ती भाग पुर्त्तगाली-इंडिया था, फ्रांसीसियों के लिए पाण्डिचेरी (पुडुचेरी और चन्द्रनगर) दक्षिण-पूर्वी समुद्री किनारे वाला भारतीय भाग फ्रेन्च-इंडिया था, डचें डेनमार्क वालों को जब इस इंडिया में अपनी दाल गलती न दिखी, तो वे और पूरब बढ़ गए और वहाँ उसी तरह बढ़ते-बढ़ते व्यवस्थित होते गए, जैसे भारत में ब्रिटिश अंग्रेज। ऐसी दशा में डच लोगों के लिए जावा-सुमात्रा के द्वीप इंडिया हुए, तो स्पेन वालों को जब अहसास हो गया, कि उनके पुरोधा नाविक कोलम्बस वीर ने तो इंडिया को पाया ही नहीं था, तो उसे पश्चिमी या वेस्ट इंडीज कहकर वे भी असली की ओर भारतीय वाले इंडिया की ओर चढ़ आए। मगर यहाँ अंग्रेजो से झटके खाने के बाद वे और पूरब, मनीला, पहुँच गए, अतः मनीला-इंडोनेशिया के समीपवर्ती द्वीप ही उनका इंडिया बन गया। पहले आए हुए पुर्त्तगालियों से लेकर बाद में आए डचों, स्पेनिशों सभी को कभी मिलाते, कभी थकियाते हुए ये आयरलैंड, स्काटलैंड और इंग्लैंड के इन तीनो छोटे द्वीपों के निवासी (आइरिश-स्कोच और इंग्लिश ब्रिटिश) क्रमशः किस तरह भारत में व्यापारी से लेकर रियासत द्वार

होते हुए लार्ड गर्वनर बन, इस देश के भाग्यविधाता परवरदिगार, मालिक-मुख्तारबन बैठे, यह किस्सा क्या? इसकी वास्तविकता भी सभी जानते हैं। अंग्रेज की उस विविधात्मक-भूमिका में भारत आनेवालों में तीन प्रमुख श्रेणियाँ थीं।

1. वाणिज्य-व्यापार कर अधिकाधिक मुलाफा कमा भारतीय-धनराशि अपने देश ले जाने वालों की

2. व्यापारी-घरानों की समृद्धि बढ़ जाने पर उनकी सुरक्षा के लिए हथियारबन्द-नौजवानों की प्रतिष्ठानो की जगह जब यहाँ की जगह-जमीनों पर भी जो व्यापारिक जब स्वामित्त्व स्थापित कर लिया, तब व्यापारिक लड़ाइयों के अलावे भारतीय रईसो राजाओं से भी उनकी हैसियतों और राज्यों को छीनने की कोशिशों के चलते, सीधे-सीधे फौजी दस्तों के सैनिकों अफसरों कमांडरों के रूप में ढलते गए।

3. व्यापारिक और फिर प्रशासनिक शासनतन्त्र स्थापित हो जाने पर उनकी सुव्यवस्था में मद्दगार हो सकने वाले-पढ़े लिखे सुशिक्षित अधिकारियों की विशिष्ट श्रेणी के लोग।

इन तीनों ही श्रेणियों को बाहर-बाहर से मदद करते रहने वालो की एक और भी श्रेणी थी, ईसाई-मिशनरीज की।

जिसमें इंग्लैड वासियों के अलावे दूसरे ईसाई देश वाले भी थे। अपनी-अपनी मिशनरी सेवा भावना पर ही अधिक ध्यान देने के कारण योरोप से आए विभिन्न वर्षों में से किसी भी एक विशेष

Missionaries are concerned with religion mission that is the body of the people sent to foreign countries to convert healthen one who is nither cristian nor Jewish Pritther Mohemadan – Oxford Dictionatry

के अनुसार जो पिछड़े हुए लोग श्रेष्ठ धर्म ईसाई, यहूदी और इस्लाम के नहीं हैं। इन्हें ईसाई धर्म में शामिल करने की हर संभव सेवा करने में लगाया हुआ व्यक्ति मिशनरी होता है। वह किसी देश की सत्ता से, इन योरोपिय-देशों की किसी भी शासन सत्ता से ये जुड़े नहीं थे; अतः कहने के लिए ये उन सभी देशों के अपने नागरिक थे, जहाँ ये सेवा-सुश्रूषा कर लोगों को ईश्वरपुत्र क्राइस्ट जीशू ईसा मसीह के सद-धर्म में ले आना चाहते थे। योरोप से आए हुए, जन्मना ईसाई धर्म मानने वालों को तो इन्हें कुछ बनाना था नहीं, किन्तु जिन भारतीय को ये ईसाई बनाते थे, उन्हें योरोपियनों जैसा ईसाई नहीं मानते थे। फलतः भारतीय ईसाइयों का एक अलग वर्ग ये बनाते गए, जो इनके कुछ करीब होता था; किन्तु अन्दर-अन्दर ये योरोपीय ईसाई की ही विशेष मदद करते थे। भेद-भाव के रहते हुए भी इस वर्ग के लोगों ने गरीब-पिछड़े वनवासी, पठारी उपेक्षित भारतीय-समाज की निश्चय ही बड़ी मदद की है।

आरंभ में पहुँचे ईसाई मिशनरीज के जिन लोगों ने पिछड़े उपेक्षित भारतीय वर्ग में अपने धर्म का प्रचार कर सकना सुविधाजनक समझ, उनमें धर्म, प्रचार करना आरंभ किया, तो पहली समस्या आई भाषा की। क्योंकि किसी को कुछ भी समझने के लिए जरूरी है कि उसके और प्रचारक के बीच कोई ऐसी सम्पर्क भाषा हो, जिसे दोनों पक्ष समझते हों। पहले ये यदि ऐसी भाषा नहीं है, तो प्रचारक को वह भाषा सीखनी ही पड़ेगी, जिसे वह वर्ग बोलता है, जिसमें वह प्रचार करना चाहता हैं। अतः ऐसे वर्ग की भाषा, चाहे जितनी पिछड़ी ही क्यों न हो; प्रचारक को सीखनी होती है, क्योंकि प्रचारक अपनी स्वयं की मातृ भाषा जो उस वर्ग के लिए सर्वथा अनजानी हैं, उसे तो वह अचानक ही, तो उस पूरे वर्ग को नहीं सिखा सकेगा। ऐसे वर्गो की भाषा या बोली में भी प्रचारकों की यह कोशिश होती है कि वे एक ऐसी भाषा सीखें, जो अधिकाधिक व्यापक हों, जिसके सहारे वे भिन्न-भिन्न वर्गों में भी आसानी से पहुँच सकें। ऐसी सर्वव्यापी अथवा अधिकाधिक क्षेत्रों में प्रचलित भाषा को जब कोई एक मिशनरी खोज लेता है, तो वह भिन्न-भिन्न देशों के मिशनरीज को भी उसके बारे में सूचित करता है। जैसे कि उस आरंभिक धर्मप्रचार की वेला में प्रायः ही केरल के मलयालम (जिसे वे मलयाली कहते थे)-भाषी -क्षेत्र मे काम करने वाले पश्चिमी लोगों ने, समूचे भारतवर्ष की ही सर्वाधिक महत्त्व पूर्ण भाषा मानकर मिशनियों को बतलाना शुरू किया था। महामहिम सम्राट के अत्यन्त निकट के विद्वान् जाह्न ओगेल्बी ने सन् 1673 ई0 में प्रकाशित अपनी विख्यात पुस्तक- ASIA – PART – First एशिया, प्रथम-खण्ड मे लिखा है जनरल टेरी का उद्धरण देते हुए भारत तथा युगल राजाओं के अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत आनेवाले देशों में भारतीय भाषा की अपेक्षा फारसी अधिक प्रचलित है। एक दूसरे प्रसिद्ध लेखक-पेरूशी के अनुसार असभ्य मुसलमान तुर्की भाषा का व्यवहार करते हैं। लेकिन वे उसे उतने ही प्रवाह के साथ बोल नहीं पाते जितने जन्म जात तुर्क। पढ़े लिखे लोग तथा मुसलमानी धर्म-गुरू अरबी का प्रयोग करते है, जिसमें अलकुरान तथा अन्य पुस्तकों की रचना हुई है। लेकिन किसी भी भाषा का उतना व्यापक-विस्तार तथा उपयोग नहीं है, जितना मलय का। मलय भाषा का उद्गम स्थान मलबका नगर है। मुंग मुंडा के समीप स्थित द्वीप एवं देशों में यह बोली जाती है। व्यापारी लोग इस भाषा का प्रमुख रूप से इस्तेमाल करते हैं। लिनशाट का कहना है कि विभिन्न राष्ट्रों के लोगों ने जो नगर निर्माण कला में दक्ष थे, तथा जो मलक्का में बस गए थे, इस मलय भाषा को सभी भारतीय भाषाओं में अद्वितीय बनाया। इस भाषा में सभी अन्य पड़ोसी देशों की भाषाओं की अपेक्षा अधिक मधुर शब्द तथा विचार प्रकाशन की स्वर पद्धति है, जो इसे सम्पूर्ण भारत की भाषाओं में अधिक अच्छी उपयोगी, हृदयग्राही तथा सुगमता से सीखने योग्य बनाती है। भारत का भाषा सर्वेक्षण-जार्ज एब्राहमगियर्सन – अनुवादक- डॉ0 उदय नारायण तिवारी (पृष्ठ-08) भूमिका

ऐसे विद्या सेवी भाषाविदों में कुछ उल्लेखनीय नाम है :-

1. प्रिटों डिला बैले (जिन्होंने सन् 1623 ई0 में प्रकाशित उपने लेख-देव-नागरिकों जिसे बाद में ब्रिअग्गिने ने डल गैडो की 'ग्लासेरिओलुओ एशियाटिक' में पुनः प्रकाशित किया। -में स्पष्टतः भारत की देवनागरी का परिचय-एक प्राचीन लिपि नाम से किया था।

2. टेरी (बाएज टु दि इस्ट) 1655 में प्रकाशित पुस्तक में भारतीय-भाषाओं पर प्रकाश

3. फ्रेअर द्वारा 1673 ई0 में प्रकाशित-न्यू एकाउन्ट आव ईस्ट इण्डिया, एण्ड एशिया

4. हेनरिक रथ द्वारा 1667 ई0 में प्रकाशित ''चाइना ऐलेस्टाटा''-जिसमें-पैटरनोस्टर के संस्कृत मूल को प्रस्तुत किया गया था।

5. जान ओगेल्बी द्वारा 1673 ई0 में प्रकाशित ''एशिया-फर्स्ट पार्ट,'' इसमें दक्षिण भारतीय एवं ओडिस मे तालपत्रों पर लोहे की नुकीली शलाका से खुरूचकर लिखने की प्रथा-जो प्राचीन-काल से भारत में लिपि के प्रयोग का स्पष्ट उदाहरण है, का विशेष रूप से उल्लेख किया है।

6. आन्द्रिस मूलर ने 1680 में प्रकाशित (टाइम लुड़कने के छयनाम से) भारत, भारत की भाषाओं के परिचय के अतिरिक्, नागरी-वर्णमाला के अक्षरों की बनावट का भी विवरण दिया है। इस रचना का विशेष महत्व इसलिए है कि जहाँ लोग प्रायः ही तुलनात्मक भाषाविज्ञान-विद्या का प्रचलन सार विलियम जोन्स के 1786 में एशियाटिक सोसाइटी में दिए गए भाषण के बाद से आरंभ, हुआ, प्रचारित करते है, वहाँ इस रचना में कई भाषाओं उनके व्याकरणों का तुलनात्मक-अध्ययन इसमें सन् 1680 ई0 में ही किया गया था।

7. जॉन फ्रेडरिक फ्रिट्ज द्वारा 1748 में प्रकाशित ''स्प्राखमेस्व जिसमें 200 भाषाओं-बोलियों के नमूने, बाइबिल की-ईश प्रार्थना के रूपान्तरों के आधार पर उनके अक्षरों के नमूनों के साथ प्रस्तुत किए गए। कई भाषाओं की वर्णमालाएँ ही 172 पृष्ठों में प्रकाशित हुई है। दस तक के अंक नमूने 56 पृष्ठ में प्रकाशित है।

8. मातुरिन बेस्सिए लाकोज फ्रांस के प्रसिद्ध विद्वान-बर्लिन की एलेक्टर लाइब्रेरी के प्रधान; बहुमुखी प्रतिभा के धनी लाकोज के अपने जमाने के बड़े-बड़े विद्वानों से गहरे संबंध थे, जिनसे उनका पत्र व्यवहार होता रहता था। ऐसे पत्रों का प्रकाशन लैटिन भाषा में 3 तीन खण्डों 1742 से 46 के बीच हुआ। अपनी विद्वत्ता और पश्चिमी विद्वानों की रूचि के अनुरूप विचारों के प्रकाश से ये बहुत ही लोकप्रिय हुए। भारतीय आदर्शों पूज्यनीयों के विरूद्ध टिप्पणीयाँ इन्होंने इस रूप में की है, कि कई तथ्यों की वास्तविकता अपने आप उजागर हो जाती है।

जैसे- (अ) संस्कृत की जगत, वे हंस्कृत लिखते हैं, जिसका आधार उन्हें चीनी भाषा के प्राचीन ग्रन्थों जो हेनरिक राश के ''चाइना एलेस्ट्राटा'' के उद्वरणों से इन्होंने लिया था-एक बहुत विवाद का निराकरण करता जो 'सिन्धु' नदी के 'स' के फारसी ईरानी-अरबी लोगों द्वारा ''ह'' उच्चारण करना बताकर हिन्दी, हिन्दुस्तानी आदि का आधार बताते हुए सारी दुनियाँ में प्रचारित किया जाता है, जब कि खुद सिन्धु नदी को इन भाषाभाषियों ने कहीं भी 'हिन्दु' या सिन्धु प्रान्त को हिन्द प्रान्त नही कहा, सिन्धु और सिन्ध ही कहते लिखते आ रहे है, जब कि ईस्वी पूर्व पाँचवीं शताब्दी से ही चीनी भाषा में संस्कृत को 'द्वसकृत' और सिन्धु नदी को हिन्तु 'सिन्धे' प्रान्त का हिन्त 'चाइनीज में लिखा पढ़ा जाता रहा है।

(आ) भारतीय भाषाओं को संस्कृत से निकली हुई बतलाते हुए वे संस्कृत वर्णमाला को फारस और असीरिया की प्राचीन वर्णमालाओं का मूल बताते हैं। आगे जब वे स्पष्ट करते है, कि इसका प्रयोग भारत के ब्राह्मण करते हैं। जो अन्ध विश्वास को तो अपनाती गई ही- साका (शाक्य-बुद्ध) भी उसी में फँस अपना मित्थया धर्म फैलाते रहें औरतों और दक्षिण भारत की मालबार की जनता 'श्रीलंका के' सिंहली, जावा सुमात्री श्यामबाली तक फैली, इसकी पालिभाषा-सभी इसी ब्राह्मण वर्णमाला के अनुसार हैं। ऐसी टिप्पणियों से पश्चिमी विद्वान शुरू से कुछ सहमे-सहमे से थे, भारतीयों, विशेषतः एवं भगवान बुद्ध की निन्दा से प्रसन्न होते हुए भी मध्येशिया-असीरिया-फोनेशिया तक की वर्णमाला और लिपि को संस्कृत से बताने से जो उनमें स्तब्धता आ गई थी; एक-दूसरे महान् भाषाविद् बायर, जो तांगु, मंगोलिएन और चीनी भाषा के विशेषज्ञ थे, और लाकोज का उनसे नराकिट पत्राचार होता रहता था, - ने जब लाकोज की मान्यता का 1717 ई0 अपने एक पत्र में खण्डन कर उसे उलटते हुए समझाया कि भारतीय ब्राह्मण-लिपि-वर्णमाला भी पश्चिमी देशों की तरह फिनीशिया लिपि की ही अनुकृति पर बनी है, तब जैसा सर ग्रियसेन ने बड़े हार्दिक उच्छवास से लाकोज की दूरदर्शी-दृष्टि का गौरव-गान किया है, पश्चिम वालों की तरह भारतीयों द्वारा भी फिनीशिया की लिपि की दाहिने से बाँए लिखने की व्यवस्था को उलटकर बाएँ से दाहिने लिखने की व्यवस्था करलेने की होशियारी मानते हुए उसीतरह सभी पश्चिमी विद्वानों ने लाकोज की सराहना शुरू कर दी।

9. मेसर्सशिमिट- ने साइबेरिया और आस-पास के क्षेत्रों की खोज के क्रम एक शिला-लेख और चीनी-भाषा में छुपी एक पुस्तक लेकर 1727 में लौटे। आरम्भ में शिला-लेख की दो पंक्तियों के लेख को मंचू-भाषा का समझा गया किन्तु उससे अर्थ का उद्धार नहीं हुआ, फिर यह स्पष्ट होने पर कि यह तिब्बती-भाषा की लिपि है, अन्ततः वाराणसी के ब्राह्मणों के सहयोग से पढ़ा गया, तो यह तिब्बती-लिपि में जो संस्कृत की ब्राह्मण-लिपि का ही अलंकृत रूप है, लिखा बौद्ध उपासना का मंत्र-''ओउम् मणीपद्मे हुम''- है। मुद्रित पुस्तक भी तिब्बती लान्ताशा लिपि में ही थी। इन तिब्बती लेखों से भी भारतीय-संस्कृत वर्ण 'स' के तिब्बती, चीनी में 'ह' उच्चरित किए जाने की पुष्टि हुई।

10. भारत के केरलीय ट्रांवकोर क्षेत्र में कार्य कर रहे शुल्टज ने उक्त प्राचीन प्रस्तर एण्ड लेख एवं चीन में छपी पुस्तिका के पाठ वाराणसी के पंडितों से पढ़वाने में मदद की थी। शुल्टज और वायर ने जो कई भारतीय और तिब्बती चीनी-भाषाओं के नमूने इकट्ठे कर विश्लेषण किए-करवाए उनसे मराठी, गुजराती, मूर था उर्दू भाषाओं उनकी लिपियों की जानकारी हुई, जिनके तुलनात्मक-अध्ययन से ही तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का आरंभ माना जाना चाहिए।

11. कासिआनो बेलिगत्ती ने 1771 में रोम से ''अल्फाबेटम ब्रह्मणिकम सेव यूनिवर्सिटाटिस काशी'' शीर्षक पुस्तक प्रकाशित की जिसकी भूमिका महान विद्वान् जोहन्स क्रिस्टोफोरस अमांडटिक्स ने लिखते हुए बतलाया कि सांस्कीरत विद्वानों की भाषा है, साधारणजनों की भाषा बैखाबोली, स्पषटतः भाजपुरी- जो काशी के आस-पास बोली जाती है। इसके अलावा (1) बंगलेशियन (बंगाली) (2) तौरितियाना (तिरहुतिया-मैथिली), (3) नेपालेनियस (नेपाली), (4) मराठिका (5) पेगुआना (मान या बर्मी-भाषा) (6) सिगलिया (सिघली) (7) तेलुगिका (तेलुगू) और (8) तमुलिका (तमिल) का परिचय और उनकी लिपियों के बारे में बतलाया गया है। नागरी और कैथी लिपि का विशेष उल्लेख किया। (10) इबारस एबेल द्वारा 1782 में प्रकाशित सिम्फोना ग्रन्थ में कई भारतीय एवं बर्मी भाषाओं के शब्द-भण्डारों का संग्रह तथा (11) पालिनस बर्थोलीनियो की भूमिका सहित अज्ञात लेखक की भारतीय-लिपियों से सम्बन्धित रचना 1721 में प्रकाशित ''अल्फाबेटा इण्डिका'' महत्वपूर्ण है।

डॉ0 रीड को संस्कृत और आजमगढ़ स्थानीय बोली से परिचित कराने में देऊ दुबे-देवब्रत दुबे-का भी सहयोग रहा है। उन्होंने अपनी ''आजमगढ़ ग्लाजरी'' तैयार करवाने की देऊ दुबे से ग्रामीण शब्दों का संग्रह करवाने में सहायता ली थी।

भारतीय भाषाओं विशेषतः ऐसी भाषाओं, जिनकी अपनी कोई लिपि नहीं थी, जिनकी वर्णमाला भी सुव्यस्थित नहीं थी, उनकी भाषाओं को सीखने, उनकी वर्णमाला निर्धारित करने, उन्हें रोमन-लिपि में लिख सकने लायक बनाए जाने में इस वर्ग ने सराहनीय कार्य किया है। इनमें से कुछ ऐसे भी मिशनरी हुए जिन्होंने भारतीय विभिन्न भाषाओं के साहित्य पर भी उललेखनीय कार्य किये हैं।

इस तरह की भाषा और साहित्य सेवाओं के कुछ अतिशय सराहनीय कार्य प्रशासनिक सेवाओं में आए हुए कुछ अंग्रेज-जर्मन-फ्रेंच-इटैनियन भाषा-भाषी अधिकारियों ने भी किए है जिनके कायो की महत्ता इसलिए और बढ़ जाती है कि व्यपक विश्व में जब भारतीयों पर अंग्रेज अफसरों द्वारा किए जा रहे अत्याचारों के विरूद्ध आवाजें, उठने लगी और उन पर इस प्रकार के दबाव डाले जाने लगे कि मानवता के प्रति आप सब पाप कर रहे हो अंग्रेजों को विशेष रूप से लांछित किया गया है कि सेवा के नाम सीधे-सीधे अनपढ़ गरीबों को आप लोग ठग रहे है अब तो मिशनरियों को भारत छोड़कर अपने-अपने देश लौट आना चाहिए। तब पूरी दुनिया में धुँआधार प्रचार किया गया कि अंग्रेज यहाँ राज्य स्थापित कर लूट-पाट करने नही हैं, बल्कि ये भारतीय इतने बड़े जाहिल-गँवार-कूढ़-माग्जय'' अन्ध-विश्वासी और असभ्य है कि अगर इन्हें सुशिक्षित कर सभ्य नही बनाया गया, तो ये आपस मे तो कट-मरेंगे ही, शेष-विश्व के लिए भी खतरा बन जाएँऐ। इनकी न कोई सभ्यता है, न संस्कृति। ये तो बस मत्स्य-न्याय अर्थात् बड़ी मछली द्वारा छोटी मछली के निगलते जाने की अति पिछड़ी मानसिकता वालों का देश है। न इनके पास कोई भाषा है, न कोई लिपि। न कोई मजहब है न कोई रेलीजन। अतः अंग्रेज जाति इन्हें अपनी भाषा, अपनी लिपि, अपनी सभ्यता अपनी संस्कृति तो दान स्वरूप प्रदान कर ही रही है, इनके पास यदि कुछ काम लायक है भी, जिसे ये और भी नष्ट-भ्रष्ट कर रहे हैं, उसे भी बँचाकर सँवारने सजाने का कम कर रही है।

समूचे विश्व में ऐसे प्रचार के साथ-साथ यहाँ कार्यरत अंग्रेज अधिकारियों का एक वर्ग सचमुच ही इस प्रकार की कोशिश करने लगा था, कि सचमुच में ही इनके पास परम्परा से अगर कोई ऐसी काम की चीज हो, भी तो भी उसका नामोनिशां मिटा दें। जो भी आश्चर्यजनक हो उसे योरोप के म्यूनियमों में पहुँचा दो। इनके पूज्य देवताओं को मूर्त्तियाँ अपने बेडरूम में लगवा दो। इन्हें ऐसी शिक्षा दो कि ये भारतीय शरीर में दीखते हुए भी मन-मस्तिष्क से खाँकी अंग्रेज तो हो ही जाये, अपने देशवासी भारतीय नागरिकों से ऐसी घृणा करने लगें, जैसी कोई अंग्रेज भी न कर सका हो। तत्कालीन ब्रिटिश सरकार की शिक्षा नीति के पुरोधा लार्ड मैकाले ऐसी ही अंग्रेज मानसिकता को बढ़ावा देने वाले लोगों को एक अप्रतिम उदाहरण हैं। तत्कालीन पराधीन भारत के निवासियों का एक बड़े समूह ने जो ब्रिटिश हकूमत का दलाल सा बन गया था, उसने लार्ड मैकाले की शिक्षा नीति का जोरदार समर्थन किया, किन्तु एक बड़ा वर्ग-जिसमें स्वतन्त्रता प्राप्ति की तड़प अचल गई थी, उसने उसका प्रचण्ड विरोध किया तथा भारतीयों के लिए, भारतीय- भाषाओं में भारतीय-परिवेश के अनुरूप शिक्षा प्रणाली लागू किए जाने के लिए जोरदार अभियान चलाया। जिसका असर भी दिखा; जो सन् 1945 में स्वतन्त्रता की प्राप्ति फिर गणराज्य घोषणा होने के बाद कुछ वर्षो तक बड़े जोशो-खरोश से क्रियान्वित भी किया जाने लगा; किन्तु अफसोस कि जैसे-जैसे स्वतन्त्रता की उपलब्धियों का भोग करनेवाला भारतीय समाज आगे चलकर अधिकाधिक सुख-चैन की जिन्दगी के प्रति जैसे-जैसे आकर्षित होता गया, वैसे-वैसे फिर से मैकाले और उनके पूर्ववर्ती कूटनीतिज्ञ अंग्रेज प्रशासकों विशेषतः गिलक्राइस्ट और प्राइस जैसे कपटी भारत-हितैषियों की सोच के अनुरूप ढल जाने-वालों का देश में प्रभाव बढ़ा। फिर तो भारतीयता की बात करने वालों का मूर्खों की श्रेणी में डालते हुए, अंग्रेजी माध्यम के पब्लिक-स्कूलों की बाढ़ समूचे देश में गाँव-गाँव तक ऐसी आई कि भारत के किसी भी भाषा-भाषी प्रदेश में, उस क्षेत्र को मातृभाषा को कोई बालक विद्यार्थी स्कूल में बोल देने का साहस कर बैठे तो उसे ऐसी अमानवीय सजा दी जाती है कि सुनकर ही प्राण सिहर उठे। किन्तु इस व्यवस्था के विरोध में कहीं से भी कोई आवाज नहीं उठती। माता-पिता-अभिभावक तो स्कूल-प्रबन्धकों से भी आगे बढ़कर घर पर भी बच्चों को मातृभाषा न बोलने देने स्वयं पढ़ाने में असमर्थ हो, तो स्कूल-टीचर्स को घर पर बुलाकर ट्यूशन शुरू करवाने के लम्बे-चौड़े वादे कर, इंग्लिश-मीडियम-स्कूलों में बच्चों का दाखिला करवा रहे हैं।

पहले बंगाल असम जाने परया दक्षिण में विशेषतः चेन्नई (पहले के मद्रास) तमिलनाडु जाने पर वहाँ के स्थानीय विद्वान हिन्दी-भाषा के खिलाफ काफी उग्र-भाव दिखाते थे, परन्तु अब कन्याकुमारी-त्रिवेन्द्रम में भी जाने पर वहाँ के भारत-हितैषी विद्वान् कहते हैं कि अंग्रेजी जो हमारी मलयालम को लील रही है, उसे देखते हुए हिन्दी को ही क्यों न इतना विकसित कर दिया जाय; कि हमारी आने वाली पीढ़ी कम से कम एक भारतीय-भाषा तो बोलने लायक रह जाय। भाषाविद डॉ0 मीनाक्षी ने दिवेशी-विद्वानों की ही विचारधारा का उल्लेख करते हुए कहा है, कि जिस भाषा का कोई बोलने-वाला जब कोई नहीं होता, वह भाषा अपनी मौत आप मर जाती है। आज जब प्राइस साहब की योजना पर देश को चलाते हुए लोग जीविका जुटा सकने वाली नौकरी को देते हुए, अपनी भाषा ही नहीं, सम्पूर्ण भारतीय-अस्मिता को ही जब भावी भारतीय पीढ़ी द्वारा भारतीय-भाषा के इस्तेमाल न करने की स्थिति पर भारतीय आवाजों कुटिया के ही ध्वस्त हो जाने की संभावना बन आई है। तब भी किसी को भारतीय-आदर्शो की रक्षा, विश्व रंगमंच पर भारतीय की उत्कृष्ट उपलब्धियों को रखने की चिन्ता ही नही कर रहा है। तब ब्रिटिश शाशित उस समय के भारतवर्ष में, जब भारतीय-आदर्शो का शेष-विश्व में मखौल उड़ाया जा रहा था, तब उसी ब्रिटिश शासन-व्यवस्था की जकड़ने में जकड़े हुए कई खाँटी अंग्रेज अफसरों तक ने भारत के असली उज्जवल अतीत का विश्व के समक्ष प्रस्तुत करने का साहस किया। अंग्रेज ब्रिटिश नागरिक-ही नहीं, जरमन फ्रेंच, इटैलियन, रसियन, डेनिश-स्लाव आदि भाषाओं के विद्वानों ने भी उस युग में भारतीय अतिशय गौरवशाली परम्परा को देश-विदेश की पत्र-पत्रिकाओं तथा नाना शोध-ग्रन्थों का लेखन, प्रकाशन कर बड़े उत्साह से विश्व-मानस के समक्ष रखा। उनका यदि हम अतिसंक्षेप में भी उल्लेख करें, तो एक पूरा, ग्रन्थ ही बन जाए। अतः मैं यहाँ कुछ विशेष का ही संकेत करना चाहूँगा। इस क्रम को यदि (i) वेदों से शुरू करें; तो- रूडोल्फ फोनराथ (वेदों का साहित्य और इतिहास) 1843 मैक्समूलर सायण-भाष्य सहित-श्रृग्वेद संहिता 1846 कार्ल गोल्डनवर्ग-श्रृग्वेद का अनुवाद, थियोडेर बेन्फे-सामवेद-अनुवाद और संपादन 1848, लिओप्रोल्ड प्रोएडेर-मैत्रायणी संहिता 1886 युलिसिस ग्रिल-अथर्वेद। हर्मन ओल्डेन बर्न वैदिक-साहित्य-आलोचना, हेनरिक जिमर- लाइफ इन ऐन्शियेन्ट इंडिया, दि कल्चर आफ वैदिक आर्यन्स शोपेन हावर, हरमन लीमैन्स, पालडयूसेन, वाल्टर वट जैसे जरमन-विद्वानों तातत्यानायेलिजेन्कोवा, ओक्स्युनिकों कुलिकोवस्की, ब्लादिमीर तोपोरोव जैसे रूसी विद्वानों ने वैदिक-वाङ् की उत्कृष्टता का प्रचार किया। (2) पुरातात्त्विक-कलात्मक भारतीय-शीर्ष-महत्त्व के अशोक आदि के स्तम्भादि लेख विभिन्न-प्रकार के शिला-स्तम्भ, गुहा-लेख, भित्ति पट्टिका, ध्वजन द्वारतोरण, स्तम्भ महिका-आदि लेखों पर-1- कापर्स,हुल्प 2- ग्रियर्सन-दि इन्स्क्रिप्शन ऑव प्रियदशी, 3- बी0ए0 स्मिथ-दि एडिक्स ऑव अशोक, 4- जे0एम0 मैक्फेल – अशोक (iii) पुरातात्विक महत्त्व के आधार-स्त्रोतों को उत्खननों के माध्यम से प्रकाश में लाने और उनकी तात्त्विक-समीक्षा कर भारतीय-उत्कर्ष को प्रकाश में लाने वाले (1) मैसेन, (2) जनरल कलिंघम, (3) जान मार्शल, (4) मैके, (5) एम0 हवील, (6) जे0हफ0 डेल्स, (7) फेयर सब्रिस, (8) वी0एम0 नोगर्दलेविन,

(iii) भारतीय इतिहास-संबंधी- (i) वी0ए0 स्मिथ, V. Smith. अर्ली हिस्ट्री आव इण्डिया हिस्ट्री, (2) एकल किन्सयटन-ऐंशिएण्ट इंडिया, (3) ई0वी0 कोवेल, (4) ए0वी0 कीथ-वैदिक इंडिया, (5) मोनियर विलियम्स वैदिक इंडेक्स डिक्शरी (6) डब्ल्यू0 डब्ल्यू0 हन्टर, (7) पर्सी ब्राउन (8) डब्ल्यू0 डब्ल्यू0 हन्टर, (9) रोलिस्टान, (10) गार्नर ब्राउन, (11) लेनपूल, (12) हेग।

(iv) भारतीय भाषाएँ और उनके साहित्य पर, (अ) पुरानी भाषाएँ (आ) संस्कृत

(1) टी0 बरो- संस्कृत भाषा,
(2) डब्ल्यू0 डी0 हिवटनी-संस्कृत व्याकरण
(3) डब्ल्यू0 एस0 एलेन- फोनेटिक्स इन ऐन्शिऐन्ट इंडिया
(4) जी0 ब्लूलर-इंडियन पैलिग्रैफी
(5) एफ0 एज0 टीन बुद्धिस्ट हाईब्रिड संस्कृत पैलिओग्रैफी
(6) एफ0 एज0 टन- बुद्धिस्ट हाइब्रिड संस्कृत
(7) इन्ट्रोडक्सन टु दि स्टडी ऑफ कम्परेटिव ग्रैमर

(इ) प्राकृत-पिसेल-प्राकृत प्राचेन, बूलर-इन्ट्रोडक्टन टु, प्राकृत डा0 जैकोनी-प्राचीन जैन-सूत्र, डॉ0 ल्यूडर्स, भास-नाटक चक्र, अश्वघोष के नाटक, पाइस सछ महण्णयो। (प्राकृत पैंगलम्)

(ई) आधुनिक भारतीय भाषाएँ- असमीया- 1867 ई0 में अमेरिकी बेपटिस्ट मिशनरी- माइल्स बोन्स साहेब ने A Dictionary in Assamesga and English तभी से असमीया भाषा साहित्य की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ, तब भारतीय भाषाओं में भी असमीया पर ग्रन्थ रचे जाने लगे। देखें- (i) असमीया भाषा – भारतीय भाषा- परिचय – केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नयी दिल्ली-66, पृष्ठ 01 से 38 असमीया साहित्य – भारतीय साहित्य-केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय में असमीया साहित्य निबन्ध (ii) उर्दू-साहित्य- ग्राहम बेली-उर्दू लिटरेचर, (iii) ओ डिसी सैंट ग्रियर्सन- लिविस्टिक सर्वे आव् इण्डिया, (iv) कन्नड- भाषा (ए) डॉ0 राबर्ट काल्डनेल- फादरहेरास डॉ0 गुण्टर्ड (बी) डॉ0 गुण्टर्ड, (सी) डॉ0 फादर हेरास, (v) कश्मीरी-एम0ए0 स्टेन-ऐन्शिएन्ट जिओग्राफी आव् कश्मीर, और एडीटर ऑफ कल्हणर्स, राजतरङ्गिणी, ग्राहम बेली- ग्रामर आव शीना लैंगुएज, (vi) कोंकरि- रोडाल्फ डालगाड़े शणेगोयंनान, ए0 निकोलोवे-दि कोंकणी लैंगुएज, (vii) गुजराती-डॉ0 तेसीतोरी-ओल्डवेस्टर्न (गुजराती) राजस्थानी, (viii) डोंगरी भाषा- फादर विलियम केरी, फ्रेडरिक ड्रिल – टेरिटेरीज ऑफ जम्मू ऐण्ड कश्मीर, (ix) तमिल-फैब्रिसियस, जीगैनबेल्ग, हागसन, बिशप काल्डवेल- ए कम्परेटिव ग्रैमर ऑफ साउथ ड्रैवेडियन लैंग्वेजेज, (x) तेलुगु-बिशप

काल्डवेल- एक कम्परेटिव ग्रैमर आव ड्रैवेडियन लैंग्वेजेज, (xi) नेपाली- प्रोफे0 एल0 टर्नर- कम्परेटिव ऐन्ड इटोमोलजिकल डिक्शनरी आव नेपाली लैंगुवेज 1831, बोम्स- कम्पेरटिव ग्रैमर आव माडर्न इण्डों आर्य लैंगुएजेज, (xii) पंजाबी- विलियम कैटै- (xiii) बाङला- वाकैबुलैरीज ऐम इकलिओमा बेन्गाला ए पोर्त्तरिग्नेज (पुर्त्तगाली भाषा विलियम कैटे- न्यूटेस्टामेंन्ट (बाईबिल)- ट्रान्सलेशन, 1880 डॉ0 हार्नले गौडियन ग्रैमर 1880 डेविड विलिकिन्स-ट्रांसलेर आव लार्डस प्रेयर इनटफ मलय- बाङला, (xiv) बोडो- जार्ज ए0 ग्रियर्सन- लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया, राबर्ट सेफर- क्लीसिफिकेशन आव सिनो-टिनैटिन लैंग्वेजेज- बार्तसलैंड-डिमासा ग्रामर, जेद्धडी0 ऐन्डर्सन-डिमासा वाके बुलरी (xv) मराठी- ज्यूल- ब्लाख डा0 जान विलसन, (xvi) मलयालम- एच गुण्टर्स- ए0 ड्रैवेडियन इटोमो-ताजकल डिक्शनरी, (xvii) मैथिली- एच0 टी0 कोलबुक- एशियाटिक रिसचेज 1801, विलियन केरी, जार्ज ए0 ग्रियर्सन बीम्स्ड, (xviii) संथाली भाषा- सर मैक्समूलर, (मुण्डा भाषा के अन्तर्गत) जार्ज कैम्पवेल, सर फ्रेडरिक स्तर थामसन, पेट्रिक, रेबटेण्ड जार जरमिया फिलीप्स- एन डन्ट्रोडक्शन टु संथालीं लैंग्वुज 1852, ई0वी0 याक्सले-ए वाकेबुलरी आव सन्ताली लैंग्वेज 1865, सी0एच0 बोप्तस-कोक- लेड्स आप सन्ताली परणना-1903, (xix) सिन्धी भाषा- विलियम कैरे, एरस्किन पेरी, ट्रम्प, (xx) पूर्वोत्तर सीमान्त क्षेत्रीय भाषा मणिपुरी, त्रिपुरा, टिप्पारा, बोंडों, कक-बरक, नगा-ककी, काछारी, अंगामी मैक कैसे लिखित-अँगामी ग्रैमर मेजर मेककल्लाच- करूवरक-वाकोबुलरी, के0एच0 हटन- अंगामी नगा, डैमण्ड लिखि-मियांज, खांगुलैंग्वेज, डब्ल्यू0 पेट्रिग-रचित तांखुल (नगा), ग्रामर, मणिपुरी-मेइथेइ-भाषा ई0टी डाल्टन-ट्राएुनल हिस्ट्री ऑफ ईस्टर्न इंडिया, टी0सी0 हडसन- दि मैतेइ पिपुल एण्ड लैंग्वेज डिमाशा-बोडो, चार्ल्स लायल का मिशिमि ग्रैमर, डैमण्ड, ब्राउन और मेकलाच द्वारा प्रस्तुत मियांग, खांगु और क्वोइरेग बोलियों के व्याकरण, हिन्दी भाषा- को ब्रिटिश नागरिकों को सुगमता से समझने के लिए कर्नल हेनरी मूले और डॉ0 ए0स0 बर्नेल ने शब्दों- पदबन्धों मुहावरों आदि का व्युत्पत्ति निर्देशों के साथ बोलचाल की हिन्दी का एक शब्दकोश सा प्रस्तुत किया- ''हाब्सन-जान्सन'' शीर्षक से जो अंग्रेजी लिपि में होते हुए भी हिन्दी उच्चारणों को भी व्यक्त करता है। (सन् 1886 में प्रकाशित) जो ब्रिटिश और ऐण्ग्लों इंडियन लोगों के लिए हिन्दी की जानकारी बढ़ाने में बेहद सहायक हुआ। उसके बाद तो अंग्रेजी एवं अन्याय योरोपीय भाषाओं में हिन्दी संबंधी अनेकों ग्रन्थ उचे और प्रकाशित किए गए। आरंभिक वेला में योरोपीय विद्वानों के समक्ष हिन्दी मूर्स-गँवारी भाषा थी। हिन्दवी- हिन्दुस्तानी- उर्दू के आन्तरिक अन्तर बहुत स्पष्ट नही थे, अतः इनमें से किसी भी शीर्षक के अन्तर्गत वे हिन्दी पर शोध करते हुए निबन्ध या पुस्तकें लिखते और प्रकाशित करते रहे। उनमें से उल्लेखनीय कुछ विशिष्ट प्रचार है-

(1) उर्दू- इंग्लिश डिक्शनरी (लंदन से 1773 में प्रकाशित)
(2) हिन्दुस्तानी- अंग्रेजी डिक्शनरी – पार्ट-फर्स्ट-विलियम कि.. पैट्रिक – (1785 लंदन)
(3) डॉ0 जान गिलक्राइस्ट- ने कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज में काम करते हुए इसका दूसरा भाषा – पार्ट-सैकेण्ड 1798 में प्रकाशित किया।

डॉ0 टेलर ने ''हिन्दुस्तानी-अंग्रेजी शब्दकोश 1803 में प्रकाशित किया। फोर्ट विलियम कॉलेज अंग्रेजी शब्दकोश 1808 में प्रकाशित किया। फोर्ट विलियम कॉलेज की सहायता से डॉ0 विलियम हंटर ने इसका संशोधित संस्करण 1817 में प्रकाशित किया। इन शब्द-कोश के अतिरिक्त व्याकरण-ग्रन्थों के लेखन में आरंभिक प्रयास –जब इसे ''मूर्स'' या गँवारा, क्रम-हीन भाषा के रूप में प्रचारित किया जाता था, तभी जार्ज हेड़ले ने ''ग्रैमेटिकल रिमार्क्स ऑफ दि प्रैक्टिल एण्ड बल्गर डाइलेक्ट आफ दि हिन्दुस्तानी लैंग्वेज-कामनली काल्ड-मूर्स'' शीर्षक से 1772 में लंदन से प्रकाशित करवाया। डॉ0 गिलक्राइस्ट ने अपनी हिन्दुस्तानी-अंग्रेजी-डिक्शनरी'' का तीसरा खण्ड- ''हिन्दुस्तानी-फिलोलॉजी'' शीर्षक से प्रकाशित करते हुए, संकेत दिया, कि इसे ''गँवारू या मूर-भाषा'' कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इसका भी व्यवस्थित-व्याकरण लिखा जा सकात है। जॉन-बीम्स ने1872 ई0 में ''कम्परेटिव ग्रैमर आफ आर्यन लैंग्वेजेज'' प्रकाशित किया; 'डॉ0 हार्नले' का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'गौडियन-ग्रैमर' पूर्वी-भारतीय-भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन क साथ 1880 में प्रकाशित हुआ। उसके कुछ समय बाद केलाग रचित 'हिन्दी-ग्रामर' प्रकाशित हुआ। डॉ0 रीड, जब आजमगढ़ जिले के कलैक्टर नियुक्त हुए, तब उन्होंने अपने संस्कृत और हिन्दी-ज्ञान के भरोसे 'आजमगढ़-बलाजरी' नाम से आजमगढ़ जिले में प्रयुक्त होने वाली विविध प्रकार की शब्दावलियों का संग्रह तैयार कर, प्रकाशित किया जिसमें जिले के कुछ पंडितों, मौलवियों, और पटवारियों से सहायता ली थी, जिनमें ये देवव्रत दुबे मुख्य थे। जो ग्रामीण-इलाकों तक की भाषिक-प्रवृत्तियों को समझने की संग्रेज-अफसरों की अभिरूचि का परिणाम है। फिर जब सर ग्रियर्सन ने लगभग तीस वर्षो तक लगातार परिश्रम करके भारतीय-भाषाओं का भाषा-सर्वेक्षण करवाया और उसका यथावश्यक सम्परीक्षण करने के अनन्तर प्रकाशन भी करवाया, तब तो इस क्रम में वे इस कदर भारतीय-मानसिकता से युक्त हो चुके थे, कि भाषा-सर्वेक्षण मे आवश्यक न होते हुए भी,उन्होंने अपने सर्वेक्षण में अवधी-भाषा के मुसलमान कवि मलिक मुहम्मद जायसी और उनकी रचना 'पदमावत' का वर्णन करते हुए वे ऐसे लिखते हैं, जैसे कोई हिन्दू-मानसिकतावाला हिन्दू लिख रहा हो-''...अवधि साहित्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

प्रारम्भिक लेखकों में सबसे अधिक उललेखनीय जायस के एक मुसलमान, मलिक मुहम्मद (सन् 1540 ई0) थे, जिन्होंने प्रसिद्ध दार्शनिक-महाकाव्य- ''पद्मावती'' की रचना की थी। इस ग्रन्थ में उत्कृष्ट काव्य के माध्यम से परम-सुन्दरी पद्मावती की प्राप्ति

के लिए रतनसेन के प्रयास, अविजित चित्तौड़गढ़ पर अलाउदीन के भयानक आक्रमण; रतनसेन की वीरता तथा विजयी तातार से अपनी प्रतिष्ठा एवं सतीत्त्व की रक्षा के लिए पद्मावती के प्राणोत्सर्ग का वर्णन है।'' इसी क्रम में तुलसीदास को कवि और सुधारक कहते हुए, अंग्रेजी कवि शेक्सपीयर का समसामयिक बतलाते हुए; उन्होंने उसकी जब भूमिका लिखी, तब जैसे कोई भारतीय-नागरिक भारतीय-कार्य पर गर्वोक्ति करता; ठीक उसी तरह परम आत्मीयता भरे, भाव-विह्वल स्वर में उन्होंने समूचे विश्व में सबसे पहले ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य के भारत में सम्पन्न होने पर खुशी जाहिर कीः- 'बिना किसी नम्रता-प्रदर्शन के मुझे यह स्वीकार करने में संकोच नहीं है कि इस सर्वेक्षण की त्रुटियाँ अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा मुझे अधिक अवगत हैं। दूसरी ओर इस गर्वोक्ति के लिए मैं क्षमा प्रार्थी हूँ, कि इस सर्वेक्षण के रूप में भारत में जो कार्य हुआ, वह संसार के किसी भी अन्य देश में नहीं हुआ, तथ्य की बात यही है।''

●

'निराला' साहित्य के विविध आयाम और डॉ0 रामविलास शर्मा की आलोचना दृष्टि

ऋतम्भरा तिवारी एवम् प्रो0 बलिराज पाण्डेय* **

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' डॉ0 रामविलास शर्मा के प्रिय कवि हैं। तुलसीदास के बाद निराला को ही वे हिन्दी का सबसे बड़ा कवि स्वीकार करते हैं। उन्होंने अपने आलोचनात्मक लेखन की शुरूआत निराला की कविताओं पर लेख लिखकर की थी। उनका पहला आलोचनात्मक लेख सन् 1934 में चाँद पत्रिका में 'निराला जी की कविता' शीर्षक से छपा था। वस्तुतः आलोचना के क्षेत्र में रामविलास जी का आगमन ही निराला के कारण हुआ था। वे निराला पर लगाए आक्षेपों से आहत थे तथा मुख्य रूप से उन आक्षेपों का उत्तर देने के लिये ही आलोचना क्षेत्र में प्रवृत्त हुए। 'रूपतरंग और प्रगतिशील कविता की वैचारिक पृष्ठभूमि' की भूमिका में इसका उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है-''निराला को लेकर हिन्दी में कितना संघर्ष हो चुका है, तब मुझे इसका पता न था। सन् '34 में यह संघर्ष ही मुझे आलोचना के क्षेत्र में घसीट लाया और मेरा पहला आलोचनात्मक निबंध निराला की काव्य प्रतिभा के समर्थन में प्रकाशित हुआ। संभव है, यह संघर्ष न होता- मेरे प्रिय कवि पर द्वेषपूर्ण आरोपों की वर्षा न की गई होती- तो मैं आलोचना के क्षेत्र में आता ही नहीं।''[1] निराला से सम्बन्धित उनका यह प्रारंभिक वैचारिक संघर्ष आगे चलकर उनकी आलोचना पद्धति के विकास में महत्वपूर्ण साबित हुआ। निराला पर लिखे इस निबंध के प्रारम्भ में ही उन्होंने अपने वैचारिक उद्देश्य को स्पष्ट कर दिया था- ''मैंने 'अभ्युदय' (जुलाई 23, 1934) में श्री ज्योति प्रसाद मिश्र 'निर्मल' का उक्त कवि के ऊपर लिखा हुआ लेख पढ़ा। लेख एक पार्टी प्रपेगैंड था; कवि की कविता का कोई विशेष निरूपण न था। इन पार्टियों में कौन सत्य पर या कौन असत्य पर है, इससे मुझे कुछ सरोकार नहीं। 'निरालाजी' की पार्टी-पॉलिटिक्स की और व्यक्तिगत नीति की मुझे यहां विवेचना नहीं करनी है। पर उनकी कविता पर दुरूहता, निरसता, अर्थहीनता तथा छन्दों के ऊटपटांगपन के आक्षेप नये नहीं है। एक हिन्दी-प्रेमी और विशेषकर कविता-प्रेमी के नाते मुझे यह आक्षेप खटकते हैं।''[2] उन्होंने अपने निबन्धों में निराला की कविताओं का उद्धरण प्रमाण रूप में प्रस्तुत करके इन आक्षेपों का उत्तर दिया है।

सन् 1937 में रामविलास जी ने 'निराला के गद्य में व्यंग्य और परिहास' शीर्षक से एक लेख लिखा। इसमें उन्होंने व्यंग्य की प्रकृति और महत्व को स्पष्ट करते हुए साहित्य और समाज के लिये व्यंग्य की आवश्यकता प्रतिपादित की है। वे लिखते हैं-''व्यंग्य का मूल्य इसमें है कि वह हमें अपनी कमजोरियों से सचेत करता है। जहाँ-जहाँ लोग अपनी पतित मनोवृत्तियों से संतोष कर बैठे रहते हैं, वहाँ प्रतिभाशाली लेखकों ने अपने तीव्र व्यंग्य-बाणों से उन्हें जगाया है। अच्छे व्यंग्यपूर्ण गद्य की हमारे समाज और हमारे साहित्य को नितांत आवश्यकता है। पहले भी थी, ज्यों-ज्यों इस दशा में और दिन बितते जाते हैं त्यों-त्यों और होती जाती है।''[3] बाद में सन् 1947 में निराला पर उनकी एक स्वतंत्र पुस्तक प्रकाशित हुई 'निराला' शीर्षक से, जिसमें उन्होंने निराला साहित्य के मूल्यांकन में अपनी मौलिक दृष्टि का परिचय दिया है। इस पुस्तक का महत्व सामान्य पाठकों के लिये निराला साहित्य को सुलभ बनाने में है। इस पुस्तक के दूसरे संस्करण की भूमिका में डॉ0 शर्मा लिखते हैं-''इस पुस्तक को लिखने का मूल उददेश्य यह रहा है कि साधारण पाठकों तक निराला-साहित्य पहुँचे। दूरूहता की जो दीवार खड़ी करके विद्वानों ने निराला को उनके पाठकों से दूर करने का प्रयत्न किया था, वह दीवार ढह जाय।''[4] लगता है यह पुस्तक लिखते समय ही उन्होंने उनपर एक बड़ी पुस्तक लिखने की योजना बना ली थी। कारण कि उन्होंने इसकी भूमिका में इसका स्पष्ट संकेत करते हुए लिखा है-''यह सभी लोग जानते हैं कि उनका व्यक्तित्व एक उपन्यास के अच्छे-खासे हीरो का-सा है। उसमें काफी वैचित्र्य और नाटकीयता है। इसलिये उनके जीवन पर एक बड़ी रोचक पुस्तक लिखी जा सकती है।''[5] जिसका प्रतिफलन हमें बाद में 'निराला की साहित्य साधना' के रूप में दिखाई देता है, जो निराला पर किया गया अभी तक सबसे अधिक व्यापक समीक्षा-कर्म है। तीन खण्डों में प्रकाशित 'निराला की साहित्य साधनाा' में उनके समग्र साहित्य का तथा उनके व्यक्तित्व का विस्तृत विवेचन एवं मूल्यांकन किया गया है। इस पुस्तक को लिखने में डॉ0 शर्मा ने अपने आलोचकीय प्रतिभा को जैसे निराला के व्यक्तित्व के निरूपण और कृतित्व के विवेचन में उड़ेल दिया है। निराला-साहित्य के अनेकानेक आयामों को विश्लेषित करने वाली यह पुस्तक निराला की साहित्य साधना के विवेचन साथ ही रामविलास जी की भी आलोचकी प्रतिभा एवं उनकी रचनात्मक उपलब्धियों का प्रमाण है।

निराला की साहित्य साधना के पहले खण्ड (1967) में निराला का जीवन-परिचय और उनके व्यक्तित्व का विश्लेषण है। रामविलास जी ने श्रमपूर्वक अनेक तथ्यों को खोजकर निराला के व्यक्तित्व को पूरी ईमानदारी के साथ उभारने के साथ ही उनके संबन्ध में अनेक भ्रान्त धारणाओं का निराकरण भी किया है। इस खण्ड में प्रति गहरी आत्मीयता रखते हुए भी वे उनके अन्तर्विरोधों

* शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
** प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

को रेखांकित करते हुए चलते हैं। यह अन्तर्विरोध निराला के अन्तर्जगत को उजागर करता है, जिसके निर्माण में बाह्य परिस्थितियों की महती भूमिका है। अतः डॉ0 शर्मा को उद्देश्य युग की परिस्थितियों तथा निराला के पारिवारिक-सामाजिक परिवेश के साथ ही निराला के अन्तर्जगत से भी पाठाकों को परिचित कराना है-''यह एक साहित्यकार का जीवन-चरित है, इसलिये इसमें किसी हदतक उनके साहित्य का मूल्यांकन भी शामिल है। यह पुस्तक मुख्यतः उनके साहित्य की आलोचना ही नहीं है निराला के पारिवारिक, सामाजिक परिवेश से, उस युग की सांस्कृतिक परिस्थितियों से, उनके बाह्य रूपों के साथ उनके अन्तर्जगत से पाठकों को परिचित कराना मेरा उद्देश्य है।''[6] पुस्तक के तीसरे खण्ड (1976) में डॉ0 शर्मा द्वारा निराला के लिखे हुए पत्रों तथा निराला को साहित्यकारों, पारिवारिकजनों और उनके मित्रों द्वारा लिखे हुए पत्रों को संकलित किया गया है, जिसमें निराला की जीवनी पर मुख्य रूप से तथा उनकी काव्य दृष्टि पर गौण रूप से प्रकाश पड़ता है। परन्तु इस खण्ड का उपयोग निराला की काव्य-समीक्षा करते हुए नहीं किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि इसके प्रकाशित होने के पहले ही दूसरा खण्ड (1972) प्रकाशित हो चुका था, जिसमें विधिवत रूप से तथा अनेक दृष्टियों से निराला-साहित्य का समग्र मूल्यांकन किया गया है।

रामविलास जी ने विचारधारा के अन्तर्गत युग-जीवन की समस्याओं के प्रति कवि की प्रखर चेतना का अध्ययन किया है। उन्होंने सबसे पहले 'अंग्रेजी राज्य और भारतीय जनता' के सम्बन्ध में विचार करते हुए उसमें निराला की भूमिका रेखांकित की है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद का विरोध, उसक पोषक राजा- जमीदारों के प्रति गहरा आक्रोश, स्वयं द्विज होकर भी वर्ण व्यवस्था के प्रति उत्कट तिरस्कार भाव तथा किसानों और स्त्रियों के प्रति अपार संवेदना ये सब निराला की विचारधारा के अंग है। शर्मा जी के शब्दों में-''निराला के चिन्तन की विशेषता यह थी कि उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य की आर्थिक नीति, उसके राजनीतिक दाँव-पेंच, सांस्कृतिक मामलों में उसके हस्तक्षेप को पहचाना, गहराई से उसका विश्लेषण किया, देश की राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रगति के लिये एक मार्ग निश्चित किया।''[7] राजाओं और जमीदारों का विरोध करते हुए निराला ने बराबर किसानों का पक्ष लिया है। 'अलका' में यह बात विशेष रूप से देखी जाती है। 'चतुरी चमार' कहानी में वे स्वयं किसानों की लड़ाई लड़ते हैं। सन् '43 तक की बहुत सारी कविताओं में किसानों की नई छवि चित्रित की गई है। इसे 'बादल-राग', 'डिप्टी साहब आए', 'झींगुर डर कर बोला' आदि कविताओं में देखा जा सकता है। निराला भेद-भाव से त्रस्त जनता की पीड़ा को पहचानते थे। ब्राह्मणवाद का जितना प्रबल विरोध उन्होंने किया है, शायद ही उतना उनके समय का कोई कवि कर सका हो। उन्होंने स्पष्ट रूप से घोषणा की कि भारत का उद्धार शूद्र जातियाँ ही करेंगी-''निराला के चिन्तन की विशेषता यह थी कि उनके लिये सामाजिक क्रान्ति शुरू होती थी निम्न जातियों से और राजनीतिक आन्दोलन की सफलता के लिये वे इस सामाजिक क्रान्ति को अनिवार्य मानते थे। निराला के लिये अछूतोद्धार कोई रचनात्मक कार्यक्रम न था जो राजनीतिक आन्दोलन से छुट्टी मिलने पर फुर्सत के वक्त अपना लिया जाता। निराला के लिये जातिप्रथा का विनाश और समानता के आधार पर समाज का पुनर्गठन एक राजनीतिक कर्त्तव्य था। उसे पूरा किये बिना राष्ट्रीयता का विकास असम्भव था।''[8]

नारी की पराधीनता का प्रश्न भी सामाजिक विषमता से जुड़ा हुआ महत्वपूर्ण प्रश्न है। नारी की स्वाधीनता का समर्थन तो छायावाद के अधिकांश कवियों द्वारा किया गया, लेकिन मुख्य रूप से उसकी आदर्शवादी मूर्तियाँ ही गढ़ी गई। नारी की दुर्दशा देखकर जो तड़प, जो विद्रोह का भाव, जो सामाजिक शान्ति का निर्देश निराला की कविता में मिलता है, वह अन्यत्र नही है। वे स्त्रियों की अशिक्षा को उसके आर्थिक-सामाजिक पिछड़ेपन का मूल कारण मानते हैं। रामविलास जी के शब्दों में-''नारी की स्वाधीनता की समस्या देश के आर्थिक विकास, राजनीतिक आन्दोलन और नवीन साहित्य के अभ्युदय से जुड़ी हुई है। स्त्रियाँ स्वावलम्बी बनें, अभी देश अपने आधे हाथों से काम करता है। वे घर की सीमाएँ लाँघ कर बाहर आएँ, देश के सामाजिक आन्दोलन में सम्मिलित होकर उसे समर्थ बनायें वे शिक्षित हों जिससे उनके बच्चे समर्थ साहित्यकार बनें। निराला जहाँ किसी स्त्री को इस आदर्श के निकट पहुँचते देखते थे, वह भाव-विह्वल हो उठते थे, गद्य में विचार और तर्क का स्थान कविता ले लेती थी।''[9] परन्तु इन समस्याओं के समाधान और राष्ट्र के अभ्युत्थान में बाधक थी भारतीय जनजीवन में गहराई तक पैर जमाया हुआ रूढ़िवाद, जिसका पोषण पंडे-पुरोहितों द्वारा शास्त्र के नाम पर होता आया था। इस अध्याय में शास्त्रवाद और रूढ़िवाद सम्बन्धी निराला के विचारों का भी विवेचन किया गया है। रामविलास जी के अनुसार निराला ने ज्ञानाश्रित व्यावहारिक वेदान्त के आधार पर इस सांस्कृतिक जड़ता को ध्वस्त करने का पयत्न किया। निराला शंकराचार्य के वेदान्त से प्रभावित थे, लेकिन उन्होंने उसे पूर्णतः स्वीकार नहीं किया। शंकराचर्य के वेदान्त में शूद्रों पर निर्मम प्रहार किया गया था, जो निराला को मान्य नहीं था। उनके अनुसार कोई भी धर्म-दर्शन मनुष्य को मनुष्य से वर्ण, जाति, धर्म के आधार पर अलगा नहीं सकता।

निराला हिन्दू मुस्लिम एकता के भी समर्थक थे। उन्होंने ब्राह्मण और शूद्रों के भेद को मिटाने तथा हिन्दू-मुसलमान की एकता के निरूपण में सर्वत्र अद्वैतवाद का सहारा लिया है। डॉ0 शर्मा लिखते हैं- ''निराला का दृढ़ विश्वास था कि धार्मिक कट्टरता को दूर किए बिना राष्ट्रीय एकता दृढ़ नहीं हो सकती। यह कट्टरता बाहरी आचार से ज्यादा सम्बद्ध थी, विचारों से उसका सम्बन्ध कम था। कट्टरता मनुष्य की सोचने विचारने की शक्ति को नष्ट कर देती है, विचारों का महत्व पहचानने की शक्ति ही उसमें नही रहती।''[10] जिस युग में निराला ने अपनी प्रसिद्ध छायावादी काव्य-कृतियों की रचना की, वह राजनीतिक और सामाजिक दृष्टि से गाँधीवाद के

उत्कर्ष का काल था। देश की विशाल जनता को अपनी ओर आकृष्ट करने तथा साम्राज्यवाद विरोधी बनाने का सर्वाधिक श्रेय महात्मा गाँधी को था। उग्र वामपंथी गाँधी जी को स्वाधीनता प्राप्ति की राह में सबसे बड़ा रोड़ा मानती थी, तो प्रतिक्रियावादी हिन्दू और मुसलमान शक्तियाँ अपनी संकीर्णता को लिये हुए उनके विरोध में खड़ी थी। परन्तु इन दोनों ही अतिवादी दृष्टिकोण से निराला की स्थिति भिन्न थी। शर्मा जी के विचार से-''निराला का दृष्टिकोण इन लोगों से भिन्न थी। अपने लेखन काल के आरम्भ से ही उन्होंने गाँधीवादी के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपनाया था। वह उन थोड़े से सतर्क बुद्धिजीवियों में से थे जो न गाँधी जी के प्रति मोहाविष्ट थे न उनके अन्धविरोधी थे।''[11] ''महात्मा गाँधी संसार के सर्वश्रेष्ठ पुरूष थे'' की घोषणा करने वाले निराला उनकी समझौतावादी नीति का अंत तक विरोध भी करते हैं। गाँधी जी का निरालाजी से इस बात को लेकर मतभेद भी था कि वे साम्राज्यवाद उन्मूलन में किसान आन्दोलन को सम्मिलित नहीं कर रहे थे। उन्होंने भारतीय राजनीति में गाँधी जी के उत्तराधिकारी जवाहरलाल नेहरू की स्पष्ट आलेचना की है। डॉ0 शर्मा विचारधारा से अधिक महत्व मनुष्य के संस्कारों को देते हैं। उनके अनुसार ''निराला के किसान संस्कार वेदान्ती विचारधारा के सम्पर्क से उन्हें स्वभावतः समाजवादी आदर्श की ओर खींच लाते थे, जवाहरलाल नेहरू के अभिजातवर्गी संस्कार समाजवादी विचारधारा के सम्पर्क में आकर भी उन्हें पूँजीवाद के समर्थन की ओर प्रेरित करते थे।''[12]

डॉ0 शर्मा साहित्य के सम्बन्ध में निराला के रूढ़ि-भंजन संस्कारों की भी विवेचना करते हैं। रीतिकालीन श्रृंगारिकता के सम्बन्ध में साहित्य के अन्तर्गत जो आन्तरिक संघर्ष चल रहा था तथा निराला का इसके विषय में जो दृष्टिकोण था इसका विधिवत उल्लेख रामविलास जी करते हैं। निराला के पूर्व भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट आदि ने पुरानी रूढ़ियों को तोड़ने की कोशिश की लेकिन उनकी रचनाओं पर रीतिकालीन छाया व्याप्त थी। रीतिवाद का विरोध महावीर प्रसाद द्विवदी और मैथिलीशरण गुप्त ने भी किया, जिसके मूल में मुख्य रूप से उनकी नैतिकता थी, जो रीतिकालीन श्रृंगार के विरूद्ध थी। निराला ने भी विरोध किया लेकिन उसके मूल में साहित्यिक कारण थे। शर्मा जी लिखते हैं- ''अनेक गाँधीवादी विचारक रीतिवाद के विरोधी इसलिये थे कि उसमें श्रृंगार की अतिशयता थी, समाज के लिये उपयोगी विचारों की कमी थी। निराला रीतिवाद का विरोध इसलिये नहीं करते कि उसमें श्रृंगार अधिक है, उनके विरोध का कारण यह है कि उसमें श्रृंगार का उत्कर्ष नहीं है। कालिदास, रवीन्द्रनाथ, वर्डस्वर्थ और पंत की रचनाओं से नारी सौन्दर्य के चित्र देकर वे रीतिवादी सौन्दर्यबोध की तुलना में श्रृंगार के वास्तविक उत्कर्ष का समर्थन करते है। बंगाल के वैष्णव कवियों में श्रृंगार का जैसा उदात्त चित्रण है वैसा देव, बिहारी, मतिराम के यहाँ नहीं मिलता।... रवीन्द्रनाथ रस में डूबते हैं, बिहारी तटस्थ रहते हैं।''[13] निराला रीतिवादी सौन्दर्य वर्णन के विरोधी हैं। उनके मतानुसार श्रृंगारिक रचनाओं में एक प्रकार की भावुकता और तीव्रता होना अनिवार्य है, लेकिन वे भावोच्छ्वासपूर्ण कविता के समर्थक नहीं थे। विद्यापति के सम्बन्ध में भावुकता की बात करते हुए वे उसे मादक भी कहते हैं और तीव्र भी। वे स्थूल नैतिकता और उपयोगितावाद का विरोध करते हुए उसके स्थान पर सूक्ष्म उपयोगिकता के साथ उत्कृष्ट सौन्दर्य बोध का समर्थन करते हैं। डॉ0 शर्मा के अनुसार निराला नारी के सौन्दर्य, पुरूष और नारी की कामचेतना और उस चेतना की स्वाभाविक परिणति के कवि हैं।

विचारधारा सम्बन्धी इस विवेचना के पश्चात डॉ0 शर्मा निराला के भावबोध की विवेचना करते हैं। इसके सम्बन्ध में वे भूमिका में ही सूत्र रूप में इसका उल्लेख करते हुए लिखते हैं- ''निराला का स्वाधीनता प्रेम उनके साहित्य में अप्रत्याशित नये-नये रूपों में व्यक्त होता है। उनकी दार्शनिक मान्यताएँ अनेक अन्तर्विरोधों को पार करती हुई नारी और प्रकृति के मोहक चित्रों के साथ साहित्य में व्यक्त होती है। नये मानवतावाद के प्रतिष्ठापक निराला के साहित्य में मनुष्य वीर, क्रान्तिकारी, योद्धा, कवि, निरन्तर संघर्षशील, साथ ही अन्तर्द्वन्द्व, ग्लानि और पराजय से पीड़ित साधारण मनुष्य भी है। निराला सौन्दर्य और उल्लास के कवि हैं, दुःख और मृत्यु के भी।''[14] इस प्रकार से हम देखते हैं कि भावबोध के अन्तर्गत डॉ0 शर्मा ने कवि के स्वाधीनता प्रेम, क्रान्ति की आकांक्षा, नव्य मानवतावाद, आत्मसंघर्ष तथा मृत्यु आदि के स्वरूप पर प्रकाश डाला है।

निराला की प्रथम प्रकाशित कविता जन्मभूमि पर ही लिखी गई थी जिसका शीर्षक है 'जन्मभूमि मेरी है जगन्महारानी'। उनकी प्रथम कविता से लेकर उनके अन्तिम काव्य संग्रह 'सांध्यकाकली' की विभिन्न रचनाओं में देश-प्रेम और स्वाधीनता के भावचित्र मौजूद है। डॉ0 शर्मा के अनुसार निराला की आस्था का आधार और कर्मो का लक्ष्य भारत है और वे उनके स्वाधीनता प्रेम के अन्तर्गत इसी भारत प्रेम को देखते हैं। वे लिखते हैं- ''देशवासियों की पराधीनता देखकर निराला के मन में अनेक भाव पैदा होते हैं। कभी मन अवसादग्रस्त हो जाता हैं, कभी अतीत का स्मरण करके जनता में राष्ट्रीय आत्मसम्मान का भाव जगाते हैं, पराधीनता से समझौता करने वालों पर क्रुद्ध होते हैं।[15] उनकी आस्था के मूल में सर्वत्र 'भारत' को ही प्रतिष्ठित किया गया है-''निराला की धार्मिक आस्था उनकी भक्ति का आधार भारत है। उनकी रचनाओं में देवी सरस्वती, काली, महावीर आदि देवताओं की प्रतिष्ठा है। शिक्षा, संस्कार, परिवेश अनेक कारणों से उनके मन में भक्ति भाव का उदय होना स्वाभाविक है। देवी पूजा अवध में भी होती है, बंगाल में विशेष, परम वेदान्ती रामकृष्ण परमहंस और उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द में दुर्गा या काली के प्रति यह भक्तिभाव अनेक स्थलों पर झलकता है। निराला की कविता में जब राम परास्त होते हैं, स्वयं को धिक्कारते हैं, सीता का उद्धार, विभीषण का राजतिलक असंभव स्वप्न सा लगता है तब वह विजय प्राप्ति के लिये दुर्गा की ही पूजा करते हैं।''[16] यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि देश के प्रति प्रेम और आस्था होना एक बात है और धार्मिक आस्था दूसरी बात।

उनकी धार्मिक आस्था से सम्बन्धित भक्तिपरक कविताओं में सर्वत्र भारत प्रेम को ही नहीं देखा जा सकता। निराला का स्वाधीनता प्रेम सामाजिक क्रान्ति से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। निराला की क्रान्तिकारिता का उल्लेख करते हुए रामविलास जी लिखते हैं- ''निराला क्रान्ति के कवि हैं, उस क्रान्ति के जिसका लक्ष्य भारत को विदेशी पराधीनता से मुक्त कराना ही नहीं, जनता के सामाजिक जीवन में मौलिक परिवर्तन करना भी है। क्रान्तिकारी परिवर्तन की यह आकाक्षां 29 दिसम्बर सन् '23 के मतवाला में प्रकाशित उनकी कविता 'धारा' से लेकर सांध्यकाकली' में प्रकाशित अन्तिम दौर की शिवतांडव वाली कविता तक अनेक रूपों में भाव-बोध के अनेक स्तरों पर व्यक्त हुई है।''[17]

निराला जी क्रान्तिपरक रचनाओं में ध्वंस भी है और निर्माण भी। वस्तुतः उकनी क्रान्ति का विनाशात्मक उद्देश्य तो तात्कालिक और अस्थायी है, उसका मूल उद्देश्य रचनात्मक और स्थायी है। चाहे उनकी 'धार' कविता हो या 'बादल राग' सर्वत्र नाश में निर्माण की बात दिखाई गई है। निराला के क्रान्ति के चित्रण में अनेक प्रतीकों का उपयोग किया गया है जैसे- धारा, बादल, शिव और काली, पुराने पत्तों का झरना, नये पत्तों का आना, पृथ्वी के ह्रदय में सोते हुए अंकुरों का फूटना आदि।

डॉ0 शर्मा के अनुसार निराला हिन्दी साहित्य में नए मानवतावाद के प्रतिष्ठापक हैं। वे उनके नव्य मानवतावाद का परिचय देते हुए लिखते हैं- ''उनका मानवतावाद उनके देशप्रेम और क्रान्तिकारी भावना से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है। निराला के मानवतावाद की विशेषताएँ हैं- दुःख और पराजय का ज्ञान, संघर्ष की कठिनाइयों और मार्ग के अवरोधों का चित्रण, मनुष्य के धैर्य और उसकी वीरता की अभिव्यंजना।''[18] फिर वे उसके क्रमागत विकास का उल्लेख करते हुए लिखते हैं- ''धारा', 'अवगाहन', (6) 'जागो फिर एक बार' (2), और महाराज शिवाजी का पत्र- इन कविताओं को इस क्रम से पढ़ा जाए तो निराला के मानवतावाद के विकास की दिशा समझ में आ जाएगी। अतिमानव की जो झलक प्रारंभिक रचनाओं में हैं, वह क्रमशः क्षीण होती जाती है; सामान्य मानवता का बोध और गहरा होता जाता है। जैसे-जैसे आंतरिक ग्लानि और पीड़ा का बोध तीव्र होता है, वैसे ही जिन परिस्थितियों से संघर्ष करना है, उनकी रूपरेखाा और साफ दिखाई देती है। उसी अनुपात में मनुष्य की दृढ़ता, संघर्ष में पैर जमाए रखने की क्षमता भी मानों बढ़ती जाती है।''[19] रामविलास जी के अनुसार निराला ने सहित्य मे जिस मानवतावाद की प्रतिष्ठा की, उसके विकास का इतिहास भारतीय जन-आन्दोलन के उतार-चढ़ाव का इतिहास है। उनकी सभी रचनाओं में विभिन्न स्तरों पर मनुष्य के संघर्ष और उसकी वीरता की कहानी कही गयी है। सन् '30 तक की रचनाओं में विप्लव के गीत हैं। तीस से चालीस के दशक में उनकी मानवीय सहानुभूति में और भी गहराई आ जाती है। दूसरे महायुद्ध के बाद उनके मानवतावाद के साथ आक्रोश भी जुड़ जाता है-''करूणा से अधिक इसमें आक्रोश है, दुःख की अनुभूति से अधिक इसमें सामूहिक संघर्ष की ललक है। स्वाधीन भारत में जनता के क्रान्तिकारी उभार समाप्त हो गए, निराला के साहित्य में वह ललक भी न रही, किन्तु एक थिरायी हुई करूणा, जिन मनुष्यों की मुक्ति के सपने उन्होंने सन् '46 तक देखे थे उनके प्रति गहरी सहानुभूति, 'अर्चना' से 'साध्यंकाकली' तक देखने को मिलते हैं।''[20]

डॉ0 शर्मा के अनुसार निराला दुःख, संघर्ष और मृत्यु के कवि हैं। वे लिखते हैं- ''जब कड़ी मारें पड़ी, दिल हिल उठा सन् 21 में इस कविता से लेकर सन् 61 में पत्रोत्कांठित जीवन को विष बुझा हुआ है तक निराला-काव्य में दुःख, संघर्ष और मृत्यु का यह क्रम बराबर चलता रहा है।''[21] निराला के दुःख, के दो प्रमुख कारण हैं- एक तो समाज और साहित्य में उनका विरोध और दूसरा आर्थिक कारण, उनके जीवन में साधारण सुख-सुविधाओं का अभावः ''पक्ष दो हैं- आर्थिक और सांस्कृतिक; उनसे निर्मित इकाई है निराला का परिवेश।''[22] निराला की रचनाओं में दुःख से मुक्ति पाने के लिये अपने सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश से लगातार संघर्ष के स्वर सुनाई देते हैं। डॉ0 शर्मा के अनुसार-''निराला अपने मन में जो दुःख, क्षोभ और ग्लानि के भाव दबाते हैं, उनमें सबसे विकट है अपमान का भाव।''[23] निराला अपमान की भावना को नियंत्रित रखना चाहते हैं लेकिन वह बार-बार नैतिक मर्यादा तोड़ देती है। निराला व्यथित होकर भी उस अपमान की ज्वाला को अपने जीवन की प्रेरणा और शक्ति बना लेते हैं। यही कारण है कि निराला काव्य में दुःख और मृत्यु की भावनाओं के बावजूद दैन्य का भाव नहीं है। पराजय मे भी विजयाकांक्षी स्वर उनकी रचनाओं में धीमा नहीं होता है।

'निराला की साहित्य साधना' खण्ड (2) में निराला काव्य के कलात्मक पक्ष पर भी विस्तार के विचार किया गया है। विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत निराला की वक्तृत्वकला, स्थापत्य, प्रतीक योजना, बिंब-योजना, ध्वनि प्रवाह, शब्द सौन्दर्य, अर्थ-चमत्कार आदि का विश्लेषण करते हुए डॉ0 शर्मा ने निराला की काव्य-कला को उनके भावबोध से संबद्ध माना है। निराला के वक्तृत्व कला की विवेचना करते हुए डॉ0 शर्मा लिखते हैं-''काव्य का ओजपूर्ण प्रवाह इस वक्तृत्व कला का विशेषता है। निराला अमूर्त तर्क योजना छोड़कर या उसके साथ, जितना ही मूर्त चित्रण का सहारा लेते हैं, उतना ही यह कला सफल होती है।''[24] डॉ0 शर्मा ने 'पंचवटी प्रसंग', 'महाराज शिवाजी का पत्र', 'जागो फिर एक बार', 'बादल राग' और 'राम की शक्ति पूजा जैसी लम्बी कविताओं में निराला की लम्बी कविताओं का चुनाव करते हुए उनकी वक्तृत्व कला का सफल प्रयोग दिखाया है। रामविलास शर्मा के अनुसार निराला पहले कविता का नक्शा बनाते हैं फिर कविता की रचना करते हैं। वे आरम्भ में ही इसका उल्लेख करते हुए लिखते हैं-''आदमी जैसे नक्शा बनाता है, फिर नक्शे के अनुसार मकान बनाता है, वैसे ही निराला पहले नक्शा बनाते हैं, फिर कविता रचते हैं। कोई काम वे हमेशा एक ही ढंग से नहीं करते, यह रचना पद्धति भी वे छोड़ देते

हैं। फिर भी उनकी बहुत सी रचनाओं में उनका नक्शा पहचाना जा सकता है।''[25] लेकिन नक्शा बनाने की उनकी यह कला कहीं तो सफल है तो कहीं नहीं भी। जैसे ''देवी सरस्वती' और 'प्रसाद के प्रति' रचनाओं में देश की सांस्कृतिक विरासत और आधुनिक साहित्य का विकास चित्रित करने के लिये बारहमासे वाला साँचा बड़े काम का साबित होता है, किन्तु 'तुलसीदास' में यही साँचा कमजोर पड़ जाता है।

निराला की प्रतीक योजना के सम्दर्भ में डॉ0 शर्मा का विचार है कि उन्होंने कुछ परम्परागत और रूढ़ प्रतीकों का उपयोग साहित्य में बड़े ही मौलिक और चमत्कारी ढंग से किया है। एक ही प्रतीक का प्रयोग वे विभिन्न सन्दर्भों में अलग-अलग ढंग से करते हैं। शर्मा जी के अनुसार निराला की प्रतीक योजना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि एक ही प्रतीक भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में विरोधी भावों से जुड़ जाता है। वे लिखते हैं-''वर्षा सृजन की ऋतु है, (ध्वंस की भी)। 'तुलसीदास' में उसके ध्वंस वाले रूप का उपयोग किया गया है। 'बादल राग' छंद में ध्वंस और सृजन दोनों वर्षा से सम्बद्ध है। इस तरह की विरोधी क्रियाएँ प्रकृति में देखी जाती हैं, निराला उन्हीं परस्पर विरोधी फिर भी आपस में सम्बद्ध प्राकृतिक क्रियाओं को कविता में प्रतिबिम्बित करते हैं। जो विष मनुष्य का जीवन लेता है, वह उसे जीवन दे भी सकता है। विष बिम्ब का ऐसा ही उपयोग निराला काव्य में है।''[26] डॉ0 शर्मा बताते हैं कि निराला को अनुप्रास बहुत प्रिय है, अतुकांत रचनाओं में भी वह उनका प्रयोग करते हैं। अनुप्रास के प्रति वे इतने अधिक आकृष्ट थे कि शायद ही कोई रचना हो जो अनुप्रास मुक्त हो। 'राम की शक्ति पूजा' में समध्वनि वाले अनुप्रासों का सघन प्रयोग किया गया है। ध्वन्यात्मकता के कारण आवेशमयता अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाती है। इसके सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है-''निराला की कला में बिहारी के दोहों की काँट-छाँट नहीं है। तथाकथित क्लासिकल कवियों की तरह वे तराशी हुई कला के हिमायती नहीं हैं, जितनी ध्वनि अर्थ की व्यंजना के लिये आवश्यक हो, उतनी ही कविता में सुनाई दे, यह मत उनका नहीं है। यह अपने आनन्ददयक है- अर्थ से स्वतन्त्र अलंकार की तरह।''[27]

इस प्रकार हम देखते हैं कि डॉ0 शर्मा ने अपने प्रिय कवि सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की विचारधारा, भावबोध और कला का गहन विश्लेषण करते हुए उनका विस्तृत मूल्यांकन किया है। वे निराला-साहित्य की विवेचना करते हुए उनकी विशेषताओं और अंतर्विरोधों को भी उजागर करते हैं। साथ ही वे यह स्थापित भी करते हैं कि निराला अपने अन्तर्विरोधों को पार करते हुए अपनी क्रान्तिकारी चेतना और मानवतावाद के आधार पर अपनी रचनाओं में यथार्थवाद का विकास करते हैं। उन्होंने निराला की काव्य-साधना का गम्भीर एवं सूक्ष्म समीक्षा कर अपनी गम्भीर आलोचकीय दायित्व का निर्वाह किया है। वास्तव में निराला की विशद्साहित्य-साधना को प्रकाश में लाने के लिये रामविलास जी ने तीन खण्डों में अपनी कालजयी पुस्तक 'निराला की साहित्य साधना' की रचना की, जो हिन्दी साहित्य में निराला को वास्तविक एवं स्तरीय महत्व प्रदान कर उन्हें सम्पूर्ण हिंदी साहित्य का अप्रतिम रचनाकार सिद्ध किया।

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

1. रामविलास शर्मा, 'रूपतरंग और प्रगतिशील कविता की वैचारिक पृष्ठभूमि' (प्र. सं. की भूमिका), वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली।
2. रामविलास शर्मा, 'विरामचिह्न', वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ. 44
3. वही, पृ. 57
4. रामविलास शर्मा, 'निराला' द्वि. सं. (भूमिका), राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली।
5. रामविलास शर्मा, 'निराला', प्र.सं. (भूमिका), राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली।
6. रामविलास शर्मा, 'निराला की साहित्य साधना' (भाग दो), प्र. सं. (भूमिका), राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली।
7. रामविलास शर्मा, 'निराला की साहित्य साधना' (भाग दो), राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ. 14
8. वही, पृ. 29
9. वही, पृ. 39
10. वही, पृ. 53
11. वही, पृ. 75
12. वही, पृ. 94
13. वही, पृ. 135
14. रामविलास शर्मा, 'निराला की साहित्य साधना' (भाग दो), प्र. सं. (भूमिका), राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली।
15. रामविलास शर्मा, 'निराला की साहित्य साधना' (भाग दो), राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ. 148-149
16. वही, पृ. 150
17. वही, पृ. 154
18. वही, पृ. 169
19. वही, पृ. 166
20. वही, पृ. 169
21. वही, पृ. 239
22. वही, पृ. 240
23. वही, पृ. 249
24. वही, पृ. 276
25. वही, पृ. 293
26. वही, पृ. 326
27. वही, पृ. 343

घनानन्द : साक्षात् रसमूर्ति

प्रो. रामकली सराफ[*]

रीतिकाल की सामंतीय मनोवृत्ति वैभव-विलास की भौतिक चमक-दमक से ओत-प्रोत थी। दरबारों में सौंदर्य की उपासना तथा उपभोग की होड़ लगी हुई थी। सभी प्रकार की ललित-कलाओं चाहे वह काव्य, संगीत, चित्र, वस्तु कुछ भी हो सभी को उपयुक्त संरक्षण और राज्याश्रय प्राप्त था। यही कारण था कि इस युग की कलाओं में शृङ्गारिकता और चमत्कार प्रदर्शन का प्राधान्य था। बाह्य साज-सज्जा और अलंकरण की ओर कलाकारों का ध्यान अधिक था। इसी स्थूलता के कारण कलायें अन्तर्मन का स्पर्श करने में असमर्थ होती जा रही थीं। इसी परिवेश के बीच घनानन्द का काव्य वैयक्तिक जीवन के भोगे हुए यथार्थ की शुद्ध आत्माभिव्यक्ति है। कवि ने अपने जीवनगत अनुभवों को बड़ी ईमानदारी से रक्खा है। कवि का स्वच्छन्दतावादी मन किसी भी बन्धन को ओढ़ने के लिए तैयार नहीं था। घनानन्द ने अपने अन्तःकरण की सच्चाई से काव्य को नया रूप दिया, जिस प्रेम की पीड़ा को भोगा उसी को वाणी दी- 'लोग हैं लागी कवित्त बनावत, मोहि तो मेरो कवित्त बनावत।' अपने हृदय की उन्मुक्त वाणी को ही काव्य कलेवर से सज्जित किया। दरबार में रहते हुए भी इनकी रुचि खुशामदप्रियता और कोरी कलाप्रियता से परे हटकर प्रेम की जीवनगत स्वच्छन्दता और काव्यगत स्वच्छन्दता में रमी। जबकि अन्य रीतिमार्गी कवि राजदरबार में रहते हुए राजाओं और महाराजाओं की खुशामद में कविताएँ लिखकर बड़प्पन पाना ही अपनी सफलता समझते रहे। परन्तु घनानन्द को जहाँ कहीं भी युगीन परिवेश और परम्परागत बाह्य प्रभावों ने अभिभूत करने की चेष्टा की वहाँ इनकी आत्मा विद्रोह कर उठी। घनानन्द ने दरबारी मर्यादा के प्रतिकूल अपनी प्रियतमा 'सुजान' की ओर मुँह करके गाना सुनाया जिसका परिणाम दरबारी बहिष्करण के रूप में मिला। इस कठोर आघात को भी घनानन्द ने सहर्ष झेल लिया, कहीं भी डगमगाये नहीं वरन् दृढ़ रहकर इनका प्रेम उदात्त, श्रेष्ठ रूप धारण करने लगा। समस्त जातीय बन्धनों और दरबारी मर्यादा का उल्लंघन कर घनानन्द ने हिन्दू होते हुए भी मुसलमान वेश्या से प्रेम किया और डंके की चोट पर भरे दरबार में स्वीकार भी कर लिया। सामाजिक शालीनता इनके प्रेम में झिझक नहीं उत्पन्न कर सकी। अतः इस दरबारी संस्कृति की निर्ममता के चलते ही कवि ने अपने काव्य का महत्त्वपूर्ण पक्ष लिखकर उन्मुक्त प्रेम को वाणी दी।

इस प्रकार प्रेम में सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथा अनिर्वचनीय मानसिक व्यापारों का जितना सुन्दर वर्णन अपनी कविता द्वारा इन्होंने किया वैसा बहुत कम कवि कर पाये। कवियों ने अपने निराश तथा अतृप्त हृदय के संतोष के लिए एक अन्य मार्ग चुना और अपने लौकिक प्रेम की तीव्रता का माध्यम अलौकिक राधा-कृष्ण को बनाया। परन्तु घनानन्द ने आवेगात्मक तीव्रता को वाणी दी 'सुजान' के माध्यम से ही। अन्त तक इनके मनोराज्य में सुजान ही छायी रही। यही कारण है कि भले ही घनानन्द विरक्त जीवन में वृन्दावन, मथुरा चले गये और राधा-कृष्ण के भक्त हो गये पर भक्ति उनके जीवन का मुख्य केन्द्र बिन्दु न बन सकी, वे 'प्रेम की पीर' का ही गान करते रहे। प्रेम की असफलता और तज्जन्य वियोग-व्यथा का मार्मिक उद्घाटन ही सम्पूर्ण काव्य में हुआ। यही कारण है अपने पिछले जीवन में घनानन्द विरक्त भक्त के रूप में वृन्दावन जा रहे पर इनकी अधिकांश कविता भक्तिकाव्य की कोटि में नहीं आयेगी, शृङ्गार की ही कही जायेगी।

घनानन्द ने अपने मनोवेगों के प्रवाह में बहकर ही कवितायें लिखीं। इनका प्रेम केवल नारी के स्थूल शारीरिक सौन्दर्य तक ही सीमित नहीं रहा वरन् उसमें सूक्ष्म और आंतरिक सौन्दर्य की प्रधानता थी। ''रीतिबद्ध कवियों का प्रेम अनुभूत नहीं था। इन कवियों का प्रेम 'कंठप्रेम'[2] है जो बुद्धि जन्य और बुद्धिगम्य है। इस रीतिबद्ध रचनाओं में विलास की रसिकता है। इस रसिकता में भी किसी प्रकार का गांभीर्य या आंतरिकता हो ऐसा भी नहीं वरन् स्थूल शारीरिकता की ही सर्वत्र प्रधानता है। यही कारण है रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि देव, बिहारी, मतिराम, पद्माकर रसिक ही हैं प्रेमी नहीं। यही कारण है ''समस्त रीतिबद्ध, रीतिमुक्त कवियों में घनानन्द का प्रेम अपने अनोखेपन (यूनीकनेस) के कारण अद्वितीय है। यह अद्वितीयता उनके वैयक्तिक प्रेम के पूर्ण स्वीकार में निहित है। उनके भीतर के भक्त ने आध्यात्मिक प्रेम को उसी में सन्निहित कर लिया। यह प्रेम जगह-जगह पर आध्यात्मिक होकर सूक्तियों की रहस्य-चेतना से अभिमंडित हो जाता है।''[3]

नायिका-भेद की प्रकृति भी रीतिकाल की प्रमुख विशेषता थी। नायिका की विभिन्न अन्तर्दशाओं के चित्रण की ओर ही रीतिबद्ध कवियों का ध्यान रहा परन्तु घनानन्द को अन्तर्जगत के भावों का विश्लेषण करना ही अभीष्ट रहा, पर कहीं-कहीं मानिनी और खण्डिता नायिकाओं के चित्रण भी मिल जाते हैं। प्रोषितपतिकानायिका के चित्रण को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व देते हुए लिखा है-

जासौं प्रीति ताई निठुराई ओं निपट नेह
कैसे करि पिय की जरनि सो जताईये
कहा निरदई! दई कैसे कै जीवाऊँ जीव
वेदन की बढ़वारि कहाँ लौ दुराईये।

* प्रोफेसरा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

वेदना की मूक आन्तरिक अभिव्यक्ति घनानन्द के लिए स्वाभाविक ही है। इसी प्रकार अन्य खण्डिता नायिका के द्वारा नायक के नेत्रों की लालिमा को स्पष्ट करने के लिए 'साँझ सी फूली' जैसे अप्रस्तुत का प्रयोग कर नायक के रात भर जागने की बात को संध्या की ललाई के माध्यम से प्रभावोत्पादक ढंग से अभिव्यक्ति दी है-

'आए हौं भोर भए घनआनन्द आंखिन मांझ तौ साँझ सी फूली।'

रीतिकालीन कवियों ने दूती-सखी आदि को माध्यम बनाकर शृङ्गारिक चित्रों को खींचा, वहीं घनानन्द के काव्य में आत्मनिवेदन की प्रधानता है। क्योंकि मध्यस्थ प्रेमानुभूति की गंभीरता को नहीं समझा सकता। कवि ठाकुर ने भी प्रेम की अनुभूति को हृदय की वस्तु मानकर बार-बार 'हृदय में गुप्त' रखने की बात कही है। मिलन, अभिसार, विरह-निवेदन सब कुछ की अभिव्यक्ति स्वयं से ही संभव है। यह अन्तर्मुखी प्रेम ही घनानन्द के काव्य को बहिर्मुखी रीतिकालीन कवियों से अलग करता है।

रीतिकालीन दरबारी कविता में शृङ्गार का ऐहिक चित्रण ही अधिक हुआ है। कवियों की दृष्टि नारी के शारीरिक सौन्दर्य की स्थूल अभिव्यक्ति में ही लगी रही। घनानन्द के काव्य का केन्द्र बिन्दु तो विषम प्रेम है। इसी प्रीति-विषमता के कारण प्रेम व्यंजना में उदात्त तत्त्वों का समावेश हो गया है। सच्चा प्रेम तो प्रिय के विमुख हो जाने पर भी पूर्ववत् बना रहता है, उसमें प्रतिदान की इच्छा नहीं रहती, उत्सर्ग करने का भाव ही प्रमुख रहता है-

चाहो अनचाहो जान प्यारे वो आनन्दघन

प्रीति-रीति विषम सु रोम-रोम रमी है।

नख-शिख सौन्दर्य-चित्रण भी रीतिकाल की एक अन्य विशेषता है। केशव, देव, बिहारी, पद्माकर आदि सभी कवियों ने नख-शिख वर्णन में ही अपना कौशल दिखाया परन्तु घनानन्द की दृष्टि केश, वेणी, भौहें, नासिका, नयन, कपोल अधर, चिबुक, मुख, कुच, जंघा, कटि आदि अंग-प्रत्यंगों के चित्रण में न रमकर आन्तरिक भाव-चित्रण की ओर ही लगी रही। घनानन्द ने रीतिसूचक हाव-भाव, मुद्राओं का निम्न पंक्तियों में कितना सजीव चित्रण किया है-

लाजनि लपेटी चितवनि भेद-भाव भरी,

लसति ललित लोल चख तिरछानि में।

छबि को सदन गोरो बदन रुचिर भाल,

रस निचुरत मीठी मृदु मुसक्यानि में।

दसन दमन फैली हिए मोती माल,

पिय सों लड़ति प्रेम पगी बतरानि में।

आनन्द की निधि जगमगाति छबीली बाल,

अंगनि अनंग रंग ढुरि मुरि जानिमे।।

नायिका के विभिन्न हाव-भावों और रूप का कितना सरल चित्रण है। नायिका के नूतन सौन्दर्य की गतिशीलता के साथ-साथ भाषा की भंगिमा भी अभिव्यक्ति को मार्मिकता प्रदान करती है। 'रसनिचुरत' शब्द में बिम्बात्मकता है। जिस प्रकार किसी रसीली वस्तु को हाथ में उठाते ही रस चूने लगता है वैसे ही नायिका का हास भी रसीला है। अन्तिम पंक्ति में अंगों का अनंग रंग में रँगना और विशेष भंगिमा से मुड़ना विविध हाव-भावों का द्योतक है।

रीतिकालीन अन्य कवियों की भाँति घनानन्द ने प्रकृति का उद्दीपन रूप में ही चित्रण किया है परन्तु उसमें जीवन्तता है, विरह को तीव्र बनाने की क्षमता है-

पायिनी डरारी मारति सांपिनी निसा बिसारी।

बैरिनी अनोखा भोंहि डाहनि डसति है।

यहाँ काली रात और सर्पिणी में रूप-साम्य है। इसी कारण रात्रि को देख कर जो प्रभाव ध्वनित हो रहा है वह सर्पिणी की विकरालता के प्रभाव से मिल जाता है। घनानन्द से पहले सूरदास ने भी विरह की तीक्ष्णता के व्यापक प्रभाव का वर्णन इस प्रकार किया था- 'पिय बिनु नागिन कारी रात।' चाँदनी जो संयोगावस्था में शीतलता प्रदान करती थी परन्तु अब प्रिय-वियोग के समय अंग-अंग दग्ध कर रही है। परन्तु विलक्षण बात यह है कि आग की लपटें तो ऊपर को गमन करती है पर चांदनी की ज्वाला ऊपर से नीचे की ओर आ रही है-

है विपरीत महाघन आनन्द अम्बर ते धर को झर आई।

जारत अंग अनंग की आँचनि जोन्ह नहीं सुनई अंगिलाई।।

यहाँ पर कवि ने चाँदनी के लिए अंगिलाई शब्द की योजना की है जो प्रसंग को मार्मिक बनाने में सहायक हुआ है। चांदनी संयोग में तो शीतलता प्रदान करती थी, वही चाँदनी वियोग में कुछ और ही हो गई है मानो उसकी प्रकृति ही परिवर्तित हो गई हो क्योंकि चांदनी शीतलता पहुँचाने की अपेक्षा काम की ज्वाला को प्रज्ज्वलित करने वाली है। यह आग साधारण आग से नितान्त भिन्न है। सामान्य अग्नि तो पृथ्वी से आकाश की ओर जाती है परन्तु यह आकाश से पृथ्वी की ओर आती है। कितनी विचित्र अग्नि है। यह विरोधत्व ही प्रसंग को विशिष्ट और मार्मिक बनाने में सहायक हुआ है।

कला की दृष्टि से उक्ति वैचित्र्य और कलात्मक सजावट का पूरे रीतिकाल में प्राधान्य रहा है, जिसके माध्यम से मतिराम, देव, बिहारी, पद्माकर आदि ने प्रेम की स्थूलता को चरम शिखर पर पहुँचा दिया। ''कला में बाह्य सजगता के कारण बारीकी और पच्चीकारी की सूक्ष्मता अधिक है। परन्तु रीतिमुक्त कवि इस अर्थ में

भिन्न हैं उनके कला-उपकरणों के चयन और विन्यास में प्रबल भावावेगों का संयमन है। उनका साध्य बाह्य साज-सज्जा न होकर अन्तर्जगत के वैशिष्ट्य को उभारना ही रहा है। इस तरह रीतिकाव्य की कलाओं का मूल आधारभूत तत्त्व है भंगिमा। स्वच्छन्दकर्त्ता में भंगिमा कदाचित् न भी हो पर भंगिमा अवश्य रहेगी।''[4] अतः साधनाख्या होने के कारण रीतिमुक्त कवियों के कलात्मक उपादानों में स्वाभाविकता, सहजता, सजीवता तथा स्फूर्ति अधिक है।

स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा और घनानन्द

रीतिकालीन स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा और आधुनिक हिन्दी स्वच्छन्दतावाद अथवा छायावाद के बीच किसी प्रकार की समता की खोज एक भ्रम पैदा कर सकता है। इसलिए जब हम रीतिकालीन स्वच्छन्दतावादी कवि घनानन्द के बारे में विचार करने चलें तो यह ध्यान में रखना होगा कि घनानन्द एक सीमित अर्थ में ही स्वच्छन्दतावादी कवि हैं क्योंकि आधुनिक रोमैंटिक कविता जिस सामाजिक आन्दोलन की उपज है और जिस प्रकार सर्वथा नई काव्य-प्रकृति अस्तित्व में आयी उससे घनानन्द की पृष्ठभूमि नितान्त भिन्न है। घनानन्द के सन्दर्भ में स्वच्छन्दता का अर्थ मात्र इतना है- रीति के बन्धन से मुक्त रहना, शास्त्रानुमोदित काव्य-पद्धति से पृथक् रहकर स्वतन्त्र रचना करना।

इस प्रकार स्वच्छन्दता आवेगाकूल मन की मुक्त दशा का नाम है जिसमें परम्परा और रूढ़ियों के बन्धन से मुक्ति पाने का भाव अन्तर्निहित रहता है। इस बन्धनमुक्त की प्रक्रिया में सब कुछ नवीन बनकर उपस्थित होता है। काव्य की 'स्वच्छन्द प्रेमधारा' से तात्पर्य काव्य की ऐसी पद्धति से है जो सहज-स्वाभाविक प्रेम भावना से युक्त हो जिसमें बाहरी दिखावा या आडम्बरप्रियता नहीं होती। प्रेम के स्वतः स्फूर्त भावों का उद्रेक होता है। पूर्ववर्णित शास्त्र-प्रेरित प्रेम की परिपाटी से भिन्न स्वतंत्र, स्वच्छन्द प्रेमाभिव्यंजना होती है। इसमें प्रेम का बौद्धिक-विश्लेषण न कर उन्मुक्त हृदय से सहज स्वाभाविक उद्गारों का चित्रण होता है अर्थात् भावों की प्रधानता होती है। आन्तरिकता ही जिसका विशिष्ट गुण है, ऐसे प्रेम का चित्रण ही स्वच्छन्द प्रेमधारा का वैशिष्ट्य है। जैसा कि विश्वनाथ मिश्र ने लिखा है- ''स्वच्छन्द काव्य भावभावित होता है, बुद्धिबोधित नहीं, इसलिए आन्तरिकता उसका सर्वोपरि गुण है। आन्तरिकता की इस प्रवृत्ति से स्वतंत्र काव्य की साधना-सम्पत्ति शासित रहती है और यही वह दृष्टि है जिसके द्वारा इन कर्त्ताओं की रचना के मूल उत्स तक पहुँचा जा सकता है।''[5] रीतिकाल के कतिपय उन महत्त्वपूर्ण कवियों को जिन्होंने स्वच्छन्द प्रेम के भावपूर्ण उद्गार प्रकट किए हैं, रीतिमुक्त या स्वच्छन्द काव्यधारा के कवियों में गिना जाता है। ×× रीतिबद्ध ढाँचे की अस्वीकृति तथा ऐकान्तिक प्रेम आदि के कारण इन कवियों को स्वच्छन्दतावादी कहा जाता है। आलम, रसखान, घनानन्द, बोधा, ठाकुर और द्विजदेव को रीतिमुक्त या रीतिस्वच्छन्द शृङ्गारी कवियों में श्रेष्ठता प्रदान की जाती है।

स्वच्छन्द प्रेम धारा के इतिहास पर दृष्टि निक्षेप करने पर पता चलता है कि स्वच्छंद धारा की कृति संस्कृत के प्राचीन काव्यों में मिलती थी। बाद में हिन्दी साहित्य के प्रारम्भ में दो कृतियाँ मिलती हैं। पहली कृति 'ढोला मारु रा दूहा' है, जिसके लेखक और रचनाकाल के बारे में ठीक-ठीक पता नहीं चलता परन्तु इसमें ढोला और मारवाणी की प्रेम कथा का सहज-सरल अभिव्यंजन है, पूरे काव्य में कलात्मकता की अपेक्षा सरसता,. मार्मिकता और निश्छलता के गुण विद्यमान हैं। इसके बाद अब्दुल रहमान की 'संदेशरासक' नामक कृति है जिसमें किसी विरहिणी का विरह-संदेश है। यह बड़ा ही सरस विरहकाव्य है जिसमें नायिका के कोमल हृदय की भावनायें निश्छल और निष्कपट भाव से अभिव्यक्त हुई हैं। यद्यपि यह आरम्भिक रचना है पर वर्णन चाहे रूप के हों अथवा प्रकृति के या ऋतुओं के सभी काव्यात्मक सौन्दर्य से भरपूर हैं।

तत्पश्चात् रसखान और आलम का नाम लिया जाता है। 'सुजान-रसखान' और 'प्रेम-वाटिका' रसखान के प्रसिद्ध काव्य हैं। इन काव्यों की रचना कवित्त, सवैयों और दोहों में हुई जिसका मूल स्वर कृष्ण-भक्ति है परन्तु भक्ति-भावना के भीतर भी लौकिक प्रेम-व्यञ्जना का ही प्राधान्य है। प्रेमानुभूति का मार्मिक चित्रण है और एक-एक शब्द में प्रेम की उन्मत्तता और हृदय की टीस विद्यमान है। प्रेम-निरूपण में रसखान ने शास्त्रीय पद्धति का अनुसरण नहीं किया है वरन् भावों की सीधी अभिव्यक्ति की है। प्रेम के लौकिक-अलौकिक पक्ष पर बौद्धिक रूप से विश्लेषण करते हुए रसानुभूति का ही चित्रण किया है, पारम्परिक भक्ति-भाव नहीं है। भाषा सरस और सरल, माधुर्य एवं लालित्य से युक्त आडम्बरहीन है, कहीं भी अभिव्यक्ति उक्ति-भंगिमा से युक्त नहीं है।

आलम द्वारा लिखित प्रबन्ध-रचनायें 'माधवानल कामकंदला' और 'श्यामसनेही' हैं। इनका 'आलमकेलि' नामक ग्रन्थ मुक्तकों का संग्रह है। आलम प्रेमोन्मत्त कवि थे। प्रेम की तरंग में आकर ही काव्य रचना करते थे। इनके प्रबंधों पर इसी कारण न तो सूफियों का प्रभाव था और न भक्ति-सम्प्रदाय का। हृदयत्व की प्रधानता होने के कारण पूरे के पूरे काव्य में 'प्रेम की पीर' का ही वर्णन है। प्रेम की तन्मयता के कारण ही लौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति अकृत्रिम शैली में हुई है। इन्होंने प्रेम के स्वानुभूतिजन्य अनुभव को ही काव्यबद्ध किया है। इनका प्रेम अभिलाष प्रधान है। प्रिय-प्राप्ति के बाद भी उन्हें तृप्ति नहीं होती- 'देखे टक लागै, अनदेखे पलकौ न लागै' उभयविध मन व्याकुल है, व्यथा से सिक्त है। इनके पूरे काव्य में भावनाओं तथा अनुभूतियों की सहज, स्वाभाविक अभिव्यंजना है। उसमें प्रेम जन्य व्यथा,. मिलन का आनन्द और विरह-वेदना का चित्रण है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है- ''आलम रीतिबद्ध रचना करने वाले नहीं थे। प्रेमोन्मत्त कवि थे और अपनी तरंग के अनुसार कविता करते थे। इसी से इनकी रचनाओं में हृदय-तत्त्व की प्रधानता है। 'प्रेम की पीर' तथा 'इश्क का दर्द' इनके एक-एक वाक्य में भरा पाया जाता है।''[7] भाषा भी परिमार्जित और

सुव्यवस्थित है, शब्द वैचित्र्य या अनुप्रास आदि की प्रवृत्ति विशेष रूप से कहीं नहीं लक्षित होती।

रसखान और आलम कवि के बाद घनानन्द का स्थान आता है। इनका 'सुजानहित', 'वियोग बेलि', 'इश्कलता', 'प्रीति-पावस', 'प्रेम-पत्रिका', 'प्रेम-सरोवर', 'प्रेम-पद्धति', 'प्रेम-पहेली' आदि ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिसमें घनानन्द के उन्मुक्त प्रेम की तीव्र अभिव्यक्ति मिलती है। घनानन्द के काव्य में शिल्पगत सौन्दर्य के भी वर्णन होते हैं।

स्वच्छन्द प्रेमधारा के अन्तर्गत घनानन्द के बाद ठाकुर और बोधा कवि उल्लेखनीय हैं। ठाकुर कवि द्वारा लिखा गया 'ठाकुर ठसक' नामक ग्रंथ मिलता है, जिसमें स्वच्छन्द हृदय का उच्छ्वास है। इन्होंने प्रेम की अनन्यता को ही दर्शाया है। ये प्रेम-रस में सदा निमग्न रहते थे। सहृदयता के कारण ही अनुभूति की सीधी-सरल रूप में अकृत्रिम अभिव्यक्ति हुई है, जो सहज ही हृदयगम्य हो जाती है। शब्दाडंबर या चमत्कार जन्य वक्रता की ओर कवि का ध्यान नहीं गया है। जैसे भावों को जिस ढंग से मनुष्य मात्र अनुभव करते हैं वैसे भावों को उसी ढंग से यह कवि अपनी भाषा में उतार देता है। बोलचाल की चलती भाषा में भाव को ज्यों का त्यों रख देना कवि का लक्ष्य रहा है।[8] ठाकुर कवि ने प्रेम शृङ्गार के अतिरिक्त नीति और भक्ति सम्बन्धी पद भी रचे। इसके अतिरिक्त इन्होंने होली, हिंडोल, फाग, दशहरा आदि उत्सवों का तन्मयता से वर्णन कर लोकरुचि का परिचय दिया है। यद्यपि कवि ने नीति सम्बन्धी रचनायें कीं पर कहीं भी शास्त्रीय परम्परा का अनुसरण नहीं है, सर्वत्र भावनाओं के अनुकूल स्वतन्त्र रचना की-

ठाकुर कहत मन अपनो मगन राखो,

प्रेम निरसंक रसरंग विरहन देव,

विधि के बनाये जीव जेते हैं, जहाँ के तहाँ,

खेलत फिरत तिन्हैं खेलन फिरन देव।

बोधा, घनानन्द की तरह ही प्रेमी कवि थे। इनके काव्य की प्रमुख वृत्ति प्रेम की पीर ही थी। उसमें विरह की गहनता और प्रेम की अनन्यता है। ये भावुक और सरस, सहृदय कवि थे। इन्होंने जीवन और प्रेम की पीर के बारे में कहा है- ''कबहूँ मिलिबो..... कबहूँ मिलिबो यह धीरज में ही धरैबों करै।'' इनके दो ग्रन्थ 'इश्क नामा' और 'विरह-वारीश' मिलते हैं। बोधा भी मनोवेगों के कवि थे, परिष्कृत भावों के नहीं। प्रेम की निश्छल अभिव्यक्ति सहृदयों को सहज ही बाँध लेती है। इनकी रचनाओं में कहीं भी कृत्रिमता नहीं है, हृदयस्थ भावों की सहज-स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। भाषा की स्वाभाविकता तो अन्य स्वच्छन्दमार्गी कवियों की अपेक्षा बोधा में सर्वाधिक है। आचार्य शुक्ल ने भी लिखा है- ''बोधा एक रसोन्मत्त कवि थे, इन्होंने कोई रीतिग्रन्थ न लिखकर अपनी मौज के अनुसार फुटकर पदों की ही रचना की। इस प्रकार रसमग्न बनाने वाली उमंग थोड़ी ही कवियों में मिलेगी।''[9] इन्होंने दोहा, सोरठा, कवित्त, बरवै आदि कई छन्दों में रचनायें कीं पर सवैयों में मुक्तक रचना अधिक की है।

इन कवियों के अतिरिक्त इस काव्यधारा में द्विजदेव का नाम लिया जाता है। ये अयोध्या के महाराज थे। 'शृङ्गार-बतीसी' और 'शृङ्गार-लतिका' इनकी दो प्रमुख रचनायें हैं जिसमें प्रेम-शृङ्गार का स्वाभाविक, मार्मिक चित्रण किया गया है परन्तु प्रमुखता प्रकृति-प्रेम के स्वच्छन्द चित्रण की है। इनको स्वच्छन्द प्रेम काव्यधारा का अंतिम कवि माना जाता है। इसके उपरान्त आचार्य शुक्ल ने आधुनिक युग के स्वच्छन्द काव्यधारा का प्रवर्तक श्रीधर पाठक को माना है। तत्पश्चात् प्रसाद और महादेवी के नाम लिए जाते हैं। लेकिन छायावादी काव्यधारा के प्रतिनिधि कवियों की अनुभूति, भावना, अभिव्यक्ति, संवेदना उपर्युक्त स्वच्छन्द प्रेमधारा से सर्वथा भिन्न है।

हिन्दी की स्वच्छन्द प्रेम काव्यधारा के विकास को देखने पर पता चलता है कि रसखान, बोधा, आलम, घनानन्द, ठाकुर आदि प्रतिनिधि कवि हैं। इन सभी कवियों ने प्रेम की स्वतन्त्र, स्वच्छन्द, लीक से हटकर अभिव्यक्ति दी कहीं भी रीति के बँधे-बँधायें विधानों को नहीं स्वीकारा। इन सभी रीतिमुक्त कवियों में घनानन्द का सर्वश्रेष्ठ स्थान है क्योंकि घनानन्द का काव्य बहुविध है उसमें रसखान की सी प्रेम की अनिर्वचनीयता भी है और बोधा की सी रससिद्धता भी परन्तु इन सबसे बढ़कर ऐसे असाधारण काव्य-सौष्ठव के दर्शन होते हैं जो न रसखान में है, न आलम में, न ठाकुर में है और न बोधा में ही है।[10] घनानन्द के प्रेमतत्त्व की मूल प्रेरक उनकी प्रेयसी 'सुजान' है। जिसके प्रति अनन्य प्रेम था, मिलन की अतृप्त लालसा थी जिसके कारण इनका प्रेम की गूढ़ता से, विरह-वेदना की अनुभूति से परिपूर्ण है। इनकी पीड़ा व्यक्तिगत है और इसी कारण आत्मपीड़न की अभिव्यंजना स्वच्छ और स्वच्छन्द है, उसमें यथार्थ ही प्रत्यक्ष है कहीं कुछ गोपनीय नहीं है। प्रेम सर्वथा लौकिक है। लौकिक होने के नाते ही उसमें इतनी तीव्रता और सहृदय संवेद्यता है। अनुभूति पर केन्द्रित होने के कारण उसमें एक नवीन संजीवनी शक्ति का समावेश हो गया है। अनुभूति प्रकार और अनुरोध प्रक्रिया के अनुरूप अभिव्यक्ति, वियोगजन्य स्थिति का चित्रण, भावों की तीव्रता, उपयुक्त शब्द-चयन, चित्र प्रधान कल्पना, कर्णप्रिय शब्द-विधान के साथ भाव-सौन्दर्य का प्रकाशन, अनुभूति की गहनता, भावों की सच्चाई तथा वैयक्तिक राग-द्वेष, हर्ष-विषाद आदि की बड़ी मार्मिक अभिव्यंजना हुई है। भाषा का अद्‌भुत समन्वय मिलता है। देव ने तो कहीं-कहीं छन्दों में तोड़-मरोड़ भी की परन्तु घनानन्द के काव्य के में ऐसा कहीं भी नहीं हुआ वरन् इनकी प्रेम-साधना में गति है, सौन्दर्य है, आत्मविश्वास है, स्वच्छन्दता और सरलता है। कलापक्ष की प्रौढ़ता के कारण ही भावों की शक्ति अतुलित हो गई है। यही कारण है घनानन्द की शिल्पकला अपनी प्रौढ़ता, सूक्ष्मता, आंतरिकता, तीव्रता और सहज-स्वाभाविकता के कारण समूचे हिन्दी

काव्य की अभिव्यंजना के सौन्दर्य का दृढ़ आधार भी है। यदि बोधा या ठाकुर से इनकी तुलना करते भी हैं तो ये कला के श्रेष्ठ पारखी सिद्ध होते हैं। निःसन्देह घनानन्द रीतियुग के रीतिमुक्त कवियों में श्रेष्ठ स्थान रखते हैं।

रूप-सौन्दर्य वर्णन- सौन्दर्य मुख्यतः दो प्रकार का होता है- बहिरंग और अन्तरंग। रीतिबद्ध कवियों ने अपने नायक-नायिकाओं के सौन्दर्य-चित्रण में बाहरी नाप-जोख और अलंकरण-वृत्ति को प्रधानता दी है, अतः उसका स्वरूप बहिरंग है। वहीं घनानन्द के काव्य में आन्तरिक उल्लास और भाव प्रवणता की प्रधानता है। अतः इसका स्वरूप अन्तरंग है। बहिरंग सौन्दर्य-चित्रण वस्तुपरक और स्थूल आकृतिमूलक होने के कारण अनुभूतिशील, संवेदनात्मक काव्य से मेल नहीं खाता। ऐसे रूपगत स्थिर चित्रों का मूल्य और महत्त्व भी काव्य में कम होता है परन्तु अन्तरंग सौन्दर्य-चित्रण में गतिशीलता होती है, जिसमें रूपांकन अत्यधिक रसीला, रंगीन और भंगिमायुक्त हो जाता है जिसमें भावोद्दीपन की प्रभावोत्पादक शक्ति अपेक्षाकृत अधिक होती है-

रूप गुन मद उन्म नेह तेह भरे
छल-बल आतुरी चटक चातुरी पढ़े।
घूमत घूरत अखीले न मुरत नैकौं
प्रानन सो खलैं अलबेलै लाड़ के बढ़े।
मीन कंज-खंजन-कुरंग मान भंग करैं
सींचे घनानन्द खुले संकोच सो मढ़े।
पैने नैन तेरे से न हेरे मैं अनेरे कहूँ
छाती पड़े काती लिए छाती पै रहैं चढ़ै।

प्रस्तुत वर्णन में कवि की दृष्टि आँखों के आकारगत सौन्दर्य पर न टिककर उसकी तिर्यक् चंचलता और उत्पन्न प्रभाव की तीव्रता पर अधिक टिकी है। कवि ने जितनी रेखायें खींची हैं उसमें सक्रिय गतिशीलता है। यहाँ पर 'मीन', 'मृग', 'कंज' आदि परम्परागत उपमानों का चित्रण भी नायिका के सौन्दर्य का प्रभावकारी चित्र उपस्थित करने में समर्थ है। 'मीन' नेत्रों की चपलता एवं सजलता के लिए 'कंज' अर्थात् कमल सरसता, सुकुमारता, कमनीयता एवं शालीनता के लिए, 'खंजन' चंचलता के लिए 'कुरंग' चपलता एवं भोलेपन की व्यंजना के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इसके साथ ही कटाक्षों की तीक्ष्णता के लिए 'काती' शब्द का प्रयोग उक्ति को प्रभावकारी बनाने में समर्थ हुआ है।

घनानन्द की सौन्दर्य-चेतना में तरलता है; स्निग्धता है। रीतिकालीन कवियों की रसिकता की तुलना में घनानन्द में सहृदयता का पक्ष प्रधान है। रीतिबद्ध कवियों ने सौन्दर्य के मांसलचित्र अधिक खींचे हैं जो कामोत्तेजक होते हैं। जैसे- नेत्रों के कटाक्ष व्यापार, अधरों की क्षत-लालिमा, कपोलों की रुनाई, उन्नत उरोज, आदि चित्रण। घनानन्द स्वाभाविक सौन्दर्य-चित्रण में अधिक संलग्न दिखाई देते हैं। इनके प्रतिपाद्य में अन्तर्वृत्ति का चित्रण ही अधिक है, जिसमें नायक-नायिका के अंग-प्रत्यंगों का चित्रण न होकर तरल सौन्दर्य का अंकन है। कारण स्पष्ट है, सौन्दर्य की सूक्ष्मता की पकड़ में तल्लीन, सूक्ष्म कला पारखी कवि सौन्दर्य की स्थूल अभिव्यंजना की ओर उन्मुख नहीं होता। सूक्ष्म रूप-सौन्दर्य के चित्रण के निम्नलिखित उदाहरण में गौरवर्णा नायिका को स्याम रंग की साड़ी से सज्जित करके उसके अंग-प्रत्यंग के लावण्य का प्रभावकारी चित्र खींचा गया है-

स्याम घटा लिपटी थिरबीज कि सौहै अमावस अंक उज्यारी।
धूम के पुंज में ज्वाल की माल सी पै दृग सीतलता सुखकारी।
कै छकि छायो सिंगार निहारी सुजान-तिया-तन दीयति प्यारी।
कैसी फबि घनआनंद धोंयनि सो पहिरी चुनि सांवरी सारी।।

नायिका के सौन्दर्य-अंकन के रूप-साम्य के लिए कवि ने 'श्याम घटा में लिपटी स्थिर बिजली', 'अमावस्या की गोद में चाँदनी', 'धुएँ के पुंज में ज्वाला की लपट' तथा 'शृङ्गार रस की छटा में गुराई' अप्रस्तुतों को प्रस्तुत किया। इस प्रकार की शब्द-योजना मौलिक तथा गम्भीर वातावरण के साथ उपयुक्त प्रभावोत्पादकता उत्पन्न करने में समर्थ है। नायिका की अंगदीप्ति में कवि को बिजली, चाँदनी तथा ज्वाला के रूप का सन्देह होता है, तो साड़ी की स्यामलता में 'काली घटा', 'अमावस्या', 'धूम्रपुंज' तथा शृङ्गार रस के वर्णन का आभास होता है। इस प्रकार का रूप-साम्य प्रस्तुत कर कवि ने नवीन सौन्दर्य-बोध का चित्रण किया। कवि की वचन-भंगिमा और अन्तर्मुखी वृत्ति ही वर्णन को प्रभावकारी बनाने में समर्थ हो सकी है।

भाव-व्यंजना के प्राधान्य के कारण ही घनानन्द के वर्णन में वस्तुपरक जड़ता का अभाव है। चित्रों में गतिशीलता है, जीवंतता है। प्रायः जीवन का स्पंदन इतना प्रखर और वेगवान है कि स्थूल अंग-प्रत्यंगों के सौन्दर्य के स्थान पर क्रिया-सौन्दर्य की प्रधानता हो गई है। प्रिय का सौन्दर्य पल-पल परिवर्तित होता है-

रावरे रूप की रीति अनूप,
नयो-नयो लागत ज्यों-ज्यों निहारिये।
त्यौं इन आंखिन बान अनोखी,
अघानि कहुं नहिं आनि निहारिये।।

इसे ही मतिराम ने लिखा- 'ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि त्यों-त्यों खरी निकरै सी निकाई'। और माघ कवि ने 'क्षणे-क्षणे यत्रवतानुपैति तदैव रूपं रमणीयतायाः' लिखा। इसी आदर्श को घनानन्द ने भी अपनाया। इस नित परिवर्तनशील रूप को देखकर

ही तो मन बावरा हो गया- 'निरखि सुजान प्यारे रावरो रूचिर रूप, बावरा भयो है मन मेरो न सिखौ गुन।'

घनानन्द मुख्यतः प्रिय के तरल सौन्दर्य पर ही रीझे हैं। प्रिय की पात्रता प्रायः दो वस्तुओं में निहित दिखाई देती है- रूप में और गुण में। घनानन्द की प्रेमिका में इन दोनों का मणिकांचन योग है।[11] घनानन्द के अनेक पदों में प्रेमिका के सौन्दर्य और स्वभाव का वर्णन है जिससे प्रिया की अन्तःप्रकृति का बोध हो जाता है। इन चित्रों में ऐन्द्रिकता का अभाव है। निम्नोक्त पंक्तियों में कवि ने नायिका के आनन, दृग, कपोल और कानों के लिए जो रेखायें उभारी हैं उनमें अंगों की चपलता और गतिशील सक्रियता का सौन्दर्य प्रधान है जिसमें रूप के प्रभाव का गहरा आकर्षण अपने में बाँध लेता है-

झलकैं अति सुन्दर आनन गौर, दके दृग राजत काननि छ्वै।

हँसि बोलनि में छबि फूलन की बरखा उर ऊपर जाति ह्वै ह्वै।

लट लोल कपोल करै कलक बनी जलजावलि द्वै।

अंग-अंग तरंग उठै दुति की, परिहै मनौ रूप अबै धर च्वै।।

घनानन्द मूलतः दुःसह व्यथा के ही कवि हैं पर उनकी काव्य-प्रतिभा मोहक सौन्दर्य-बिम्बों या इस प्रकार की भाव-छवियों के चित्रण में भी सफल रही है। ''झलकै अति सुन्दर आनन हो'' जैसे बहुत कम सौन्दर्य-चित्रों की रचना घनानन्द ने की है, फिर भी प्रस्तुत बिम्ब किसी भी श्रेष्ठ कवि के श्रेष्ठ सौन्दर्य चित्र के समक्ष तुलनीय है। कवि ने आनन, दृग, कपोल तथा कान आदि अंगों के गतिशील सक्रिय सौन्दर्य-चित्र को अंकित किया है। नेत्र दीर्घ और आयताकार हैं उनके लिए 'छकै' क्रिया-विशेषण भावोन्माद का संकेत दे रहे हैं। नायिका का गोरा सुन्दर मुख 'झलकैं' क्रिया द्वारा भावोल्लास को प्रकट कर रहा है। 'हँसि बोलनि में छबि फूलन की बरखा' द्वारा कवि हँसने और बोलने की कोमलता, मधुराजिग्धता का सहज बोध पाठक को करवाना चाहता है और अन्तिम पंक्ति तो झिलमिल सौन्दर्य और मधुर आकर्षण के सूक्ष्म प्रभाव को और बढ़ा देती है। यद्यपि इस प्रकार के तरल-सौन्दर्य के चित्र विद्यापति में भी मिलते हैं, पर उसमें स्थूल चित्रों का प्राधान्य है। कवि मात्र उरोजों और काले बालों में ही उलझ कर रह गया है। उससे उत्पन्न मनोदशाओं का चित्रण नहीं किया है जबकि घनानन्द ने सहज तरल सौन्दर्य को सम्पूर्ण प्रभावान्विति के साथ उपस्थित किया है। वस्तुतः घनानन्द के ब्यौरे में शारीरिक अंगों के चाक्षुष लावण्य पारस्परिक संतुलन और सममात्रा की अपेक्षा अंगों के क्रियात्मक, गतिशील सौन्दर्य और उससे उत्पन्न भाव-भंगिमाओं की मनोहरता को रेखांकित किया गया है। पूरा का पूरा चित्र समग्र आन्तरिक सौन्दर्यांकन और स्वाभाविक छवि के संकेतों से मण्डित है जबकि रीतिबद्ध कवियों ने नख-शिख सौन्दर्य पर ही अपनी दृष्टि टिकायी, उनके रूप-चित्रों में शारीरिक आकर्षण की प्रधानता है। स्वच्छन्द धारा के अन्य कवियों के सौन्दर्य-चित्रण में सरसता और मनोरमता तो है पर वह तरलता और प्रभावोत्पादकता नहीं जो घनानन्द में है। डॉ0 बच्चन सिंह ने लिखा है- स्वच्छन्द काव्यधारा में घनानन्द के सौन्दर्य-चित्र सर्वाधिक भंगिमापूर्ण, रंगमय और रससिक्त हैं। बोधा को विरह-निवेदन से अवकाश नहीं मिला और आलम अपने को रीति परम्परा से अधिक मुक्त नहीं कर सके। ठाकुर के रूप-वर्णन में भी वह प्रभावोत्पादकता नहीं है।

यही कारण है कि अन्य स्थानों पर जहाँ पर सुजान की अपेक्षा राधा-कृष्ण के रूप चित्रों को उकेरा है वे परम्परागत, आलंकारिक और बहिर्मुखी होने पर भी रीतिबद्ध कवियों के समान सर्वथा भावनाशीलता से परे नहीं है। वहाँ पर भी कवि की स्वच्छन्द वृत्ति के कारण विशेष ताजगी, नवीनता और स्फूर्ति दृष्टिगत होती है-

लाल पाग बाँधे, धरे ललित लकुट काँधे,

मैन सर साधे सो करन चित छाय को।

× × ×

गरे-गुंज माल उर राजत बिसाल नख

सिख लौं रसाल अति लोनो स्याम काय को।

करत अधीर वीर जमुना के तीर-तीर

टीना भरयो डोलत ढुटौना नहराय को।

सम्पूर्ण चित्र में पारम्परिक-वर्णन के साथ-साथ गत्यात्मक क्रियाशीलता भी है। प्राकृतिक पृष्ठभूमि में श्रीकृष्ण के अंगों का भावनामय रंग में रँगा यह वर्णन रमणीय, मधुर और जीवंत है। अन्तिम पंक्ति में प्रयुक्त 'टोना' शब्द आश्चर्य मिश्रित प्रतिक्रिया के भाव को व्यंजित कर रहा है।

घनानन्द ने लोकोल्लासी पर्वों का भी वर्णन मनोहारी अनुरंजक रूप में किया है, जैसे हिंडोल, पावस, फाग आदि के समय लोकजीवन में जिस हर्ष और उल्लास का संचार होता है, जो एक विशेष प्रकार की उमंग जन-जीवन में व्याप जाती है उन सबका अत्यधिक रंगीन, नाटकीय और मोहक वर्णन किया है-

भटकि-भटकि गारि गावै, लटकि डाल बजावै

मन मोहन के मन की मोहनी छबि छभी छकावै।।

प्रेम-व्यंजना- घनानन्द का प्रेम-दर्शन अन्य दरबारी कवियों से भिन्न तो है ही वरन् संसार की अन्य उच्चवर्गीय मानसिकताओं के प्रेमपरक दृष्टिकोण से भी अलग है जिनके अनुसार प्रेम या तो एक द्वारा दूसरे को धोखा देना, किसी प्रकार एक-दूसरे का उपयोग करना है अथवा जिन लोगों की नजर में प्रेम 'योग' या 'ट्रिक' है। घनानन्द के लिए प्रेम का मार्ग ऐसा मार्ग है, जिसे यदि जायसी के शब्दों में कहें तो 'मुहम्मद बाजि प्रेम की, ज्यों भावे त्यों खेल।' प्रेम भाव योग

है, सहज है, जहाँ किसी भी प्रकार की चतुराई उसके वास्तविक रूप को नष्ट ही करती है :

अति सूधो सनेह का मारग है, जहाँ नैकु सयानप बाँक नहीं।

जहाँ साँचे चले तजि आपनपौं, झिझकै कपटी जे निसाँक नहीं।

इस प्रकार प्रेम वह अनुकूल वेदनीय मनोवृत्ति है, जो किसी अन्य जीव या पदार्थ के सौन्दर्य, गुण, शील, सामीप्य आदि के कारण उत्पन्न होती है। यह मन की ऐसी संश्लिष्ट संवेगमय स्थिति है जो आलंबन भेद से कई प्रकार की हो जाती है। श्रद्धा, भक्ति, सनेह, वात्सल्य और रति इन पाँच प्रकारों में केवल रति ही काममूलक, तादात्म्यमूलक अतएव प्रगाढ़ होती है। घनानन्द के काव्य में ''रति और भक्ति प्रेम के दो ही रूप हैं, जिसका काल और परिस्थिति के प्रभाव से भक्ति में पर्यवसान हुआ है।''[12]

रीतिबद्ध कवियों में प्रेमानुभूति वैयक्तिक स्तर पर न होकर सामाजिक परिवेश और परम्परा से अभिभूत थी। नारी के मांसल सौन्दर्य का चित्रण और आश्रयदाता राजाओं के प्रशस्तिगान में दरबारी संस्कृति का आग्रह ही प्रधान था। घनानन्द का प्रेम इससे सर्वथा भिन्न आत्मानुभूति के तीव्र तथा सहज भावावेग का उच्छलन है। घनानन्द में लौकिक प्रेम की सच्चाई थी, उन्होंने प्रेम का वर्णन देख सुनकर नहीं वरन् भोगे हुये अनुभवों के आधार पर किया है। उनका प्रेम रीतिबद्ध कवियों की भाँति स्थूल, इन्द्रियजन्य प्रेम से सर्वथा भिन्न सरस, स्वाभाविक, आत्मिक शुद्धता से पूर्ण है। इन्होंने प्रेम के लिए जीवनोत्सर्ग किया था। घनानन्द ने प्रेम में आघात सहन किया था पर टूटे नहीं वरन् वहीं उनका प्रेम पूंजीभूत, परिभूत और उदात्त बन गया। इसी पीड़ा में उन्होंने अपने को विस्मृत कर दिया, विरह में ही उन्हें आनन्दानुभूति होने लगी। उनकी दशा सूर की गोपियों की सी हो गई परन्तु वहाँ दर्शन-विशेष का खंडन-मंडन नहीं था। सुजान उनके हृदय का ऐसा कंठहार बनी कि वे स्वयं सुजान के हो गये। बाहरी प्रभाव की सुध-बुध ही नहीं रहती, संसार की प्रतीति का आभास तक कवि को नहीं होता है। कवि पूर्ण तन्मयतावस्था में विस्मृत सा हो गया है-

मन जैसे कछु तुम्हें चाहत है, सुबखानिये कैसे सुजान ही हों।

इन प्राननि एक सदा गति रावरै, बाबरै लौं लगि पै नित्त लौं।

बुधि और सुधि-नैननि बैननि मैं, करिबास निरन्तर अन्तर गौ।

उधरो जग छाय रहे घनआनन्द, चातिक त्यौं तकिबै अब तौ।

कवि चातक की भाँति प्रिय के ध्यान में डूबा है। बाह्य संसार का तो उसे बोध ही नहीं था फिर भवबाधा कैसी? उनका प्रेम तो जीवनानुभवों से जुटा तीव्र भावानुभूति का परिणाम है जिसमें नैसर्गिकता है, स्वच्छन्दता है, कहीं कोई बन्धन नहीं। इस प्रेममार्ग पर अपना सब कुछ बिसार देने वाला ही चल सकता है। सुध और बुध तो ज्ञान से सम्बद्ध है। परन्तु ज्ञानी तो इस मार्ग पर चल ही नहीं सकता, उसकी यहाँ गति कहाँ? इस प्रेम की साधना के लिए ज्ञान की दृष्टि अपेक्षित नहीं। प्रेम की साधना में पीड़ा भी मधुर हो जाती है। माधुर्य का कारण यह है कि प्रेम की चरमावस्था पर पहुँचने पर जगत के द्वन्द्वभाव का विनाश हो जाता है। ज्ञान भेद कराने वाला है, प्रेम या राग अभेद उत्पन्न करने वाले। राग-द्वेष जगत के द्वन्द्व हैं।[12] जो रागी या द्वेषी व्यक्ति हैं, निशंक नहीं हैं वे इस मार्ग के अनुगामी नहीं बन सकते। अतः प्रेम बुद्धि व्यापारगम्य नहीं है। हृदय की सहज सरल अनुभूति ही प्रेम के लिए अपेक्षित है। हृदय के रूपासक्त होते ही प्रेम की दुहाई फिरने लगती है। बुद्धि दासी हो जाती है-

'रीझ सुजान सची पटरानी, बची बुद्धि बापुरी ह्वै करि दासी।'

रूप-सौन्दर्य के प्रति यह आसक्ति ही प्रेम में तीव्रता उत्पन्न करती है। यह प्रेमजन्य तीव्रता संयोग और वियोग दोनों ही स्थलों पर दृष्टिगत होती है। संयोग काल में प्रेमानुभूति की तीव्रता निम्न पंक्तियों में देख सकते हैं-

पौढ़े घनानन्द सुजान प्यारी परजंक

धरे घन अंक तऊ मन रंग गति हैं

× × ×

ठौर-ठोर लै लै राखे और ओरे अभिलखैं

बन तन आँखे तेई जानै दशा अति है

मोद मद छाकै, घूमै रीझि भीजि रस झूमै

गहैं चाहि रहै चूमै अहा कहा रति है।

यहाँ पर जिन नाना प्रकार की चेष्टाओं का चित्रण किया गया है वह आसक्तिजन्य तीव्रता के ही कारण है। इसी प्रकार की तीव्रता वियोगजन्य वेदना की व्यंजना में भी दिखाई देती है। जिसमें गहरी वेदना, मर्मभेदी व्यथा का तीव्र आवेग है, दुखजन्य मनोवेगों का तूफान सा हृदय में उमड़ पड़ता है-

अन्तर ही किंधौ अंत रहौं,

दृग फेरि फिरौं कि अभागिन भीरौं।

आगि जरौं, अकि पानी परौं,

अब कैसी करौं, हिय का विधि धीरौं॥

जौ घन आनन्द ऐसी रुची

तौ कहा बस है अहो प्राननि पीरौं।

पाऊँ कहाँ हरि हाय तुम्हें

धरती मैं धसौं कि अकासहि चीरौं॥

घनानन्द प्रेम-मार्ग में आने वाली सभी व्यथाओं, बाधाओं को सहर्ष झेलने के लिए तैयार थे। उनके प्रिय की निष्ठुर विमुखता भी उनको लक्ष्यच्युत नहीं बना पाती। वे प्रिय की निष्ठुरता से घबराते

नहीं हैं क्योंकि प्रियतम के द्वारा किसी स्वार्थ की तुष्टि नहीं चाहते वरन् उस कठोर निर्दयी प्रिय के हृदय में दया उत्पन्न करने के लिए अधिक से अधिक कष्ट उठाने के लिए तैयार हैं-

आसा गुन बांधिकै भरोसे सिल धरि छाती,

पूरे पन-सिन्धु में न बूढ़त सकाय हौं।

दीह दुख दब हिय जारि उर अंतर,

निरंतर यौं रोम-रोम भासनि नचाय हौं।

इस दुःख और यंत्रणा में भी प्रेमी-प्रिय की कोमल भावनाओं को सहेज कर रखता है-

जीवन-मरन जीव मीच बिना बन्यौ आये

हाय कौन बिधि रची नेही की रहनि है।

अतः घनानन्द के प्रेम की कसक सूफियों के 'प्रेम की पीर' की भाँति सदा हृदय में वेदना उत्पन्न करती रहती है। यहाँ तक कि संयोग में भी उसे सुख की प्राप्ति नहीं होती- ''यह कैसो संयोग न बुझि परै जो न वियोग कयोहूँ विछोहत है।'' इस तरह का पीर प्रधान प्रेम-चित्रण रीतिमार्ग की लोक से हटकर है क्योंकि वहाँ पर तो संयोग में हर्ष और वियोग में विषाद के वर्णन का ही विधान है परन्तु घनानन्द का प्रेम व्यथाबहुल है। व्यथा, पीड़ा ही काव्य की आत्मा है, वही हृदय के सच्चे रूप को उजागर कर सकती है। तभी तो कवि ने लिखा है- 'रोयबो न आवै तों ये गायबोहु रोयबो।'

घनानन्द का रोम-रोम व्यथा से अभिसिञ्चित है। पीड़ा का अतिरेक दर्शन-सुख से भी वंचित कर देता है।बस निरन्तर विरहज्वाला में तपना-तचना ही रह गया है। प्रिय को देखने का 'औसर' तो आँसुओं की झड़ी में ही निकल जाता है और प्रिय-दर्शन की लालसा ज्यों की त्यों बनी रहती है-

जो कहुँ भावतो दीठि परै घनआनन्द ऑसुनि औसर गारति।

मोहन-सोहन जोहन की लगिये रहै आँखिन के उर आरति।

इस प्रकार विरह-दशा की विलक्षणता गति है। संयोग में भी वियोग बना रहा है। विरही का मन अकथनीय पीड़ा से भर उठता है, वह आत्मनियंत्रण खो देता है। इस विलक्षण स्थिति का मूर्तीकरण घनानन्द इन शब्दों में करते हैं-

खोय गई बुधि, सोय गई सुधि रोय हँसै उन्माद जग्यौ है।

घनानन्द की दृष्टि में मृत्यु तो कष्टों से मुक्ति प्रदान करती है। इसी कारण अपने प्रेम की व्यथा की समानता मीन तथा जल के प्रेम से नहीं की। मरने वाले मीन, पतंगों को कवि हेय दृष्टि से देखता है, ये प्रेमी के लिए कलंक हैं। घनानन्द का प्रेम तो उदात्त है, अमर है, अनुभूतिगम्य है। मीन का प्रिय जल है। वह तो प्रिय वेदना का अंश मात्र भी अनुभव नहीं कर सकता। जिस व्यथा से प्रिय पीड़ित है उसे व्यक्त करने में कत्तई समर्थ नहीं है। वेदनाभाव की पराकाष्ठा को व्यंजित करने के लिये 'मीन' का मृत्यु को प्राप्त कर लेना कवि को असह्य हैं क्योंकि प्रेमी तथा प्रिया का प्रेम-व्यापार इनसे उच्चकोटि का है जहाँ मनुष्य प्रिय से अलग हो जाने पर भी प्राण नहीं त्यागता वरन् उससे मिलने के लिये आकुल-व्याकुल रहता है। यही घनानन्द के प्रेम-साधना की चरमावस्था है-

हीन भये जलमीन अधीन कहा कछु मो अकुलानि समाने।

नीर सनेही को लय कलंक निरस ह्वै त्यागत प्रानें॥

प्रीति की रीति सु क्यौं समुझै जड़ मीत के पानि पर को प्रमानै।

या मन की जु दसा घनआनंद जीव की जीवनि जान ही जानैं॥

अनन्यता भी प्रेम का मूल-तत्त्व है। प्रिय के वियोग में अपार कष्ट सहते हुए भी दृढ़ रहकर घनानन्द ने अपने प्रेम की एकनिष्ठा और अनन्यता का परिचय दिया। प्रिय की निःस्नेहता और रुखता उनकी भावना को चलायमान नहीं बना पाती। जिस प्रकार चातक बादल द्वारा उपल बरसाने पर भी उससे अपना प्रेम नाता नहीं तोड़ता, उसी प्रकार प्रेमिका की उदासीनता घनानन्द के एकनिष्ठ प्रेम को और भी दृढ़ कर देती है-

चातिक चुहल चहुँ ओर चाहे स्वाति ही कौ

सूरे पन-पूरे जिन्हें विष सम अनी है।

प्रजुलित होत भान के उदोत कज-पुंज

ता बिन बिचारथि ही जोति जाल तनी है।

तुलसी आदि कवि ने भी चातक के माध्यम से उदात्त प्रेम का चित्रण किया है-

एक भरोसो एक बल, एक आस विश्वास

एक राम घनस्याम हित चातक तुलसीदास।

''निश्चित ही घनानन्द का प्रेम वैषम्य पर आधारित है जिसका सीधा सा अर्थ है एकपक्षीय या एकांगी प्रेम। इस तरह का प्रेम भारतीय साहित्य परम्परा में कृष्ण-काव्य के भ्रमर गीत प्रसंग में उपलब्ध होता है। वहीं सूफी तथा फारसी साहित्य में ऐसी विषम प्रेम-पद्धति एक अनिवार्यता है। फारसी साहित्य में प्रेम का वैषम्य स्वीकृत है और उर्दू में उस परम्परा का निर्वाह आज तक हो रहा है। पिछले कालों के कृष्ण भक्त कवि और स्वच्छन्द धारा के रीतिमुक्त कवि-सूफी संतों और फारसी साहित्य की प्रवृत्ति से प्रभावित हुए हैं। यह असंदिग्ध है।''[13] जिसका गहन प्रभाव कवि पर दिखाई देता है। इस विषम प्रेम की उत्पत्ति या तो मानसिक अलगाव, उदासीनता के कारण होती है या फिर परिस्थितियों की प्रतिकूलता के कारण। घनानन्द के इस विषम प्रेम का कारण परिस्थितिजन्य अनुरोध ही है। तात्विक दृष्टि से विषम प्रेम, प्रेम का शुद्ध आदर्श, उदात्त रूप है

जिसमें प्रतिदान की इच्छा नहीं होती केवल समर्पण, त्याग का भाव ही होता है। प्रेमी की प्रेमासक्ति जितनी उत्कट है उतनी ही प्रिय की उपेक्षावृत्ति प्रबल। यह जानते हुए भी कि प्रिय मुझसे उदासीन है वह प्रेम करता रहेगा, प्रेमी निश्छल, स्नेहसिक्त सरल सीधा है। अतः प्रेमी और प्रिय के व्यवहार, स्वभाव और भावना के प्रभाव के कारण प्रेमगत वैषम्य का जन्म होता है। प्रिय अनुकूल हों या प्रतिकूल आसक्त रहें या अनासक्त, विद्यमान रहें अथवा अविद्यमान प्रेमी उससे प्रेम करता रहेगा-

चाहो-अनचाहो जान प्यारे पै आनंदघन

प्रीति-रीति विषम सु रोम-रोम रमी है।

प्रेमी एकनिष्ठ भाव से प्रेम करता हुआ भी प्रिय के निर्मोही स्वरूप, निष्ठुरता, कठोरता पर खीझ, कटुक्तियाँ, व्यंग्य और उपालंभ देता है। पहले तो सुजान ने मीठी-मीठी बातों से ठग लिया और अब जलाने लगी अर्थात् मिठास की डली दिखाकर विष दे दिया। इसलिए वे सहज, नैसर्गिक प्रेमभाव से उपालंभ देते हुए कहते हैं-

मीठे-मीठे बोल बोलि पहिलै तौ तब,

अब जिय जारत कहौं धौं कौन न्याय है

सुनी है कै नाहीं यह प्रकट कहावतिजू,

काहू कलपाय है सुकैसे कलपाय है।

प्रेम पथ के अडिग पथिक घनानन्द कभी शिकायतें करते हैं तो कभी आत्मदैन्य और असहायता प्रदर्शित करते हुए कहते हैं-

पहले अपनाय सुजान सनेह को फिर नेह न तोरियै जू।

निरधार अधार दे धार मझार दई गहि बाँह न बोरियै जू॥

तो कभी चिरन्तन विरह-वेदना, अखंड तृषातुरता दिखाते हुए अपने दुर्भाग्य पर आठ-आठ आँसू बहाते हैं, हृदय को फटकारते हैं, नेत्रों की दुहेली दशा का अत्यन्त करुणापूर्ण चित्र प्रस्तुत करते हैं-

रैन दिना घुटिबो करैं प्रान झरैं अंखियाँ दुखियाँ झरना सी।

प्रीतम की सुधि अंतर में कसकै, सखि ज्यौ पंसरिन में गाँसी।

घनानन्द को जो कष्ट अत्यधिक साल रहा है वह तो यह है कि उसने हृदय रूपी कागज पर प्रेमपत्र लिखा था जिसमें 'प्रेम की पीर' की ही अभिव्यक्ति हुई थी परन्तु उसे भी प्रेमिका ने नहीं पढ़ा, सोच-सोचकर कलेजा दो टूक हुआ जा रहा है। ऐसे निष्ठुर अमोही, विश्वासघाती प्रियतम को सम्बोधित कर लिखते हैं-

ऐसो हिय हित-पत्र पवित्र जु आन-कथा न कहूँ अवरेख्यो।

सो घनआनन्द जान अजान लौं, टूक कियो पर बांचि न देख्यो।

ऐसे निर्मोही प्रियतम के लिए भी घनानन्द जीवित हैं, मन को इस कराल वेदना को सहने की सीख देते हैं। शायद इसीलिए आचार्य शुक्ल ने लिखा है- 'प्रेम की पीर' ही लेकर इनकी वाणी का प्रादुर्भाव हुआ। प्रेममार्ग का ऐसा प्रवीन और धीर पथिक तथा जवांदानी का ऐसा दावा रखने वाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ।''[14]

घनानन्द का लौकिक प्रेमभाव धीरे-धीरे अलौकिक होकर आध्यात्मिक उदात्त रूप धारण कर लेता है। अपने व्यक्तिगत जीवन में प्रेम की स्वीकृति उचित परिमाप में न पाकर या उसमें किसी प्रकार की लौकिक बाधा उत्पन्न हो जाने के कारण ही घनानन्द संसार से विरक्त हो गये। अपने उत्तर पक्ष में घनानन्द बृन्दावन चले गये थे और वहीं सुजान शब्द का उदात्तीकरण कर भक्ति में मन लगाया। घनानन्द के अनेक छन्द इसके प्रमाण हैं-

मोहन सोहन जोहन की लगियै रहे आँखिन में उर आरति।

कान्ह परे बहुलायन में इकलैन की वेदन जानौ कहा तुम।

घनानन्द का प्रेम साधन नहीं वरन् साध्य है। वह आजीवन विरह की आग में जलते रहे और इस विरहताप में गल कर प्रेम सोने की भाँति खरा हो गया। वियोग के कारण दुःख को झेलकर इन्होंने प्रेम की ज्योति प्रज्ज्वलित रक्खी। सच्चा प्रेम तो प्रिय के विमुख हो जाने पर भी पूर्ववत् बना रहता है, इसी विषम तत्त्व की प्रधानता के कारण कवि की शैली में वैषम्य आ गया है। इस विषम-प्रेम की स्पष्ट व्यंजना के लिए कवि ने अधिकांशतः निदर्शना तथा विरोधाभास का विशेष रूप से प्रयोग किया है- ''कहियै कहा रहियै गहि मौन, अरी सजनी उन जैसी करी। परतीति है कीनी अनीति महा, विष दीनी दिखाय मिठास डरी।''

निष्कर्षतः घनानन्द स्वच्छन्दतावादी प्रेमी कवि थे। प्रेम में अत्यानुभूति का ही योग था। वियोग ही उनकी एकमात्र प्रेम साधना थी और यही मधुर-वेदना, प्रेम की पीर और अलौकिक साधना को लेकर अन्तःकरण अग्रोन्मुखी हुआ।

वियोग वर्णन- घनानन्द वियोग के प्रधान कवि हैं। इनका मन संयोग शृङ्गार में उतना नहीं रमा जितना कि वियोग चित्रण में। यदि संयोग का भी चित्रण किया है तो वियोग विद्यमान रहता है- ''कौन वियोग भरे अँसुवा जु संयोग में आगेई देखन धावत'' वियोग की ही साधना करने वाले कवि घनानन्द भवभूति और अंग्रेजी के कवि शेली के समकक्ष दिखाई देते हैं। भवभूति ने लिखा है 'एकोरसः करुणएव'। वहीं शैली लिखते हैं-

"Our sweetest songs are those, that tell of saddest thoughts."

यही वेदना भाव घनानन्द के काव्य का केन्द्र बिन्दु है जो प्रतिपादन की भावना से रहित विशुद्ध और निष्कुलष है। निष्कपट

भाव से अपने अन्तर्मन की अभिव्यक्ति ही कवि को उच्च भावभूमि पर प्रतिष्ठित करती है। यही कारण है कि घनानन्द के विरह-वर्णन में अनुभूति की तीव्रता और अन्तःकरण की सात्विकता का आधिक्य है। विरहिणी की अन्तर्दशाओं का सूक्ष्म वर्णन सशक्त और हृदयस्पर्शी है। पं0 विश्वनाथ मिश्र ने घनानन्द की प्रेम-साधना का नित्य लक्षण ही विरह माना है। कवि की विरह वेदना स्वानुभूत है, मौन है, संसारी व्यक्ति के कान इस मौन पुकार को नहीं सुन सकते, यह तो अनुभव की वस्तु है, साधना की वस्तु है और ऐसा समान अनुभूति वाला व्यक्ति इस जगत में मिलना कठिन है, मिल भी गया तो कष्ट-निवारण में समर्थ नहीं हो सकता क्योंकि विरही कुछ कहता ही नहीं-

'कृपाकान मधि नैन ज्यों, त्यों पुकार मधि मौन।'

यह प्रेम का अत्यन्तगहन और सूक्ष्म चित्रण है। घनानन्द का वियोग-वर्णन विलक्षण है। वियोगिनी सोना चाहकर भी सो नहीं पाती और न जागने की स्थिति में जगी रह पाती है। प्रियतम के दर्शन मिलते रहे तो ठीक था पर प्रियतम द्वारा विस्मृत हो जाने की बात सोचती है तो वह शूल सदैव तड़पाता रहता है। सुजान की जीवनदायिनी मूर्ति अनुपम रूप और महारस में पगी कैसी दशा है-

सोय न सोयबो, जागै न जाग, अनोखिये लाग सु आंखिन लागी।
देखत फूल पै भूल भौंर यह, सूल रहे नित ही चित जागी॥
चेतक जान सजीवनी मूरति, रूप अनूप महारस पागी।
कौन वियोग दशा घनआनन्द, मो मति संग रहे अति खागी॥

घनानन्द वियोगिनी की विषम तथा कष्टदायक स्थिति का अंकन भी सफलता के साथ करते हैं। वियोगिनी की अन्तर्वेदना उसके हृदय को जला रही है, उजाड़ रही है, पीर को मरोरे डाल रही है। ऐसी असीम वेदना जिसका वर्णन करने में वाणी भी असमर्थ है-

हिए में जु आरति सु जारति उजारति है,
मारति मरोरै जिय डारति कहा करौ
रसना पुकारि के बिचारी पचि हारि जाति
कहे कैसे अकट, उद्वेग रुंधि के भरौं।

प्रियतम के दर्शन की वह पहली छटा, उनकी बाकी अदायें आज तक हृदय को व्याकुल बनाये हुए है। विरहिणी का जीवन अन्दर ही अन्दर घुटता रहता है-

निस-द्योंस खड़ी, उरभांझ अरी, छबि रंग भरी मुरि चाहनि की।
तकि मोरनि त्यों चख ढोर रहे, ढरिगो हिय ढारिनि बाहन की।
चटि दै कटि पैं बटि प्रान गए गति सों मति मैं अवगाहनि की।
घन आनन्द जान लखौ जब तें जक लागियै मोंहि कराहनि की।

घनानन्द ने वियोग-वर्णन में परम्परागत रूढ़ियों का चित्रण नहीं किया है इसी कारण शास्त्रानुमोदित पूर्वराग, मान, प्रवास और काव्य आदि का स्पष्ट विवेचन न मिलकर प्रेमी की मार्मिक कथा-व्यथा का हृदयस्पर्शी चित्रण मिलता है। हृदय में उमड़ती-घुमड़ती व्यथा को कहीं उपालंभ के माध्यम से तो कहीं सीधी अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। प्रियतम निष्ठुर और निःस्नेह है। वह हृदयस्थ होकर भी हृदय की पुकार को अनसुनी किये दे रहा है। ऐसे विश्वासघाती प्रियतम का विचार कर कहते हैं-

'रस प्याय के ज्याय, बढ़ाय के आस,
बिसास में क्यों बिस घोरिये जू'

घनानन्द का विरह बौद्धिकता से परे अनुभूति प्रधान है। रीतिबद्ध कवि तो बौद्धिक रूप से शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार विरह का वर्णन करते हैं, वैयक्तिक अनुभूति का नहीं। घनानन्द की तरह 'हिय आँखिन नेह की पीर' नहीं तकी थी। ऐसे कवियों की रचनाओं में उक्ति-वैचित्र्य का प्राधान्य हो गया है। परिणामतः कविता यथार्थ से परे हो गयी और अतिशयोक्ति का प्राधान्य हो गया है तभी तो बिहारी की वियोगिनी नायिका विरह के कारण इतनी कृशकाय हो गयी है कि दिखायी ही नहीं देती-

करी विरह ऐसी तऊ गैल न छाड़तु नीचु।
दीनेहु चसमा चखनि चहै लहै न मीचु॥

इसी प्रकार वियोगिनी नायिका के शरीर में से वियोग जन्य आँच ऐसे निकल रही है कि सखियाँ भी पास जाने का साहस नहीं कर पातीं :

आड़ै दे आलै बसन जाड़ै हूँ की राति
साहस ककै सनेह बस सखि सबैं ढिग जाति

बिहारी के इस प्रकार के वर्णन खिलवाड़ मात्र तथा अतिशयोक्तिपूर्ण है। वहीं घनानन्द का वियोग वर्णन अधिकतर अन्तर्वृत्ति निरूपक है, बाह्यार्थ निरूपक नहीं। ''घनानन्द ने न तो बिहारी की तरह विरह ताप को बाहरी नाप से मापा है, न बाहरी उछलकूद दिखायी है। जो कुछ हलचल है, वह भीतर की है, बाहर से वह वियोग प्रशांत और गम्भीर है, न उसमें करवटें बदलना है, न सेज का आग की तरह तपना है, न उछल-उछल कर भागना है। उनकी मौनमधि पुकार है।''[15]

घनानन्द की विरहिणी वियोग में अपनी स्मरण-शक्ति को खो देती है। उसे सुख के क्षणों का स्मरण होने लगता है जिसके कारण

विरह तीव्र रूप धारण कर लेता है। प्रियतम के बिना उसके अन्तर्बाह्य दोनों की गति में परिवर्तन आ जाता है। वही नेत्र जिन्होंने प्रियतम की रूप-माधुरी का रसपान किया था आज प्रिय के अभाव में उनका जागना ही सोना है। क्योंकि वे प्रियतम हो गये हैं अर्थात् सदा प्रिय के रूप में छके रहते हैं, फिर उन्हें क्या सुझाई देगा? यही गति हृदय की है।

जिन आंखिन रूप चिन्हारि भई,

तिनकी नित नींद ही जागनि है

हित पीर सौं पूरनि जो हियरा

फिरि ताहि कहाँ-कहूँ लागनि है।

घनानन्द के विरह-वर्णन में परम्परागत पद्धतियों, प्रतीकों और चित्रों का भी यथासंभव समावेश संभव हो सका है। जिस प्रकार कालिदास ने 'मेघदूत' में मेघों को संदेशवाहक बनाया है उसी प्रकार वियोगिनी पवन को दूत बनाकर भेजती है-

ऐ रे! वीर पौन तेरो सबै ओर गौन बीरी

तो सो और कौन मनैं ढरकाँहि बानि दे।

घनानन्द की वियोगिनी यक्ष-यक्षिणी की तरह मेघ से भी संदेश ले जाने की प्रार्थना करती है-

घनानन्द जीवनदायक हौं कछु मेरियो पीर हिये परसौं

कबहूँ वा बिसासी सुजान के आंगन मो अंसुवाहि लै बरसौ।

इस प्रकार ''भले ही यह मानवीकरण अप्रस्तुत परम्परामोदित है परन्तु घनानन्द ने इसमें अपनी प्रतिभा का मार्मिक पुट देकर हृदयस्पर्शी रूप प्रदान कर दिया है। पवन की गतिशीलता जगत् प्रसिद्ध है। पवन द्वारा प्रियतम का संदेश लाना, उसकी सदाशयता का और प्रियतम की निष्ठुरता का परिचय दे रहा है। नायिका का दीर्घ वियोग और मिलन की अनिश्चितता इस निवेदन को वास्तविकता प्रदान करती है। पवन को इस प्रकार सम्बोधित करने में उसके (नायिका के) अकेलेपन, असहायता की बड़ी सुन्दर और प्रभावपूर्ण व्यंजना हुई है। अन्तिम दो पंक्तियों में तो संवेदनशीलता सजीव हो उठी है।''[16]

कहीं-कहीं पर घनानन्द प्रिय को उलाहना देते हुए अपने हृदयस्थ विरहाधिक्य का बोध करवाते दिखायी देते हैं-

मोहि मोह जनाय के, अरे अमोहि तोहि,

तोहिं मोहिं सो कठिन, सो करि तोहि मोहि।

घनानन्द पर फारसी-पद्धति के प्रेम का भी गहन प्रभाव है। 'वियोगबेलि' तथा 'इश्कलता' में घनानन्द ने फारसी पद्धति के रूप में विरह-वर्णन किया है जिसमें विरह में जलना, चीरफाड़ आदि का वर्णन भी है जो फारसी काव्य की विशेषता है। निम्न पंक्तियों में इसी प्रकार के भावों को व्यक्त करते हुए लिखते हैं-

कारी क्रूर कोकिला कहाँ को बैर काढ़ति री

कूकि-कूकि भवहीं करै जो किन कोरि लै।

किन्तु अधिकांशतः घनानन्द का वियोग-चित्रण अनुभूति प्रधान, हृदयस्पर्शी और मार्मिक है। यह भी सही है कि ''उन पर फारसी काव्य का काफी प्रभाव है। लेकिन ये प्रभाव केवल सहायक उपकरण हैं। उनकी पीड़ा अपने आप में इतनी गहरी और मार्मिक है कि पाठक को हिला देती है, 'मूव' करती है। बिहारी पर भी फारसी का प्रभाव है किन्तु इसे हम फारसी का मैनरिज्म कहेंगे। बिहारी इस मैनरिज्म से ही प्रभावित हैं। फारसी के अप्रस्तुत खेल-खिलवाड़, वियोगपरक ऊहात्मक उक्तियाँ मैनरिज्म के अन्तर्गत ही आयेंगी। इससे पाठक 'मूव' नहीं होता, चमत्कृत होता है। यह चमत्कार ही उनकी कविता का केन्द्र बिन्दु है।''[17]

इस प्रकार घनानन्द का विरह-वर्णन उत्कृष्ट और मार्मिक है। रामधारी सिंह दिनकर लिखते हैं- 'विरह तो घनानन्द की पूँजी ठहरा।' विरह के जो स्वर उनके हृदय से निकले हैं वे रीति तो क्या सूर की कविता में भी दुर्लभता से मिलते हैं।

अभिव्यंजना-शैली- अभिव्यंजना प्रकाशन की ऐसी संश्लिष्ट प्रक्रिया है जिसमें सहजानुभूति और सौन्दर्य नीर क्षीरवत् मिले रहते हैं। रंग, रेखा, शब्द, स्वर, लय, भाषा इसके भौतिक उपकरण हैं, जिनके द्वारा कवि अपनी अनुभूति को कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त करता है। भाषा भी विचारों, भावों, अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है। घनानन्द की भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा थी। अपनी आंतरिक भाव-व्यंजना के द्वारा इसको स्वच्छता, मधुरता और सुघड़ता प्रदान करने का प्रशंसनीय कार्य कवि ने किया। ये ब्रजभाषा के अत्यन्त प्रवीण कवि थे। भाषा भावानुकूल अर्थ संवहन करने और नई-नई भंगिमाओं द्वारा भावों को प्रस्तुत करने में समर्थ है। इनकी भाषा बिहारी, केशव प्रभृति कवियों की तरह अलंकार के बोझ से दबी हुई नहीं है वरन् उक्तियाँ आलंकारिक होते हुए भी रससिक्त हैं। आचार्य शुक्ल ने लिखा है- ''भाषा पर जैसा अचूक अधिकार इनका है वैसा और किसी कवि का नहीं। भाषा मानों इनके हृदय के साथ जुटकर ऐसी वशवर्तिनी हो गयी है कि ये उसे अपनी अनूठी भाव-भंगी के साथ-साथ जिस रूप में चाहते थे उस रूप में मोड़ सकते थे।''[18] कवि ने ब्रजभाषा से इतर भाषाओं अरबी, फारसी, पंजाबी, राजस्थानी, अवधी, खड़ी बोली आदि का भी प्रयोग किया है। घनानन्द की ब्रज-भाषा की प्रमुख विशेषता है- कोमलकान्त पदावली की मसृणता। घनानन्द की संवेगानुभूति की तीव्रता और प्रखरता के कारण भाषा भी भावजन्य ओज और प्रखरता से युक्त हो गयी है। भाषा में वर्णों की योजना

करते समय कवि वर्ण संगति और वर्ण संगीत पर भी ध्यान रखता है-

ऐ रे! बीर पौन तेरो सबै ओर गौन वीरि,
तो सों और कौन मनै ढ़रकौहौं बानि दै
जगत के प्रान ओछे बड़े सो समान, घन
आनंद-निधान, सुखदान दुखियानि दै।
जान उजियारे गुन-भारे अति मोहि प्यारे
अब ह्वै अमोही बैठे पीठि पहिचानि दै
विरह बिथाकि मूरि आँखिन में राखौं पूरि
धूरि तिन पायन की हा हा! नैकु आनि दै।

डॉ0 बच्चन सिंह ने लिखा है कि ''उपर्युक्त छन्द में वीर, पौन, गौन और कौनि, ढरकाहौं बानि दे, आनंद-निधान, सुखदान, दुखियानि दे हा हा, नैकु आनि दै शब्द संगीत तत्त्व के बोधक हैं जिसे पढ़ते ही मृदंग जैसे घोष की अनुभूति होती है। रीतिकाल के अन्य कवियों की भाषा परिनिष्ठित और प्रांजल साहित्यिक भाषा है, जो मानवीय गहन अनुभूतियों को व्यक्त करने में असफल रही है, उसके द्वारा परम्परानुमोदित भावों की अभिव्यक्ति ही सम्भव थी। घनानन्द के अभूतपूर्व प्रेम की अभिव्यक्ति परम्परा से प्राप्त काव्य-भाषा में नहीं हो सकती थी। उनकी दृष्टि में भाषा ऐसा वस्त्र है जो श्वाँस के धागों से बुना हुआ है, अनुराग के रंग में रँगा हुआ है। अनुराग के रंग में रँगे हुए और भी वस्त्र थे, भक्तों के, सूफियों के, प्रेमी कवियों के, पर घनानन्द के वस्त्र का विन्यास (टेक्सचर) श्वाँस के ताने-बाने स निर्मित हुआ था। इस नवीन विन्यास के कारण अन्य कवियों की भाषा से उनकी भाषा में गुणात्मक अन्तर आ गया है।''[19] घनानन्द के काव्य में तत्सम और तद्भव शब्दों का प्रयोग भी बहुतायत से मिलता है जैसे- पंकज, कुरंग, मलय, विभाकर, दिनेश, परजक, तीछन, ईछन, पदारथ, जतन आदि। देशज शब्दों में- डैल, ढोबा अरवीली आदि और फारसी के शब्द इस्क, महबूब, चिमन, बेदरद, मगरुरी, हुजूरी, बंदा, जिगर आदि शब्दों का प्रयोग किया है। घनानन्द ने काव्य में पंजाबी शब्द नाल, कित, पैंडे, गल्ला, असाडी, तुसाडी आदि अनेक शब्दों का प्रयोग कर अपने शब्द भण्डार को समृद्ध बनाया। कहीं भी भाषा कृत्रिम और निर्जीव नहीं होने पायी बल्कि मुहावरों का समुचित प्रयोग होने के कारण उसमें और भी जीवंतता और स्वाभाविकता आ गयी है, जैसे-

'उधरो जग छाय रहे घनानन्द चातिक ज्यों तकिये अबतो।'

'इत उतर पांव लगी मेंहदी सु कहा लगि धीरज हाथ लगै।'

इन सब विशेषताओं से युक्त घनानन्द की भाषा के सम्बन्ध में ब्रजनाथ की उक्ति 'भाषा प्रवीन' पूर्णतया चरितार्थ होती है।

लाक्षणिकता- भाषा को अपने काव्य के अनुकूल बनाने के लिए ही, अपने उन्मुक्त भावों को भाषा-बद्ध करने के लिए ही घनानन्द ने लक्षणों का सहारा लिया। यद्यपि रीतिकाल में बिहारी भी लाक्षणिकता के प्रयोग के लिए विख्यात हैं, परन्तु उनमें चमत्कार-वृत्ति, बौद्धिकता और ऊहात्मकता अधिक है। जबकि घनानन्द में सजीवता, तीक्ष्णता, विशदता और गम्भीरता का प्राधान्य है। काव्य की समस्त अभिव्यंजना शैली का मूलाधार ही शब्द लक्षणा शक्ति है, चाहे वह अप्रस्तुत योजना हो, मुहावरा शैली या भाषा सौष्ठव। घनानन्द के बाद आधुनिक युग में छायावादी कवियों ने ही लाक्षणिकता का प्रयोग किया है। कवि ने अपनी गहन पीड़ा को अभिव्यक्ति देने, उक्ति चमत्कार के लिए तथा काव्य को सरस बनाने के लिए इस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग किये हैं। आन्तरिक सूक्ष्मातिसूक्ष्म गहन वृत्तियों का अंकन लक्षणा के माध्यम से ही सम्भव हो सका है-

अकुलानि के पानि पर्‌यो दिनराति सुज्यौ छिनकौ न कहूँ बहरै।

'प्राण व्याकुल है' न कहकर इस प्रकार का वर्णन व्याकुलता की तीव्रता को व्यक्त करने में पूर्ण समर्थ है। विशेषण-व्यत्यय के द्वारा अनुभूति की तीव्रता को व्यंजित किया गया है।

घनानन्द के काव्य में कहीं-कहीं एक ही कवित्त में अनेक लाक्षणिक शब्द आ गये हैं। जिसमें प्रिय और प्रेमी से सम्बन्धित अनेकानेक अंतस्थ अनुभूतियों का लाक्षणिक विवेचन है-

तब तौं छबि पीवत जीवत है, अब सोचन-लोचन जात जरैं।
हिय पोष के तोष सु प्रान पले, बिललात महादुःख दोष भरे।
घनआनन्द मीत सुजान बिना, सबही सुख-साज समान टरै।
तब हार पहार से लागत हे, अब आनि के बीच पहार परै।

संयोग तथा वियोग दोनों ही स्थितियों के अन्तर को दर्शाने के लिए कवि ने 'हार' (माला) के लिए अप्रस्तुत 'पहाड़' का प्रयोग किया है। कवि यह बताना चाह रहा है कि जब प्रिय तथा प्रेमी साथ-साथ थे तब संयोग के क्षणों में वक्षस्थल पर पड़ा हुआ 'हार' भी पहाड़ के समान बड़ा व्यवधान लगता था, परन्तु आज तो प्रिय दूर हैं तब सचमुच बीच में अनेक पहाड़ आ गये हैं। यहाँ प्रस्तुत रूपाकार में लघु बिम्ब बनता है जबकि अप्रस्तुत विराट। हारों का पहाड़ों के सदृश प्रतीत होना अन्तराधिक्य भारगौरव तथा कठोरता का बोधक है। 'पहाड़' अत्यधिक दूरी का आभास दिला रहे हैं। प्रवास-विरह के बीच में पहाड़ों का आ जाना स्वाभाविक है क्योंकि संयोग में तो कभी बिछुड़ने की कल्पना भी प्रेमी या प्रेमिका ने नहीं की थी। भाषा में प्रयुक्त अप्रस्तुत-योजना के कारण यमक, उत्प्रेक्षा, वृत्यानुप्रास तथा विषम अलंकार सहज ही समाविष्ट हो गए। भाषा की उक्ति भंगिमा के कारण ही संयोग और वियोग का प्रत्येक चित्र साकार रूप ग्रहण कर लेता है। अमूर्त 'छबि' के लिए कवि ने मूर्त

'पेयत्व' को उपस्थित करके भाषा भंगिमा के प्रयोग द्वारा काव्य को मार्मिकता प्रदान कर दी है क्योंकि छवि कोई पेय पदार्थ नहीं है पर कवि ने बताया कि संयोगावस्था में तो छवि का पान करके ही जीवित रहा जाया था। 'सोचन' शब्द भी चिन्ता ग्रस्त व्यक्ति के अप्रस्तुत बिम्ब को साकार बनाता है और 'लोचन' देखने वाले के लिए व्यंजना है। इस प्रकार 'सोचन-लोचन' दोनों ही शब्द काव्य-प्रसंग में ही नहीं शब्द प्रयोग की दृष्टि से भी माधुर्य और गति का संचार कर रहे हैं। इस प्रकार लाक्षणिक वक्रता घनानन्द की भाषा का अभिन्न अंग है।

घनानन्द ने लक्षणा को कई रूपों में प्रस्तुत किया है। जैसे- अप्रस्तुत मुहावरे, भाववाचक विशेषण, क्रियापद, अमूर्त को मूर्त रूप देना तथा प्रतीक आदि। अचेतन वस्तु को चेतन तथा सूक्ष्म रूप प्रदान करने से भावगत रमणीयता का संवर्द्धन होता है। जैसे-

अब बिन देखे जान प्यारे यो आनन्द घन,

मेरो मन भवे भटू! पात ह्वै बधूरे को।

यहाँ पर कवि ने अमूर्त मन के लिए मूर्त 'पत्ते' का प्रयोग किया है। पत्ता भी कैसा? साधारण नहीं वरन् सूखा हुआ, बवंडर का पत्ता है। जिस प्रकार ग्रीष्म के ताप के कारण वायु हल्की होकर वृत्ताकार रूप में घूमती है और अपने साथ सूखे पत्ते, कूड़ा-कर्कट आदि को भी बटोर ले जाती है उसी प्रकार प्रिय के वियोग में विरह से तपने के कारण पत्ता रूपी मन भी प्रिय मिलन के भाव-संवेग में उड़ रहा है। क्योंकि संयोगकालीन मधुर-स्मृतियाँ मन को और भी अशक्त और हल्का बनाये दे रही हैं जिससे वह मन को और कहीं रमाने में असमर्थ होकर एक स्थान पर ही चक्कर काट रहा है।

इस प्रकार कवि लक्षणा-शक्ति के द्वारा मन का मनोवैाानिक विश्लेषण करने में समर्थ हुआ। क्योंकि प्रिय के अभाव में मन के भीतर काम-भाव और भी तीव्र रूप धारण कर चक्कर काटता रहता है। प्रेमी का मन भटकने लगता है, वह उखड़ा-उखड़ा सा संतप्त रहने लगता है। इस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोगों को लक्ष्य करके ही आचार्य शुक्ल ने लिखा है- ''लक्षणा का विस्तृत मैदान खुला रहने पर भी हिन्दी कवियों ने उसके भीतर कम पैर बढ़ाया। एक घनानन्द ही ऐसे हुए हैं जिन्होंने इस क्षेत्र में अच्छी दौड़ लगायी है।''[20]

भावों के सूक्ष्म रूप को अभिव्यंजित करने के लिए कवि ने क्रियापदों का भावात्मक प्रयोग भी किया है- 'उजरनि बसि है हमारी अँखियानि देखौ'। इस पंक्ति में प्रयुक्त 'उजरनि' शब्द में जैसी शुष्कता, नीरवता, एकाकीपन, वीरानगी की समर्थ शक्ति समाहित है वैसी अन्य प्रकार से सम्भव नहीं।

घनानन्द ने अप्रस्तुतों के माध्यम से भी चमत्कार प्रधान लाक्षणिक प्रयोग किये हैं-

'मीत सुजान अनीत करौ जिन' या 'जल बूड़ी जरै दीठि पायहिन सूझ करै।' पहले उदाहरण में प्रिय के विचित्र व्यवहार का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा 'मीत' होकर भी अनीति का भाव रखता है। अनीति तो दुष्टों की प्रकृति है, जो अनीति करेगा वह मीत कैसा? दूसरे उदाहरण में जलना तो अग्नि का धर्म है, पर बिना पावक के जलना कैसे? अतः लक्षणा से ही अर्थ की प्रतीति संभव है। एक अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य है।

झूठ की सचाई छाक्यो, त्यों हित कचाई पाक्यौ।

ताके गुनगन घनआनन्द कहागनौ।

यहाँ पर 'झूठ की सचाई' तथा 'कचाई' का पक्कापन दोनों ही विरोधी गुण हैं लेकिन प्रिय तो इसी में निष्णात है। यहाँ लक्षणा से ही 'गुनगन' का अर्थ 'अवगुण' हो गया।

मुहावरों के माध्यम से भी घनानन्द ने लाक्षणिकता का प्रयोग किया है। मुहावरे तो रूढ़िवती लक्षणा के प्रतिफल होते हैं पर कवि ने लीक से हटकर कथ्य को अधिक तीखा, स्पष्ट और व्यञ्जक रूप प्रदान कर दिया है। लाक्षणिक चमत्कार हेतु विरोधमूलक अलंकारों से युक्त मुहावरों का यह प्रयोग द्रष्टव्य है-

'कल न पड़ना', 'चैन न पड़ना' जैसी बातों से कवि ने नायिका के करुणासिक्त हृदय की गम्भीरता को समेटते हुए लक्षणा को काव्य-शिल्प से सुसज्जित किया कि 'भले ही किसी को चैन पड़ जाता हो परन्तु मैं तो जिस स्थिति से आवृत्त हूँ, मुझ पर जो सुख दुःख आ पड़ा है उससे मुझे अनुभव ही नहीं होता कि कल पड़ना किसे कहते हैं।' इस प्रकार- 'सुलगे मनमोहन मोह के तारे।'

'आँखों के तारे' इस रूढ़ मुहावरों को 'मोह के तारे' में व्यक्त कर कवि अपने अभीष्ट प्रेम की अनन्यता को प्रकट करने में पूरी तरह समर्थ हो गया है। अपने अपेक्षित भावों को लाक्षणिक मुहावरों में बाँधकर व्यक्त करने से अभिव्यक्ति शैली में निखार आ गया है। लक्षणा के मूल में जिस वक्रता का विधान कवि ने किया वह अनुभूतिजन्य होने के कारण स्वाभाविकता से युक्त है, बिहारी आदि की तरह सायास नहीं।

अप्रस्तुत विधान- आचार्य शुक्ल के शब्दों में- प्रेम की अनिर्वचनीयता का आभास घनानन्द ने विरोधाभासों के द्वारा दिया है। उनके विरोधमूलक वैचित्र्य की प्रवृत्ति का कारण यही समझना चाहिए। रीतिकाल के अनेक कवियों ने विरोधाभास अलंकार का प्रयोग किया है। परन्तु उन्होंने शब्द-साधना के द्वारा विरोधाभास का विधान किया है, वहीं घनानन्द का विरोध अभिव्यक्ति में है। वह कलापक्ष की अपेक्षा भावपक्ष से अधिक जुटा हुआ है। इनकी अप्रस्तुत योजना भावानुवर्ती और साधनरूपा है, जहाँ पर अलंकार और अलंकार्य में भेद न होकर अलंकार रचना प्रक्रिया के सहज अंग के रूप में उपस्थित हुआ है। इसी कारण अलंकारों में सहज-स्वाभाविकता, औचित्य और संगति है। वैसे तो घनानन्द ने अपने

सम्पूर्ण काव्य-विधान में जितना आश्रय लक्षणा-शक्ति का लिया है उतना अलंकारों का नहीं। फिर भी विरह-व्यंजना के प्रसंग में अलंकार वर्णन का आग्रह दिखायी देता है पर वह सप्रयास न होकर सम्पूर्ण अभिव्यक्ति का अनिवार्य अंग ही है। यह अप्रस्तुत योजना का ही परिणाम है कि उसमें लक्षणा, व्यञ्जना तथा ध्वनि का सौन्दर्य-बोध समाया हुआ है। और इन विशेषताओं के माध्यम से कवि आसानी से रस की अभिव्यञ्जना में समर्थ हो सका है। रसानुभूति ही इनका साध्य है अलंकार तो साधन मात्र है।

वस्तुतः अप्रस्तुत योजना का लक्ष्य ही भावना को तीव्र बनाना है। किसी वस्तु का मात्र स्वरूप-बोध करवाना इसका लक्ष्य नहीं रहा है। अप्रस्तुत विधान के लिए प्रयोग-औचित्य, यथार्थता, अभिव्यंजकता, ध्वन्यात्मकता, उपमेय तथा उपमान आदि का संयोजन आवश्यक है, इसके अभाव में उक्ति-भंगिमा का रमणीय बनना संभव नहीं। अप्रस्तुत-योजना द्वारा उपस्थित भाषा की इस भंगिमा का मुख्य कारण है- 'वाणी का मौन' होना। अपने स्थानों पर कवि ने वाणी के मौन होने की बात कही है। निम्न पंक्तियों में घनानन्द की विरोधमूलक वृत्ति का पता आसानी से लगाया जा सकता है-

उर मौन में भौन को घूँघट कै दूरी बैठी बिराजति बात बनी।

मृदु मंजु पदारथ भूषन सौ सु लसै हुलसै रस-रूप मनी।

रसना-अलि-कान-गलि मधि ह्वै पधरावति लै चित-सेज ठनी।

घनआनन्द बूझनि-अंक बसै बिलसै रिझवार सुजान-धनी॥

इस प्रकार घनानन्द की कविता मौन रहकर भी काव्य-रसिकों के मर्म का स्पर्श करती है, मन्त्रमुग्ध कर देती है। घनानन्द ने कविता के बाह्य पक्ष की अपेक्षा अन्तर पक्ष के सौन्दर्य का निरूपण ही किया है। यही कारण है कि परम्परानुमोदित गिने-गिनाये अप्रस्तुतों के स्थान पर अनेकानेक नये अप्रस्तुतों का सांकेतिक निरूपण भी किया, मौन के माध्यम से अभिव्यक्ति की, जिसकी मानस अनुभूति सहृदय पाठक की तन्मयता ही कर सकती है।

घनानन्द ने रीतिबद्ध कवियों का अन्धा अनुकरण नहीं किया वरन् परम्परागत अलंकारों को अपनी अंतर्दृष्टि के कारण नवीन सन्दर्भ और नये आयाम दिये। समूची अप्रस्तुत योजना का उद्देश्य ही कविता में रसाद्रता और मार्मिकता का संचार करना है। अतः प्रकृति की दृष्टि से घनानन्द के अलंकार विधान को दो वर्गों में रख सकते हैं- 1. विरोधमूलक और 2. सादृश्यमूलक।

घनानन्द का काव्य अन्तर्मुखी होने के कारण उसमें सादृश्यमूलक अलंकारों की बहुलता है जिसके माध्यम से कवि ने रूप-सौन्दर्य की सूक्ष्म झलक को बड़ी चतुराई से साकार करने में अपना शिल्पगत चमत्कार प्रदर्शित किया है फिर भी प्रेमगत हृदय की विलक्षणता और उससे उत्पन्न भावानुभूति का प्रभावोत्पादक चित्रण विरोधमूलक अलंकारों के माध्यम से ही प्रस्तुत किया है। निश्चय ही घनानन्द के काव्य में विरोध ने जिस आलंकारिक सौन्दर्य की सृष्टि की है उसका मूलोद्गम उनका वह मर्मस्थल है, जिसने प्रेम की मार्मिकता और गम्भीरता को पूर्णतया अपना बना लिया था। जीवन की अनेक विषम परिस्थितियों के बीच जूझते हुए ही कवि प्रेम-पथ का पथिक बना, उस विषम एकांगी प्रेम की अभिव्यक्ति शब्द विरोध के बिना हो ही नहीं सकती थी। अतः विरोधाभास ही इनकी अलंकारिक चेतना का केन्द्र बिन्दु बना-

''नेह भीजि बातें रसना पै उर आंच लागै

जागै घन आनन्द ज्यों पुंजन मसाल है।''

स्नेह सबको शांति और शीतलता प्रदान करने वाला होता है परन्तु नायिका स्नेहसिक्त बातों को सुनकर ज्वाला मशाल पुंज की भाँति जलने लगती है।

इसी प्रकार-

सुध ते स्रवत विष, फूल मैं जमत शूल

तम उगिलत चंदा, भई नई रीति है

जल जारे अंग और राग को सुरभंग

संपत्ति-विपत्ति परै, बड़ी विपरीत है

महागुन गहै दोषै, औषधि हू रोग पोषै

ऐसे जाना रस माहि विरस अनीति है

यहाँ 'सुधा' से 'विष', 'फूल' से 'शूल', जल की शीतलता से जलने, राग से स्वर भंग सम्पत्ति से दुःख तथा औषधि से रोग का पोषण आदि में विरोध स्पष्ट है।

चला सजीवन सुजान दृग-हाथन तें

प्यारी अनियारी रुचि रखवारी ओट है।

जब-जब आवै तब-तब अति मन भावै

अहा! कहा विषम कटाच्छ सर-चोट है।

बाणों का आघात असहनीय होता है किन्तु कटाक्ष रूपी बाण मन को मोहित करने वाले होते हैं। विरोध की प्रेरणा सुजान के एकांगी प्रेम की परिचायक है। घनानन्द ने हिन्दी साहित्य में विरोधाभास का प्रयोग एक विशिष्ट शैली के रूप में भी किया है। इसमें प्रेम की विषमता की तीव्र व्यंजना उक्ति-वैचित्र्य के माध्यम से हुई है-

देखिए दसा असाध अंखिया निपेटनि की

भस्मी बिधा पै नित लंघन करति है।

यहाँ पर कवि का अभिप्रेत यह दिखाना है कि आँखें सौन्दर्य का पान करती-करती अघाती नहीं है। इसके लिए कवि ने आँखों का मानवीकरण करके उन्हें 'निपेटनि' कहा और आँखों की तृषा के लिए 'भस्मी विघा' अप्रस्तुत को प्रयुक्त किया।

इस प्रकार ''घनानन्द ने अपने भावों के गांभीर्य को व्यक्त करने के लिए विरोधाभास अलंकार का प्रयोग चमत्कारिक शैली में ही किया है। रीतिकाल की प्रमुख प्रवृत्ति पांडित्य प्रदर्शन की कसौटी पर कसने पर घनानन्द के पक्ष में विरोधाभास का प्राधान्य ही दिखायी देगा। विरोधाभास इनकी जिस पुस्तक में कहीं यह प्रवृत्ति न दिखायी दे उसे बेखटके घनानन्द की कृति से पृथक किया जा सकता है और जहाँ यह प्रवृत्ति दिखायी दे उसे निःसंकोच इनकी कृति घोषित किया जा सकता है।''[21] विरोधाभास की परिधि में लाक्षणिक व्यंग, लोकोक्ति तथा मुहावरों का प्रयोग भी कवि ने बड़ी सूक्ष्म मार्मिकता के साथ किया है। मूलतः इनके काव्य में 'रूपक' तथा विरोधाभास अलंकारों की ही बहुलता है।

वस्तुतः उनके काव्य में विरोध ने जिस आलंकारिक सौन्दर्य की सृष्टि की है उसका मूल उत्स उनका हृदय, उनके विचार, उनका जीवन है जो विशमता का कोष था। जीवन विषम परिस्थितियों का केन्द्र हो गया था। इसलिए अपने प्रेम को बिना बाँकपन के, बिना स्थिति वैषम्य के, निर्देशन के और कुछ नहीं तो बिना शब्द विरोध के वे व्यक्त ही नहीं कर पाते थे। यही कारण है कि विरोधाभास ही उनकी अलंकारिक सौन्दर्य- चेतना का अंग हो गया और अन्य अलंकार इसी केन्द्रीय शोभाकारक धर्म के इर्द-गिर्द चक्कर लगाते मिलेंगे।

निष्कर्षतः यही कहा जा सकता है कि घनानन्द का सम्पूर्ण काव्यसौंदर्य विरोधमूलक अप्रस्तुतयोजना पर आश्रित है। इस प्रकार इन्होंने चली आयी हुई परम्परा के पृष्ठप्रेषण से अलग हटकर अपना मार्ग निर्मित किया। दूरारूढ़ कल्पनाओं, रटी-रटाई उपमाओं, अतिशय वासना की शृङ्गारिक उक्तियों से परे कला की सीधी पटरियों पर दौड़ लगाकर रीतियुक्त कवियों में सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया। हृदय की स्वच्छन्दता के हामी, उन्मुक्त प्रेम के गायक घनानन्द की कविताओं में अन्तर्मंथन, आत्मपीड़ा और वेदना की सच्ची कसक है।

सन्दर्भ

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ0 232
2. बिहारी का नया मूल्यांकन, डॉ0 बच्चन सिंह, पृ0 134
3. वही, पृ0 134
4. घनानन्द कवित्त, आचार्य विश्वनाथ मिश्र, पृ0 5
5. हिन्दी साहित्य का अतीत, आचार्य विश्वनाथ मिश्र, पृ0 361
6. रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना, डॉ0 बच्चन सिंह, पृ0 223
7. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ0 330
8. वही, पृ0 383
9. वही, पृ0 352
10. हिन्दी के प्राचीन प्रतिनिधि कवि, द्वारिका प्रसाद सक्सेना, पृ0 450
11. घनानन्द का काव्य शिल्प, डॉ0 लखनलाल सिंह, पृ0 56
12. घनानन्द कवित्त, आचार्य विश्वनाथ मिश्र, पृ0 24
13. वही, पृ0 23
14. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ0 320
15. वही, पृ0 233
16. रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना, डॉ0 बच्चन सिंह, पृ0 255
17. वही, पृ0 236
18. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ0 233
19. बिहारी का नया मूल्यांकन, डॉ0 बच्चन सिंह, पृ0 139
20. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ0 322
21. घनानन्द कवित्त, आचार्य विश्वनाथ मिश्र

●

वर्तमान परिवेश की चुनौतियाँ और समकालीन हिन्दी कविता

अभिषेक कुमार सिंह एवम् प्रो. श्रीनिवास पाण्डेय***

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है तथा अपने परिवेश में घटित होने वाली घटनाओं से प्रभावित होता है। कविता मनुष्य की आदि सहयात्री है, जिसमें बहुत बारीकी से उसके सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, समय की दस्तक तथा समाज के बड़े बदलाव और उथल-पुथल ही नहीं, आत्मा की भीतरी गूँजे-अनगूँजे भी समाई रहती है। जब बात वर्तमान परिवेश की चुनौतियों और समकालीन हिन्दी कविता पर होगी तो सबसे जरूरी सवाल उन चुनौतियों की होगी जिन्होंने हिन्दी कविता को प्रभावित किया तथा कवियों को कविता रचने की ओर प्रेरित किया। वर्तमान समय में जहाँ एक ओर आतंकवाद, साम्प्रदायिकता के फैलते जहर, लोकतान्त्रिक संस्थाओं का दरकते जाना, पर्यावरण, पूँजीवादी ताकतों का और प्रभावशाली ढंग से उदय जैसे मुद्दे चुनौती बनकर उभरे हैं, वहीं दूसरी ओर समकालीन कविता में अन्तिम दशक की अनसुलझी समस्याएँ जिसमें बाबरी मस्जिद विध्वंश, खुली अर्थव्यवस्था का समर्थन, नक्सलवाद ने समकालीन कविता को प्रभावित किया है। आचार्य शुक्ल को कहना पड़ा था कि, ''ज्यों-ज्यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नये-नये आवरण चढ़ते जाएगा, त्यों-त्यों एक ओर कविता की आवश्यकता बढ़ती जाएगी, दूसरी ओर कवि-कर्म कठिन होता जायेगा।''[1] वर्तमान परिवेश की कविताएँ पिछले कई दशकों से समकालीन परिवेश की चुनौतियों को सशक्त ढंग से वाणी प्रदान कर रही हैं।

समकालीन कविता वर्तमान परिस्थितियों के यथार्थ अंकन की कविता है। समकालीन हिन्दी कविता में अपने समय के अंतर्विरोध समाहित हुए हैं। समकालीन एक कालखण्ड में साथ-साथ रहने मात्र से ही नहीं कहा जा सकता है। समकालीनता क्या है इसके बारे में विश्वम्भरनाथ उपाध्याय कहते हैं कि- ''समकालीनता अपने काल की समस्याओं और चुनौतियों का मुकाबला करना है। समस्याओं और चुनौतियों में भी केन्द्रीय महत्व रखने वाली समस्याओं की समझ से समकालीनता उत्पन्न होती है।''[2]

समकालीन हिन्दी कविता का परिचय- समकालीन हिन्दी कविता की शुरूआत सत्ता से मोहभंग, अवसरवादियों, भ्रष्टाचारियों, दलालों आदि के बेनकाबी चेहरों से हुई। समकालीन कविता में दलित, बेसहारा, मेहनतकश मजदूर आदि की संवेदनाओं को कविता का विषय बनाया गया। जहाँ छठें-सातवें दशक के दौरान राजनीतिक दलों की अमानवीयता, चरित्रहीनता, सिद्धान्तहीनता, मूल्यहीनता आदि का जो स्वरूप सामने आया, उसने रचनाकारों को अन्दर से हिलाकर रख दिया। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, रघुवीर सहाय, राजकमल चौधरी, धूमिल, दुष्यन्त कुमार आदि के परिवेशगत जीवनानुभूतियाँ उनकी रचनाओं में तीखे स्वर में व्यक्त हुईं। रघुवीर सहाय सत्ता के तिलस्म के न टूटने पर भी अपने अंदर के कायर के टूटने की बात करते हैं, तो वहीं धूमिल सपाट बयानी में कहते हैं कि-

बीस साल बाद और इस शरीर में
सुनसान गलियों से चोरों की तरह गुजरते हुए
अपने आप से सवाल करता हूँ-
क्या आजादी सिर्फ तीन थके हुए रंगों का नाम है,
जिन्हें एक पहिया ढोता है।
या इसका कोई खास मतलब होता है?[3]

बीस साल बाद भी आजादी के मायने जनता को नहीं समझ आ रहे, सातवें दशक में जहाँ कवि इस बात को कहता है, वहीं आठवें दशक एवं नवें दशक का समाज और भी जटिल हो चुका है। आठवें दशक के दौरान सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन भारतीय समाज में जनतांत्रिक चेतना का प्रभावशाली उदय है, तो दूसरी ओर जनसमूहों के भीतर से ही कुछ रचनात्मक शक्तियों के उभरने से है। नवें दशक तक आते-आते कविता की दो प्रवृत्तियाँ दृष्टिगत होती है। पहली जीवन के सामान्य सुख-दुःख या घात-प्रतिघात का अन्तरंग चित्रण जिसे वैयक्तिक कविता कह सकते हैं। दूसरी प्रवृत्ति वही है जो आठवें दशक के अन्त तक विद्यमान है। इस दौर के कवियों ने सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, दलित, स्त्री और आदिवासी विमर्श को अपनी कविता का विषय बनाया।

प्रभाकर श्रोत्रिय का मानना है कि ''समकालीन युवा कविता ने एक ओर काव्य की अधोगामी प्रवृत्तियों को साफ तौर पर नकार दिया है, तो वहीं दूसरी ओर उसने संवेदना और करुणा के जाने-अनजाने स्पर्शों से कविता को ताजगी दी है। उसने व्यक्तिवादी एकालाप और रहस्य के पर्दे को ही नहीं, वादग्रस्त लफ्फाजी और रूढ़ियों को चीरकर अलग कर दिया है, अनुभूत संवेदन और परिवेश के जीवित-बोध ने शोषण की अन्दरूनी जटिलताओं को पहचानने की शक्ति और दृष्टि दी है।''[4]

बीसवीं सदी की अन्तिम दशक की हिन्दी कविता की संवेदना को समझने और जानने के लिए हमें तत्कालीन परिवेश की

* शोधछात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
**सम्पादक, 'प्रज्ञा' जर्नल, प्रमुख, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

पड़ताल करनी पड़ेगी। स्वाभाविक रूप से रचनाकार अपने परिवेश में व्याप्त दुःख, दर्द, पीड़ा का अनुभव करता है और यहीं पीड़ा संस्कारित होकर साहित्य में अभिव्यक्त होती है। अंतिम दशक में अनेक राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाएँ घटित हुई। गठबंधन सरकारों का दौर, मण्डल कमीशन का गठन, भारत में उदारीकरण, बाबरी मस्जिद विध्वंस, भारत का परमाणु परीक्षण जहाँ राष्ट्रीय स्तर पर है, तो वहीं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सोवियत संघ का विघटन, जर्मनी का एकीकरण, मण्डेला की रिहाई, श्रीलंका की विस्फोटक स्थिति, नेपाल का निरंकुश राजशाही से मुक्ति आदि को देखा जा सकता है।

नवें और दसवें दशक के संधिकाल पर अशोक वाजपेयी का काव्य संग्रह 'कहीं नहीं वहीं' आया। जो अंतिम दशक की बेचैनी और विकलता का दस्तावेज है। इसमें वह सीमाओं के लिए झगड़ते हुए मुल्कों के बारे में प्रश्न खड़ा करते हुए कहते हैं कि-

अन्त के बाद/हम चुपचाप नहीं बैठेंगे।

फिर झगड़ेंगे/फिर खोजेंगे/फिर सीमा लाँघेंगे

क्षित जल पावक/गगन समीर से/फिर कहेंगे-

चलो हमको रूप दो/आकार दो।[5]

समकालीन हिन्दी कविता के प्रमुख कवि और उनकी कविताएँ- समकालीन हिन्दी कविता के प्रमुख कवियों को हम निम्न श्रेणियों के आधार पर देख सकते हैं। प्रथम श्रेणी के अंतर्गत नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल और त्रिलोचन अपनी पीढ़ी की संवेदनशीलता के साथ सक्रिय थे। दूसरी श्रेणी में धर्मवीर भारती, कुँवर नारायण, केदारनाथ सिंह और अशोक वाजपेयी कविता को एक नया आयाम दे रहे हैं। तीसरी श्रेणी में कुमार विमल, ऋतुराज, विष्णु खरे, ज्ञानेन्द्रपति, कुमार अम्बुज, बद्रीनारायण, बोधिसत्व, अष्टभुजा शुक्ला, मदन कश्यप, राजेश जोशी, अरूण कमल, संजय चतुर्वेदी, एकान्त श्रीवास्तव, निलय उपाध्याय, विनोद कुमार शुक्ल, ओमप्रकाश वाल्मीकि इत्यादि कवियों ने हिन्दी कविता को लोक की संवेदना से जोड़ा ही नहीं अपितु पुरानी काव्यभाषा के मुहावरे को भी तोड़ने का कार्य किया है। इसकी सम्यक व्यंजना को हम 'कुमार अम्बुज' की कविता 'क्रूरता' में देख सकते हैं-

धीरे-धीरे क्षमाभाव समाप्त हो जाएगा

प्रेम की आकांक्षा तो होगी मगर जरूरत न रह जाएगी

झर जाएगी पाने की बेचैनी और खो देने की पीड़ा

क्रोध अकेला न होगा वह संगठित हो जाएगा

एक अनंत प्रतियोगिता होगी जिसमें लोग

पराजित न होने के लिए नहीं

अपनी श्रेष्ठता के लिए युद्धरत होंगे

× × × ×

पड़ोसी सांत्वना नहीं एक हथियार देगा

तब आएगी क्रूरता और आहत नहीं करेगी हमारी आत्मा को।[6]

आज समाज में इस हद तक बदलाव आ गया है कि अपने को ही श्रेष्ठ कहने की होड़ लगी हुई है। पड़ोसी जो मददगार होता था वह युद्ध के लिए उकसा रहा है। हम कह सकते हैं कि हमारा समाज धीरे-धीरे संघर्ष की जटिल प्रक्रिया के बीच पहुँचता जा रहा है। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य के घूमते हुए चक्र के बीच काव्य सर्जन की प्रक्रिया चलती। जहाँ एक ओर 'मुझे और अभी कहना है' (गिरजा कुमार माथुर), 'कहीं नहीं वहीं' (अशोक वाजपेयी), 'घर-घर घूमा' (लीलाधर मण्डलोई), 'सच मैंने बनाये नहीं' (विनोद कुमार शुक्ला), 'इस दुनिया में' (वीरेन डंगवाल), 'भय भी शक्ति देता है' (लीलाधर जगूड़ी) आदि आदि काव्यसंग्रह हैं, तो दूसरी ओर 'दूसरे शरीर की खोज', 'अन्तरराष्ट्रीय बाजार', 'हाथी और पहाड़' आदि शीर्षक कविताएँ अपने समय और समाज का आईना बनकर आयी। समकालीन कविताओं में समय की प्रमुख सच्चाई का बयान है चाहे वह उपभोक्तावाद हो, बाजारवाद या आतंकवाद। लीलाधर जगूड़ी बाजारवाद के विकृत मूल्यों की ओर संकेत करते हैं-

जो है उसे बेचते जाओ

नया खरीदो का पाठ सिखाया जा रहा है

नया वाहन जरूरी बताया जा रहा है

जिसके लिए दिखाए गए हैं

कुछ अपारिवारिक स्त्रियों के विशिष्ट वक्ष

कोई नहीं बताता धरती के कितने थन सूख गए।[7]

बाजार के नियन्त्रण में सम्पूर्ण मानव समाज है। बाजार के दबाव के कारण मानवीय मूल्यों को ताख पर रखकर पृथ्वी और नारी दोनों का गलत ढंग से शोषण किया जा रहा है, जिसमें सृजन का बीज फलता-फूलता है, वही संकट में है और इस ओर किसी का ध्यान नहीं जा रहा है। जीवन इतनी तेजी से गतिमान है कि मानव मूल्य पीछे छूटते जा रहे हैं। जब घर के लोगों का घर से सम्बन्ध नहीं, घर टूटने के कगार पर है तब कवि कहता है-

इस समय जबकि घर की ओर जो ताकता है

वह नष्ट हो रहा है

जो उस दिशा को जा रहा है वह हार रहा है

और यथार्थ उसे निर्भयता के साथ

सरलतापूर्वक मिटा रहा है।[8]

घर से सम्बन्ध रखना वर्तमान समय में पिछड़ते जाने का लक्षण बनते जा रहा है। लोग सच्चाई से परे होते जा रहे हैं जिसके

कारण विघटन की समस्याएँ बढ़ती जा रही है। आज के समय में सबसे बड़ा संकट है अपनी पहचान, अपनी संस्कृति, धरोहर और आत्मा को बचाने की, जिससे कि वह सही अर्थ में मनुष्य के मानसपटल पर बनी रहे। मंगलेश डबराल की कविता मानव मूल्यों को बचाने की वकालत करती है-

एक सरल वाक्य बचाना मेरा उद्देश्य है
मसलन कि हम इंसान है
मैं चाहता हूँ कि इस वाक्य की सच्चाई बची रहे
सड़क पर जो नारा सुनाई दे रहा है
वह बचा रहे अपने अर्थ के साथ
मैं चाहता हूँ निराशा बची रहे
जो फिर से एक उम्मीद
पैदा करती है अपने लिए
जो चिड़ियों की तरह कभी पकड़ में नहीं आते
प्रेम में बचकानापन बचा रहे
कवियों में बची रहे थोड़ी लज्जा।[9]

यहाँ कवि शब्दों को उसके अर्थ के साथ बचाना चाहता है। बचाने के लिए कई तरह के अभियान चलाये जा रहे हैं, बचपन बचाओ, पर्यावरण बचाओ, मनुष्य बचाओ, बेटी बचाओ-बेटी पढ़ाओ, वन्य बचाओ आदि-आदि। लेकिन विडंबना यह है कि इन नारों के साथ वहीं खड़े हैं जो इसे नष्ट करते रहे हैं। यही कारण है कि कवि शब्दों को उनके अर्थ के साथ बचाना चाहता है।

परमानन्द श्रीवास्तव लिखते हैं- ''हम कला के ऐसे समय में हैं जो शोर से भरा है- मौन या चुप्पी की अपेक्षा रखता हुआ। एक शोख चमकीला नकारवाद।''[10] राजनीति ने मनुष्य यानी आम जनता को वोट बैंक से ज्यादा, कुछ नहीं समझा है। समृद्धि और विकास की सारी अवधारणाएँ केवल सरकारी कागजों में ही नजर आती है। कुमार अम्बुज जनता के पक्ष में यथार्थ को प्रगट करते हुए कहते हैं-

जब वोट डालने के लिए चलना पड़ता है सिर्फ दो मील
तो इलाज कराने के लिए बीस मील क्यों?
जब भरे-पूरे स्वस्थ विधायक के लिए सुरक्षित है बैठने की जगह
तो एक बीमार बच्चे/और थके हारे इन्सान के लिए क्यों नहीं।[11]

भारतीय समाज में विकास की खाई बढ़ती ही जा रही है एक ओर अमीर वर्ग हैं जिसके पास विश्व के सम्पूर्ण संसाधनों का 80 प्रतिशत से अधिक है तो दूसरी ओर गरीब और निर्धन वर्ग हैं जिसके जीवन-यापन का संकट छाया हुआ है। जाति, धर्म और राष्ट्र के खतरे आम हो गए हैं। सांप्रदायिकता, आतंकवाद की समस्या मुँह बाए खड़ी हैं। कश्मीर में लोग मारे जा रहे हैं। लाहौर उजड़ गया, बगदाद उजड़ गया, सिरिया, नाइजीरिया, लीबिया, मिश्र, यवन आतंकवाद के जद में है। बच्चों की निर्मम हत्या मानवता को कलंकित कर रही है। जो उजड़ रहा है क्या हम उसे फिर से रच पायेंगे, बचा पायेंगे। आलोक धन्वा पूछते हैं-

क्या लाहौर बच रहा है?
वह अब किस मुल्क में है
न भारत में, न पाकिस्तान में
पूछो राष्ट्र-निर्माताओं से
क्या लाहौर फिर बस पाया?[12]

कवियों द्वारा सवाल कभी गम्भीर तो कभी सहज होते हैं किन्तु उत्तर इतना सहज नहीं होता। ऐसे समय में जब सारी व्यवस्था का भरोसा छिना जा चुका हो, समस्या एक नहीं अनेक हो, जिसमें जल, जंगल, जमीन के संरक्षण और प्रवास को रोकने की हो तब काफी जटिलता होती है। न गाँव अपनी मौलिक बनावट के साथ बच पा रहे हैं, न जंगल ही, अब तो मनुष्यता और हर उस चीज पर संकट है जिससे मनुष्य जुड़ा है। उदय प्रकाश सब कुछ को बचाने की वकालत करते हुए कहते हैं कि-

बचाना ही है तो बचाए जाने चाहिए
गाँव में खेत, जंगल में पेड़, शहर में हवा
पेड़ों में घोंसले, अखबारों में सच्चाई
राजनीति में नैतिकता, प्रशासन में मनुष्यता।[13]

भूमण्डलीकरण और पूँजीवाद ने गाँव, घर, जल, जंगल, जमीन, मनुष्यता, और उसे बचाये रखने वाले हर सोच को न सिर्फ प्रभावित किया है उसे नष्ट करने का कार्य किया है। गाँव अपनी शक्ल से बदल गया है तो, जंगल को पूँजीवादी ताकतों ने अपने लाभ के लिए नष्ट करना शुरू कर दिया है। प्रशासन में ईमानदारी और मनुष्य में ईमानदारी का भाव समाप्त होते जा रहा है।

बीसवीं सदी के अंतिम दशक की कविता में लोकजीवन की कविता का उभार और उसका उत्तरोत्तर विकास कविता के इलाके में सबसे बड़ी घटना है। लोक-संस्कृति आज कविता का सबसे बड़ा ट्रांसमीटर है। शहरी जीवन की ऊपरी आधुनिकता और उपभोक्तावाद के विरूद्ध लोक-संस्कृति में उपजी कविता इधर का केन्द्रीय विषय बन गई है। कवि की चिन्ता में अब पतनशील राजनैतिक सामाजिक मूल्य ही नहीं है, मानवीय संवेदना के क्षरण और जीवन की सहज गतिमानता को भीतर से सोख लेने वाला प्रत्येक दुष्चक्र वह पहचान रहा है। उसे अब प्रेम की, प्रकृति की, बच्चे की, स्त्री की और

पूँजीवादी समाज-व्यवस्था द्वारा बेदखल किए गए मनुष्य की ही नहीं, अपितु वह नए सिरे से इन्हें जीवित रखने वाले शक्ति-स्रोतों की तलाश कर रहा है। यहाँ परम्परा, इतिहास, स्मृति, प्रकृति और मनुष्य ध्वनि के साथ-साथ घर की ओर लौटती कविता भी है। यह घर सिर्फ घर नहीं है, पूरा लोक है जो छिनता जा रहा है। समकालीन कवि को अपनी मिट्टी से दूर रहने का मलाल है। वह हर हाल में उसी का रहना चाहता है, जबकि महानगरीय संस्कृति ने उसे कहीं का नहीं छोड़ा, यह उसके दुःख का कारण बनता जा रहा है-

झड़ना था तो खेत में झड़ता
दाई-माई चुन लेती
झड़ना था तो राह में झड़ता
चिड़िया चुरगुन चुन लेती
अब तो खंखड़ हूँ मैं केवल
दाना था तो घुन खा बैठे।[14]

यह महानगरीय जीवन में रहते हुए प्रवासीपन के बोध की पीड़ा है। एकान्त श्रीवास्तव की कविता में पोखरे के जल में/एक साँवली साँझ की तरह/काँपती है/घर की याद।' कवि को अपनी मिट्टी से उखड़ जाने का एहसास निरन्तर बना हुआ है। घर छोड़कर, पृथ्वी पर आना जीवन की आपा-धापी को व्यक्त करता है। यह एहसास समकालीन कविता की नई पीढ़ी अष्टभुजा शुक्ला, बोधिसत्व, निलय, एकांत श्रीवास्तव, प्रेमरंजन, अनिमेष आदि में केन्द्रीय विषय के रूप में देखा जा सकता है। समकालीन कविता में ग्रामगंध, बाजारीकरण के विकल्प के रूप में आ रहा है। उपभोक्ता संस्कृति यदि पाँव पसार रही है तो लोक भी अपना राग रच रहा है। भले ही स्मृतियों में ही, कविताओं में ही। यही से घर पहुँचने की उम्मीद बनती है-

यह घर
हमारा सबसे आत्मीय परिजन
हर दुःख हर सुख में
जो रहा हर दम हमारे साथ
क्या इतनी आसानी से गिर जाएगा
घर
मैं तुम्हें गिरने नहीं दूँगा।[15]

यह लोक मन की चाहत है, उस लोक, घर के लिए जहाँ बचपन के फूल अनवरत झर रहे हैं। अनाज के दाने, भूख का सपना और नींद के चमकदार सूप में झर रहा है और दानों के फटकने की आवाज पूरे संसार में गूँज रही है।

समकालीन कविता में स्त्री के विविध रूपों, छवियों को प्रगट करने का प्रयास किया गया है। स्त्री-जीवन के हँसने व रोने से लेकर उसकी संघर्ष गाथा तक को यहाँ सहजता से मानवीय धरातल पर वर्णन करने का प्रयास जारी है। इनमें उदय प्रकाश की कविता 'भ्रूण हत्या', आलोकधन्वा की कविता 'भागी हुई लड़कियाँ', एकान्त श्रीवास्तव की कविता 'बहनें एक', 'बहने-दो', इत्यादि उल्लेखनीय है। समकालीन कविता में माँ पर अनेक कविताएँ लिखी गई है जो आँगन है, घर है, किवाड़ है, चूल्हा है, आग है, नल की धार है में माँ के गरिमामय व्यक्तित्व को प्रगट करती है लेकिन लीलाधर जगूड़ी के स्त्री चित्रण में नारी की स्वतंत्रता और खुलेपन होने पर व्यंग्य नजर आता है जब वह कहते हैं कि- 'शादी के तीस साल बाद भी सड़क पर डग भरने की इजाजत पुरुष से लेती है।''[16] कवि परम्परागत मान्यताओं के बीच स्त्री की असली चेहरा उजागर करता है जो सीधे-सीधे पुरुषवादी सत्ता के वर्चस्व को सूचित करता है। नीलेश रघुवंशी की 'घर निकासी', कात्यायनी की 'इस पौरुषपूर्ण समय में' आदि संकलन की अनेक कविताएँ स्त्री-सच, उसके अनुभवों को ईमानदारी के साथ प्रस्तुत करती है।

समकालीन संकट जब गहराता जा रहा हो तब जीवन-शैली में बदलाव स्वाभाविक है। भूमण्डलीकरण ने आर्थिक क्षेत्र में नयी-नयी संभावनाओं को जन्म दिया है, इसके परिणामस्वरूप परम्परागत मान्यताएँ टूट रही है। समकालीन कविता में प्रेम की कविताओं के संदर्भ में ज्ञानेन्द्रपति की 'चेतना पारीख', बद्रीनारायण की 'प्रेमपत्र', पवन करण की 'प्रेम में डूबी हुई माँ' आदि कविताएँ महत्वपूर्ण है। बद्रीनारायण की कविता 'प्रेमपत्र' एक चर्चित कविता है, जिसे रोमाण्टिक एप्रोच की कविता कहा जा सकता है। बद्रीनारायण प्रेम को बचाने की गुहार लगाते हैं। जब प्रलय की छाया मंडरा रही हो, कुछ भी बच पाना संभव नहीं रह गया है, ऐसे विसंगत समय में कवि 'प्रेमपत्र' को बचा लेने की गुहार करता दिखता है-

प्रलय के दिनों में
सप्तर्षि मछली और मनु
सब वेद बचाएंगे/कोई नहीं बचाएगा प्रेमपत्र
कोई रोम बचाएगा/कोई मदीना
कोई चाँदी बचाएगा कोई सोना।
मैं निपट अकेला कैसे बचाऊँगा तुम्हारा प्रेमपत्र।[17]

कवि प्रेम के प्रतिपक्ष में सबको पाता है, जहाँ सब कुछ बचाया जा रहा है, वहाँ यदि नहीं बच पा रहा है तो प्रेम। यदि प्रेम के उदात्त रूप की परिकल्पना की जाय तो कवि को भोक्ता और रक्षक दोनों बनना पड़ेगा।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि समकालीन कविता के पास बड़े-बड़े दावे नहीं हैं, भाषा के भदेस से अपनी तरफ आकर्षित करने की प्रवृत्ति नहीं है, उसमें मतवादी दुराग्रह नहीं है, भाव और विचार में से किसी एक की तरफदारी नहीं है। समकालीन कविता में प्रश्न उठाने, मानवीय मूल्यों को बचाने, घर-परिवार और सम्बन्धों के रूप में भारतीयता को पहचानने और व्यक्त करने की प्रवृत्ति रही है। अन्त में कहा जा सकता है कि समकालीन हिन्दी कविता ने अपने समय की चुनौतियों आतंकवाद, साम्प्रदायिकता, पर्यावरण, भ्रष्टाचार, पूँजीवाद, लोकतांत्रिक संस्थाओं का दरकते जाने को प्रभावशाली ढंग से चिह्नित करने का प्रयास किया है। यदि उसने घटना की तरह नहीं घटने वाली रोजमर्रा के जीवन-प्रसंगों को अपनी परिधि में लिया है तो भूमण्डलीकरण और बाजारवाद को भी।

संदर्भ सूची

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि, भाग-1, पृ0 89
2. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, समकालीन सिद्धान्त और साहित्य, पृ0 14
3. धूमिल, संसद से सड़क तक, पृ0 10
4. प्रभाकर श्रोत्रिय, कालयात्री है कविता, पृ0 39
5. अशोक वाजपेयी, कहीं नहीं वहीं, पृ0 25
6. कुमार अम्बुज, क्रूरता काव्यसंग्रह, पृ0 22
7. लीलाधर जगूड़ी, ईश्वर की अध्यक्षता में, पृ0 20
8. उदय प्रकाश, रात में हारमोनियम, पृ0 54
9. मगलेश डबराल, हम जो देखते हैं, पृ0 84
10. परमानन्द श्रीवास्तव, समकालीन कविता का अर्थात्, पृ0 267
11. कुमार अम्बुज, किवाड़, पृ0 36
12. आलोक धन्ना, दुनिया रोज बनती है, पृ0 94
13. उदय प्रकाश, रात में हारमोनियम, पृ0 21
14. अरूण कमल, सबूत, पृ0 20
15. एकान्त श्रीवास्तव- अन्न हैं मेरे शब्द, पृ0 44
16. लीलाधर जगूड़ी, भय भी शक्ति देता है, पृ0 92
17. इन्द्रप्रस्थ भारतीय, कविता अंक 199, पृ0 145

●

लोक साहित्य का सामाजिक, सांस्कृतिक व राष्ट्रीय चेतना में महत्त्व

शिव कुमार राय एवम् प्रो. राधेश्याम राय***

''डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लोक के सम्बन्ध में अपने विचार को प्रकट करते हुए लिखा है कि 'लोक' शब्द का अर्थ सिर्फ जनपद या ग्राम्य नहीं है, बल्कि नगरों और ग्रामों में फैली व समूची जनता है, जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोग नगर में परिष्कृत, रूचि सम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रित जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रूचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारिता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुएँ आवश्यक होती हैं उनको उत्पन्न करते हैं।''[1]

हमारा देश (भारत) विभिन्नताओं में एकता का देश है। यहाँ विभिन्न जातियों, धर्मों, संस्कृतियों, भाषाओं, बोलियों के लोग रहते हैं, फिर भी इनमें गहरी एकता कायम है। अतः अगर भारत देश को, यहाँ के लोगों को अच्छी तरह समझना है, तो यहाँ के लोगों की संस्कृतियों, रीति-रिवाजों तथा लोक-साहित्य के महत्त्व को समझना जरूरी है।

लोक साहित्य के माध्यम से हम यहाँ के लोगों के रहन-सहन, रीति-रिवाजों तथा उनकी संस्कृतियों का सामाजिक, सांस्कृतिक व राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में अध्ययन कर सकते हैं।

एक सीमा तक-साहित्य का सम्बन्ध इतिहास व समाजशास्त्र से भी हो जाता है। क्योंकि लोक साहित्य इतिहास की गति के साथ विकसित माना जाता है। वास्तविकता यह है कि जहाँ इतिहास मौन हो जाता तथा पुरातत्व भी काम नहीं करता वहाँ लोक-साहित्य ही साधन के रूप में उपलब्ध होता है।

लोक साहित्य के व्यापक भाव भूमि को देखते हुए हम यह सहज ही कहने को विवश हो जाते हैं कि इसने हमारी भारतीय लोक-संस्कृति और सामाजिक जीवन को अनेक रूपों में प्रेरित एवं सम्प्रभावित किया है। लोक साहित्य की रचना लोक-जीवन के सामाजिक परिवेश और सांस्कृतिक जीवन के मध्य होती है। लोक संस्कृति का वास्तविक रूप हमें लोक साहित्य में ही देखने को मिलता है।

डॉ0 कृष्णदेव उपाध्याय ने इस पर प्रकाश डालते हुए लिखा है-ग्रामीण कवि ने समाज में जिस समता या विषमता का अनुभव किया है, उसका उसी रूप में चित्रांकन भी किया है। पारिवारिक जीवन के जो मर्मस्पर्शी दृश्य यहाँ उपलब्ध हैं, उसके दर्शन अन्यत्र कहाँ? ऐसा ज्ञात होता है कि जन जीवन को चित्रित करने वाले 'चतुर चितेरे' बड़े संयम से अपनी तूलिका का प्रयोग किया है। सुन्दर तथा दिव्य दृश्यों को चित्रांकित करने से उसकी तूलिका उतनी ही सफलीभूत दिखायी पड़ती है, जितनी भोड़े तथा भद्दे चित्रों के प्रदर्शन में। लोक-साहित्य में जहाँ आदर्श पतिव्रत नारियों का उल्लेख है, वहाँ ऐसी कर्कशा स्त्रियों का भी वर्णन पाया जाता है, जो विधवा होने के लिए सूर्य भगवान से प्रार्थना करती हैं। जहाँ माता एवं पुत्री का दिव्य प्रेम दिखलाया गया है, वहाँ सास बहू तथा भावज-ननद के कटु एवं विषाक्त व्यवहार का भी वर्णन है। भाई और बहन के निस्पृह, पवित्र और दिव्य प्रेम का वर्णन करने के लिए जो भी विशेषण प्रयुक्त किया जाय, वह थोड़ा ही होगा।

कहने का अभिप्राय यह है कि हम लोग साहित्य के माध्यम से सामान्य जन के सामाजिक व सांस्कृतिक रहन-सहन, परंपरा, रीति-रिवाज आदि को समझ सकते हैं।

लोक साहित्य एक ऐसा जीवन्त साहित्य है जिसमें सामान्य लोक-जन के परिवार व समाज में आपसी रहन-सहन व उनके बीच के पवित्र प्रेम की स्पष्ट झलक मिलती है, जैसे पिता-पुत्र, भाई-बहन, पति-पत्नी, सास-बहू, ननद-भावज आदि के बीच का प्रेम व्यवहार।

उदाहरण के रूप में भाई व बहन के बीच के दिव्य, अलौकिक व पवित्र प्रेम का वर्णन निम्न पंक्तियों में दिखायी पड़ता है कि 'भाई का आगमन बहन के लिए उत्सव का अवसर होता है, कोई बहन कहती है कि आज मेरा भाई आया है, अतः मेरे हृदय में अत्यंत प्रसन्नता है, ए भाटिन! तुम गीत गाओ। ऐ मेरी सास! तुम मेरे भाई के भोजन के लिए पूड़ी बनाओ।'

आरे-आरे जोगिन भाटिन सब कोई गावहु हो

मोरा जियरा भइल बा हुलास, बीरन मोरे आवेले हो।

आरे-आरे सासु बढ़इतिन करहिया चढ़ावहु हो।

आजु मोरा जियरा हिलोरे, बीरन मोरे आवेले हो।।[2]

लोक साहित्य के सामाजिक महत्त्व पर प्रकश डालते हुए डॉ0 श्री राम शर्मा ने लिखा है-

''लोक साहित्य का महत्त्व समाज के अध्ययन के लिए

* कनिष्ठ शोध अध्येता, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
** प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

नितान्त आवश्यक है क्योंकि इस साहित्य का रचयिता लोक-जीवन के सामाजिक पक्ष पर विशेष दृष्टि रखता है। किसी समाज में होने वाले सामाजिक कार्यों, व्यवहारों, प्रथाओं, विश्वासों एवं परम्पराओं का जीवन्त चित्र लोक साहित्य के माध्यम से ही प्राप्त होता है। अनेक सामाजिक संस्कार तो लोक-साहित्य पर ही आधारित होते हैं''।[3] लोक साहित्य और समाज का सम्बन्ध अत्यंत घनिष्ठ होता है। डॉ0 सत्येन्द्र ने ऐसा उल्लेख भी किया है।

''लोक साहित्य और समाज का सम्बन्ध इसलिए निर्विवाद है कि लोक और समाज परम्परावलम्बी हैं। किसी भी युग में लोक, बिना समाज के और समाज, बिना लोक के नहीं हो सकता।''[4]

भारत की संस्कृति भारत के लोक-जीवन में बसती है। हमारा देश विभिन्नताओं का देश है। अनेक जातियाँ, जनजातियाँ यहाँ रहती हैं और उन सबकी अलग-अलग संस्कृतियाँ होती हैं। अलग-अलग रीति-रिवाज होते हैं। उन सबकी स्पष्ट झलक व प्रतिबिम्ब हम लोक-साहित्य में पाते हैं। भारत की संस्कृति के प्राण यहाँ के लोक-जीवन में बसी है, न जाने कितने विदेश आक्रांताओं द्वारा यहाँ की संस्कृति को नष्ट करने की तमाम कोशिशें की गयीं, लेकिन उसकी जड़ लोक-जीवन में होने के कारण आज भी वैसी की वैसी फलती-फूलती नज़र आती है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने अपने निबन्ध संग्रह 'अशोक के फूल' के माध्यम से भारत की लोक संस्कृतियों को उजागर करने का अत्यंत प्रशंसनीय प्रयास किया है। वे कहते हैं ''संस्कृति मनुष्य की विविध साधनाओं की सर्वोत्तम परिणति है।''[5]

लोक साहित्य का क्षेत्र इतना व्यापक है कि इसमें लोक-जीवन की विभिन्न संस्कृतियों का समावेश हो जाता है और लोक-साहित्य में लोक संस्कृतियों के विभिन्न स्वरूपों की झलक मिलती है।

जो विभिन्न संस्कारों व पर्वों पर दिखायी पड़ती है।

जैसे-संस्कारों के समय (गर्भाधान, पुंसवन, पुत्र-जन्म, मुण्डन, यज्ञोपवीत, विवाह गवना और मृत्यु प्रधान)।

विभिन्न ऋतुओं के आने पर होने वाले जैसे-वर्षा ऋतु में कजरी, बसन्त ऋतु में होली फगुवा, सावन में नागपंचमी व कजरी, भादों (भाद्रपद) में कृष्ण जन्माष्टमी, गोवर्धन पूजा इत्यादि।

पूजा-पाठ से सम्बन्धित पर्व व उन पर होने वाले विभिन्न कार्यक्रम व गीत, विभिन्न जातियों द्वारा गाये जाने वाले गीत।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे लोक-साहित्य में हमारे सामाजिक व सांस्कृतिक लोक-संस्कृति की जो झलक मिलती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

लोक साहित्य में राष्ट्रीय चेतना के स्वर भी मुखरित हुए हैं। किसी भी देश के राष्ट्रीय जीवन में लोक साहित्य का महत्त्व अत्यधिक है। लोक साहित्य में लोक भाषा के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना दिखायी पड़ती है। जिसका उल्लेख डॉ0 परवीन निज़ाम अंसारी ने अपनी पुस्तक 'लोक साहित्य के विविध आयाम' में जैक लण्डन की उक्ति जिसे गोरख पाण्डेय ने मूर्त रूप दिया है, किया है।

गुलमिया अब हम नाहीं बजइबो

अजदिया हमरा के भावेला

धरतिया अब नाहीं गवैबो

बंनुकिया हमरा के भावेला।[6]

राष्ट्रीय जीवन में लोक साहित्य की महत्ता को डॉ0 कृष्णदेव उपाध्याय ने छः भागों में विभक्त किया है-

ऐतिहासिक, भौगोलिक-आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, भाषाशास्त्र।[7]

राष्ट्रीय चेतना से सम्बन्धित लोक साहित्य में और भी संदर्भ मिलते हैं। जिसका उल्लेख डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय जी ने अपनी पुस्तक 'लोक साहित्य की भूमिका' में किया है।

बलिया जिले के बैरिया नामक गाँव के निवासी एक भूमिहार जमींदार थे जिनका नाम बहोरन पाण्डेय था। ये डुमराँव के राजा के मैनेजर थे। एक बार बहोरन पाण्डेय पालकी में बैठकर हल्दी गाँव से होते हुए कहीं जा रहे थे, उस समय ग्रामीण बालकों को खेल में गाते हुए उन्होंने यह सुना कीः-

राजा भइले रजुली बहोरन भइले धुनिया।

मारेले दलगंजनदेव, दलकेले दुनिया।।

डुमराँव का राजा रजुली बहुत छोटा है, और बैरिया के राजा बहोरन पाण्डेय जुलाहा-धुनियाँ है। हल्दी के राजा दलगंजनदेव के प्रताप के कारण सारी पृथ्वी काँपती है। लड़कों का यह गीत सुनकर बहोरन पाण्डेय बहुत क्रुद्ध हुए और उन्होंने डुमराँव के राजा से बच्चों की गीत कह सुनायी। इस गीत को सुनते ही डुमराँव के राजा अत्यंत क्रोधित हो गये और उन्होंने हल्दी के राजा के ऊपर आक्रमण कर उनको परास्त कर दिया। यह एक स्थानीय घटना है, जिसे हल्दी के राजा व डुमराँव के राजा के पारस्परिक संघर्ष का पता चलता है।[8]

ऐसे ही लोक-साहित्य के लोक-गीतों के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना से सम्बन्धित अनेक संदर्भ मिलते हैं। जौनपुर जिले के कोइरीपुरी गाँव के पास चाँदा नामक एक गाँव है जहाँ सन् 1857 में सिपाही विद्रोह के अवसर पर अंग्रेजी फौजों के साथ प्रतापगढ़ जिले के कालाकाँकर स्थान के विसेनवंशी राजा का घोर युद्ध हुआ था।[9]

अब भी इस गाँव के आस-पास इस युद्ध के सम्बन्ध में लोकगीत गाये जाते हैं जिसकी कड़ी इस प्रकार है-

''काले काँकर के बिसेनवा

चाँदे गाडे.बा निसनवा''

मुगलों के शासनकाल में फैली अशान्ति व दुर्व्यवहार तथा 1857 की क्रान्ति से सम्बन्धित अनेक राष्ट्रीय चेतना लोक गीतों में दिखायी पड़ती है। जो आज भी गाँवों में जीवन्त है।

उपसंहार

इस प्रकार उपर्युक्त संदर्भों के माध्यम से हम देखते हैं कि लोक साहित्य हमारे जीवन में सामाजिक, सांस्कृतिक व राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में अत्यंत महत्वपूर्ण है। लोक साहित्य के माध्यम से ग्रामीण संस्कृति, सभ्यता, रहन-सहन, खान-पान, उनके भाव विचार तथा राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में उनका योगदान आपसी प्रेम-व्यवहार आदि को देखने, समझने व उनपर विचार अमल करने का एक खुली किताब है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, 'जनपद', वर्ष-1, अंक-1, पृ0 65
2. डॉ0 कृष्णदेव उपाध्याय, भोजपुरी लोकगीत, भाग-1, पृ0 406, साहित्य भवन प्रकाशन इलाहाबाद, 1991
3. डॉ0 परव़ीन निज़ाम अंसारी, लोक साहित्य के विविध आयाम, पृ0 312, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2017
4. डॉ0 सत्येन्द्र, लोक साहित्य विज्ञान, शिवलाल अग्रवाल एण्ड सन्स, आगरा, पृ0 500
5. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, अशोक के फूल (शीर्षक- भारत की सांस्कृतिक समस्या), पृ0 57, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
6. डॉ0 परव़ीन निज़ाम अंसारी, लोक साहित्य के विविध आयाम, शीर्षक-बस इतना ही कहना है, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
7. डॉ0 कृष्णदेव उपाध्याय, लोक साहित्य की भूमिका, पृ0 259, साहित्य भवन प्रकाशन, इलाहाबाद, 1991
8. रामनरेश त्रिपाठी, कविता कौमुदी, भाग-5, ग्राम गीत, पृ0 97, साहित्य भवन प्रकाशन, प्रयाग।

●

महामना पं0 मदन मोहन मालवीय की शिक्षा-दृष्टि

सूर्य प्रकाश गोंड एवम् डॉ0 दीपा मेहता***

शिक्षा-जगत् के महानतम् फकीर (प्रिंस ऑफ बेगर्स) के नाम से सम्बोधित किये जाने वाले युगद्रष्टा ऋषि, समन्वयवादी विचार और मानवतावादी धर्म-प्रवक्ता एवं बहुमुखी-प्रतिभा के धनी महामना मालवीय जी का जन्म प्रयाग के एक निर्धन किन्तु शिक्षित एवं सुसंस्कृत परिवार में 25 दिसम्बर 1861 को हुआ था। मालवीय जी युवावस्था में ही एक विशेष प्रकार की वेश-भूषा अपनाये हुये थे, जो जीवन-पर्यन्त बनी रही है। महामना ने प्रारम्भिक-शिक्षा संस्कृत और अंग्रेजी माध्यम से पूर्ण की। उन्होंने विद्वानों के बीच संस्कृत में अपना पहला भाषण मीरजापुर में सन् 1878 में दिया था। उसी समय आपने हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की थी।

महामना की अपने जीवनकाल में निरन्तर सामाजिक, राजनैतिक, संसदीय एवं शैक्षणिक कार्यों में व्यस्तता रही। महामना जी का शिक्षा के क्षेत्र में प्रथम ठोस-कार्य, प्रयाग में हिन्दू बोर्डिंग हाउस की स्थापना की। इस किलेनुमा बोर्डिंग हाउस को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की आधारशिला रूप में स्मरण किया जाता है। सन् 1889 में प्रयाग में ही 'भारती-भवन पुस्तकालय' की स्थापना में आपने अपना योगदान दिया। सन् 1905 में प्रयाग में गौरी पाठशाला की स्थापना की थी, जो बाद में माध्यमिक कॉलेज बना। महामना ने संस्कृत एवं सनातन धर्म के उत्थान के उद्देश्य से सन् 1908 में 65 एकड़ भूमि के क्षेत्रफल में एक 'ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम कॉलेज' की हरिद्वार में स्थापना की, जो बाद में माध्यमिक कॉलेज बना। हजारों शैक्षणिक सम्मेलनों, सभाओं के अध्यक्ष पद तथा समितियों, संस्थाओं के सदस्य पद पर रहते हुये महामना अनेक शिक्षा-विषयक व्याख्यान से विद्यार्थियों और शिक्षकों को लाभान्वित करते रहें।

राजनैतिक स्तर पर भी शैक्षणिक-कार्यों में मालवीय जी ने महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया। आपने प्रान्तीय कौन्सिल, भारतीय विधान कौन्सिल तथा केन्द्रीय लेजिस्लेटिव असेम्बली में अनेक बार देश की शिक्षा-व्यवस्था से सम्बन्धित विषयों को उपस्थित किया। सन् 1907 में आपने प्रान्तीय कौंसिल में सरकार के समक्ष कृषि-सम्बन्धी वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक शिक्षा के व्यापक प्रबन्धन तथा उच्चकोटि के कृषि अनुसन्धान संस्थान व प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना की माँग की। सन् 1908 की कौंसिल में प्राथमिक-शिक्षा को सर्वसार्विक, निःशुल्क एवं अनिवार्य करने की माँग की तथा जीवनोपयोगी शिक्षा के विकास व विस्तार की आवश्यकता बतलायी। सन् 1912 ई0 की प्रान्तीय कौंसिल पब्लिक सर्विस कमीशन की परीक्षा में बैठने के इच्छुक विद्यार्थियों की उम्र 22 से 24 वर्ष तक किये जाने, भारत की आवश्यकतानुसार परीक्षा के विषयों में विदेशी साहित्य एवं इतिहास की जगह भारतीय साहित्य एवं भारतीय इतिहास को रखे जाने की सरकार से माँग की थी। इन शैक्षणिक क्रान्ति से ओत-प्रोत महामना ने 1916 में देशवासियों से चन्दा ग्रहण कर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की तथा राष्ट्रीय नव-निर्माण की नींव रखी।

महामना ने विद्यार्थियों की तथा अध्यापकों की सम्मिलित सभा को सम्बोधित करते हुये कहा था-''इस विश्वविद्यालय का उद्देश्य सबको विदित है। यहाँ जो अध्यापक होते हैं उन्हें प्रतिज्ञा करनी पड़ती है कि प्राचीन धर्मशिक्षा मानेंगे, हिन्दू-शास्त्रों का पालन करेंगे, शिक्षा का प्रचार करेंगे, समाज का कल्याण करेंगे, सदाचारी रहेंगे, देशसेवा के साथ-साथ धार्मिक जीवन व्यतीत करेंगे। इन अध्यापकों के समान हमारे छात्र एवं छात्रायें जीवन उज्ज्वल करने की प्रतिज्ञा करें। यह भारतवर्ष विश्व में सर्वश्रेष्ठ है और भारतवर्ष में काशी नगरी और काशी नगरी में हिन्दू विश्वविद्यालय सर्वश्रेष्ठ है। यह संसार की राजधानी है। संसार को धर्मज्योति देने वाली नगरी है।

प्राचीन-काल में भारत के एक-एक गुरुकुल में दस-दस हजार विद्यार्थी रहते थे। आधुनिक युग का यह भारतीय गुरुकुल है। पहले कुलपति अपने मंडल का पालन करते थे। हम भी तद्वत् प्रबन्ध करने का प्रयत्न कर रहे हैं। छात्रों की स्थान, फीस और शिक्षा की सुविधा कर रहे हैं। विश्वनाथजी से प्रार्थना है कि इस नवीन गुरुकुल में प्राचीन आदर्श की स्थापना कर दें। पहले कुलपति शारीरिक-पोषण के साथ-साथ मानसिक पोषण करते थे, सदाचार और शिक्षा देकर जीवन उज्ज्वल करते थे।''[1]

26 जनवरी 1920 के दीक्षान्त-भाषण में महामना जी का यह वाक्य था-''हमारी शिक्षा का ध्येय संसार के सम्मुख एक विशेष आदर्श रखना है। हमारी प्राचीन शिक्षा-पद्धति, जो सांसारिक तथा आध्यात्मिक-शिक्षा का मधुर समन्वय है-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, चारों ध्येयों की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करती है। बोलिये हम इससे

* वरिष्ठ शोध छात्र, शिक्षा संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
** एसोसिएट प्रोफेसर, शिक्षा संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

लाभ उठायें या इसे त्याग दें?''[2]

मालवीय जी की स्पष्ट दृष्टि थी कि अशिक्षा एवं अज्ञानता ही उन्नति में बाधक है। भारतीय लेजिस्टलेटिव कौंसिल 1904 के भाषण में उन्होंने कहा-''गरीबों की सुख-शान्ति बहुत हद तक शिक्षा पर निर्भर है। इसके जरिये ही वे विवेक और आत्मसम्मान को प्राप्त कर सकते हैं, जिनसे सब गुण विकसित हैं। भारत के लोग बुद्धि और पराक्रम में किसी से कम नहीं है, पर शिल्प-ज्ञान की कमी के कारण वे विदेशी औद्योगिकों का मुकाबला नहीं कर पाते।''[3]

महामना व्यावहारिक एवं प्रयोगात्मक शिक्षा[4] के पक्षधर थे। 26 जनवरी 1920 के दीक्षान्त भाषण में उनका कथन था कि केवल कला-सम्बन्धी शिक्षा देने से ही किसी देश का हित नहीं हो सकता। प्रारम्भिक स्कूलों में जो शिक्षा-व्यवस्था की जाये उसमें विज्ञान की शिक्षा कार्यक्रम के साथ हाईस्कूलों में उद्योग-धन्धें सम्बन्धी-शिक्षा का उचित प्रबन्ध हो। हाईस्कूल के विद्यार्थी को इस योग्य बना देना चाहिये कि किसी-न-किसी उपाय से वह अपनी जीविका उपार्जन करने में सफल हो सके।

मालवीय जी ने शिक्षा की अनिवार्यता[5] पर बल देते हुये कहा कि सरकार का क्या यह कर्तव्य है कि वह प्रत्येक वयस्क बालक को शिक्षित बनावे। प्रत्येक बालक और बालिका शिक्षा प्राप्त करें। यदि इस लक्ष्य की पूर्ति करनी है तो सरकार को इसके लिये अभिभावकों की स्वेच्छा पर यह नहीं छोड़ना चाहिये कि वे अपने बालकों को स्कूल भेजें या न भेजें। स्वेच्छा नीति का अवलम्बन करने से सार्वजनिक शिक्षा का प्रचार नहीं हो सकता। प्रत्येक सभ्य देश ने यह स्वीकार किया है कि अनिवार्य-प्रणाली ही एक ऐसा सुगम मार्ग है, जिसके द्वारा सार्वजनिक-शिक्षा के लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है। इसके बिना किसी देश ने आज तक न सफलता प्राप्त की है और न वह हमें प्राप्त हो सकती हैं। मालवीय जी यह सम्पूर्ण वक्तव्य 19 मार्च 1912 को केन्द्रीय कौंसिल में शिक्षा विधेयक पर दिया था।

महामना तकनीकी-शिक्षा एवं नैतिक विकास को महत्त्वपूर्ण मानते थे। उनका कथन था कि एक विश्वविद्यालय स्तर पर सामान्य-रूप से वैज्ञानिक और तकनीकि शिक्षा के प्रसार तथा प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग से राष्ट्रीय भौतिक समृद्धि सम्भव है परन्तु इन राष्ट्रीय भौतिक समृद्धि के द्वारा समाज की सुख-समृद्धि निश्चित नहीं हो सकती है। इन सुख-समृद्धि की प्राप्ति के लिये छात्र-छात्राओं में नैतिक विकास की भी आवश्यकता है; क्योंकि औद्योगिक-विकास बिना नैतिक-विकास के सम्भव नहीं हो सकता। अतः नैतिक विकास व्यक्ति को आचार के शासन से सदैव शासित रहते हुये परस्पर विश्वास, शील, मृदु-स्वभाव एवं भाषण का व्यवहार करते रहना चाहिये।

मालवीय जी पुरुषों की शिक्षा के साथ-साथ स्त्रियों की शिक्षा के प्रति विशेष रूप से पक्षधर थे। उनका कथन था कि पुरुषों की अपेक्षा सर्वप्रथम स्त्रियों की शिक्षा अनिवार्य है, क्योंकि वे ही सन्तानोत्पत्ति उपरान्त सन्तान को अपने संरक्षण में रखकर पालन-पोषण करती हैं और माता ही बालक की प्रथम गुरु होती है। माता ही भावी राजनीतिज्ञों, विद्वानों, तत्त्वज्ञानियों, व्यापार तथा कला-कौशल के नेताओं आदि की प्रथम शिक्षिका है। माता की शिक्षा का प्रभाव बालक के व्यक्तित्व पर पड़ता है, जिससे वह भावी नागरिक के रूप में हमारे समक्ष आता है। अतः सर्वप्रथम स्त्रियों की शिक्षा का विषय निर्णय करना चाहिये। महामना का कथन था कि स्त्रियों की शिक्षा में प्राचीन एवं नवीन दोनों प्रकार की शिक्षा का सम्यक् समन्वय हो जिसके माध्यम से वे भावी भारत के पुनर्निर्माण में पूर्णरूप से सहयोग प्रदान कर सकें। स्त्री-शिक्षा के लेख में मालवीय जी कहते हैं कि स्त्री के शिक्षित होने से परिवार का, समाज का कल्याण सम्भव है।

महामना का विचार था कि शिक्षा ऐसी होनी चाहिये कि जिससे अर्थोपार्जन सम्भव हो सके और यह तभी सम्भव है कि जब शिक्षा में गुणवत्ता होगी। नवयुवकों के समक्ष शिक्षा-ग्रहण करने के उपरान्त रोजगार की समस्या उत्पन्न हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में यदि नवयुवकों को व्यावसायिक तथा व्यावहारिक विज्ञान की शिक्षा अनेक रूप से दी जाये, तो यह समस्या बहुत स्तर तक हल हो जायेगी। मालवीय जी वैज्ञानिक शिक्षा का देशीकरण[6] करना चाहते थे। उनका कथन है कि-'भारतवर्ष अपनी खोयी समृद्धि को तब तक पुनः नहीं प्राप्त कर सकता, जब तक आधुनिक वैज्ञानिक अध्ययन का देशीकरण नहीं हो जाता है। जब तक विदेशी भाषा के माध्यम से इसकी शिक्षा चलती रहेगी तब तक वह राष्ट्रीय स्वामित्व का अर्थ-गौरव प्राप्त नहीं कर सकता। निर्धनता से मुक्ति के एक साधन के रूप भारत में विज्ञान का सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक स्तर पर व्यापक फैलाव तक असम्भव है, जब तक स्वदेश में देशी भाषा के माध्यम से उसकी शिक्षा-व्यवस्था नहीं हो जाती।

महामना कृषि शिक्षा[7] पर बल देते हुये 1907 की प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा में अपना यह वक्तव्य दिया था-कृषि और व्यवसाय, दोनों शिक्षा प्रणालियों का निर्माण साधारण प्रारम्भिक-शिक्षा की भित्ति पर होना चाहिये। इंग्लैण्ड और जापान की भाँति भारत में भी प्रारम्भिक-शिक्षा अनिवार्य कर दी जाये। साधारण माध्यमिक शिक्षा विद्यालयों में खेती का एक पाठ्य विषय हो, ताकि जब विद्यार्थी कॉलेज में प्रवेश करें तब उन्हें खेती की काफी शिक्षा प्राप्त हो। कृषक-वर्ग की आर्थिक-दशा की समुन्नति के लिये कृषि-सम्बन्धी शिक्षा आवश्यक है। समस्त प्रान्तों में प्रारम्भिक और आध्यात्मिक कृषि शिक्षा का श्रीगणेश करें। यदि भारत में कृषि-सम्बन्धी शिक्षा की वैज्ञानिक-पद्धति की व्यवस्था की जाये तो भारतीय भाइयों के सामान सुसम्पन्न सस्य-सम्पादन योग्य हो जायेगा।

व्यापारिक प्रबन्ध-शिक्षा के प्रति भी महामना की दृष्टि थी। उनका कथन था कि व्यापार में उच्चकोटि का प्रबन्ध अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि व्यापार में समुचित प्रबन्ध पर विचार करने से

राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय उन्नति सम्भव होती है। नई परिस्थितियों का सामना करने, उद्योग तथा श्रमिक-वर्ग के नियन्त्रण की शक्ति के लिये व्यवसाय-शिक्षा के साथ प्रबन्ध-शिक्षा भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

मालवीय जी शिक्षा में स्वतन्त्र-अनुसन्धान[8] की प्रक्रिया पर बल देते हुये कहते हैं कि-ऐतिहासिक अनुसन्धान के स्थापनाक्रम में एक विद्वान् यदि खुले दिमाग में उन तथ्यों की खोज करता है, जो प्रायः किसी विशेष मसीहा, पंथ या सम्प्रदाय को ज्ञात नहीं थे, पूर्व स्वीकृत तथ्यों को निरस्त कर अपना विचार अवश्य प्रस्तुत कर सकता है। इस क्षण-विशेष में विचारों में द्वन्द्व उपस्थित हो सकता है। ऐसे सन्दर्भों में हमें यह देखना होगा कि अनुसन्धानकर्ता के अनुसन्धान का उद्देश्य क्या था। यदि उसका इरादा अनुसन्धान को आगे बढ़ाना और तथ्यान्वेषण के साथ सत्य-उद्घाटित करने के लिये ऐतिहासिक अध्ययन करना था, तब इसे उसकी अयोग्यता नहीं समझी जा सकती। विश्वविद्यालय को चाहिये कि वह सत्यान्वेषण हेतु स्वतन्त्रता प्रदान करे।

महामना शारीरिक-शिक्षा[9] पर बल देते हुये कहते हैं कि वर्तमान में नवयुवकों में व्यायाम के प्रति उदासीनता दीख पड़ती है और शारीरिक व्यायाम के अभाव में जनता में रोग तथा आर्थिक हीनता को उत्तेजित कर दिया है। विद्यालय में होने वाले टूर्नामेण्ट में भाग लेने वाले विद्यार्थियों को उनके माता-पिता, मित्रों द्वारा प्रोत्साहित किया जाना चाहिये।

महामना ने जिस काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की उसका एक प्रमुख उद्देश्य निर्धन-वर्ग के बालकों की शिक्षा की व्यवस्था थी। देशवासियों की विपन्नावस्था को दृष्टिगत करके उनका यह विचार था कि कोई भी बालक-बालिका शिक्षा से वंचित न रहेगा। यही कारण था कि मालवीय जी के समय में यह विश्वविद्यालय 'गरीबों का विश्वविद्यालय' रूप में चर्चित रहा। 20 दिसम्बर 1924 को बी0एच0यू0 कोर्ट की बैठक में शिक्षा शुल्क बढ़ाये जाने के प्रश्न पर प्रतिवाद करते हुये कुलपति महामना का यह कथन था-''यह गरीबों का विश्वविद्यालय है। हम अच्छी तरह जानते हैं कि इस समय यह विश्वविद्यालय अपने विद्यार्थियों से जितना शिक्षा-शुल्क होता है, उसे उसके अभिभावक बहुत कठिनाई से दे पाते हैं। अगर आप शुल्क बढ़ा देते हैं तो इससे विश्वविद्यालय को कुछ आमदनी तो अवश्य हो जायेगी, किन्तु जो छात्र पूर्व निर्धारित शुल्क भी देने में सक्षम नहीं हैं वे तो शिक्षा से वंचित रहेंगे। देश की गरीबी को देखते हुये हमें ऐसी व्यवस्था करनी होगी, जिससे उच्च-शिक्षा के आकांक्षी छात्र, बिना शुल्क दिये ही यहाँ शिक्षा प्राप्त कर सकें। यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका अपनी संस्थाओं में बिना शुल्क के शिक्षा प्रदान करता है। क्या हम भारत में अपने प्राचीन गुरुकुलों की तरह ऐसा एक भी विश्वविद्यालय नहीं बना सकते, जहाँ कम से कम दस हजार छात्र मुक्त आवास, भोजन और शिक्षा प्राप्त कर सकें? यह सत्य है कि यह विश्वविद्यालय अपने छात्रों से जितना शुल्क लेता है, वह अन्य विश्वविद्यालयों की अपेक्षा बहुत कम है। बावजूद इसके हम चाहते हैं कि हमारे बच्चों को यहाँ तक कि विज्ञान के छात्रों को भी बिना अधिक शुल्क बढ़ाये, अत्याधुनिक उच्चतम सुविधा प्रदान की जाये। हम इसके लिये प्रयत्नशील हैं।''[10] इसी प्रसंग में एक संस्मरण है कि एक विद्यार्थी पूरे वर्ष फीस नहीं जमा कर पाया था। फलतः उसका नाम काट दिया गया और अगले दिन प्रातःकाल उस विद्यार्थी की स्नातक की अन्तिम परीक्षा प्रारम्भ होने वाली थी। फीस न जमा किये हुये उस विद्यार्थी की परिस्थिति का ज्ञान जब दूसरे विद्यार्थी को हुआ तब दूसरे विद्यार्थी ने उस परीक्षा से वंचित हुये विद्यार्थी को महामना के समीप सहायता प्राप्त करने के लिये भेजा। वह विद्यार्थी तत्काल मालवीय जी के पास पहुँचा और अपनी सम्पूर्ण व्यथा महामना से कह सुनायी महामना ने उस विद्यार्थी को प्रातः 6:30 पर परीक्षा भवन के बाहर परीक्षा हेतु उपस्थित रहने को कहकर उसको विदा कर दिया। इसके बाद मालवीय जी ने तत्क्षण रजिस्ट्रार को बुलवाया और कड़े शब्दों में यह वाक्य कहा-''अभी में मर नहीं गया हूँ जो आपने उस गरीब विद्यार्थी को परीक्षा देने से वंचित कर रखा है। जाइये उसका प्रवेश पत्र अभी रात में ही तैयार करा कर कल प्रातः परीक्षा भवन के द्वार पर भिजवाने का प्रबन्ध कीजिये। वह परीक्षा देने आयेगा। उसके फीस का पूरा बकाया मेरे नाम पर लिख दें और भविष्य में किसी विद्यार्थी के साथ पुनः ऐसा व्यवहार न हो, इसका ध्यान रखें।''[11] महामना ने एक स्थान पर कहा कि-अमीर छात्रों के लिये तो देश में बहुत से कॉलेज हैं, उनके लिये एक और कॉलेज की कोई जरूरत नहीं थी। विश्वविद्यालय की स्थापना इसलिये की गयी कि निर्धन-छात्र भी उच्च-शिक्षा प्राप्त कर सकें। अगर एक भी छात्र पैसा न होने के कारण शिक्षा से वंचित रहा तो हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना का कोई अर्थ नहीं रह जायेगा और फिर सम्भव है कि इन निर्धन-छात्रों में कोई भावी आइंस्टाइन या टैगोर हो? उसे शिक्षा न देने से देश को कितना नुकसान होगा?''[12]

महामना दीक्षान्त भाषण में विद्यार्थियों को सदैव प्रेरक वाक्यों से सम्बोधित करते थे। 14 दिसम्बर 1929 के दीक्षान्त भाषण में स्नातकों को उपदेश देते हुये[13]-

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयाऽदेयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। यान्यस्माकं सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि।[14]

अर्थात् सत्य बोलो, शुद्धता से रहो तथा सत्य ही सोचो। जीवनपर्यन्त विद्याभ्यास करते रहो, सदाचरण करो तथा किसी से भी न डरो। केवल उन्हीं कार्यों से डरो, जो निकृष्ट और त्याज्य हैं। सत्य तथा न्याय के लिये सदैव प्रस्तुत रहो। अपने भाइयों की सेवा प्रेम से करो। जहाँ कहीं भी अवसर मिले भलाई करो। जो कुछ

तुमसे हो सके वह दान करो। इस बात का ध्यान रखो कि यह सम्पूर्ण सृष्टि एक ही हैं और इसका नियन्ता तथा व्यवस्थापक एक अविनाशी, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ-शक्ति अथवा परमात्मा है, जिसके बिना कुछ भी जीवित नहीं रह सकता। यह याद रखो कि यह विश्व उसी अद्वितीय शक्ति का साक्षात्कार है। दृश्य अथवा अदृश्य, सब कर्ता तथा भर्ता वही परमात्मा है। जीवित सृष्टि का वही जीवन है।

महामना सनातन-धर्म में विश्वास रखने वाले परम्परावादी महापुरुष थे। सनातन-धर्म को ये संसार का सर्वश्रेष्ठ धर्म मानते थे। उनके इस धर्म में मनुष्य-जीवन के चार प्रमुख उद्देश्य निहित थे- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। मालवीय जी शिक्षा द्वारा इन्हीं उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु बल देते थे। मालवीय जी की शिक्षा-पद्धति कोई नई योजना के अन्तर्गत नहीं थी अपितु उन्होंने उपर्युक्त शिक्षा जगत् में जो भी शिक्षा सम्बन्धी कार्य को सम्पन्न किये उनसे महामना की शिक्षा अवधारणा अभिव्यक्त होती है। उनकी यही अवधारणा उनकी शिक्षा-दृष्टि के रूप में हमारे समक्ष आती है। उनका यह मानना था कि बिना शिक्षा के व्यक्ति को सही ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता और बिना सही ज्ञान के व्यक्ति का, परिवार का, समाज का तथा राष्ट्र का विकास सम्भव नहीं है। उन्होंने स्पष्ट किया कि इन धर्मादि उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु अत्यन्त आवश्यक है कि मनुष्य शारीरिक रूप से स्वस्थ रहे। शरीर स्वस्थता के उपरान्त आवश्यकता होती है बुद्धि और विवेक की, अतः शिक्षा द्वारा इनका विकास होना अत्यन्त आवश्यक है। मनुष्य के मानसिक एवं बौद्धिक-विकास से महामना का तात्पर्य विभिन्न-भाषाओं और विभिन्न विषयों के ज्ञान से था। उनका यह स्पष्ट कथन है कि भाषा और विविध विषयों का ज्ञान ही मनुष्य को विवेकशील निर्मित करता है। मनुष्य विवेक द्वारा उचित-अनुचित का भेद सम्यक् रूप में कर पाता है। उसी अनुसार करणीय कार्यों में प्रवृत्त होता है और अकरणीय-कार्यों का परित्याग करता है। मालवीय जी भारतीय ज्ञान, साहित्य के अध्ययन के विशेष पक्षधर थे परन्तु वह इस तथ्य को भी स्वीकार करते थे कि भारतीय ज्ञान के साथ-साथ पाश्चात्य-ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इनके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपना उत्तरोत्तर विकास करने में समर्थ हो पाता है। महामना ने पूर्व में उद्धृत विषयों में जहाँ सामाजिक-विकास, सांस्कृतिक-विकास और नैतिक, चारित्रिक-विकास पर बल देते हैं वहीं उन्होंने विद्यार्थियों के राष्ट्रीयता तथा राजनैतिक-विकास के प्रति भी शिक्षा दृष्टि रखी। उनके अनुसार भारतीय राष्ट्रीयता का मूल आधार हिन्दुत्व है। वे हिन्दुत्व का विस्तृत अर्थ भारत के धर्म-दर्शन के रूप में मानते थे। यह धर्म-दर्शन ऐसा था जिसका सीधा सम्बन्ध मानव के कल्याण से था। उन्होंने स्पष्ट किया कि हमारा धर्म-दर्शन किसी से द्वेष करना नहीं सिखाता यह तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की अवधारणा रखता है। मालवीय जी ने स्पष्ट करते हुये कहा कि हमारे राष्ट्र की पहचान हमारे मूल धरोहर से है और प्रत्येक मनुष्य को शिक्षा द्वारा उस मूल धरोहर का उचित रूप से ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि मालवीय जी संकुचित राष्ट्रीयता के पक्षधर नहीं अपितु 'सम्पूर्ण पृथिवी हमारा परिवार है' इस भाव के पोषक थे और शिक्षा द्वारा राष्ट्रीयता की सुरक्षा पर बल देते थे।

महामना शिक्षा प्रक्रिया में शिक्षण की विधियों में भारतीय-शिक्षण-विधियों-श्रवण, मनन निदिध्यासन को सर्वोत्तम मानते थे। परन्तु यह आधुनिक विचारों से भी अनभिज्ञ नहीं थे। उन्होंने अध्यापककालीन स्वयं के जीवन में प्राचीन तथा अर्वाचीन दोनों शिक्षण-विधियों का मिला-जुलाकर प्रयोग किया। यथा-

निरीक्षण-विधि-मालवीय जी का मानना था कि बालक श्रव्य-दृश्य विधि से शीघ्र, स्पष्ट, सरल रूप में विषय को ग्रहण करते हैं जिसे वर्तमान में निरीक्षण विधि शब्द से सम्बोधित किया जाता है। उनका विचार था कि जहाँ तक सम्भव हो बालक को इस विधि द्वारा ही शिक्षा देनी चाहिये।

क्रिया और अभ्यास विधि-कला, कौशलों, उद्योग और विज्ञान के शिक्षण के लिये इन्होंने स्वयं करके देखने और स्वयं अभ्यास द्वारा सीखने पर बल दिया। इस विधि को वर्तमान में 'कार्यशाला' संज्ञा से अभिहित किया गया है और विज्ञान की शिक्षा के सन्दर्भ में प्रयोगशाला विधि कहते हैं।

व्याख्यान-विधि-उच्च कक्षाओं के लिये इन्होंने व्याख्यान-विधि का समर्थन किया है। मालवीय जी का कथन था कि एक शिक्षक को कक्षा में व्याख्यान देते समय विषय सम्बन्धित दृष्टान्त एवं उदाहरण द्वारा विषय-सामग्री को स्पष्ट करना चाहिये।

स्वाध्याय-विधि-मालवीय जी उच्च-स्तर के अध्ययन में स्वाध्याय-विधि को सर्वोत्तम मानते थे। उनका विचार था कि इस स्तर पर विद्यार्थियों में यह योग्यता आ जाती है कि वह विषय को स्वयं पढ़कर समझ सकें। इस स्तर पर उन्हें स्वाध्याय के विभिन्न अवसर प्रदान किये जाते हैं। उनकी अपने छात्रों से यह आशा रहती थी कि वे किसी विषय पर विभिन्न लेखकों और समालोचकों की पुस्तकें पढ़ें और बाद में स्वयं उनका चिन्तन, मनन करें और सही तथ्य क्या है? यह जानने का प्रयत्न करें। यहाँ स्पष्ट हो जाता है की महामना पुस्तक को मात्र पढ़ लेने को ही स्वाध्याय नहीं मानते थे अपितु पुस्तक पढ़ने के उपरान्त विषय पर मनन-चिन्तन को स्वाध्याय मानते थे।

महामना मानव-जीवन में अनुशासन को महत्त्वपूर्ण मानते थे। उनका मानना था कि किसी प्रकार का कोई बाह्य-अनुशासन नहीं अपितु मनुष्य का आत्म-अनुशासन होना चाहिये। उन्होंने इस बात पर बल देते हुये कहा है कि शिक्षक और विद्यार्थी दोनों को स्वयं अपने ऊपर नियन्त्रण रखना चाहिये और मन, वचन, कर्म से शुद्ध होना चाहिये। शिक्षक यदि अनुशासन में है तो निश्चित रूप से छात्र उन्हीं का अनुकरण करते हुये अनुशासन में रहेंगे, क्योंकि शिक्षक के आदर्शों को ही छात्र अपने जीवन में उतारता है। वर्तमान में इस

प्रकार के अनुशासन व्यवस्था को प्रभावात्मक-अनुशासन कहते हैं। इस प्रकार के अनुशासन में किसी तरह की दण्ड-व्यवस्था नहीं होती है। महामना का यह विचार था कि शिक्षक एवं छात्र सच्चे अनुशासन को तभी अपना सकते हैं जब वह प्रतिदिन पूजा-पाठ और संध्या-कर्म, नियमित उपवास करने एवं नियमित जीवन जीने में प्रवृत्त हों क्योंकि उनका यह मानना था कि उपर्युक्त व्यवस्था से जीवन-व्यतीत करने वाले प्रत्येक व्यक्ति स्वयमेव ही अनुशासित हो जाता है और यदि किसी से अनजाने में यदि कोई अनुशासनहीनता हो जाती थी तो महामना उसको दण्ड नहीं देते थे अपितु उसको मात्र प्रायश्चित कराते थे।

मालवीय जी प्रत्येक-वर्ग की शिक्षा के पक्षधर थे। जिस प्रकार प्राचीन व्यवस्थानुसार-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य की शिक्षा की व्यवस्था थी उसी प्रकार से उन्होंने शूद्रों की भी शिक्षा की व्यवस्था पर भी ध्यान दिया। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि शिक्षा सभी मनुष्यों का जन्मसिद्ध अधिकार है। उन्होंने यह कहा कि सामान्य-शिक्षा का अधिकार सभी मनुष्यों का है। हाँ विशिष्ट-शिक्षा की व्यवस्था बालकों की योग्यतानुसार की जानी चाहिये। महामना का यह विचार ही जन-जन में शिक्षा की क्रान्ति की लहर पैदा कर दी।

महामना पं0 मदन मोहन मालवीय जी छात्रों के अभिभावक रूप में थे। उन्होंने निर्धन-वर्ग, स्त्री-वर्ग की शिक्षा पर विशेष बल दिया। देश की शान्ति, सुस्थिरता, निरन्तर विकास हेतु शिक्षा के प्रत्येक स्तर तकनीकि, औद्योगिक, नैतिक, ऐतिहासिक, शास्त्रीय, शारीरिक व्यायाम सम्बन्धित, कृषि सम्बन्धित आदि क्षेत्रों में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते रहें। उन्होंने अनुसन्धानकर्ताओं, पण्डितों, विचारकों, दार्शनिकों के लिये हर प्रकार के प्रचुर साधन उपलब्ध किये जिससे उनकी बुद्धि और विद्वता द्वारा उनकी अपने युग में ख्याति हो। इस प्रकार महामना की अत्यन्त व्यापक, सुदृढ़, सुव्यवस्थित शिक्षा-दृष्टि रही है।

धर्मप्रधान शिक्षा, महामना की दृष्टि में मनुष्य की लौकिक एवं पारलौकिक दोनों प्रकार से उन्नति करता है। वे मनुष्य-जीवन में इन दोनों पक्षों को समान महत्त्व देते थे। उन्होंने शिक्षा द्वारा मनुष्य के दोनों पक्षों के विकास पर बल दिया। जिन सामाजिक विकास की चर्चा महामना ने की उनका तात्पर्य था कि समाज सेवा के भाव से बालक ओतप्रोत हो और वह समाजसेवा के कार्यों के प्रति उन्मुख हों। सांस्कृतिक विकास से तात्पर्य प्राचीन भारतीय वैदिक संस्कृति के पुनर्स्थापना से था और राष्ट्रीयता से तात्पर्य भारत के समस्त नगारिकों में भारत की भाषा और संस्कृति में आस्था रखने और उसके पालन से था। मालवीय जी द्वारा निश्चित शिक्षा के उद्देश्य अति व्यापक हैं, हमारी भारतीय शिक्षा स्पष्ट रूप में यही होनी चाहिये। परन्तु समयानुकूल इनके अर्थ एवं क्षेत्र में अल्प रूप से परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। अतः सामाजिक विकास का तात्पर्य समाजवाद की शिक्षा से, सांस्कृतिक-विकास का अर्थ अब सांस्कृतिक-सहिष्णुता के विकास से तथा राष्ट्रीयता के विकास से अर्थ वर्तमान में भारत की विभिन्नता में एकता स्थापित करने से है। वर्तमान में लोकतन्त्रीय भारत में आध्यात्मिक उन्नति का अर्थ व्यापक रूप में लेना होगा। आज स्वतन्त्र भारत की शिक्षा मुख्य रूप से-समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता, जनसंख्या नियन्त्रण और प्रदूषण की रोकथाम की आवश्यकता से सम्बन्धित है। महामना ने भारतीय-धर्म-दर्शन में आस्था रखते हुये भी पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा की शुरूआत की थी। यह उस आरम्भ का परिणाम है कि देश में इंजीनियरिंग और तकनीकी-शिक्षा का तेजी से विकास हुआ। ऐसी शिक्षा की महान् दृष्टि रखने वाले महामना पं0 मदन मोहन मालवीय आदर्शों के भी आदर्शरूप थे।

सन्दर्भ सूची

1. महामना और विद्यार्थी प्रसंग, डॉ0 उमेश दत्त तिवारी, महामना मालवीय फाउण्डेशन, वाराणसी, 2015, पृ0 19
2. महामना : चिन्तन एवं सन्देश, डॉ0 उमेश दत्त तिवारी, महामना मालवीय फाउण्डेशन, वाराणसी, 2015, पृ0 45
3. महामना : चिन्तन एवं सन्देश, डॉ0 उमेश दत्त तिवारी, महामना मालवीय फाउण्डेशन, वाराणसी, 2015, पृ0 59
4. महामना : चिन्तन एवं सन्देश, डॉ0 उमेश दत्त तिवारी, महामना मालवीय फाउण्डेशन, वाराणसी, 2015, पृ0 60
5. महामना : चिन्तन एवं सन्देश, डॉ0 उमेश दत्त तिवारी, महामना मालवीय फाउण्डेशन, वाराणसी, 2015, पृ0 60
6. बी0एच0यू0 योजना, 1904
7. महामना : चिन्तन एवं सन्देश, डॉ0 उमेश दत्त तिवारी, महामना मालवीय फाउण्डेशन, वाराणसी, 2015, पृ065
8. महामना : चिन्तन एवं सन्देश, डॉ0 उमेश दत्त तिवारी, महामना मालवीय फाउण्डेशन, वाराणसी, 2015, पृ0 67
9. महामना : चिन्तन एवं सन्देश, डॉ0 उमेश दत्त तिवारी, महामना मालवीय फाउण्डेशन, वाराणसी, 2015, पृ0 67
10. महामना और विद्यार्थी प्रसंग, महामना मालवीय फाउण्डेशन, वाराणसी, 2015, पृ0 64
11. महामना और विद्यार्थी प्रसंग, महामना मालवीय फाउण्डेशन, वाराणसी, 2015, पृ0 73
12. महामना के प्रेरक प्रसंग-3, महामना मालवीय फाउण्डेशन, वाराणसी, 2015, पृ0 254
13. महामना के प्रेरक प्रसंग-3, महामना मालवीय फाउण्डेशन, वाराणसी, 2015, पृ0 10
14. तैत्तिरीयोपनिषद् 1/11/1-3, गीताप्रेस, गोरखपुर

अन्य सम्बन्धित ग्रन्थ

- शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, रमन बिहारी लाल, रस्तोगी पब्लिकेशन्स शिवाजी रोड, मेरठ, सत्रहवां संस्करण, 2009-2010

- महामना पं0 मदनमोहन मालवीय, सीताराम चतुर्वेदी, सयाजीराव ग्रन्थालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
- महामना श्री पं0 मदनमोहन मालवीय के लेख और भाषण, वासुदेवशरण, सयाजीराव ग्रन्थालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
- महामना मदन मोहन मालवीय, अशोक कौशिक, सयाजीराव ग्रन्थालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
- महामना पं0 मदन मोहन मालवीय की जीवनी, वेंकटेश नारायण तिवारी, सयाजीराव ग्रन्थालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

●

''प्रज्ञा'' : नियम एवं निर्देश

1. ''**प्रज्ञा**'', जहाँ तक संभव होगा, वर्ष में दो प्रकाशित होगी : प्रथम अंक सत्रारम्भ के अवसर पर और दूसरा अंक मालवीय जयंती के अवसर पर।

2. ''**प्रज्ञा**'' पत्रिका में प्रकाशनार्थ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के शोध छात्रों एवं अध्यापकों के लेख/शोध प्रपत्र सम्पादक ''**प्रज्ञा**'' के कार्यालय में प्रथम अंक के लिए 30 नवम्बर तथा द्वितीय अंक के लिए 30 अप्रैल तक पहुँच जाने चाहिए। शोध छात्रों के लेख/शोध प्रपत्र अपने निर्देशक एवं विभागाध्यक्ष से संस्तुत एवं अग्रसारित होने चाहिए।

3. ''**प्रज्ञा**'' जर्नल में प्रकाशित लेखों/शोध प्रपत्रों के लेखकों को ''**प्रज्ञा**'' की दो प्रतियाँ दी जायेगी : प्रथम लेखकीय प्रति और दूसरी प्रतिमुद्रण की 10 प्रतियों के बदले में।

4. सभी प्रकार का शुल्क, सम्पादक ''**प्रज्ञा**'' काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका, वाराणसी-221005 के नाम भेजें।

5. **शोध-प्रपत्र/लेख के पाण्डुलिपि निर्माण सम्बन्धी दिशा निर्देश :**

(क) संगणक (कम्प्यूटर) पर टंकित शोध प्रपत्र/लेख की एक प्रति सी०डी० के साथ ''**प्रज्ञा**'' कार्यालय में जमा करना होगा।

(ख) पाण्डुलिपि ए-4 आकार के बाण्ड पेपर पर डबल-स्पेस में टंकित होना चाहिए। लेख के चारों तरफ 2 से०मी० की हासिया छोड़ें।

(ग) **हिन्दी एवं संस्कृत भाषा में टंकित लेखों के लिए दिशा निर्देश :**

ए.पी.एस.-डी.वी.-प्रियंका रोमन फॉन्ट, शीर्षक– 17 प्वाइंट ब्लैक, लेखक का नाम – 13 प्वाइंट इटैलिक ब्लैक, टेक्स्ट– 13 प्वाइंट, फोलियो – 11 प्वाइंट और पाद टिप्पणी 9 प्वाइंट।

(घ) **अंग्रेजी भाषा में टंकित लेखों/शोध प्रपत्रों के लिए दिशा निर्देश :**

'टाइम्स न्यू रोमन' फॉन्ट, शीर्षक – 14 प्वाइंट आल कैप्स काला, लेखक का नाम – 11 प्वाइंट सभी कैप्स इटैलिक ब्लैक, टेक्स्ट – 11 प्वाइंट ऊपर नीचे की पाद टिप्पणी और फोलियो – 9 प्वाइंट।

(ङ) **टंकित पृष्ठ संख्या : अधिकतम 10 पृष्ठ।**

6. **लेखक का घोषणा-पत्र :**

''**प्रज्ञा**'' जर्नल में प्रकाशनार्थ प्रेषित ''.....'' शीर्षक लेख/शोध प्रपत्र का लेखक मैं घोषणा करता हूँ कि—

(अ) मैं लेखक के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेता हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है, और साथ ही अपने लेख/शोध प्रपत्र को ''**प्रज्ञा**'' जर्नल में प्रकाशित होने की स्वीकृति देता हूँ।

(ब) यह लेख/शोध प्रपत्र मूल रूप से या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छापने के लिए भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है।

(स) मैं ''**प्रज्ञा**'' जर्नल के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देता हूँ। ''**प्रज्ञा**'' में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापी राइट का अधिकार **सम्पादक** ''**प्रज्ञा**'' को देता हूँ।

लेखक का नाम एवं हस्ताक्षर .....

दिनांक एवं स्थान .....

मोबाइल/टेलिफोन नं0 .....

●

प्राचीन भारतीय योग दर्शन का स्वरूप

डॉ अनुराधा सिंह[*]

1. योग दर्शन की पृष्ठभूमि- भारत में प्राचीनकाल से ही शरीर, इन्द्रिय और मन के नियन्त्रण के लिए योग की प्रविधियों का महत्त्व माना जाता रहा है। सांख्य दर्शन में योग को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है और गीता में इन दोनों ही शास्त्रों को वास्तव में एक माना गया है। वेदान्त में चित्त को शुद्ध करने के लिए योग का महत्त्व स्वीकार किया गया है।[1] यहाँ 'योग' शब्द का तात्पर्य उल्लेखनीय है। युज् धातु से करण और भाव में 'धञ' प्रत्यय जोड़ देने से 'योग' शब्द की निष्पत्ति होती है, जिसका अर्थ होता है समाधि। समाधि का तात्पर्य है सम्यक् प्रकार से भगवान् में मिल जाना। भगवान् से यह जीव तब मिल सकता है, जब वह कामना, वासना, आसक्ति और संस्कारों का परित्याग कर दे। अतएव कहा गया है कि जीव और ब्रह्म के बीच जो स्वजातीय, विजातीय और स्वगत आदि भेद है, उनका विमोचन करके एक हो जाना ही 'योग' है। जब हमारी सारी सत्ता भगवन्मय हो जाती है तब उस अवस्था को जीव और ब्रह्म का योग (मिलन) कहते है। यह योग भी दो प्रकार का होता है एक योग वह है जिसमें व्यक्ति अपने अस्तित्व को पूर्णतः खो देता है जैसा कि शंकराचार्य का शुद्धाद्वैत और दूसरा योग वह है जिसमें साधक अपनी आंशिक सत्ता को बचाये भी रखता है, जैसा कि रामानुज का विशिष्टाद्वैत है। यहाँ योग दर्शन के 'योग' शब्द का अर्थ शंकर व रामानुज की अपेक्षा कुछ भिन्न है। यहाँ उसका आशय है चित्तवृत्ति का निरोध कर चित्त को वृत्ति-शून्य करना और चित्त-वृत्तियों के निरोध के लिए सम्भव उपाय करना। अमरकोश में 'योग' शब्द के अनेक पर्याय मिलते है यथा **सत्रहन, 'उपाय', 'ध्यान', 'सगति'** और **युक्ति**। कवच धारण कर अस्त्रों से सत्रद् के युद्ध के लिए उद्यत होना 'सत्रहन' योग है। आयुर्वेद में रोग को दूर के 'उपाय' को योग कहते है। मन को एकाग्र करके समाधि में बैठ जाना ही 'ध्यान' योग है। दो वस्तुओं का मिलन व संगम 'सगति' योग है। सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि शरीर व चित्त की वह क्रिया या अभ्यास, जिससे कोई विशेष सिद्धि प्राप्त होती है, **'योग'** है।[2]

योग दर्शन भारतीय दर्शनशास्त्र की एक प्राचीन शाखा है। यद्यपि योग को एक व्यवस्थित रूप देने का श्रेय पतंजलि को है, तथापि इससे पूर्व भी भारतीय दर्शनों में योग का स्थान था। हमें योग दर्शन अपने विश्रृंखलित रूप में वेदों, उपनिषदों, सूत्रों आदि में प्राप्त होता है। ऋग्वेद में यौगिक प्रक्रियाओं के विषय में अनेक उल्लेख मिलते है। कठोपनिषद् में योग का लक्षण इस प्रकार- **'ता योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणम'** किया गया है। स्पष्ट है कि पतंजलि के पूर्व भी 'योग' की स्थिति थी और यह भारतीय दर्शन की अत्यन्त प्राचीन पद्धति है।

(क) योग दर्शन के आचार्य- योग दर्शन के प्रमुख आचार्य महर्षि पतंजलि थे। यही आचार्य पतंजलि इस योग दर्शन के प्रवर्तक भी थे। उल्लेखनीय है कि योग दर्शन पतंजलि की कोई स्वतन्त्र या मौलिक कृति नहीं, अपितु यह पूर्व में भी विद्यमान था। आचार्य पतंजलि ने योग दर्शन की इस बिखरी सामग्री को एकत्रित करके और उसे अपने मौलिक विचारों से सजाकर एक-एक व्यवस्थित दर्शन के रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों के योग विषयक विचारों का संग्रह करके और अपनी प्रतिभा से व्यवस्थित करके 'योग सूत्र' का सृजन किया। 'योग-सूत्र' को 'पतंजलि दर्शन' भी कहा जाता है। पतंजलि कृत 'योग सूत्र' चार पादों (अध्यायों) में विभक्त है-समाधि, साधन, विभूति और कैवल्य। इसके प्रथम पाद यानि सामाधि को योग का उद्देश्य माना गया है। द्वितीय पाद साधन में क्लेश, कर्म एवं कर्मफलों के योग के अंग का विवेचन किया गया है। तृतीय पाद विभूति में उनका परिणाम तथा अणिमा, महिमा आदि सिद्धियों के प्रकारों का वर्णन है। चतुर्थ पाद कैवल्य में मोक्ष का विवेचन किया गया है।

इतिहासकारों ने पतंजलि योग सूत्र के अतिरिक्त योग विषयक दूसरे विद्वानों के प्राचीन ग्रन्थों का उल्लेख किया है जो अप्रकाशित है पर उनके सन्दर्भ यत्र-तत्र मिलते हैं। इन ग्रन्थों में अंगिरा कृत 'योग प्रदीप', कश्यप कृत 'योग रत्नाकर', कौत्स कृत 'योग विलास', मरीच कृत 'योग सिद्धान्त' व 'भोग-विलास' संजय कृत 'प्रदर्शन योग' कौशिक कृत 'योग निदर्शन' और सूर्य कृत 'योग मार्तण्ड' उल्लेखनीय है।

पतंजलि के योगसूत्र पर व्यास ने जो भाष्य लिखा है वह व्यास-भाष्य या योग भाष्य कहलाता है। तदन्तर 'व्यास-भाष्य' पर वाचस्पति ने 'तत्ववैशारदी' नामक प्रामाणिक टीका लिखी है। इसके अतिरिक्त राजा भोज कृत राजमार्तण्ड वृत्ति तथा विज्ञानभिक्षु कृत 'योगवार्तिक' इस परम्परा के प्रसिद्ध एवं प्रामाणिक ग्रन्थ है। योग-दर्शन की ही एक शाखा 'हठयोग' है, जिस पर लिखा गया ग्रन्थ 'शिव संहिता' भी उल्लेखनीय है। हठयोग के आचार्य मच्छंदर नाथ (मत्स्येन्द्र नाथ) थे, जिनके शिष्य गोरखनाथ हुए, जिन्होंने नाथ सम्प्रदाय की स्थापना की थी।[3]

(ख) योग दर्शन का सार- योग दर्शन के समुचित ज्ञान के लिए योग दर्शन का सार उल्लेखनीय है। वास्तव में चित्त-वृत्तियों का

* असिस्टेन्ट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, सामाजिक विज्ञान विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

निरोध ही योग है। वे चित्त-वृत्तियाँ पाँच है- प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। इनमें प्रमाण तीन हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। अन्य चार वृत्तियों में मिथ्याज्ञान का नाम विपर्यय', ज्ञेय पदार्थ के सत्ता रहित ज्ञान को 'विकल्प', अभाव-प्रत्यय-अवलम्बित वृत्ति को' निद्रा' और अनुभूत विषय का ध्यान ही 'स्मृति' है। इन चित्त-वृत्तियों का निरोध अभ्यास तथा वैराग्य से होता है। चित्त को स्थिर, अविचल करने वाले प्रयत्न ही 'अभ्यास' है। ऐहिक तथा पारलौकिक भोगों से विमुक्त हो जाना ही वैराग्य है।[4]

'समाधि-लाभ के लिए ईश्वर-प्राणिधान आवश्यक है। पंचविध क्लेशों, कर्म, कर्मफल और आशय (वासनाओं) से दूर रहने वाला पुरूष ही योग का ईश्वर है। ईश्वर का प्राणिधान, उसके वाचक 'ओऽम', का जप करने से होता है। उल्लिखित पाँच क्लेश है-अविद्या, अस्मिता, रोग, द्वेष और अभिनिवेश। आठ योगाभ्यास है-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इनमें यम पाँच है-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। पाँच नियम इस प्रकार है-शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, और ईश्वर प्राणिधान। समाधि के दो भेद माने गये है-सबीज समाधि और निर्बीज समाधि। योग दर्शन का मूलोद्देश्य है योग द्वारा मनुष्य पंचविध क्लेशों और नानाविध कर्म-फलों से विमुक्त होकर मोक्ष (कैवल्य) को प्राप्त करें।

2. योग का मनोविज्ञान- योग मनोविज्ञान में सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व चित्त है। चित्त प्रकृति का प्रथम विकार है, जिसमें रजोगुण और तमोगुण पर सत्वगुण की प्रबलता रहती है। वह स्वभावतः जड़ है, पर आत्मा से निकट सम्पर्क के कारण, वह उसके प्रकाश से प्रकाशित हो जाता है। जिस विषय से उसका सम्पर्क होता है वह उसी का आकार धारण कर लेता है। विषयों के अनुरूप चित्त विकारों से ही आत्मा को विषयों का ज्ञान होता है। विवेक ज्ञान न होने पर आत्मा उन्हीं में अपने को देखने लगती है और सांसारिक विषयों में सुख-दुःख और राग-द्वेष का भाव रखने लगती है। यही बन्धन है। इससे छूटने का उपाय चित्त-वृत्ति का निरोध है। यही योग है। इस प्रकार चित्त-वृत्ति का निरोध ही योग है।

(क) मन (चित्त) की अवस्थाएँ- चित्त की पाँच अवस्थाएँ होती है, जिन्हें चित्त भूमियाँ कहते है। इस चित्त-भूमि (मानसिक अवस्था) के पाँच रूप इस प्रकार है-

(1) क्षिप्त- यह चंचल अवस्था है, जबकि रजोगुण के प्रभाव से चित्त अत्यधिक चंचल हो इधर-उधर सांसारिक विषयों में भटकता रहता है, जैसे धन के मद में उन्मत्त लोगों का चित्त **(2) मूढ़ -** इस अवस्था में चित्त तमोगुण के उद्रेक से विवेक शून्य हो जाता है, जैसे कोई निद्रा में मग्न हो तो उसके चित्त को मूढ़ कहते है। मादक पेय पिये उन्मत्त पुरूषों के चित्त इसी अवस्था में होते है। **(3) विक्षिप्त-** विक्षिप्तावस्था में चित्त (मन) थोड़ी देर के लिए एक विषय में लगता है, पर तत्क्षण ही अन्य विषय की ओर ध्यान चला जाता है और पहला विषय छूट जाता है। यह चित्त की आंशिक स्थिरता की अवस्था है। इस अवस्था में सत्व की अधिकता रहने पर भी रजस के कारण चित्त की वृत्ति कभी सफलता और कभी असफलता के मध्य भटकती रहती है। **(4) एकाग्र**- यह वह अवस्था है, जिसमें चित्त देर तक एक विषय पर लगा रहता है। यह किसी वस्तु पर मानसिक केन्द्रीकरण या ध्यान की अवस्था है। इस अवस्था में चित्त किसी विषय पर विचार (या ध्यान) करता रहता है। अतः इसमें भी सभी चित्तवृत्तियों का निरोध नहीं होता है। फिर भी यह योग की प्रथम सीढ़ी है। **(5) निरुद्ध** - इस अवस्था में चित्त की सभी वृत्तियों का लोप हो जाता है और चित्त अपनी स्वाभाविक स्थिर शान्त अवस्था में आ जाता है। इनमें से प्रथम तीन अवस्थाएँ योग की उद्घातक है, अतः उनको साधनों द्वारा दूर किया जाता है। पर अन्तिम दो एकाग्र और निरूद्ध अवस्थाएँ योग के अनुकूल है।

(ख) जीव का स्वरूप- योग के अनुसार जीव स्वतंत्र पुरूष है, जो स्थूल शरीर से और विशेषतः सूक्ष्म शरीर (इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार) से सम्बद्ध है। जीव स्वभावतः शुद्ध चैतन्य स्वरूप है। वह वस्तुतः शारीरिक बन्धनों और मानसिक विकारों से मुक्त रहता है, परन्तु अज्ञान के कारण वह चित्त के साथ अपना तादात्मय कल्पित कर लेता है और भ्रमवश अपने को चित्त समझने लगता है। 'चित्तवृत्ति' का प्रथम विकार, जिसमें रजोगुण और तमोगुण के ऊपर सत्वगुण की प्रबलता रहती है। चित्त स्वाभावतः जड़ है परन्तु आत्मा के निकटतम सम्पर्क में रहने के कारण वह आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित हो उठता है। निर्मल होने के कारण उस पर आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है, जिससे उसमें चैतन्य का आभास आ जाता है। जब चित्त का किसी विषय से सम्पर्क होता है तब वह उसी विषय का आकार धारण कर लेता है। इन्हीं विषयों के अनुरूप चित्त विकारों द्वारा आत्मा को विषयों का ज्ञान होता है। यद्यपि आत्मा में स्वतः कोई विकार या परिणाम नहीं होता तथापि परिवर्तनशील चित्तवृत्तियों में प्रतिबिम्बित होने के कारण इसके परिवर्तन का आभास होता है।[5]

(ग) चित्त की वृत्तियाँ - चित्त पर आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ने से वह भी चेतना के समान कार्य करने लगती है। यही चित्त की वृत्ति कहलाती है। ये चित्त वृत्तियाँ अज्ञान के कार्य है। चित्त की वृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती है- (1) प्रमाण (सत्य ज्ञान) - योग में भी सांख्य के समान तीन प्रमाण-प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द माने गये है। चित्त, इन्द्रियाँ रूपी द्वारों से बाहर जाकर विषयों में रंजित हो विषयाकार हो जाता है। इसे ही प्रत्यक्ष प्रमाण कहते है। अनुमान और शब्द प्रमाण, सांख्य के समान ही योग दर्शन में भी है। (2) विपर्यय, किसी वस्तु के मिथ्याज्ञान को विपर्यय कहते है। (3) विकल्प (कल्पना) - विकल्प वह ज्ञान है, जिसमें जिस वस्तु का ज्ञान हो वह वही न रहें अर्थात् कल्पना । (4) निद्रा (नींद) - किसी वस्तु के अभाव के ज्ञान को आलम्बन करने वाली वृत्ति निद्रा है। निद्रा वह चित्तवृत्त है जिसमें तमोगुण का प्रभाव होता है, और उसके

कारण जागृत् और स्वप्न अवस्थाओं के अनुभव विलीन हो जाते है। इस अवस्था को 'सुषुप्ति' कहते है। (5) स्मृति (स्मरण) - अतीत के अनुभव किये हुए विषयों को ठीक उसी रूप में स्मरण होना स्मृति है। इन पॉच वृत्तियों के अन्दर सभी चित्तवृत्तियाँ आ जाती है।

(घ) मन, शरीर और आत्मा का सम्बन्ध - चित्त अब किसी वृत्ति में परिणित हो जाता है, तब उस पर आत्मा का प्रकाश पड़ता है और वह आत्मसात् हो जाता है। ऐसी स्थिति में आत्मा को ऐसा प्रतीत होता है कि यह मेरी ही अवस्था है। इसीलिए ऐसा भासित होता है कि पुरूष (आत्मा) ही सब कुछ सोचता है और करता है। मानों वह ही जन्म लेता है, मरता है आदि। पर यथार्थ में यह भ्रम है। जन्म-मरण आदि क्रियाएँ शरीर की है और सोना-जागना आदि क्रियाएँ मन की है। ध्यान, कल्पना, स्मृति आदि मन की वृत्तियाँ है। आत्मा इन सभी विकारों से परे है। इनसे वह संयुक्त इसलिए जान पड़ता है कि वह चित्त में प्रतिबिम्बित होता जाता है। यह प्रतिबिम्बन उसी तरह है जैसे दर्पण में मनुष्य का प्रतिबिम्ब उतरता है। इस तरह पॉच प्रकार की क्लेशकर भ्रान्त वृत्तियाँ उत्पन्न होती है। ये इस प्रकार है-

(1) अविद्या - अनित्य को नित्य, अनात्मा को आत्मा, दुःख को सुख, अशुचि को शुचि समझ लेना अविद्या है। **(2) अस्मिता -** आत्मा को भ्रमवश बुद्धि या मन समझ लेना अस्मिता है। **(3) राग-** सुख की उत्कट इच्छा को राग कहते है।

(4) द्वेष- दुःख और उसके कारणों से वैर द्वेष है। **(5) अभिनिवेष** - मृत्यु के भय को अभिनिवेष कहते है।

जब तक चित्त में विकार और परिणाम होते है तब तक उन पर आत्मा का प्रकाश पड़ता रहता है और विवेक और ज्ञान के अभाव में आत्मा उन्हीं में अपने को देखने लगती है। फलस्वरूप वह सांसारिक विषयों से सुख-दुःख का अनुभव करने लगती है और उनमें राग द्वेष के भाव रखने लगती है।' यही आत्मा का बन्धन है। इस बन्धन से मुक्ति पाने के निमित्त शरीर, इन्द्रिय, मन और चित्तवृत्तियों का निरोध करना आवश्यक है। जब कार्यचित्त का धारा-प्रवाह बंद हो जाता है और वह कारणचित्त के रूप में आ जाता है तब आत्मा को अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है। तब वह अपने को मनशरीर से भिन्न नित्य, मुक्त, शुद्ध, चैतन्य रूप में देखता है। चित्त वृत्तियों के निरोध के द्वारा यही आत्म-साक्षात्कार योग का उद्देश्य है।

3. योग का अभ्यास - योग का अर्थ है चित्त वृत्ति का निरोध, जो अभ्यास का परिणाम है। इसका उद्देश्य है आत्मा को अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान कराना जिससे वह अपने को मानसिक विकारों से पृथक् समझ सके पर यह तभी संभव है जबकि चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाये। अतः योग का कार्य है चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध करना।

(क) समाधि एवं उसके भेद- चित्त की पाँच अवस्थाओं में एकाग्र अवस्था वह है, जिसमें चित्त देर तक एक विषय पर लगा रहता है। यह मानसिक केन्द्रीकरण या ध्यान की अवस्था है। इस अवस्था में चित्त किसी विषय पर विचार या ध्यान करता रहता है। यद्यपि इसमें भी सभी चित्तवृत्तियों का निरोध नहीं होता, यथापि यह योग की पहली सीढ़ी है। तदन्तर निरूद्धावस्था में चित्त की सभी वृत्तियों का लोप हो जाता है और चित्त अपने स्वाभाविक स्थिर एवं शान्त अवस्था में आ जाता है। ये एकाग्र और निरूद्ध अवस्थाएं योग के अनुकूल हैं। ऐसी स्थिति में उनमें सत्वगुण का अधिकाधिक प्रकाश रहता है, जो आत्म साक्षात्कार में सहायक होता है। इस एकाग्र अवस्था को सम्प्रज्ञात योग कहते है, क्योंकि इसमें ध्येय विषय का ज्ञान रहता है। इस अवस्था को 'सभापति' या सम्प्रज्ञात समाधि भी कहते है, क्योंकि इस अवस्था में चित्त अपने ध्येय विषय में लीन होकर तन्मय हो जाता है। इसी प्रकार निरूद्ध अवस्था को असम्प्रज्ञात योग या असम्प्रज्ञात समाधि कहते है, क्योंकि इस अवस्था में चित्त की सभी वृत्तियों का लोप हो जाता है। उसे किसी विषय का ज्ञान नहीं रहता। यही समाधि की अवस्था है। समाधि की अवस्था में सभी मनोवृत्तियाँ और विषयों का लोप हो जाता है और चित्त की चंचल लहरों का उठना बंद हो जाता है। वह शान्त जल की तरह स्थिर हो जाता है। इन एकाग्र और निरूद्ध अवस्थाओं को सामान्यतः समाधि योग कहा जाता है। सम्पूर्ण संकल्प-विकल्पों आशाओं-अभिलाषाओं से मन को विमुख कर देना ही समाधि है। यहाँ समाधि के भेद उल्लेखनीय है।

समाधि दो प्रकार की होती है- सम्प्रज्ञात समाधि और असम्प्रज्ञात समाधि। विषय भेद के अनुसार सम्प्रज्ञात समाधि की चार कोटियां होती है। किसी स्थूल भौतिक पदार्थ पर जब चित्त को एकाग्र किया जाता है, तब वह 'सवितर्क' समाधि कहलाती है। साधक को उसके स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर सूक्ष्म विषय का ध्यान करना चाहिए, वह ध्यान 'सविचार' समाधि कहलाती है। तदन्तर साधक को उससे भी सूक्ष्मतर विषय (जैसे इन्द्रिय) में ध्यान जमाना चाहिए, जिससे उसका यथार्थ स्वरूप प्रकट हो जाय, यह 'सानन्द' समाधि कहलाती है। इसके बाद साधक के ध्यान का विषय केवल 'अस्मिता' या अहंकार मात्र रहता है, यह 'साम्मिता' समाधि कहलाती है। इस समाधि से आत्म का साक्षात्कार हो जाता है।

सम्प्रज्ञात समाधि के जो उपरोक्त चार तरीके बतलाये गये है, उनसे आन्तरिक तथा बाह्य पदार्थों की वास्तविकता का बोध हो जाता है। इससे एक के अनन्तर दूसरे बाह्य या आन्तरिक विषय का यथार्थ स्वरूप करते-करते और उसे छोड़ते हुए चित्त का सम्बन्ध सभी विषयों से छूट जाता है। यही परम योग की अन्तिम अवस्था 'असंप्रज्ञात' समाधि है। इस अन्तिम अवस्था पर पहुँचकर योगी इस विषयापन्न संसार से अपना नाता तोड़ लेता है और मुक्तावस्था का आनन्द प्राप्त करता है। इस अवस्था को प्राप्त करने पर पुरूष सभी दुःखों से मुक्ति पा जाता है, जो जीवन का चरम पुरूषार्थ है।[6]

(ख) योग के तीन मार्ग- योग के तीन प्रमुख मार्ग- ज्ञान योग, भक्ति योग और कर्मयोग है। इन तीन मार्गों में से मनुष्य को अपनी बुद्धि, स्वभाव और योग्यता के अनुकूल किसी एक मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। जिस व्यक्ति का ज्ञान की ओर अधिक झुकाव हो, उसे ज्ञान मार्ग अपनाना चाहिए अर्थात उन्हें संसार के विषयों का सम्यक् परिशीलन करते हुए उन सबसे अपने को पृथक बोध करना चाहिए और जो व्यक्ति भाव प्रधान है उसे भक्ति मार्ग अपनाना चाहिए। उसे श्रद्धा और भक्ति पूर्वक ईश्वर की उपासना करनी चाहिए। साधक इस भक्ति योग से भी मुक्ति प्राप्त कर सकता है। वह व्यक्ति जो कर्म योग के मुख्य अंग-तपश्चर्या, स्वाध्याय और ईश्वर प्राणिधान है।

(ग) अष्टांग योग - चित्त की शुद्धि और पवित्रता के लिए योग आठ प्रकार के साधनों (अंगों) का आभास बतलाता है। ये अष्टांग योग इस प्रकार है- 1. यम, 2. नियम, 3. प्राणायाम, 4. प्रत्याहार, 5. धारणा, 6. ध्यान और 7. सामाधि। ये आठों 'योगांग' कहलाते है।

(1) यम- कायिक, वाचिक तथा मानसिक संयग को यम कहते है। यम के पाँच अंग है। **(क) अहिंसा -** जीव को किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचाना, **(ख) सत्य-** किसी तरह का झूठ न बोलना **(ग) असत्य -** चोरी न करना **(घ) ब्रह्मचर्य** - विषय-वासना से विमुख होना **(ड़) अपरिग्रह** - वस्तुओं का अनावश्यक संग्रह न करना। चित्त को एकाग्र करने के लिए इन सब यमों का पालन आवश्यक है

2. नियम - योग का दूसरा अंग नियम या सदाचार का पालन करता है। ये नियम भी पाँच है यथा- **(क) शौच** -स्थान और पवित्र भोजन आदि के द्वारा बाह्य अथवा शारीरिक शुद्धि तथा मैत्री, करूणा, मुद्रिता और उपेक्षा के द्वारा आभ्यान्तरिक अथवा मानसिक शुद्धि करना, **(ख) सन्तोष -** उचित प्रयास द्वारा जितना ही प्राप्त हो सके, उससे सन्तुष्ट रहना, **(ग) तप-** सर्दी, गर्मी आदि में रहने का अभ्यास तथा कठोर व्रतों का पालन करना, **(घ) स्वाध्याय-** नियमपूर्वक धर्म ग्रन्थों का अध्ययन करना, **(ड़) ईश्वर प्राणिधान -** ईश्वर का ध्यान करना और उन पर अपने को छोड़ देना।

3. आसन - 'चित्त' को स्थिर रखने वाले तथा सूख देने वाले, बैठने के प्रकार को आसन कहते है। आसन अनेक प्रकार के होते है, यथा-पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, शीर्षासन, गरूणासन, शवासन आदि। स्थिर आसन से मन तथा वायु भी स्थिर होते है और शीत उष्ण आदि से भी क्लेश नहीं होता है। चित्त की एकाग्रता के लिए मन के साथ-साथ शरीर का भी अनुशासन आवश्यक है। आसन शरीर का साधन है। ये शरीर को निरोग तथा सबल बनाये रखते है। इससे सभी अंग और विशेषतः स्नायु मण्डल वश में किये जा सकते है।

4. प्राणायाम - प्राणायाम का अर्थ है श्वास नियन्त्रण। स्थिर आसन में श्वास तथा प्रश्वास की गति के विक्षेप को प्राणायाम कहते है। प्राणायाम के श्वास का नियन्त्रण होता है। इस क्रिया के तीन अंग है- 1. पूरक- पूरा श्वास भीतर खींचना, 2. कुम्भक - उस श्वास को भीतर रोकना 3. रेचक- नियमित विधि से उस श्वास को छोड़ना। श्वास के व्यायाम से हृदय पुष्ट होता है और बल आता है। प्राणायाम से शरीर और मन में दृढ़ता आती है और चित्त एकाग्र होता है। इससे समाधि भी बढ़ाई जा सकती है।

5. प्रत्याहार - इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी करने को प्रत्याहार कहते है। इससे सांसारिक विषयों के रहते हुए भी उनका मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। इस स्थिति के लिए अत्यन्त दृढ़ संकल्प और घोर इन्द्रियनिग्रह की साधना आवश्यक है।

उपरोक्त पाँच साधन- यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार - वहिरंग साधन कहलाते हैं और शेष तीन- धारण, ध्यान और समाधि-अन्तरंग साधन कहलाते है और उनका योग (समाधि) से सीधा सम्पर्क है।

6. धारणा - चित्त को किसी स्थान में स्थिर कर देना धारणा है। यह स्थान बाह्य पदार्थ जैसे सूर्य या किसी देवता की प्रतिमा आदि भी हो सकते है और अपने शरीर में नाभि, चक्र, या भौंहों के मध्य का भाग भी हो सकते है। इस धारणा की सिद्धि से ही समाधि की अवस्था तक पहुँचा जा सकता है।

7. ध्यान - ध्यान का अर्थ है ध्येय विषय का निरन्तर मनन करना। अर्थात्, उसी विचार को लेकर विचार का अनवच्छिन्न प्रवाह। इस क्रिया के द्वारा विषय का सस्पष्ट ज्ञान हो जाता है। सर्वप्रथम भिन्न-भिन्न अंशों या स्वरूपों का बोध होता है। तदन्तर अविराम ध्यान के द्वारा सम्पूर्ण चित्र खिंच जाता है और उस वस्तु के असली रूप का दर्शन हो जाता है। इस प्रकार योगी के मन में ध्यान के द्वारा वस्तु का यथार्थ स्वरूप प्रकट हो जाता है।

8. समाधि- समाधि, योग साधन की अन्तिम सीढ़ी है। ध्यान की अवस्था में ध्येय विषय और ध्यान की क्रिया- ये दोनो पृथक प्रतीत होते है। पर समाधि की अवस्था में मन ध्येय विषय में लीन हो जाता है या वह उसमें तन्मय हो जाता है और उसे अपना कुछ भी ज्ञान नहीं रहता । इस समाधि की अवस्था में ध्यान की क्रिया का पृथक अनुभव नहीं होता, वह ध्येय विषय में डूबकर अपने को खो बैठता है। और समाधिस्थ योगी को यह भी पता नहीं रहता कि वह किसी वस्तु के ध्यान में मग्न है।

धारणा, ध्यान और समाधि ये तीनों योग के अन्तरंग साधन है। इन तीनों का विषय एक ही रहना चाहिए। ये तीनों मिलकर 'संयम' कहलाते है, जो योगी के लिए आवश्यक है।[7]

9. आठ सिद्धियाँ- योग दर्शन के अनुसार योगाभ्यास करने से योगियों को विशेष अवस्थाओं में विशेष सिद्धियां प्राप्त होती है। ये सिद्धियाँ आठ प्रकार की होती है। अतः इन्हें अष्ट सिद्धि या अष्टैश्वर्य कहा जाता है। ये आठ सिद्धियाँ है-

1. **अणिमा** - अर्थात् योगी चाहे तो अणु के समान छोटा या अदृश्य बन सकता है।

2. **लघिमा** - अर्थात् योगी चाहे तो रूई से भी हल्का होकर उड़ सकता है।

3. **महिमा-** अर्थात् योगी चाहे तो पहाड़ के समान बड़ा बन सकता है।

4. **प्राप्ति** - अर्थात् योगी चाहे तो कहीं भी कोई वस्तु मँगा सकता है।

5. **प्रकाम्य**- अर्थात् योगी की इच्छा शक्ति बाधा रहित हो जाती है।

6. **वशित्व-** अर्थात् योगी सब चीजों को वशीभूत कर सकता है।

7. **ईशित्व** - अर्थात् योगी सभी भौतिक पदार्थो पर अधिकार जमा सकता है।

8. **यत्र कामावा-सायित्व**- अर्थात् योगी का जो संकल्प होता है उसी की सिद्धि हो जाती है।

इन आठ प्रकार की सिद्धियों को योगी इच्छानुसार प्रयोग में ला सकता है पर योग दर्शन में निर्देश है कि साधक इनके ऐश्वर्या (प्रभाव) से लोभ में प्रवृत्त न हो। योग का लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना है। अतः योगी को इनके माध्यम से आत्मदर्शन पर ही पहुँचना चाहिए।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Debiprasad Chattopadhyaya, Indian Philosophy : A popular introduction, people's publishing house, New Delhi, 1964, 00. 117-122
2. एस.एन. दासगुप्ता, भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-1 (हिन्दी अनुवाद-कलानाथ शास्त्री एवं सुधीर कुमार), राजस्थान, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1978, पृष्ठ संख्या 214-224
3. ए.एल. बाशम, अद्भुत भारत (हिन्दी अनुवाद - वेंकटेशचन्द्र पाण्डेय), शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा, पृष्ठ संख्या 235-236
4. पी.एन. चोपड़ा, बी.एन, पुरी, एम.एन. दास., भारत का सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक इतिहास, भाग-1 (हिन्दी अनुवाद-उदयन परमार), मैकमिलन इण्डिया लिमिटेड, दिल्ली, 1975, पृष्ठ संख्या 258-259
5. आनन्द सिंह, प्राचीन भारतीय धर्म, उद्भव एवं स्वरूप, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2010, पृष्ठ संख्या 271-273
6. प्रो0 रेवती रमण पाण्डेय, समग्र-योग, कला प्रकाशन, वाराणसी, 2003, पृष्ठ संख्या 17-58
7. डॉ0 आर शरण, प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन का स्वरूप, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2004, पृष्ठ संख्या 202-213

●

विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों के शैक्षिक वातावरण को कैसे बेहतर बनायें?

प्रो. सिद्ध नाथ उपाध्याय[*]

प्राचीन समय से ही भारत मनीषियों, चिंतकों, कर्त्तव्यपरायण शासकों, और सत्यनिष्ठ नागरिकों का देश रहा है। शिक्षा व्यवस्था तत्कालीन आवश्यकता के अनुसार थी और उस समय की आवश्यकतानुसार विभिन्न क्षेत्रों के लिए विद्वान और कुशल व्यक्ति उचित शिक्षा ग्रहण कर बाहर आते थे। अन्यान्य कारणों और देश-काल के प्रभाव से आज कल के शिक्षण संस्थानों से उपाधिधारी शिक्षित तो अधिक संख्या में निकल रहे हैं परन्तु उनमें से कुछ में ही राष्ट्र प्रेम की उचित भावना है और समाज के लिए कुछ करने की उत्कट इच्छा जो हमारे देश के विकास के लिए अति आवश्यक है। इन बातों के बारे में उचित सोच का भी उनमें नितांत आभाव है। ऊपर से यदि कोई कुछ करने की इच्छा भी रखता है तो उसकी अपूर्ण शिक्षा, समाज की संकीर्ण सोच, संवेदनहीन व्यवस्था, भेदभाव की प्रवृत्ति, अनुत्तरदायी शासन-प्रशासन उसे हलोत्साहित कर, कोढ़ में खाज का कार्य करता है। ऐसे में शिक्षा संस्थाओं की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है। अगर शिक्षण संस्थान और उनसे जुड़े लोग (अधिकारी, अध्यापक, सहयोगी कर्मचारी, छात्र-छात्रा, प्रबंधक) अपने अपने दायित्व का समुचित निर्वाह करें तो शिक्षण संस्थाओं से देश और समाज के हित में कार्य करने वाले युवा/युवती शिक्षित होकर बाहर निकलेंगे। यही शिक्षा का अभीष्ट भी है। इस लेख में शिक्षा, शिक्षण संस्थाओं के प्रकार, अध्यापकों के अधिकार और उनके कर्त्तव्य, छात्र-छात्राओं, देश और समाज के प्रति उनकी जिम्मेदारी आदि पर चर्चा के साथ साथ अध्यापकों को उनके दायित्वों को पुनः स्मरण कराने का प्रयास किया गया है।

1. शिक्षा का उद्देश्य और उसकी परिभाषाएं

प्राचीन भारतीय मनीषियों के अनुसार शिक्षित मनुष्य को साहित्य, संगीत और किसी न किसी कला-कौशल का जान होना आवश्यक है अन्यथा वह बिना सींग और पुंछ के पशु के सामान है-

साहित्य संगीत कला विहीनः,
मनुष्य साक्षात् पशु पुच्छ विषाण हीनः।

भारतीय समाज जब कुछ और विकसित और विस्तृत हुआ तो शिक्षित मनुष्य की इस परिभाषा में परिवर्तन हुआ और उसे कुछ विषयों की जानकारी के साथ-साथ कई अन्य मानवोचित गुणों से युक्त होने की आवश्यकता पर बल दिया गया-

येषाम न विद्या, न तपो न दानं, ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः
ते मर्त्यलोके भुविभारभूता मनुष्य रूपेण मृगाश्चरन्ति।

शिक्षित मनुष्य के गुण-धर्म की यह अवधारणा आज भी उतनी ही समीचीन है। आधुनिक अवधारणा के अनुसार मनुष्य को इसलिए शिक्षित होने की आवश्यकता है ताकि उसका अज्ञान दूर हो सके। इस अवधारणा के आधार पर शिक्षा की कई परिभाषाएं दी गयी हैं। अमेरिका के शिक्षा-शास्त्री विलियन डूरंट के अनुसार – ''शिक्षा किसी व्यक्ति की अपनी अज्ञानता के क्रमिक बोध का नाम है।'' शिक्षा की कुछ अन्य आधुनिक परिभाषाएं नीचे दी जा रही हैं।

* शिक्षा सामान्य ज्ञान प्रदान करने अथवा प्राप्त करने की वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा मनुष्य में निर्णय लेने और विवेकपूर्ण कार्य कर सकने की क्षमता का विकास होता है और वह बौद्धिक रूप से परिपक्व जीवन जी सकने योग्य बनता है।

* शिक्षा किसी विशेष ज्ञान अथवा कला-कौशल को सीखने की वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई व्यक्ति किसी विशेष उद्यम को कर सकने योग्य बनता है।

* शिक्षा किसी व्यक्ति के आध्यात्मिक, नैतिक एवं बौद्धिक विकास के द्वारा उसे उच्च मानवोचित लक्ष्यों की और प्रेरित करने अथवा उसे प्रबुद्ध और ज्ञान संपन्न बनने के लिए प्रेरित करने के जीवन-लक्ष्य और कर्त्तव्य-बोध का ही नाम है। शिक्षा के द्वारा व्यक्ति में विकास के लिए आवश्यक विवेचनात्मक और बौद्धिक योग्यता का प्रादुर्भाव होता है और वह सामूहिक रूप से मानव समाज के कल्याण के लिए कुछ कर सकने के लिए उत्प्रेरित होता है। आज के भारतीय समाज के लिए इसका विशेष महत्व है।

* शिक्षा व्यक्ति के रचनात्मक चिंतन और विश्लेषण करने की क्षमता के विकास में, समस्याओं के बारे में उसकी जानकारी एवं उनके कारण-निर्धारण के साथ-साथ उनके समाधान करने की योग्यता में वृद्धि, उसे स्वयं व्यक्तिगत रूप से और समूह में कार्य करने की क्षमता में वृद्धि, तथा अधिक से अधिक नयी जानकारी प्राप्त करने की उत्कंठा को जागृत करने में सहायक होती हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में किया गया निवेश किसी देश के आर्थिक और सामाजिक विकास को सीधे सीधे प्रभावित करता है। प्राथमिक एवं मधामिक स्तर की सामान्य शिक्षा में किया गया निवेश राष्ट्र के सामाजिक विकास को प्रभावित करता है तो उच्च विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की शिक्षा में किया गया निवेश आर्थिक विकास को। मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान आदि में किया गया निवेश उपरोक्त दोनों उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सेतु का कार्य करता है।

* प्रोफेसरा, एमेरिटस आचार्य, रासायनिक अभियांत्रिकी एवं प्रौद्योगिकी विभाग, भारतीय प्रौद्योगिकी संसथान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

2. शिक्षा के आयाम

अंग्रेजी भाषा के शब्दकोष में शिक्षा और शिक्षक के लिए कई समानार्थी शब्द है। इनके नाम और व्याख्या नीचे दिए गये हैं। Educate, Instruct, Teach, Train, और Tutor पांच शब्द अंग्रेजी भाषा में अलग अलग प्रकार की शिक्षा के लिए प्रचलित है और शिक्षक के लिए इनसे बने शब्द है- Educate, Instruct, Teacher, Trainer और Tutor हैं। इसके बावजूद इनके तात्पर्य और कार्य काफी हद तक भिन्न है। इनकी नीचे दी गयी अंग्रेजी व्याख्या से यह सुस्पष्ट हो जायगा।

Educate- To educate means imparting knowledge, information, understanding, or skill, or instruction or to educate with a root sense of "to lead forth from", refers to the imparting of a specific body of knowledge specially one that equips a person to practice a profession, viz. (i) to educate a person for high school diploma, (ii) to educate someone for law.

Instruct- It is a systematic, structured method of teaching viz to instruct paramedicos about cardiopulmonary resuscitation.

Teach- It is the most general and broadest of these terms and can refer to almost any practice that causes others to develop skill or knowledge viz (i) to teach children to write, (ii) to teach marks man-ship to soldiers, (iii) to teach tricks to dog.

Train- It lays stress on the development of desired behaviors through practice, discipline, or the use of rewards or punishments- viz. (i) to train a child to be polite viz (ii) to train a military recruit in military skills, (iii) to train a dog.

Tutor- Giving of usually private instruction or coaching in a particular subject or skill. Tutor a child in a foreign language, algebra, history.

प्राचीन भारत में संगीत, अस्त्र-शस्त्र संधान की दक्षता, चित्रकला, मूर्तिकला आदि की शिक्षा गुरू के सानिध्य में बैठकर प्राप्त की जाती थी और आज भी यह प्रथा प्रचलित है। प्राचीन भारत की गुरूकुल पद्धति की शिक्षा व्यवस्था में गुरू परिवार और समाज के लोग शिक्षा के खर्चे को वहन करते थे। शिक्षार्थी के परिवार के ऊपर उसका बोझ नहीं पड़ता था। परन्तु आज परिस्थिति बदल गयी है और कुछ प्रकार के शिक्षालययों को छोड़कर अधिकांश में पढ़ाई का अधिकांश खर्च शिक्षार्थी को वहन करना पड़ता है।

3. शिक्षण संस्थानों की भारतीय परंपरा

भारत में पाठशालाओं, मल्लशालाओं, संगीतालयों आदि की परंपरा अत्यंत प्राचीन है। गुरूकुल की परंपरा, जो आज भी किसी न किसी रूप में जारी है,- और भी प्राचीन है। कालांतर में शिक्षा और शोध को विस्तार देने के लिए नालन्दा और तक्षशिला जैसे विश्वविद्यालयों को स्थापित किया गया।

आधुनिक शिक्षण संस्थानों में प्राथमिक और माध्यमिक विद्यालय, महाविद्यालय, संस्थान और विश्वविद्यालय आते हैं। आधुनिक भारतीय विश्वविद्यालयों का स्वरूप बहुत कुछ वैसा ही है जैसा कि नालंदा और तक्षशिला का था। गुरूकुलों और नालंदा और तक्षशिला जैसे विश्वविद्यालयों में राज्य और समाज का नियंत्रण नाम मात्र का था अथवा नहीं था। परन्तु आधुनिक शिक्षण संस्थानों पर राज्य का बहुत अधिक नियंत्रण है इसके साथ ही कई सारे सामाजिक और राजनैतिक कारक भी इनके कार्य-व्यापार को प्रभावित करते हैं।

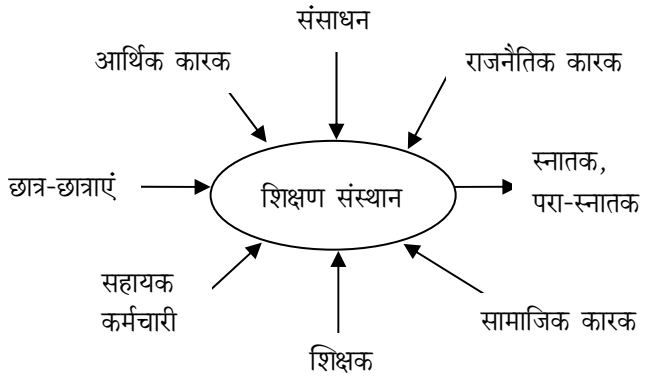

पाठशालाओं और गुरूकुलों के मुकाबले इनका आकार बहुत बड़ा होता है, बहुत सारे विषय पढ़ाये जाते हैं। बड़े बड़े भवन होते हैं, प्रशासनिक कार्यालय, पुस्तकालय, कक्षाएं, प्रयोगशालाएं, छात्रावास होते हैं। बहुत सारे अध्यापक, गैर-शिक्षण कर्मचारी और शैक्षणिक प्रशासक् वर्ग तथा छात्र-छात्राएं होती हैं। इनमें सभी की अपनी अपनी मानसिकता और अपने अपने अहम् होते हैं। इनका एक अपना विशेष राजनैतिक और सामाजिक ढांचा भी जाता है। कुल मिलाकर ये एक जटिल व वृहद् इकाई के रूप में होते हैं।

4. शिक्षण संस्थानों का दर्शन, जीवन-लक्ष्य और इष्ट

प्रत्येक संस्थान का अपना एक दीर्घकालिक दर्शन, एक सुनिश्चित जीवन-लक्ष्य और एक सुस्पष्ट इष्ट होता है। इन सबका सम्यक ज्ञान संस्थान के सभी वर्गों- प्रशासकों, अध्यापकों, छात्र-छात्राओं, कर्मचारियों के लिए आवश्यक होना चाहिए ताकि वे सभी तदनुरूप कार्य और व्यवहार कर संस्थान को अपने इष्ट की और अग्रसर होने की दिशा में योगदान कर सकें। समय के परिवर्तन और आवश्यकता के अनुसार इष्ट में समुचित परिवर्तन भी करना पड़ता है।

सन् 1905 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की अवस्थापना के बारे में चिंतन मनन करते समय पूज्य मालवीय जी के अन्तःस्थल में छात्र-छात्राओं के अन्दर अच्छे विचारों को आत्मसात करने की क्षमता के विकास के साथ-साथ उनका चरित्र-निर्माण सर्वोपरि था। उनका यह मानना था कि-

''व्यक्ति और समुदाय के कल्याण के लिए चरित्र का निर्माण बौद्धिक विकास से अधिक महत्व पूर्ण है। इसीलिए नए प्रस्तावित विश्वविद्यालय की प्रस्तावना में युवाओं के चरित्र निर्माण पर विशेष बल दिया गया है। इसका लक्ष्य केवल सफल इंजिनियर, डाक्टर, व्यवसायी, वैज्ञानिक बनाना ही नहीं है वरन ऐसे व्यक्तियों का निर्माण करना भी है जिनका चरित्र ऊंचा हो, जो सत्यनिष्ठ हों और जिनमें आत्मसम्मान की भावना हो। विश्वविद्यालय अच्छे नागरिकों की पौधशाला होगी न की मात्र किसी विशेष प्रकार की शिक्षा और ज्ञान प्रदान करने वाला स्थान।''

पूज्य महामना जी का मानना था कि-

''शिक्षा केवल किताबी ज्ञान तक सीमित नहीं हो सकती है, अब समय आ गया है जब भारत को कुछ अलग एवं विशेष की आवश्यकता है। जब छात्र-छात्रा उम्र के उस पड़ाव पर होते हैं जहाँ वे वाह्य प्रभावों की ओर शीघ्र आकर्षित हो जातें है और उनकी ग्राह्य क्षमता भी अत्यधिक होती है, तभी उनकी बौद्धिक क्षमता का विकास और चरित्र निर्माण दोनों साथ साथ होने चाहियें। विश्वविद्यालय से निकलने वाले स्नातकों के रूप में हमें ऐसे अद्भुत निर्माताओं की आवश्यकता है जो भावी भारत के नैतिक और भौतिक कल्याण की इमारत की संरचना में योगदान कर सकें। चरित्र, अध्यवसाय और सत्य-निष्ठा खेल के वे पत्ते है जिनके द्वारा जीवन के खेल पर विजय पाई जा सकती है।''

-महामना मदन मोहन मालवीय जी

पं जवाहर नाला नेहरू के अनुसार-

''विश्वविद्यालय मानवता, सहिष्णुता, विवेक-बुद्धि, प्रगति, निर्भीक विचार-प्रसार तथा सत्यान्वेषण का प्रतीक है। यह उच्चतर आदर्शों की प्राप्ति व मानव जाती की प्रगति के लिए कृत संकल्प होता है। यदि विश्वविद्यालय अपने कर्तव्यों और दायित्वों का सम्यक रूप से परिपालन करते हैं तो यह राष्ट्र और जनता दोनों के लिए कल्याणकारी हैं।''

5. विश्वविद्यालय एवं महाविद्यालयों के शिक्षकों के लिए आचार संहिता

भारतीय संविधान, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग और विश्वविद्यालय/महाविद्यालय का प्रशासन संस्था में कार्य करने वालें अध्यापकों को कुछ मूलभूत अधिकार देने के साथ-साथ उनसे कुछ विशेष व्यवहार और दायित्व निर्वाह की भी अपेक्षा रखतें है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा इस हेतु कुछ नीतियों और मानदंडो का भी निर्धारण किया गया है जिनका मूल उद्देश्य महाविद्यालयों/विश्वविद्यालयों में उचित शैक्षणिक वातावरण को सुनिश्चित करना है।

5.1 अध्यापकों के अधिकार एवं उनके कर्त्तव्यः

अधिकारः

सभी अध्यापकों को भारतीय गणतंत्र के संविधान में निहित सभी नागरिक एवं राजनैतिक अधिकार प्राप्त हैं। उन्हें समुचित वेतन, सामाजिक पद-प्रतिष्ठा, सेवा की न्यायपूर्ण शर्तो, व्यावसायिक स्वतंत्रता एवं समुचित सामाजिक सुरक्षा प्राप्त करने का अधिकार है। इसके साथ ही उनके लिए कुछ करने योग्य और कुछ वर्जनीय प्रावधान भी किये गए हैं।

कर्त्तव्यः

अधिकार के साथ-साथ उन्हें कर्त्तव्यों और जिम्मेदारियों के निर्वहन के लिए भी दिशा-निर्देश दिए गए हैं-

* अध्यापकों के लिए निर्धारित दायित्वों के अनुसार उन्हें समाज द्वारा स्वीकार्य जिम्मेदाराना रहन-सहन का तरीका और आचरण का पालन करना चाहिए।

* उन्हें अपनी व्यक्तिगत समस्याओं का समाधान और प्रबंधन अपने व्यवसाय की गरिमा के अनुरूप करना चाहिए।

* उन्हें सतत अध्ययन और शोध द्वारा अपनी शैक्षणिक योग्यता की वृद्धि के लिए जागरूक व उत्सुक होना चाहिए।

* उन्हें बैठकों, संगोष्ठियों, कार्यशालाओं आदि में भाग लेकर अपनी राय निःसंकोच और स्पष्ट रूप से व्यक्त कर ज्ञान की वृद्धि में अपना योगदान करना चाहिए।

* उन्हें व्यावसायिक संस्थाओं का सक्रिय सदस्य बनकर उनके माध्ययम से शिक्षा और अपने व्यवसाय में समुचित सुधार के लिए तत्पर रहना चाहिए।

* उन्हें निष्ठा-पूर्वक और पूर्ण इमानदारी से कक्षा में अध्यापन, टुटोरिअल, प्रयोगशाला और सेमिनार के आयोजन आदि का कर्त्तव्य निर्वहन करना चाहिए।

* उन्हें महाविद्यालय और विश्वविद्यालय के सभी शैक्षिक दायित्वों जैसे – प्रवेश के लिए प्राप्त आवेदनों की जाँच-पड़ताल, विद्यार्थियों को सलाह और मार्गदर्शन, परीक्षा कार्य (पर्यवेक्षण, कक्ष-निरीक्षण, उत्तर-पुस्तिकाओं का मूल्यांकन आदि) आदि के निर्वहन में सहयोग और भागीदारी करने के लिए सदैव तत्पर होना चाहिए।

* उन्हें सह-पाठ्यक्रमों, खेल-कूद, सांस्कृतिक एवं समाज-सेवा सम्बन्धी गतिविधियों में निःसंकोच भाग लेने के लिए तत्पर होना चाहिए।

5.2 अध्यापक और सहकर्मी

एक अच्छे अध्यापक को अपने सहकर्मियों के साथ मधुर सम्बन्ध बनाये रखने की भी आवश्यकता है, इससे कई शैक्षणिक दायित्वों को सामूहिक रूप से कर सकने में सहायता मिलती है-

* उन्हें अपने सहकर्मियों के साथ वही व्यवहार करना चाहिए जैसे व्यवहार की अपेक्षा उन्हें अपने प्रति औरों से है।

* उन्हें अपने सहकर्मियों से आदरपूर्वक बातचीत करनी चाहिए और उनके व्यावसायिक विकास और सुधार में यथा संभव योगदान करना चाहिए।

* उन्हें अपने किसी भी सहयोगी के खिलाफ बिना उचित साक्ष्य के उच्चअधिकारियों से शिकायत करने से विरत रहनाा चाहिए।

* उन्हें अपने व्यावसायिक कार्यों और प्रयासों में धर्म, जाति, क्षेत्र, रंग, लिंग, प्रजाति आदि के आधार पर कार्य करने से विरत रहना चाहिए।

5.3 अध्यापक और गैर-शिक्षक कर्मचारी

गैर-शिक्षक कर्मचारी आधुनिक शिक्षण-व्यवस्था के आवश्यक अंग है। अतएव इनके प्रति अध्यापकों का व्यवहार कैसा होना चाहिए इसके बारे में भी निर्देश हैं-

* उन्हें गैर-शिक्षक कर्मचारियों को शिक्षा प्रदान करने के सामूहिक प्रयास में अपना सहकर्मी और बराबर का भागीदार समझना चाहिए।

* अध्यापक को अध्यापकों और गैर-शिक्षक कर्मचारियों की संयुक्त परिषद् के क्रिया-कलाप में सहयोग करना चाहिए।

5.4 अध्यापक और छात्र-छात्राएं

छात्रों/छात्राओं के प्रति अध्यापकों का व्यवहार पुत्रवत/पुत्रीवत होना चाहिए। उन्हें

* छात्रों-छात्राओं की अपनी राय व्यक्त करने के अधिकार और प्रतिष्ठा का आदर करना चाहिए।

* छात्रों-छात्राओं के साथ धर्म, जाति, और राजनैतिक-सामाजिक- एवं भौतिक-चरित्र से दूर रह कर न्यायोचित और निष्पक्षता पूर्वक व्यवहार करना चाहिए।

* छात्रों-छात्राओं की क्षमता और रूझान को पहचान कर उनकी व्यक्तिगत आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए तत्पर होना चाहिए।

* छात्रों-छात्राओं को अपनी उपलब्धियों को सुधारने एवं अपने व्यक्तित्व को विकसित करने के साथ-साथ समाज के कल्याण के लिए योगदान करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।

* छात्रों-छात्राओं के अन्दर वैज्ञानिक दृष्टिकोण, श्रम के प्रति श्रद्धा और शांति, प्रजातंत्र, एवं राष्ट्र के लिए आदर की भावना का विकास करना चाहिए।

* सभी छात्रों-छात्राओं के प्रति उनका व्यवहार स्नेहमय होना चाहिए और उनके प्रति किसी भी प्रकार का दुराग्रह नहीं होना चाहिए।

* छात्रों-छात्राओं की प्रतिभा के आकलन के समय केवल उनकी उपलब्धियों को ध्यान में रखना चाहिए।

* छात्रों-छात्राओं के मार्गदर्शन एवं सहायता के लिए उन्हें कक्षा के बाहर भी बिना किसी प्रतिफल अथवा पारिश्रमिक की आशा के उपलब्ध होना चाहिए।

* छात्रों-छात्राओं को राष्ट्र की विरासत और लक्ष्य को समझने में मदद करने के लिए तत्पर रहना चाहिए।

* छात्रों-छात्राओं को प्रशासन, सहकर्मियों और अन्य विद्यार्थियों के विरूद्ध भड़काने से बचना चाहिए।

उनके इस प्रकार के आचरण से विद्यार्थियों के मन में उनके प्रति सम्मान का भाव प्रकट होगा, वे मनोयोग पूर्वक उनकी दी शिक्षा को आत्मसात कर सकेंगे तथा उनके कहे अनुसार आचरण करेंगे। महामना भी विद्यार्थियों को विद्या ग्रहण करने के लिए सत्य के मार्ग पर चलने, ब्रह्मचर्य का पालन करने, व्यायाम करने को निर्देशित करते हैं और साथ ही यह भी कहते हैं कि देशभक्ति और आत्मत्याग के द्वारा सदा सम्मान का भागी बनो।

सत्येन ब्रह्मचर्येण व्ययामेनाथ विद्ययया,
देशभक्ति आत्मत्यागेन सम्मानार्ह सदा भव।

उपरोक्त दिशा निर्देशों के पालन करने के साथ साथ अध्यापक को निम्नलिखित कार्यो को भी करना चाहिए-

* उन्हें प्रचलित नियमों के अधीन अपने व्यावसायिक दायित्व का निर्वहन करते समय अपने व्यवसाय के अनुकूल रीति व क्रियाविधि का समुचित पालन करना चाहिये। किसी प्रकार के व्यतिक्रम की संभावना की अवस्था में खुद अपनी संस्था अथवा अपनी व्यावसायिक संस्था के माध्यम से अध्यापन पेशे की गरिमा को ठेस पहुचाने वाले नियमों को परिवर्तित कराने का प्रयास करना चाहिए।

* उन्हें अपने संस्थान की परीक्षा, मूल्यांकन, पर्यवेक्षण, निरीक्षण आदि जिम्मेदारियों को प्रभावित करने वाली बाहरी जिम्मेदारियों और नियोजनों को स्वीकार करने से परहेज करना चाहिए।

* उन्हें अपनी संस्था के लिए नीति-निर्धारण की प्रक्रिया में सहयोग करने के लिए विभिन्न पदों को स्वीकार करनाा चाहिए और उन कर्तव्यों का निर्वहन करना चाहिए जो इन पदों के लिए वांछनीय और आवश्यक हैं।

* अध्यापक को अपने संगठन के माध्यम से अन्य संस्थाओं के लिए नीति-निर्माण में सहयोग करना चाहिए और औपचारिक पदों को स्वीकार करना चाहिए।

* उन्हें संस्था के हितों और अपने व्यवसाय की गरिमा को ध्यान में रखते हुए संस्था में सुधार के प्रयासों में अधिकारियों से सहयोग करना चाहिए।

* उन्हें संस्था के साथ हुए अनुबंध की सभी शर्तों का अनुपालन करना चाहिए।

* उन्हें किसी भी परिवर्तन की अवस्था में पूर्व-सूचना देने और पाने की आशा रखनी चाहिए।

* उन्हें अकादमिक कार्यक्रम को पूरा करने की अपनी विशेष जिम्मेदारी को ध्यान में रखते हुए यथा संभव अवकाश से बचना चाहिए। अगर किसी विशेष कारण बस अवकाश लेना पड़े तो उसकी पूर्व सूचना देनी चाहिए और छूटे पाठ्यक्रम को पूरा भी करना चाहिए।

5.5 विद्यार्थियों द्वारा आध्यापकों का मूल्यांकन

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने विद्यार्थियों द्वारा अध्यापकों के आंकलन की व्यवस्था भी दी है। उसके अनुसार छात्रों-छात्राओं को यह अधिकार है कि वे शिक्षक की कक्षा मे आने की नियमितता, पाठ्यक्रम में सम्मिलित विषयों को स्पष्ट करने और पाठ्यक्रम को पूर्ण करने की उसकी क्षमता, एवं अभिनव तरीके द्वारा शिक्षा देकर उन्हें प्रेरित करने की योग्यता का मूल्यांकन करने का अधिकार है।

5.6 अध्यापक और समाज

शिक्षकों को यह प्रयास करना चाहिए कि वे शिक्षकों की संस्थाओं और संगठनों की सहायता से यह सुनिश्चित करें कि उनकी संस्था छात्र-छात्राओं के माता-पिता/अभिभावकों से संपर्क करें, उनकी प्रगति के बारे में उन्हें जानकारी दें। संभव हो तो विशेष बैठकों के माध्यम से उनसे पारस्परिक बातचीत के लिए मुलाकात करें ताकि संस्था की बेहतरी के लिए उनसे सुझाव प्राप्त किये जा सकें।

अध्यापकों को इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि शिक्षा एक जन-सेवा का कार्य है और उन्हें जनता को उपलब्ध शैक्षिक कार्यक्रमों की जानकारी, उसकी विशेषता आदि के बारे में बताना चाहिए। उन्हें समाज में शिक्षा के स्तर को सुधारने के साथ-साथ उनके नैतिक और बौद्धिक जीवन को भी समर्थ बनाना चाहिए। उन्हें सामाजिक समस्याओं की जानकारी होनी चाहिए और ऐसी गतिविधियों में हिस्सा लेना चाहिए जिनके द्वारा समाज की प्रगति के लिए उचित वातावरण बनने के साथ-साथ सम्पूर्ण राष्ट्र की भी प्रगति हो सके। अध्यापकों को एक अच्छे नागरिक के कर्तव्यों का पालन करना चाहिए, सामुदायिक क्रियाकलापों में हिस्सा लेना चाहिए और जन कल्याण के लिए बने विभागों का दायित्व संभालना चाहिए। उन्हें विभिन्न समुदायों, धर्मावलम्बियों, व भाषा-भाषियों के बीच घृणा और शत्रुता को प्रचारित व प्रसारित करने वाली गतिविधियों को न तो प्रोत्साहित करना चाहिए न उनमें हिस्सा लेना चाहिए। उन्हें राष्ट्रीय एकता के लिए हर संभव प्रयास करना चाहिए।

6. अध्यापन धर्मः

अपने अध्यापन कार्य को नियमित रूप से करना चाहिए, अपने लिए निर्धारित पाठ्यक्रम को पूरा करने के साथ-साथ छात्रों-छात्राओं में पढ़ाये जाने वाले विषय की समझ को भी बढ़ाने के लिए तत्पर होना चाहिए। उनमें अभिनव तरीकों के प्रयोग द्वारा शिक्षा देने के साथ-साथ छात्र-छात्राओं को प्रेरित करने की योग्यता भी होनी चाहिए।

पूज्य महामना के अनुसार-

''छात्र-छात्राओं, जो देश के भविष्य हैं, के व्यक्तित्व का ढालना केवल अध्यापक के हाथ में है। अगर वह राष्ट्रभक्त है और राष्ट्रहित के लिए समर्पित है तथा उसे अपनी जिम्मेदारी का भान है तो वह ऐसे देशभक्त पुरूषों औरे नारियों की जमात तैयार कर सकता है जो देश को अपने समुदाय से ऊपर रखेगें और राष्ट्र-हित को समुदाय-हित की अपेक्षा वरीयता देगें।''

अध्यापकों को विद्यार्थियों में विनम्रता और सेवा-भाव से सहज उत्सुकता को जागृत करना चाहिए और विद्या दान के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए-

ज्ञानं सम्प्राप्य परेभ्यो न इच्छति

ज्ञानरूपि हरिः तस्मै पसन्नइव नेक्षते।

ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात जो उसे दूसरों को देने की इच्छा नहीं रखता है उससे ईश्वर जो मूर्तिमान ज्ञान है प्रसन्न नहीं होता है।

आदानं च विसर्गाय जलं वारिमुचामिव

समुद्रजलमुत्स्त्रष्टुमादत्ते हिरसं रविः।

सत्पुरूष, बादलों के समान, धन-संपत्ति और ज्ञान दूसरों को वितरित करने के लिए प्राप्त करता है, ठीक वैसे ही जैसे सूरज समुद्र से जल उठाकर वर्षा के रूप में उसे वापस करता है।

विश्वविद्यालय के अध्यापक का कर्त्तव्य केवल ज्ञान-दान ही नहीं बल्कि ज्ञान का सृजन भी है। नए ज्ञान के सृजन के लिए उसे अध्यवसाय और शोध-कार्य से जुड़ा रहना आवश्यक है। अच्छी शिक्षा देने के लिए नियमित अध्ययन करते रहना चाहिए, उन्हें जीवन पर्यत विद्यार्थी बने रहने की आवश्यकता है। जिस व्यक्ति ने सीखना छोड़ दिया है वह अच्छा अध्यापक नहीं बन सकता है। अध्यापकों को सतत सीखते रहना इस लिए भी आवश्यक है कि उन्हें विद्यार्थियों को अधुनातन ज्ञान देने की आवश्यकता होती है।

अध्यापनं ब्रह्म यज्ञः पितृ यज्ञस्तु तर्पणं

होमोदेवो बलिर्भूतो नर-यज्ञो अतिथिपूजनं

जैसे कि देवताओं को हवन करते समय, पितरों को पिंडदान और तर्पण करते समय, भूतों को प्रसन्न करने के लिए बलि देते

समय तथा अतिथि को भोजन देते समय बासी पदार्थो का उपयोग नहीं करते हैं वैसे ही हमें शिक्षणरूपी ब्रह्म यज्ञ में बासी ज्ञान की आहुति नहीं देनी चाहिए।

महान दार्शनिक सुकरात का मानना है कि मनुष्य को अनवरत सीखते रहना चाहिए। उसने कहा है-

''जिसने सीखना छोड़ दिया है उसे इन कठिन और खतरनाक दिनों में खुला विचरने के लिए नहीं छोड़ना चाहिए।''

सीख हम तभी सकतें हैं जब हम यह समझ ले कि हम अज्ञानी हैं। सुकरात का कहना है-

''ज्ञान प्राप्त करने का प्रथम सोपान इस बात का भान होना है कि हम अज्ञानी हैं।''

कन्फुशियस के अनुसार सीखने के साथ-साथ चिंतन-मनन भी आवश्यक है। उसका कहना है कि-

''बिना सोचे सीखना श्रम का अपव्यय है और बिना सोचे कुछ सीखना खतरनाक है।''

शिक्षक को इस बात का भी भान होना चाहिए कि उसे नयी जानकारी कहाँ से मिलेगी। अमेरिकी शिक्षा-शास्त्री सैमुएल जानसन का मानना है कि-

''कुछ जानने का सबसे उत्तम तरीका उसे कहाँ पाया जाय यह जानने में है।

बहुधा देखने में आता है कि बहुत से अध्यापक अपने सेवा-काल की अवधि के बीच में ही पढ़ने से विरत हो जाते हैं। उनका सोचना होता है कि अब अधिक पढ़ने की क्या आवश्यकता है। परन्तु उन्हें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि विश्वविद्यालय से उपाधि प्राप्त कर शैक्षणिक सेवा या किसी अन्य प्रकार की सेवा में नियोजित हो जाना सीखने का अंत नहीं होना चाहिए। ब्रिटेन के प्रधान मंत्री श्री विंस्टन चर्चिल ने जर्मन सेना पर पहली विजय पाने के अवसर पर अपने सैनिकों के उत्साह बर्धन के लिए कहा था-

''यह अंत नहीं है, यह अंत का प्रारंभ भी नहीं है, यह तो प्रारंभ का अंत मात्र है।''

अतः अध्यापकों को नयी जानकारी प्राप्त करने, ज्ञानार्जन करने से संकोच नहीं करना चाहिए। ज्ञान के बढ़ते भण्डार को देखकर उन्हें भयभीत होने से बचना चाहिये। महान वैज्ञानिक मेरी क्युरी का कहना है- ''जीवन में किसी भी चीज से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं हैं, वरन उसे केवल समझने की आवश्यकता है।''

7. गुरू और भारतीय अवधारणा

गुरू के बारे में भारतीय अवधारणा पाश्चात्य सोच से बहुत अधिक विस्तृत और व्यापक है।

अखंड मंडलाकारं व्याप्तं येन चराचरम

तद पद दर्शितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः

जो संपूर्ण चराचर जगत में अखंडित वृत्त के रूप में विस्तृत व व्याप्त है उसके पादपंकजो का दर्शन गुरू (अपने ज्ञान व अज्ञान को दूर करने की शक्ति के कारण) कराता है, ऐसे गुरू को प्रणाम है।

गुरोर्मध्ये स्थिता माता, मातृमध्ये स्थितो गुरूः,

गुरूर्माता नमस्तेऽस्तु मातृ गुरूं नमाम्यहम

गुरू प्रकाश से आलोकित दीपक की तरह अपने ज्ञान से शिष्यों को अज्ञान के अन्धकार से बाहर लाता है, उन्हें सांसारिक बातों की जानकारी देता है अतः माता की तरह है। वह माता की तरह ही स्नेह और ममता प्रदान करने वाला होता है। माता शिशु को बोलना, चलना, खाना आदि सीखाती है, सांसारिक बातों का ज्ञान कराती है अतएव वह गुरू के समान है। ऐसे माता रूपी गुरू और गुरू रूपी माता को मैं प्रणाम करता हूँ।

भारतीय अवधारणा के अनुसार गुरू त्रिदेव के समान है – ब्रह्मा की तरह वह शिष्य के अन्दर ज्ञान का सृजन करता है, विष्णु की तरह उसके अन्दर उस ज्ञान का संबर्धन और संपोषण करता है तथा शिव के तरह आवश्यकता पड़ने पर शिष्य के अन्दर उपजे प्रमाद का संहार भी करता है।

गुरूः ब्रह्माः गुरूःविष्णु गुरूर्दवो महेश्वर,

गुरूः साक्षात् परम्ब्रह्मः तस्मै श्री गुरवे नमः।

''गुरू ब्रह्मा के समान है, गुरू विष्णु स्वरूप है, वह अपने आप में शिव है। गुरू साक्षात् परमब्रह्म है। मैं उस गुरू की सादर चरण बन्दना करता हूँ।''

गुरू का यह दायित्व है कि वह जो उचित है वही सलाह दे, केवल सत्य की बात करे तभी शिष्य का कल्याण होगा।

सचिव, वैद गुरू तीन जो प्रिय बोलहिं भय आस

राज, धर्म, तन तीन कर होहिं बेगहिं नास।

यह तभी संभव है जब गुरू चरित्रवान होगा, ज्ञानी होगा, निष्ठावान होगा और नूतन ज्ञान से ओतप्रोत होगा। अपने चरित्र पर उसे विशेष ध्यान देना होगा। अकसर लोग मान लेते हैं कि मान-प्रतिष्ठा ही मुख्य है और अपने आचरण और चरित्र पर कम ध्यान देते हैं जबकि वास्वत में इसके विपरीत होना चाहिए-

''अपनी प्रतीष्ठा के बारे में चिंता करने की जगह हमें अपने चरित्र पर ध्यान देना चाहिए क्योंकि चरित्र ही हमारी वास्तविकता है जबकि प्रतीष्ठा हमारे बारे में अन्य लोगों का द्दष्टिकोण है।''

''अपने चरित्र एवं प्रकृति के बारे में चिंता करें न कि प्रतिष्ठा के बारे में। चरित्र वृक्ष की तरह है और प्रतीष्ठा उसकी छाया मात्रा है।''

-जान वुडेन

दुर्भाग्य यह है कि आज अधिकांश शिक्षण संस्थानों में समर्पित और सभी तरह के वांछित मानदंडो पर खरा उतरने वाले अध्यापकों की कमी है। इस कमी के चलते इन संस्थानों से निकल कर आने वाले शिक्षित युवा-युवतियों में मानव समाज के हित में काम करने की इच्छा रखने वालों, व राष्ट्र को आगे ले जाने के लिए तत्पर रहने वालों की संख्या घटती जा रही है। हमारे लिए यह चिंता का विषय होना चाहिए। प्रयास यह होना चाहिए कि हमारे विश्वविद्यालयों से पढ़ कर निकलने वाले युवाओं और युवतियों में मानविकी और विज्ञान के साथ-साथ धर्म की भी अच्छी समझ हो। विज्ञान और मानविकी विषयों में अधिक मूलभूत अंतर नही है, केवल द्यष्टिकोण का भेद है वरना दोनों कई मायने में समान है। इस को संपुष्ट करने में आइंस्टीन का मंतव्य समीचीन होगा-

''जब विश्व व्यक्तिगत आशाओं का रंगमंच नहीं रहता है, जब हम स्वतन्त्र प्राणी की तरह इसके चमत्कार से अभीभूत होते हैं, प्रश्न उठाते है, चिंतन-मनन करते हैं तब हम मानविकी और विज्ञान के दायरे में प्रवेश करते हैं। अगर हम उस मार्ग पर गमन करते है जिसमें विश्वास करतें हैं और उसका अनुभव तार्किक भाषा के द्वारा करतें हैं तो हम विज्ञान की बात करते हैं। अगर हम इसे उस रूप में देखतें हैं जिनके अंतर्संबंध हमारे चेतन मन में स्पष्ट तो नहीं हो पाते हैं परन्तु सहज बुद्धि से कुछ अर्थ बोध होता है तो हम मानविकी के बारे में चिंतन करते हैं। परन्तु दोनों ही में व्यक्तिगत दुराग्रहों और विवेकधीनता से परे हट कर किसी भी चीज के प्रति निष्ठा का भाव समान है।''

''धर्म के बिना विज्ञान लंगडा है और धर्म विज्ञान के बिना अँधा।''

उपरोक्त के सन्दर्भ मे आज यह आवश्यक हो गया है कि वर्त्तमान शिक्षा व्यवस्था में उचित परिवर्तन किया जाय ताकि हमारे शिक्षण संस्थान भारत के निर्माण के लिए समर्पित और मानवता के कल्याण के लिए तत्पर शिक्षित व्यक्ति तैयार हो सके।

●

घनानन्द के काव्य में प्रेम और भक्ति-तत्व

*डॉ0 राकेश कुमार द्विवेदी**

हिन्दी साहित्य का उत्तरमध्यकाल 'रीतिकाल' अथवा 'श्रृंगारकाल' के नाम से जाना जाता है। कविता करने वाले कवियों की जितनी लम्बी सूची इस काल में है, कदाचित उतनी किसी अन्य काल में नहीं। ''सच पूछा जाय तो शुद्ध साहित्य की दृष्टि से निर्माण करने वाले कर्त्ता इस युग में जितने अधिक हुए हिन्दी साहित्य के सहस्त्र वर्षों के दीर्घकालीन जीवन में उतने अधिक कर्त्ता शुद्ध साहित्य की दृष्टि से निर्माण करने वाले कभी नहीं हुए। आधुनिक काल में भी नहीं।''[1] भक्तिकाल की कोख से जहाँ सूर, तुलसी, कबीर, जायसी, मीरा और रहीम जैसे कवि प्रतिभाओं ने जन्म लिया वहीं रीतिकाल ने केशव, बिहारी, घनानन्द, चिंतामणि, मतिराम, भूषण, देव और पद्माकर जैसे एक से बढ़कर एक महाकवि पैदा किये। अतः काव्य-प्रतिभा और कविता की दृष्टि से रीतिकाल कहीं भी भक्तिकाल से कमतर नहीं लगता है और यदि विशुद्ध कविता की बात की जाय तो वह भक्तिकाल से भी आगे निकल जाता है। दरबारी राजाश्रय में मान और प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए काव्य करने की होड़ ने इस युग के कवियों को कविता का ऐसा जौहरी बना दिया जिसका दूसरा दृष्टांत मिलना कठिन है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि भक्तिकाल यदि हिन्दी कविता का 'स्वर्ण-युग' है तो रीतिकाल उसका 'रजत-युग' और आधुनिक काल 'काँस्य-युग', जहाँ काव्य में चमक तो है पर चेतना में बने रहने का दमख़म उतना नहीं है जितना की दंभ के कारण दिखाया जाता रहा है। यह बात निर्विवाद कही जा सकती है कि कविता की दृष्टि से रीतियुगीन काव्य का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं, इस युग की कविता को पढ़कर इसकी अनुभूति की जा सकती है।

संस्कृत काव्यशास्त्र के अन्यतम आचार्य राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में कवियों की कुल तीन कोटियाँ निर्धारित की हैं-

(क) शास्त्र-कवि

(ख) काव्य-कवि

(ग) शास्त्र-काव्य-उभय-कवि

राजशेखर ने दरबार में रहने वाले कवि और उन्हें संरक्षण देने वाले राजा दोनों को एक दूसरे का उपकारक बताया है, क्योंकि दोनों एक दूसरे की कीर्ति को आगे ले जाने का काम करते हैं। इस प्रकार कवि राजा की कीर्ति को और राजा कवि के यश को अमर करते हैं। रीतिकाल में भी कविता का परिवेश कुछ ऐसा ही रहा। यहाँ भी परम्परा से मान्य कवियों की तीन कोटियाँ देखने को मिलती हैं, यथा -

(अ) रीति-बद्ध कवि

(ब) रीति-सिद्ध कवि

(स) रीति-मुक्त कवि

राजशेखर के शब्दों में रीतिबद्ध कवि 'शास्त्र कवि' हैं तो रीति-मुक्त 'काव्य-कवि' तथा रीति-सिद्ध 'शास्त्र-काव्य-उभय' कवि। रीतिबद्ध कवियों के लक्षण के विषय में रीतिकाल के सुधी विद्वान आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा कि - ''हिन्दी में काव्य-रचना की अभिरूचि रखने वालों के लिए कवि-शिक्षा की पुस्तकें अपेक्षित थीं। कवि-शिक्षा या रीति की पुस्तकें सामने लाने वालों का लक्ष्य ही शास्त्र विवेचन था .... इन्हें ही शास्त्र कवि या रीतिबद्ध कवि समझना चाहिए।''[2] चिंतामणि, केशव, मतिराम देव, भूषण, भिखारीदास, रसलीन, श्रीपति, सोमनाथ आदि ऐसे ही 'आचार्य-कवि' है। अर्थात् ये ऐसे कवि हैं जिन्होंने लक्षण ग्रंथों की रचना की और मौलिक काव्य की थी।

'रीति-सिद्ध' ऐसे कवियों का वर्ग था, जिन्होंने काव्य के लक्षणों का विवेचन तो किया, पर अलग से कोई स्वतंत्र लक्षण-ग्रंथ नहीं लिखा। मिश्र जी ने इनका लक्षण-विवेचन करते हुए लिखा कि, ''जिन्होंने रीति (काव्य-रीति) की सारी परम्परा सिद्ध कर ली थी, अर्थात् रचनाएँ इन्होंने रीति की बँधी परिपाटी के अनुकूल ही की, पर लक्षण ग्रन्थ प्रस्तुत न करके स्वतंत्र रूप से अपनी रचनाएँ रखीं। ये वस्तुतः मध्यममार्गी थे। रीति से बँधे भी थे और उससे स्वतंत्र होकर भी चलना चाहते थे।''[3] बिहारी, रसनिधि तथा पजनेश आदि ऐसे ही कवि थे। ऐसे कवियों को राजशेखर की दृष्टि से शास्त्र-काव्य- उभय-कवि कहा जा सकता है।

तीसरा और अंतिम वर्ग उन कवियों का था जिनकी वृत्ति किसी भी प्रकार की बनी-बनायी रीति या कवि-परम्परा में नहीं रमीं बल्कि उससे स्वतंत्र और स्वच्छंद होकर अलग चल पड़ी, ये कवि ही रीति मुक्त कहलाये। मिश्र जी ने इनके विषय में लिखा कि, ''इतने से ही उन्हें संतोष नहीं हो सकता था, जो हृदय के फैलाव के लिए और चौड़ी भूमि चाहते थे। अतः उसी काल में स्वच्छंद मनोवृत्ति वाले कुछ ऐसे कवियों का प्रादुर्भाव हुआ तो रीति के बंधन को तोड़ डालना चाहते थे।''[4] घनानंद, आलम, ठाकुर, बोधा, शेख

* असिसटेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, डी.ए.वी.पी.जी कालेज, वाराणसी

आदि ऐसे ही कवि थे। आचार्य राजशेखर की दृष्टि से इन्हें 'काव्य-कवि' कहा जा सकता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने इतिहास-ग्रंथ में लिखा कि, ''रसखान, घनानंद, आलम, ठाकुर आदि जितने प्रेमोन्मत कवि हुए हैं उनमें किसी ने लक्षणबद्ध रचना नहीं की है।''[5] रीतिकाल के दूसरे तलस्पर्शी विद्वान डॉ0 नगेन्द्र का भी कहना है कि, 'ये सभी रस सिद्ध और शुद्ध हृदयवादी कवि थे जो प्रेम को जीवन का हार मानकर चले थे। घनानंद, ठाकुर जैसे कवियों ने अपनी कविता रसिकों के लिए नहीं, रसज्ञ-नेहियों के लिए लिखी थी।' डॉ0 मनोहर लाल गौड़ ने अपने ग्रंथ 'घनानंद और स्वच्छंद काव्यधारा' में पड़ताल करते हुए माना कि, 'इस धारा के कवियों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये अपने मनोवेगों के प्रवाह में पूर्णतः बह जाने वाले कवि थे।' ऐसे में रीति के बंधन इन्हें बाँध पाने में समर्थ नहीं थे।

रीतिकाल में शास्त्र या आचार्य कवियों का वर्ग कविता बनाने की जोड़तोड में एक दूसरे को पीछे छोड़ देना चाहता था। ऐसे पंडित्य प्रदर्शन करने वाले कवियों पर कटाक्ष करते हुए ठाकुर कवि ने कहा कि -

''सीखि लीनों मीन मृग खंजन कमल नैन,
सीखि लीनों जस औ प्रताप को कहानो है।
सीखि लीनों कल्पबृक्ष कामधेनु चिंतामनि,
सिखि लीनो मेरू और कुबेरगिरि आनो है।
ठाकुर कहत याकी बड़ी है कठिन बात,
याको नहि भूलि कहूँ बाँधियत बानो है।
डेल से बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कबित्त कीबो खेल करि जानो है।''[6]

जो लोग आज भी कविता को खिलवाड़ समझते हैं तथा कवि-प्रतिभा न होने पर भी महाकवि कहलाने का दंभ भरते हैं, उन्हें ठाकुर कवि की इन पंक्तियों से अवश्य ही सीख लेना चाहिए। घनानंद ने ऐसे कवियों से भिन्न अपना रास्ता बनाया। जहाँ शास्त्र या आचार्य कवि कविता-निर्माण में कृत्रिम रूप से लगे थे, वहीं कविता स्वयं घनानंद का निर्माण कर रही थी, उनके भीतर से 'मौन-मधि' के रूप में फूट पड़ने के लिए मचल रही थी। घनानंद ने इसकी ओर संकेत भी किया है-

''यों घनआनंद छावत भावत जान सजीवन ओर तें आवत।

लोग हैं लागि कबित्त बनावत मोहि तौ मेरे कबित बनावत॥''[7]

स्त्री की उलाहना से जैसे तुलसी महाकवि बने वैसे ही प्रिय की उपेक्षा ने घनानंद को 'रस-सिद्ध कवि' बना दिया। वे मुहम्मदशाह रंगीले के दरबार के मीरमुंशी (प्रधान लिपिक) थे। कहते हैं कि एक दिन दरबार के कुचक्रियों ने राजा से इनके गायन कला की प्रशंसा की तो राजा ने इनसे गाना सुनना चाहा, जब ये नहीं गाये तो लोगों ने कहा कि ये 'सुजान' (दरबार की एक गणिका, घनानंद जिस पर आशक्त थे) के कहने पर अवश्य गायेंगे। सुजान के कहने पर इन्होंने ऐसा गाना सुनाया कि सब चकित रह गये, किन्तु सम्राट ने इसे अपनी बेअदबी समझी और क्रोधित होकर इन्हें देश-निर्वासन की सजा दी। आचार्य शुक्ल ने लिखा कि, ''बादशाह इनके गाने पर जितना खुश हुआ, उतना ही बेअदबी पर नाराज। उसने इन्हें शहर से निकाल दिया। जब ये चलने लगे तो सुजान से भी साथ चलने को कहा, पर वह न गई। इस पर इन्हें विराग उत्पन्न हो गया, पीछे ये वृन्दावन जाकर निम्बार्क सम्प्रदाय के वैष्णव हो गये और वहीं पूर्ण विरक्त भाव से रहने लगे।''[8] कालांतर में 'सुजान' (गणिका) का लौकिक प्रेम 'सुजान' (श्री कृष्ण) के प्रति अलौकिक प्रेम के रूप में तब्दील हो गया जो जीवन के अंत तक बना रहा। निम्बार्क सम्प्रदाय में इन्हे 'बहुगुनी' कहकर सम्मानित किया गया। घनानंद एक मात्र ऐसे कवि हैं जिन्होंने प्रेम के पार्थिव और अपार्थिव दोनों छोरों की स्पष्ट व्याख्या की और उनमें से किसी को भी छोटा या उपेक्षणीय नहीं माना। वे दोनों में समान रूप से रमते रहे।

रीति-बद्ध और रीति-मुक्त कवियों की काव्य-संवेदना में एक बड़ा अंतर यह है कि जहाँ प्रथम में कलापक्ष विशिष्ट है वहीं दूसरे में भावपक्ष। प्रेम-संवेदना की विरलता ही इन कवियों को उन्मुक्त बनाती है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इसकी ओर संकेत करते हुए लिखा कि, ''स्वच्छंद काव्य भाव-भावित होता है, बुद्धि-बोधित नहीं। इसीलिए आंतरिकता उसका सर्वोपरि गुण है।.... बहुत आधुनिक ढंग से कहें तो कह सकते हैं कि स्वच्छंद वृत्ति के कवियों की अनुभूति ही उनका मुख्य आधार है।''[9] कहना न होगा कि घनानंद में यह संवेदना सर्वाधिक साहित्यिक रूप में प्रकट हुई है। इस प्रकार घनानंद की संवेदना के दो रूप ही प्रधान हैं-

(1) प्रेम-संवेदना (पार्थिव अनुभूति)

(2) भक्ति-संवेदना (अपार्थिव अनुभूति)

हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'प्रेम की पीर' को लेकर कविता करने वालों में मलिक मुहम्मद जायसी और घनानंद का ही नाम सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। प्रेम की सबसे रूहानी अभिव्यक्ति इन दोनों ही कवियों के काव्य में मिलती है, चाहे वह संयोग का क्षण हो या वियोग का। इन कवियों के काव्य में संयोग, वियोग की भूमिका मात्र है। सारा का सारा काव्य विप्रलंभ से ही आपूरित है। आचार्य शुक्ल ने घनानंद को 'साक्षात् रसमूर्ति' कहा है। वे लिखते हैं, ''ये साक्षात् रसमूर्ति और ब्रजभाषा काव्य के प्रधान स्तम्भों में है।''[10]

पुनः आगे लिखा कि, ''ये वियोग शृंगार के प्रधान मूक कवि हैं। 'प्रेम की पीर' को लेकर ही इनकी वाणी का प्रादुर्भाव हुआ। प्रेममार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जबाँददानी का ऐसा दावा रखने वाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ।''[11] घनानंद की कविता पर सूफियों की प्रेम साधना और फारसी काव्य में वर्णित प्रेम-भावना का प्रभाव देखा जाता है। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने लिखा कि, ''ये प्रेम की पीर के पक्षी थे।... प्रेम की यह संवेदना फारसी साहित्य तथा सूफी साधना के प्रवाह से सम्बद्ध है। भारतीय प्रेम संवेदना और फारसी प्रणय-संवेदना का और चाहे जो पार्थक्य हो, पर यह पार्थक्य बहुत स्पष्ट है कि फारसी प्रणय-संवेदना रहस्यात्मक वृत्ति को भी लेकर चलती है। भारतीय साहित्य में प्रेम की संवेदना चाहे जितनी तीव्र है। वह रहस्यात्मक स्वरूप नहीं धारण करती। पर फारसी साहित्य और सूफी साधना के संपर्क में आने के अनंतर भारतीय साहित्य और भारतीय भक्ति-प्रवाह पर भी इसका प्रभाव पड़ा।''[12] घनानंद में पार्थिव से अपार्थिव प्रेम की परिणति असल में 'इश्क मजाजी' से 'इश्क हकीकी' तक का सफर है, जो उसे रहस्यात्मक बनाता है। कहा जा सकता है कि घनानंद में रहस्यात्मक प्रवृत्ति सूफी-भावना तथा फारसी साहित्य की प्रेरणा से आयी। उनका लौकिक प्रेम कब और किस प्रकार अलौकिक हो गया, इसका पता ही नहीं चल पाया।

अब संक्षेप में, हम घनानंद की प्रेम-संवेदना पर विचार करेंगे तथा पश्चपाद भक्ति-संवेदना पर। 'प्रेम' संसार का सबसे प्रिय शब्द है जिसमें जीवन का सारा मर्म समाया हुआ है। कबीर जैसे ज्ञानियों ने भी इसी 'ढाई आखर प्रेम' को ही जीवन का सच्चा ज्ञान करार दिया था। घनानंद में 'प्रेम' तथा 'प्रेम की पीर' का जो रूप है वह गहन आभ्यांतरिक है। वह उनके अपने जीवन का उपजात है। प्रिय 'सुजान' के प्रति उनका प्रेम ऐसा निर्लिप्त और अनासक्त है जो हर हाल में प्रिय को सुखी देखना चाहता है, कोई प्रतिदान नहीं चाहता। घनानंद के काव्य में 'प्रेम' का स्वरूप 'रति' और 'भक्ति' इन दोनों रूपों में मिलता है। 'रति' कवि की व्यक्तिगत अनुभूति है, जिसका पर्यवसान आगे चलकर 'भक्ति' के रूप में हो जाता है। स्वच्छंद कवियों में प्रेम यद्यपि आलम, बोधा, ठाकुर ने भी किया किंतु उनकी तुलना में घनानंद का प्रेम एकतरफा सिद्ध हुआ। उनका सारा काव्य इसी विषम प्रेम की पीड़ा का प्रसाद है।

प्रेम के संदर्भ में अतिशय आत्मपीड़न और मनोन्मंथन के बाद घनानंद इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'प्रेम एक महासागर है, विचार द्वारा जिसका पार नहीं पाया जा सकता।' प्रेमी-युगल राधा और कृष्ण विवशभाव से इस महासागर का अवगाहन करते हैं। जो गंभीर है वही इसे समझ पाता है, अन्य लोग तो इसके द्वार से ही लौट आते हैं-

''प्रेम को महोदधि अपार हेरिकै विचार,
बापुरे हहरि द्वार ही तैं फिरि आयो है।
ताही एकरस ह्वै बिबस अवगाहैं दोऊ,
नेही हरि-राधा जिन्हैं देखी सरसायो है।''[13]

इतना ही नहीं घनानंद ने 'प्रेम' को 'ज्ञान' से अधिक ऊँचा स्थान दिया। उनकी दृष्टि में ज्ञानयोग, भक्तियोग मिलकर भी प्रेमयोग का मुकाबला नहीं कर सकते। वे स्पष्ट कहते हैं कि, ''ज्ञानहूँ ते आगे जाकी पदवी परम ऊँची।'' गोपियों ने भी उधौ से प्रेम के संदर्भ में यही कहा था, कि ज्ञान किसी भी सूरत में प्रेम का मुकाबला नहीं कर सकता। प्रेम के संदर्भ में फारसी उपमान दीप और पतंग (शमां और परवाना) तथा भारतीय उपमान जल और मीन (जल और मछली) घनानंद दोनों को ही सच्चा प्रेमी नहीं मानते क्योंकि मीन जल से विमुक्त होने पर मर जाती है, प्रेम की पीड़ा को सहन नहीं कर पाती तथा पतंग उसी दीपक पर अपने को कुर्बान कर देता है। प्रेम-पीड़ा की अनुभूति वह भी नहीं कर पाता-

''हीन भये जलमीन अधीन कहा कछु मो अकुलानि समानै।
नीर सनेही को लाय कलंक निरास ह्वै कायर त्यागत प्रानै।
प्रीति की रीति सुक्यों समुझै जड़मीत के पानि परै को प्रमानै।
या मन की जु दसा घनआनंद जीव की जीवन जान ही जानै।''[14]

प्रेम में विरह न सह, मर मिटना (फाँसी लगा लेना) ऊँची बात नहीं। मीन और जल की तरह घनानंद ने दीपक और पतंग के प्रेम को भी 'आदर्श प्रेम' नहीं माना। उसका कारण यह है कि मनुष्य की परिस्थितियाँ इन दोनों से ही भिन्न होती है। मछली मरकर विश्रांति पा लेती है और पतिंगा जलकर शांत हो जाता है। मनुष्य को न तो विश्रांति होती है, न शांति ही। वह साहसपूर्वक विरहाग्नि में दहता रहता है-

''घनआनंद कौन अनोखी दसा मति आबरी बावरी ह्वै थरसै।
बिछुरे मिले मीन पतंग दसा कहा मो जिय की गति को परसै॥''[15]

कवि का विरही प्राण जब संयोग और वियोग के क्षणों का अंतर करता है तो अपने को आश्चर्य में पाता है। जिस संयोग में प्राण प्रिय के सौंदर्यछवि का पान कर पुष्ट होते थे वे ही वियोग में गल-गलकर बुझ रहे हैं। संयोग के सुख वियोग में तिरोहित होकर प्राणों को व्यग्र कर देते हैं। संयोग में जहाँ आलिंगन होने पर प्रिय का हार पहाड़ की भाँति लगता था वहीं अब बिरह में यह अंतराल पहाड़ों का सा अंतराल हो गया है। यथा-

''तब तो छवि पीवत जीवत है, अब सोचन लोचन जात जरे।
हित पोष के तोष सु प्रान पले, बिललात महादुख दोष भरे।
घनआनंद मीत सुजान बिना, सब ही सुख साज समाज हरे।
तब हार पहार से लागत है अब आनि कै बीच पहार परे।''[16]

प्रगाढ़ प्रेम में दैन्य तथा निरवलं बता की स्थिति प्रेमी को किसी न किसी रूप में अवश्य ही घेरे रहती है। विश्वासघाती, निष्ठुर प्रिय का निरंतर उपेक्षाभरा व्यवहार उसे और भी कातर बना देता है, फलस्वरूप नेत्रों से अँश्रवृष्टि होना प्राकृतिक है-

''बिन पावस तौं इन स्यावस हो नसु क्यों करिये अब सो परसैं।
बदरा बरसैं रितु में घिरि कै नितही आँखिया उघरी बरसैं।''[17]

घनानंद के यहाँ सिर्फ वियोग ही नहीं संयोग भी कम व्यथामूलक नहीं है। प्रिय से मिलन की आतुरता, उसका उपेक्षाभरा व्यवहार, जीवन-आघात, विषम प्रेम की पीड़ा आदि मानसिक व्यथाओं के कारण वियोग ऐसा है जो संयोग के क्षणों में भी पीछा नहीं छोड़ता, प्रेमी के प्राणों को सशंकित किये रहता है-

''जो कहुँ जान लखैं घनआनंद तौ तन नेकु न औसर पावत।
कौन वियोग-भरे अँसुवा, जु संजोग में आगेई देखन आवत।''[18]

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने लिखा कि, ''वाणी का प्रयोग जैसा यह कवि कर गया है, कोई क्या करेगा। अपनी विरह वेदना की असीमता को न जाने कितने प्रकार से इन्होंने व्यक्त किया है।''[19] घनानंद के यहाँ संयोग के चित्र बहुत कम हैं। विरह ही सर्वत्र व्याप्त है। प्रेम वस्तुतः दो हृदयों का रागात्मक मिलन है, किन्तु जब किसी कारण से यह एकपक्षीय होता है तब यह अत्यंत ही घातक हो जाता है, 'जीवन के बिना जीने की और मृत्यु के बिना मरने की सी स्थिति बन जाती है।' घनानंद ने 'नेही की रहनि' को इसी तरह से समझाया है-

''जीवन मरन जीव मीच बिना बन्यौ आय,
हाय कौन बिधि रची नेही की रहनि है।''[20]

विरही घनानंद की पीड़ा का वास्तविक वैभव उनकी 'मौन-मधि-पुकार' में है। मौन भी एक तरह से वाणी की ही अभिव्यक्ति है। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने लिखा कि, ''घनानंद की कविताई में प्रवीणों की मति को जगाने वाली कई विशेषताएँ हैं। सबसे पहली विशेषता तो यह है कि उनकी रचना में बहुत-सी स्थितियाँ मौन हैं।''[21] उनकी कविता हृदय के भवन में मौन का घूँघट डाले बैठी है। उसमें सभी मंजुल पदार्थ घनीभूत हैं तथा रस और रूप का माणिक्य भी है-

''उरभौन में मौन को घूँघट कै दुरि बैठि विराजति बात बनी।
मृदु मंजु पदारथ भूषन सौं सुलसै हुलसै रस रूप मनी।''[22]

अन्यत्र भी घनानंद ने 'मौन से अमौन' भाव को व्यक्त किया है-

''छीन अति दीनन को मोहन अमोही रच्यो,
महा निरदई हमैं मिल्यौ करतार है।
तेरे बहरावन रूई है कान बीच हाय,
बिरही विचारन की मौन में पुकार है।''[23]

''मौन की यह पुकार, वाणी की पुकार से कहीं अधिक तीव्र है, पर निष्ठुर प्रिय है कि कानों में रूई दिये हुए है। घनानंद के यहाँ प्रेम में केवल विषाद या नैराश्य ही नहीं है बल्कि मिलने का अटल विश्वास भी दिखाई पड़ता है। यथा-

''रूई दिये रहोगे कहाँ लौं बहराईवे की,
कबहूँ तो मेरियै पुकार कान खोलिहैं।''[24]

आचार्य शुक्ल ने लिखा कि, ''घनानंद ने न तो बिहारी की तरह ताप को बाहरी माप से मापा औ न ही बाहरी उछल कूद दिखाई, जो कुछ हलचल है वह भीतर ही भीतर है, बाहर से वह वियोग प्रशांत और गंभीर है... उनकी पुकार 'मौनमधि-पुकार' है।''[25] प्रिय के उपेक्षापूर्ण व्यवहार के बावजूद भी प्रेमी में अदम्य साहस विद्यमान है। प्रिय के आने की प्रतीक्षा में प्राणों ने जो कष्ट सहे हैं। उसका उद्घाटन भी घनानंद ने बड़ी मार्मिकता से किया है-

''घनआनंद प्यारे सुजान सुनौ जिहि भाँतिन हौं दुःख-सूल सहौं।
नहिं आवन औधि न रावरी आस इते पर एक सी बाट चहौं।
यह देखि अकारन मेरी दसा कोऊ बूझै तो ऊपर कौन कहौं।
जिय नैकु बिचारि कैदेहु बताय हहा पिय दूरि तें पाय गहौं।[26]

विषम प्रेम की पीड़ा से प्रेमी की आँखे प्रिय सुधियों में निरंतर झरती रहती हैं। दिन रात प्राणों का घुटना, प्रिय की स्मृति का पसलियों में कसकना आदि घोर मानसिक यातना के कारण विरही के प्राण बेचैन रहते हैं, उस पर जग-हँसाई की बात उसे और भी उदीप्त कर देती है-

''रैनि दिना घुटिबो कर प्रान झरै अँखियाँ दुखियाँ झरना-सी।
प्रीतम की सुधि अंतर में कसकै सखि ज्यों पसुरीन में गाँसी।''[27]

विरही के मन की यह पीड़ा कालावछिन्न है। पीड़ा सहने के क्षणों में जो व्यथा हो रही है उसकी अनुभूति दिन या रात में फिर कभी हो सकेगी, कहा नहीं जा सकता। स्वयं अनुभव करने वाला भी चाहकर भी उसका दुबारा वैसा ही अनुभव नहीं कर सकता-

''जो दुःख देखति हौं घनआनंद रैनि-दिना बिन जान सुतंतर।
जाने बेई दिनरात बखाने ते जाय परै दिन राति को अंतर॥''[28]

वह जानता है कि उसके मरने के बाद भी उसकी यह कहानी मरेगी नहीं, संसार में चलती रहेगी ''चलैगी कहानी घनआनंद तिहारे की'' प्राण मरते वक्त एक बार प्रिय के दर्शन को लालायित हैं जिसके कारण वे अधर से आकर लग गये हैं, किन्तु निकल नहीं रहे हैं। शायद वे अंतिम बार प्रिय के कुशल-क्षेम जानने के जिज्ञासी हैं। इसे जान लेने के बाद ही वे सुखपूर्वक निकल सकेंगे-

''अधर लगै हैं आनि करकै पयान प्रान,
चाहत चलत ये संदेसो लै सुजान को।''[29]

यह विरह की अंतिम दशा 'मरण' है, जहाँ आकर वियोग अपनी चरम स्थिति को स्पर्श कर जाता है। आचार्य शुक्ल ने लिखा, ''प्रेम की गूढ़ अंतर्दशा का जैसा उद्घाटन इन्होंने किया वैसा हिन्दी का कोई अन्य श्रृंगारी कवि न कर सका।''[30] सच में वैयक्तिक मनोभावों को वाणी देने की दृष्टि से हिन्दी कविता के सैंकड़ों वर्ष के इतिहास में कबीर के अतिरिक्त घनानंद जैसा व्यक्तित्व मिलना कठिन है। इस पर घनानंद की कविताओं के प्रथम संकलनकर्ता ब्रजनाथ ने उनकी प्रशस्ति में ठीक ही कहा है कि ''हृदय की आँखों से प्रेम की पीड़ा'' को परखने वाला व्यक्ति ही उनकी कविता के मर्म को जान सकता है-

''समुझै कविता घनआनंद की,
हिय आखिन नेह की पीर तकी।''[31]

घनानंद का पार्थिव प्रेम कब अपार्थिव बन गया इसे वे स्वयं भी समझ नहीं सके। लौकिक प्रेम का इतना बड़ा गायक आध्यात्मिक भक्त कैसे बन गया? यह जिज्ञासा का प्रश्न अवश्य है। 'सुजान' शब्द (वेश्या और कृष्ण दोनों के लिए प्रयुक्त) में कब अर्थोपकर्ष हो गया, प्रेमी को इसका भान तक नहीं। आचार्य शुक्ल ने लिखा कि, ''इन्होंने अपनी कविताओं में बराबर 'सुजान' को संबोधित किया है जो श्रृंगार में नायिका के लिए और भक्ति-भाव में कृष्ण भगवान के लिए प्रयुक्त मानना चाहिए। कहते हैं कि इन्हें अपनी पूर्व प्रेयसी 'सुजान' का नाम इतना प्रिय था कि विरक्त होने पर भी उन्होंने उसे नहीं छोड़ा।''[32] निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पश्चात वे 'बहुगुनी' के नाम से चर्चित हुए। डॉ0 रामदेव शुक्ल ने लिखा कि, ''घनानंद ने पूर्ण आवेग के साथ मानवीय प्रेम का सुख, दुःख भोगा। उसके बाद उन्होंने भक्ति के दिव्य आनंद का अनुभव किया। दोनों की पवित्रता में उन्हें कोई गुणात्मक अंतर नहीं दिखाई पड़ा। भेद के नाम पर मात्राभेद ही उन्होंने संकेतित किया है।''[33] सम्प्रदाय में दीक्षित होने पर भी घनानंद सम्प्रदाय के नियमों में नहीं बँधे ये वहाँ भी स्वच्छंद रहे।

घनानंद की मुख्य भक्ति 'माधुर्य भक्ति' है, जिसके अंतर्गत नाम, रूप, लीला और धाम आते हैं। घनानंद इसे माधुर्य की ही विभूति कहते हैं। घनानंद के काव्य में भक्ति-सूत्रों, में वर्णित रूपासक्ति, दर्शनासक्ति, सख्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति आदि आसक्तियाँ देखी जा सकती हैं, जैसे-

1. **रूपासक्ति : ''झलकै अति सुंदर आनन गौर,**
छके दृग राजति कानन छ्वै।
हँसि बोलनि में छवि फूलनिकी,
बरखा उर ऊपर जाति है ह्वै।''[34]

2. **दर्शनाशक्ति : ''जो घनआनंद ऐसी रूची,**
तो कहाँ बस है अहो प्रानन पीरौं।
पाऊँ कहाँ हरि हाय तुम्हें,
धरती में धसौं की अकासहि चीरौं।''[35]

3. **सख्यासक्ति : ''राधा अचल सुहाग के ललित रंगीले गीत।**
रागिनी भीजो बहुगुनी रिझवति राधा-गीत।''[36]

राधा 'बहुगुनी' (घनानंद) का तथा बहुगुनी राधा का साथ नहीं छोड़ती। यह सख्य भाव है। निम्बार्क और मध्व ने कृष्ण के स्थान पर राधा को अधिक महत्व दिया और सख्य भाव को ही सवार्वेपरि माना (जो कृष्ण-सखाओं और गोपियों का भाव है) इसीलिए इस सम्प्रदाय (निम्बार्क सम्प्रदाय) को सखी सम्प्रदाय भी कहा गया। वृन्दावन की भूमि, चौरासी कोस ब्रजमंडल में आज भी राधा और कृष्ण नित्य भाव से विराजते हैं। घनानंद ऐसे राधा-कृष्ण के साथ 'बहुगुनी' के रूप में नित्य उनकी भक्ति, उनकी सेवा करना चाहते हैं-

''राधा मदन गोपाल की हौं सेज बनाऊँ।
दूध फेन फीकौ करै बर बसन बिछाऊँ॥''[37]

'इश्कलता', 'यमुनायस', 'प्रीति-पावस', 'रंग-बधायी', 'प्रेम पत्रिका' आदि कवि की छोटी रचनाओं में उसका यह भक्ति-भाव विविध रूप में मुखरित हुआ है।

वस्तुतः घनानंद की प्रसिद्धि उनकी पार्थिव प्रेम-परक कविताओं के कारण ही है, उनकी अपार्थिव व भक्ति-भावपरक कविताएँ उतनी आकृष्ट नहीं करतीं। विद्यापति की तरह उनके यहाँ भी 'भक्ति', एक प्रकार से श्रृंगार का ही रूप है। इसीलिए घनानंद भक्त की अपेक्षा श्रृंगारी कवि ही अधिक ठहरते हैं। आचार्य शुक्ल ने लिखा कि, ''यद्यपि अपने पिछले जीवन में घनानंद विरक्त भक्त के रूप में वृन्दावन जा रहे, पर इनकी अधिकांश कविता भक्तिभाव की

कोटि में नहीं आयेगी, श्रृंगारिक ही कही जायेगी, लौकिक प्रेम की दीक्षा पाकर ही ये पीछे भगवत्प्रेम में लीन हुए।''[38]

इस प्रकार निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि प्रारम्भ में 'सुजान' के प्रति उनका संपूर्ण लौकिक आकर्षण अंत में अलौकिक भक्ति-भाव के रूप में राधा-माधव के चरणों में समर्पित हो गया। जायसी के 'पद्मावत' पर चर्चा करते हुए विजयदेवनारायण साही ने जिस 'बैकुंठी प्रेम' की बात कही है वह यहाँ घनानंद के संदर्भ में भी चरितार्थ होता है। 'सुजान' के प्रति उनका लौकिक कुंठाजनित प्रेम अंततः राधाकृष्ण के बैकुंठी प्रेम में पर्यवसित हो गया। आत्मसमर्पण की जिस भावना को लेकर वे प्रेम-साधना में प्रवृत्त हुए थे, वह उनके जीवन में अंत तक बनी रही। घनानंद भक्त-कवि और प्रेमी न होकर क्रमशः प्रेमी-कवि और भक्त हैं। उनकी कविता सच्चे प्रेमी, विमल विरही-हृदय और विनीत सरल भक्त का ऐसा अविचल दृष्टांत है, जो हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। उन्होंने भाषा की जिस लक्षणा और व्यंजना शक्ति के सुरूचिपूर्ण प्रयोग से अपनी प्रेम-संवेदना को स्वच्छन्द वाणी दी, हिन्दी साहित्य के इतिहास में उसका भी दूसरा उदाहरण देखने को नहीं मिलता। कई वर्षों बाद छायावादी काव्य में जाकर भाषा का ऐसा रूप एक बार पुनः परिलच्छित हुआ।

सन्दर्भ-सूची

1. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र (सम्पादक) : 'घनानंद कवित्त' (प्रथम शतक), संजय बुक सेंटर, गोलघर, वाराणसी, संस्करण-2002, पृ0 6
2. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र : 'बिहारी की वाग्विभूति', संजय बुक सेंटर, गोलघर, वाराणसी, संस्करण-1986, पृ0 2
3. वही, पृ0 2
4. वही, पृ0 3
5. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संस्करण सं0 2054, पृ0 178
6. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र (सम्पादक), 'घनानंद कवित्त', वही पृ0 7
7. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र : 'बिहारी की वाग्विभूति', वही, पृ0 4
8. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', वही, पृ0 185
9. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र : (सम्पादक) 'घनानंद कवित्त', वही, पृ0 8
10. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', वही, पृ0 185
11. वही, पृ0 186
12. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र (सम्पादक) : 'घनानंद कवित्त', वही, पृ0 9
13. रामदेव शुक्ल : 'घनानंद का काव्य', लोक भारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद, संस्करण-2009, पृ0 (XIII)
14. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र (सम्पादक) : 'घनानंद कवित्त', वही, पृ0 61
15. वही, पृ0 191
16. वही, पृ0 73
17. वही, पृ0 83
18. रामदेव शुक्ल : 'घनानंद का काव्य', वही, पृ0 14
19. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र (सम्पादक) : 'घनानंद कवित्त', वही, पृ0 16
20. वही, पृ0 140
21. वही, पृ0 11
22. वही, पृ0 11
23. रामदेव शुक्ल : 'घनानंद का काव्य', वही पृ0 50
24. वही, पृ0 (XXI)
25. आचार्य रामचन्द शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, वही, पृ0 186-187
26. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र (सम्पादक) : 'घनानंद कवित्त' वही, पृ0 254
27. रामदेव शुक्ल : 'घनानंद का काव्य', वही, पृ0 107
28. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (सम्पादक) : 'घनानंद कवित्त' वही, पृ0 107
29. रामदेव शुक्ल : 'घनानंद कवित्त' वही, पृ0 (XII)
30. आचार्य रामचन्द शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' : वही, पृ0 186
31. डॉ0 राजकुमार उपाध्याय 'मणि' : 'घनानंद कवित्त' (प्रथम शतक) विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण-2013, पृ0 2
32. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' : वही, पृ0 186
33. रामदेव शुक्ल : 'घनानंद कवित्त' वही, पृ0 (XII)
34. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (सम्पादक) : 'घनानंद कवित्त' वही, पृ0 49
35. वही, पृ0 23
36. वही, पृ0 39
37. रामदेव शुक्ल : 'घनानंद कवित्त' वही, पृ0 (XII)
38. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', वही, पृ0 186

●

कबीर के काव्य में प्रेमतत्व

उत्कर्ष कुमार मिश्र[*] एवम् प्रो. राधेश्याम राय[**]

कबीर अपने युग के अन्यतम् व्यक्ति थें। इनके द्वारा कहीं गई पदों, साखियों एवं उलटबासियों में यह नितांत स्पष्ट है। ''कबीर के काव्य की मूल चेतना प्रेम है, जिसका एक दर्शन है, अपना एक स्वरूप है, अपनी एक आधार भूमि है। कुछ विद्वान कबीर पर उनके प्रेमतत्व के संबंध में सूफ़ी सम्प्रदाय का प्रभाव मानते हैं। प्रेम एवं विरह तथा तादात्मय प्रतीकों के आधार पर कबीर के प्रेमतत्व को सूफी मतवाद से प्रेरित सिद्ध करने का प्रयास किया गया है।[1]

कबीर के काव्य में सूफियों के समान प्रेम एवं विरह तत्व को अधिक महत्व दिया गया है लेकिन वह सूफियों के प्रेम दर्शन का अनुसरण नहीं है।[2] सूफी साधना का प्रमुख आधार प्रेमानुभूति है। प्रेम की चरम परिणति सूफी दाम्पत्य प्रेम में देखते हैं। कबीर भी दाम्पत्य प्रतीकों के माध्यम से प्रेमानुभूति को अभिव्यक्त करते हैं किन्तु वह उनके प्रेम दर्शन का मात्र एक अंग है। मूलतः कबीर का प्रेमतत्व सृष्टि एवं जीव का एक अन्तर्भूत तत्व है। इस अन्तर्भूत प्रेमतत्व का उदबोधन गुरू के माध्यम से होता है। कबीर कहते हैं-

सतगुरू हमसूँ रीझ कर, एक कह्या प्रसंग।
बरसा बादल प्रेम का, भीज गया सब अंग।।[3]

उपरोक्त साखी में कबीर का प्रेमतत्व एक वहिर्भूत तत्व के रूप में है, जो साधक के शरीर, मन आत्मा को बाहर से आकर प्रेम जल में सराबोर कर देता है। गम्भीरता से विचार करने हम पाते है इस साखी में कबीर के प्रेमतत्व का रहस्य मात्र एक शब्द ''एक प्रसंग'' में अन्तर्निहित है। प्रसंग के कहने सुनने के साथ ही प्रेम का बादल बरसता है। जब मनुष्य को स्वसंकीर्ण स्वरूप बोध से निकलने के पश्चात् व्यापक सत्ता का अपने संबंधों से तात्विक बोध होता है, उस समय भावात्मक दृष्टि के साथ वह सर्वात्मभाव की ओर अग्रसर होता है। यह सर्वात्मभाव ही कबीर का प्रेमतत्व है। जो उसके आत्मतत्व का गुण है। यहीं सर्वात्मवाद प्रेमतत्व का मूल है जो विभिन्न भूमिकाओं में एवं विभिन्न रूपों में प्रस्फुटित होता है। कबीर के प्रेम तत्व की आधार भूमि उनका अपना परिवार एवं मानव समाज ही है तथा अपनी प्रेमाभिव्यक्ति परिवार को ही आधार बनाकर करते हैं। यथा-

हरि जननी मैं बालक तेरा, कहिन अवगुन बकसऊ मेरा।
सुत अपराध करै दिन केते, जननी चित में रहे न तेतें।।

माता एवं पुत्र के प्रतीकों के सहारे अभिव्यक्त प्रेम में भी मानव समाज में पारिवारिक चेतना की झलक दिखाई गई है। प्रेम दर्शन के संदर्भ में कबीर ने प्रेम तत्व को सहानुभूति के रस में अभिसिंचित करके प्रस्तुत किया है। प्रेम पर कबीर ने इतना अधिक पर जोर दिया है कि व्यक्ति के संदर्भ में उन्होंने भक्ति के बिना भगवान को ही अपूर्ण बताया है।

भक्ति रूपी प्रिया के लिये भगवान रूपी प्रिय के व्याकुल रहने की कल्पना निर्गुण एवं निरासक्त ब्रह्म को आश्रय करके नहीं चल सकती। प्रेम के इस रूप के लिये एक सशक्त एवं व्यक्तिगत ईश्वर की पूर्व कल्पना नितांत आवश्यक है। यदि उन्हें विशुद्ध ज्ञानमार्गी मान लिया जाये तो उक्त कथन अबोध हो जायेगा।[4] कबीर के काव्य में प्रेम एवं विरह स्थूल अनुभूति के धरातल पर भी चलता है और सूक्ष्म अनुभूति के धरातल पर भी इस प्रकार अनुभूति एवं अभिव्यक्ति के स्तर पर कबीर के प्रेम दर्शन के दो स्वरूप उभर कर आते हैं। इन स्वरूपों का आधार प्रेम, ज्ञान एवं योग का समन्वय है। जहाँ भावना प्रधान होकर प्रेमतत्व ज्ञान की भित्ति पर अपना रंग फैला देती है, वहाँ कबीर का निर्गुण राम भी सगुण की अनुभूति देता है।

हिन्दी साहित्य के सभी कवियों ने स्ववृत्तियों का उदात्तीकरण करके उन्हें आध्यात्मगामी बना दिया है। कबीर का प्रेमतत्व भी इसी मार्ग का अनुसरण करते हुये आध्यात्ममार्गी ही है। आध्यात्ममार्गी प्रेम में प्रेम के सभी तत्व लौकिक भावभूमि के साथ आध्यात्मिक भावभूमि में भी समाहित हो जाते हैं। कबीर के प्रेम का विषयालम्बन भी प्रेम के इसी संदर्भ का स्वरूप ग्रहण करता है। इनमें विषयालंबन के सगुण निर्गुण एवं उभयातीत स्वरूपों से अभिव्यक्त चित्र दिखाई देते हैं। कबीर अपने इस विषयालंबन स्वरूप का परिचय निराकार अलख-निरंजन, अनूप तत्व आदि निर्गुण विशेषणों से कराते है। वहीं वे उसे राम, ब्रह्म, शिव परमानंद अल्लाह आदि पौराणिक नामों से भी अभिहित करते है। कबीर अपने इस विषयालंबन के साक्षात्कार का निरंतर प्रयास करते रहते हैं-

रात्यां स्त्री विरहनि, ज्यूं बचौ कूं कुंज।
कबीर अंतर प्रजल्या, प्रगट्या विरहा पुंज।।[5]

कबीर अपने विषयालंबन के लिये अनेक नामों का प्रयोग तो करते हैं परंतु अपने विरह का आलंबन विशेष रूप से राम को बताते है। यथा-

चकवी विछुरी रैणि की आइ मिली परभाति।
जे जन बिछुरे राम सूं ते दिन मिले न राति।।[6]

*कनिष्ठ शोध अध्येता, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
**प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

राम, हरि, गोविंद, केशव आदि पौराणिक नामों का कबीर कदाचित ही सगुण अवतार के अर्थ में व्यवहार करते हैं, एकदम नहीं करते ऐसा तो नहीं कहा जा सकता पर तब वे अपने परम उपास्य को इन नामों से पुकारते हैं तो सगुण अवतारों से उनका मतलब नहीं होता एकदम नहीं करते ऐसा तो नहीं कहा जा सकता पर जब वे अपने उपास्य को इन नामों से पुकारते हैं तो सगुण अवतारों से उनका मतलब नहीं होता है।[7] पुराण सगुण पथ का पथिक बनकर निर्गुण प्राप्ति कराते हैं किन्तु नितांत बुद्धिमता एवं विवेक के साथ। यहीं कारण है कि मुख से निर्गुणवाद का गीत गाने वाले भी अंत में पुराण शैली की परिधि के अन्तर्गत हो जाते हैं। चाहे वह कबीर हो या अन्य कोई संत।[8]

कबीर के विरह का वहीं प्रकाशन स्वरूप राम है जो सब में रम रहा है। कबीर उसमें रमते हुये राम के एकल रूप को प्रेम का आलंबन नहीं बनाते, अपितु उस विश्वातीत राम के विरह में व्याकुल रहते है जो निर्गुण है तथा मात्र अनुभूति का विषय है। कबीर का वक्तव्य है-

कबीर तेज अनंत का मानौ उगी सूरज सेंणि।

पति संग जागी सुंदरि कौतिक दादी तेंणि।।[9]

पिंजर प्रेम प्रकासिया, जाग्या जोग अनंत।

सां खूटा सुख भया, मिलया पियारा कंत।।[10]

कबीर के इस निर्गुण प्रेम का आधार पिंजर प्रेम का प्रकाशित होना है जो उस अनंत के प्रकाशन के साक्षात्कार का द्वार खोलता है तथा उसके एकत्व तथा आत्मीयता की भावना की प्रतिष्ठा करता है। अनुभूति एवं एकतत्व की भावना कबीर के निर्गुण प्रेम का दार्शनिक ढ़ांचा तैयार करती है। कबीर इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार व्यक्त करते है।

घट माँहै ओघट लह्या, औघट माँहे घाट।

कहै कबीर परचाभया, गुरू सिखाई बाट।।[11]

कबीर ससीम के माध्यम से असीम की अनुभूति करते हैं। वे आत्मा के प्रकाश की परिकल्पना में परम ज्योति के प्रकाश का साक्षात्कार करते हैं। वे मात्र एक नहीं वरन् स्थान-स्थान पर परमसत्ता के इस विश्वमय स्वरूप की अभिव्यंजना करते हैं जिससे उनकी प्रेमानुभूति एवं पूर्णाभिव्यक्ति के लिये नया वैचारिक आधार मिलता है। कबीर द्वारा वैचारिक आधार पर खड़ा किया गया यह अनुभूति परक विराट सगुण रूप उन्हें इसमें जागतिक भावों के आरोपण का आधार देता है। निर्गुण से सगुण तक की यह यात्रा कबीर के प्रेमतत्व का मुख्य आधार है।

प्रेम का प्रमुख विधायक एवं प्रतिरोधी तत्व 'एक' एवं 'अनेक' की भावना है। जब इन दोनों अवयवों को पृथक-पृथक करके देखा जाता है तो रागात्मिका वृत्ति विखंडित हो जाती है। रागात्मिका वृत्ति के विखंडन के साथ अनासक्ति, उदासीनता एवं द्वेष की भावनायें उत्पन्न होती है। इन दोनों अवयवों में समन्वय करने पर रागात्मिका वृत्ति को और सघन होने हेतु अवकाश मिल जाता है। कबीर इसका अनुभव करते है इसीलिये वे अपनी साधना सिद्धि हेतु और एक तथा अनेक में संबंध स्थापित करते हैं। यह एक ओर अनेक में संबंध स्थापना, कबीर के प्रेम तत्व का मूल है। कबीर जीवन के संदर्भ में एक से अनेक की सृष्टि होना स्वीकार करते हैं। उनका मानना है कि संसार में अनेक रूपों का सृजन एक ही सत्ता से होता है।

परमसत्ता, व्यैक्तिक इकाई एवं सम्पूर्ण समाज में एक सूत्रता की प्रतिष्ठा करके कबीर प्रेम की प्रतिष्ठा करना चाहते है। कबीर कहते है-

व्यापक ब्रह्म सबनि मैं एकै को पंडित को जोगी।

राणाँ राव कवसूँ कहिए कवन वैद के रोगी।।

पंक्तियों से स्पष्ट रूप से व्यंजित है कि वैयक्तिक रूपों से उपलब्ध सांसारिक उपलब्धियाँ सब उसी भांति है जैसे नाटक में अभिनय हेतु रूप रखे जाते हैं। मूलतः समस्त में एक ही चेतन सत्ता संचरित है एवं वहीं कार्य व्यापार कर रही है एवं एकत्व की प्रतिष्ठा ही कबीर के प्रेमतत्व का मूलाधार है।

संसार में अहं भाव ही प्रेम का विरोधी है, यह वृहद सोच को संकुचित करती है कबीर इसी सोच को हटाकर व्यापक दृष्टि का विकास करना चाहते हैं वे इसके संदर्भ में कहते हैं।

सतगुरू की महिमा अनंत अनंत किया उपगार।

लोचन अनंत उघाडिया अनंत दिखावणहार।।

इस प्रकार कबीर की जीव संबंधी अवधारणा उनके प्रेम दर्शन की आधारशिला ठहरती है। कबीर ने अनेक स्थानों पर जीव के स्वरूप के साथ मैं ''मेरे'' की भावना को जोड़कर उसे प्रेम की सृष्टि में बाधक माना है।

अब का डरौ डर डरहि समाना, जब थै मोर तोर पहिचाना।

जब लग मोरतोर करि किन्हा, भैं भैजनमि जनमि दुख दिन्हा।।

कबीर की प्रेम साधना उनकी आध्यात्मिक साधना का ही पर्याय है। कबीर की आध्यात्मिक साधना के दो क्षितिज हमें स्पष्ट दृष्टिगोचर है, प्रथम उनकी योग संबलित भक्ति एवं द्वितीय उनकी शब्द साधना। कबीर की योग साधना भी प्रेम साधना का एक अंग है। जो उनकी प्रेम साधना के 'भक्ति' एवं 'सुरति' शब्द में संचरित है। कबीर का युगीन परिवेश प्रेम की प्यास से व्याकुल था। समकालीन एवं पूर्ववर्त्ती परम्परायें जीवन में प्रेम का संचार करने हेतु प्रयास करती हुई समाज को दिशा दे रही थी। इन परिस्थितियों ने मिलकर कबीर के जीवन दृष्टि की एक नियामक आधारशिला रखी।

इनकी दृष्टि में जीवन का मूल रहस्य प्रेमतत्व है जो व्यक्ति समाज, विश्व एवं विश्वातीत सभी सत्ताओं के मूल में रहता हुआ अनुभूतिकर्त्ता को अमृतमय आनंद प्रदान करता है। यह सशक्त ढंग से कहा जा सकता है कि कबीर के सम्पूर्ण साहित्य की मूलचेतना उसकी प्रेमपरक साधना दृष्टि है।

कबीर की आध्यात्म साधना में 'सुरति' शब्द या सुरति साधना की बड़ी चर्चा की जाती है। विद्वानों ने कबीर की सुरति साधना शब्द की शास्त्रीयता के संदर्भ में उलझने का प्रयास किया है। इसमें शब्द का अर्थ गुरू उपदेश से भी लिया जाता है तथा पारिभाषिक रूप से व्यक्ति उन्मुख परमसत्ता के स्वरूप से भी दोनों में मूलतः कोई तात्विक अंतर नहीं है, शब्द रूप में कबीर के गुरू का उपदेश उन्हें इसी रूप में अवगत कराता है।[12] जीव भाव में अशुद्ध विकल्पात्मक आसक्ति रहती है। यह कष्ट कारक स्थिति होती है। जीव का विकास जब अपने स्वरूप की ओर होता है तो अशुद्ध विकल्प शुद्ध बन जाते है रति 'सुरति' बन जाती है। अभेदमयी अनुभूति के साथ यह संबंध आनंदमयी हो जाता है।

कबीर के आध्यात्मिक साधना की चरम परिणति भक्ति भावना में होती है। कबीर की भक्ति भावना का विचार करते हुये विद्वानों ने अमुक शास्त्रीय व्याख्यायें प्रस्तुत की है तथा भक्ति को विभिन्न परम्पराओं से जोड़ने का प्रयास किया है।[13] भक्ति की इन समस्त परम्पराओं में प्रेमतत्व को ही विशेष महत्व दिया गया है। नारद ने ''सा त्वत्मिन प्रेमरूपा''[14] कह कर भक्ति को स्पष्ट रूप से प्रेम विशिष्ट घोषित किया है। स्वामी राजानुजाचार्य स्नेहपूर्वक किये गये भगवद्ध्यान को ही भक्ति कहते हैं।

सामान्यतः यह स्वीकार किया जाता है कि भक्ति के क्षेत्र में कबीर पर नारद का बहुत अधिक प्रभाव है। कुछेक विद्वान नारद के अतिरिक्त सूफियों का प्रभाव भी कबीर पर मानते हैं, किन्तु इस बिन्दु पर मतभेद नहीं है कि कबीर की भक्ति का आधार भूत तत्व प्रेम है। वे कहते हैं-

जब तक भगति सकामता, तब तक निष्फल सेव[15]

अर्थात् जब तक भक्ति के साथ कामना जुड़ी होती है तब तक उस भक्ति का सेवन निष्फल ही होता है। व्यक्ति को वैयाक्तिक बोध तभी तक रहता है जब तक उसे जागतिक सत्ता में उस एक तत्व के दर्शन नहीं होते, दर्शन होने के साथ ही उसके व्यैक्तिक अस्तित्व का निरसन हो जाता है। यहीं कबीर की प्रेम सिद्धि है। कबीर कहते है-

तूँ तूँ करता तूँ भया, मुझ मैं रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखूँ तित तूँ।।

इनकी दृष्टि में प्रेम तत्व को प्राप्त करना सहज साध्य नहीं है। इस हेतु अपने अहंकार को नीचे लाना पड़ता है, जब तक अहंकार की भावना मन में है प्रेम का निर्वाह नहीं हो सकता है। वे कहते है-

कबीर यह घर प्रेम का, खाला का घर नाहि।

सीस उतारै हाथि, करि, सो पैठे घर माहि।।

कबीर प्रेम हेतु अनन्यता को अनिवार्य मानते है। लौकिक एवं आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में प्रेम के स्थायीत्व एवं प्रभावी सक्रियता हेतु अनन्य भाव की व्यंजना स्त्री, पुरूष संबंध को लेकर की है। इसी आधार पर कबीर स्त्री के पतिव्रत धर्म प्रशंसक एवं व्याभिचार के निंदक है। वे कहते है।

राम मोर पीउ मैं राम की बहुरिया।

राम बड़े मैं घुटक छुटक लहुरिया बहुरिया।।

इस प्रकार कबीर साहित्य में हम प्रेम तत्व का दर्शन हम अद्योपांत करते हैं। इन्होंने अपने अनन्य की उपासना राम, रहीम, अल्लाह आदि शब्दों के सहारे की है तथा प्रेम तत्व का विशद निरूपण किया है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. कबीर की विचारधारा-गोविंद त्रिगुणायत, पृ0 119, साहित्य निकेतन कानपुर, 2009
2. वही, पृ0 125
3. कबीर ग्रंथावली-श्यामसुंदर दास, सावि, गुरूदेव कौ अंग इंडियन प्रेस लि0 प्रयाग 1985
4. कबीर ग्रंथावली-श्यामसुंदर दास-विरह कौ अंग, इंडियन प्रेस लि0, प्रयाग 1985
5. वही
6. कबीर-हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ0 97 राजकमल प्रकाशन 2009
7. वही पृ0 98
8. कबीर ग्रंथावली-श्यामसुंदर दास, साखी, इंडियन प्रेस लि0, प्रयाग, 1985
9. कबीर ग्रंथावली-श्यामसुन्दर दास गुरूदेव को अंग, इण्डियन प्रेस लि0, प्रयाग, 1985
10. वही
11. कबीर की विचारधारा-गोविंद त्रिगुणायत, साहित्य निकेतन कानपुर, 2009, पृ0 236
12. नारद, भक्ति सूत्र
13. कबीर ग्रंथावली-श्यामसुंदर दास साखी, इंडियन प्रेस लि0, प्रयाग 1985

●

श्रमण धर्मों में लेश्या सिद्धान्त : एक मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक विमर्श

जूली सिंह एवम् डॉ. सतीश चन्द्र दूबे***

आहारमिच्छेद् मितमेषणीयं, सखायमिच्छेद् निपुणार्थबुद्धिम्।
निकतमिच्छेद विवेकयोग्य, समाधिकामः श्रमणस्तपस्वी॥

-समणसुत्त, 291.

प्राचीन काल से ही मुख्यतः दो परम्परायें साथ-साथ चलती आ रही हैं- वैदिक (ब्राह्मण) परम्परा और श्रमण परम्परा। वैदिक परम्परा के लोग ब्रह्म को मोक्ष का आधार और वेद वाक्य को ही ब्रह्म वाक्य मानते हैं। इनके अनुसार ब्रह्म और ब्रह्माण्ड को जानना आवश्यक है तभी व्यक्ति को मोक्ष की प्राप्ति होगी। तो वहीं दूसरी ओर श्रमण परम्परा के लोग श्रम के द्वारा मोक्ष (निर्वाण) की प्राप्ति को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति के जीवन में ईश्वर की नहीं श्रम की आवश्यकता होती है। श्रमण शब्द 5वीं और 6ठवीं शताब्दी ईसा पूर्व के साधु-संन्यासी या भिक्षुओं को कहा जाता है जिसकी व्युत्पत्ति संस्कृत और पालि से सम्बन्धित है। श्रमण शब्द का उल्लेख बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों में मिलता है। श्रमण (संस्कृत : पालि = सामता) का अर्थ 'साधक' है जो तपस्या करता है तथा जो पूर्णतः हिंसादि का प्रत्याख्यान करता और सर्वविरत रहता है। ये अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेते है। इनके द्वारा उपदेशित वचन ही इनका धर्म होता है तथा श्रम के मूल्य को सर्वोपरि मानते हैं।

श्रमण धर्म एक विशुद्ध महान आध्यात्मिक धर्म है। इस शाश्वत् आत्म-धर्म का सम्बन्ध किसी जाति विशेष से कभी नहीं रहा। श्रमण धर्म एवं संस्कृति तर्क, बुद्धि, विवेक, श्रम, समानता, नैतिकता, न्याय और उत्पादकता के साथ ही साथ वैज्ञानिकता को भी बढ़ावा देता है। सभी जाति के मानवों ने श्रमण धर्मों का पालन कर आत्म-कल्याण और विश्वशान्ति का लक्ष्य पूर्ण किया है। श्रमण धर्म एवं परम्परा अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक प्रवर्तित रहेगा। यह जरूर है कि समय के उतार-चढ़ाव के कारण श्रमण धर्म भी प्रभावित होता रहा है, किन्तु ऐसा भी काल रहा जब श्रमण धर्मों अर्थात् जैन एवं बौद्ध धर्म का डंका बजा करता था। कैसा भी समय रहा हो, कैसी भी परिस्थितियाँ रहीं हों किन्तु श्रमण धर्मों की तथा उनके श्रमणाचार्यों की यह विशेषता रही है कि उन्होंने कभी भी अपने मूल सिद्धान्तों तथा शुद्धाचरण के साथ समझौता नहीं किया। श्रमण धर्मों की नैतिकता एवं नीति पूरे विश्व के लिए प्रेरणास्रोत रही है। राष्ट्र, समाज, समुदाय और पशु-पक्षियों तक की सेवा के लिए सदैव श्रमण धर्म समाज को समर्पित रहा है।

व्यक्ति के मनोवृत्तियों का उसके गुणों एवं कर्मों के आधार पर वर्गीकरण करने की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। यह वर्गीकरण सामाजिक एवं साधनात्मक दोनों दृष्टि-कोणों से किया जाता रहा है। सामाजिक दृष्टि से इसने चातुर्वर्ण्य के सिद्धान्त का रूप ग्रहण किया था, जिस पर जन्मना और कर्मणा दृष्टिकोणों को लेकर श्रमण और वैदिक परम्परा में काफी विवाद भी रहा है। साधनात्मक दृष्टिकोण से गुण-कर्म के आधार पर व्यक्तित्व का वर्गीकरण करने का प्रयास न केवल जैन, बौद्ध और हिन्दू परम्परा ने किया है, वरन् अन्य लुप्त श्रमण परम्पराओं में भी ऐसा वर्गीकरण उपलब्ध होता है। प्राचीन काल से ही व्यक्ति के आवेगों तथा मनोभावों के शुभत्व एवं अशुभत्व का सम्बन्ध उसके व्यक्तित्व से जोड़ा जाता रहा है। व्यक्तित्व के वर्गीकरण के शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक अनेक आधारों में एक आधार व्यक्ति की प्रशस्त और अप्रशस्त मनोवृत्तियाँ भी रही हैं। जिस व्यक्ति में जिस प्रकार की मनोवृत्तियाँ होती है, उसी आधार पर उसके व्यक्तित्व का वर्गीकरण किया जाता है। मनोवृत्तियों की शुभाशुभता एवं तीव्रता और मन्दता के आधार पर व्यक्तित्व के वर्गीकरण की परम्परा बहुत पुरानी है। जैन, बौद्ध और हिन्दू परम्परा के ग्रंथों में ऐसा वर्गीकरण उपलब्ध है। जैन परम्परा में इस वर्गीकरण का आधार उसका लेश्या-सिद्धान्त है।

लेश्या का अर्थ-

लेश्या वह मनोवृत्ति या मनोभाव है- जो आत्मा को कर्मों से लिप्त करती है या जिसके द्वारा आत्मा कर्मों से लिप्त होती है अर्थात् बन्धन में आती है।[1] उत्तराध्ययन की बृहद्-वृत्ति में लेश्या का अर्थ आण्विक-आभा, कान्ति, प्रभा या छाया किया गया है।[2] यापनीय आचार्य शिवार्य ने भगवती आराधना में छाया पुद्गल से प्रभावित जीव के परिणामों (मनोभावों) को लेश्या माना है।[3] इसी आधार पर देवेन्द्रमुनि शास्त्री ने लेश्या को एक प्रकार का पौद्गालिक पर्यावरण माना है, जो मनोवृत्तियों को निर्धारित करता है।[4] डॉ0 शान्ता जैन ने भी अपने शोध निबन्ध में भगवतीसूत्र (1/9) की टीका के आधार पर लेश्या को औदारिक आदि शरीरों का वर्ण माना है। उनके अनुसार लेश्या एक पौद्गलिक परिणाम है।[5]

लेश्या सिद्धांत की ऐतिहासिकता

ऐतिहासिक दृष्टि से लेश्या शब्द का प्रयोग अतिप्राचीन है। इतना निश्चित है कि प्राचीन पालि त्रिपिटक के दीघ-निकाय और अंङ्गुत्तरनिकाय जिनमें अभिजाति का सिद्धांत पाया जाता है, कि

*शोध छात्र, दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
** एसोसिएट प्रोफेसर, दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

अपेक्षा आचारांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध भाषा शैली और विषयवस्तु तीनों ही दृष्टियों से प्राचीन है। विद्वान इसे ई0पू0 पांचवी-चौथी शती का ग्रंथ मानते है और उसमें 'अबहिलेस्से' शब्द की उपस्थिति यही सूचित करती है कि लेश्या की अवधारणा महावीर के समकालीन है। जैन दर्शन में आध्यात्मिक एवं विशुद्ध की दृष्टि से परवर्ती काल में जो त्रिविध-आत्मा के सिद्धान्त और गुणस्थान के सिद्धान्त अस्तित्व में आये उसकी अपेक्षा लेश्या-सिद्धांत प्राचीन है। क्योंकि न केवल उत्तराध्ययन और आचारांगसूत्र में अपितु सूत्रकृतांगसूत्र में भी 'सुविशुद्धलेसे' तथा औपपातिकसूत्र में 'अपडिलेस्स' शब्दों का उल्लेख मिलता है। यहाँ सर्वत्र 'लेश्या' शब्द मनोवृत्ति का ही परिचायक है और साधक की आत्मशुद्धि की स्थिति को सूचित करता है तथा आत्मा के संक्लिष्ट परिणामों की चर्चा रंगों के आधार पर करता है। सर्वप्रथम उत्तराध्ययनसूत्र[6] में नाम, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, परिणाम, लक्षण, स्थान, स्थिति, गति और आयु इन ग्यारह बिन्दुओं के आधार पर विचार किया गया है। जबकि भगवतीसूत्र एवं प्रज्ञापनासूत्र[7] में 15 विचार बिन्दुओं से लेश्या की चर्चा की गयी है। दिगम्बर परम्परा में अकलंक ने 'तत्वार्थराजवार्तिक'[8] तथा गोम्मटसार के 'जीवकाण्ड'[9] में लेश्या की विवेचना 16 अनुयोगों के द्वारा की गई है।

जैन धर्म में लेश्या सिद्धान्त

जैन परम्परा में नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास के आधार पर उसके अन्य सिद्धान्तों जैसे कि- बहिरात्मा, अन्तरात्मा, गुणस्थान आदि के सिद्धान्त भी प्रचलित हैं किन्तु इनमें सबसे प्राचीन लेश्या सिद्धान्त ही है। जैनागमों में लेश्या दो प्रकार की मानी गयी है- 1. द्रव्य लेश्या और 2. भाव-लेश्या। इनमें केवल द्रव्य ही पौद्गालिक है, भाव-लेश्या नहीं। भाव लेश्या तो द्रव्य लेश्या के आधार पर बनने वाली चित्तवृत्तियाँ हैं। इन दोनों में कार्यकारण भाव या निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध तो है किन्तु दोनों अलग-अलग हैं।

1. **द्रव्य-लेश्या :** यह सूक्ष्म भौतिक तत्वों से निर्मित वह संरचना है, जो हमारे मनोभावों एवं तज्जनित कर्मों का सापेक्ष रूप में कारण अथवा कार्य बनती है। जिस प्रकार पित्त द्रव्य की विशेषता से स्वभाव में क्रुद्धता आती है और क्रोध के कारण पित्त का निर्माण बहुल रूप से होता है, उसी प्रकार इन सूक्ष्म भौतिक तत्वों से मनोभाव बनते है और मनोभाव के होने पर इन सूक्ष्म संरचनाओं का निर्माण होता है। द्रव्य-लेश्या के स्वरूप के सम्बन्ध में आचार्य राजेन्द्रसूरिजी[10] एवं पं0 सुखलालजी[11] ने निम्न तीन मतों को उद्धृत किया है-

(i) लेश्या- द्रव्य कर्मवर्गणा से बने हुए हैं। यह मत उत्तराध्ययन की टीका में है।

(ii) लेश्या- द्रव्य वध्यमान कर्मप्रवाह रूप में है। यह उत्तराध्ययन की टीका में वादिवैताल शान्तिसूरि का है।

(iii) लेश्या- योग परिणाम है अर्थात् शारीरिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं का परिणाम है। यह मत आचार्य हरिभद्र का है।

2. **भाव-लेश्या :** यह आत्मा का अध्यवसाय या अन्तःकरण की वृत्ति है। पं0 सुखलालजी के शब्दों में भाव-लेश्या मनोभाव विशेष है, जो संक्लेश और योग से अनुगत है। संक्लेश का तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम; मन्द, मन्दतर, मन्दतम आदि अनेक भेद होने से लेश्या (मनोभाव) वस्तुतः अनेक प्रकार की है तथापि संक्षेप में छः भेद करके जैन शास्त्र में उसका स्वरूप वर्णन किया गया है। उत्तराध्ययनसूत्र[12] में लेश्याओं के स्वरूप का निर्वचन वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, मनोभाव, कर्म आदि अनेक पक्षों के आधार पर हुआ है। मनोदशाओं में संक्लेश की न्यूनाधिकता अथवा मनोभावों की अशुभत्व से शुभत्व की ओर बढ़ने की स्थितियों के आधार पर ही उनके विभाग किये गये हैं। इस प्रकार से जैन धर्म में अप्रशस्त और प्रशस्त इन द्विविध मनोभावों एवं उनकी तरतम्यता के आधार पर छः भेद वर्णित है-

अप्रशस्त मनोभाव	प्रशस्तमनोभाव
(i) कृष्ण-लेश्या- तीव्रतम अप्रशस्तमनोभाव	(iv) तेजो-लेश्या- मंद प्रशस्त मनोभाव
(ii) नील-लेश्या- तीव्रतम अप्रशस्तमनोभाव	(v) पद्म-लेश्या- तीव्र प्रशस्त मनोभाव
(iii) कापोत-लेश्या- मंद अप्रशस्तमनोभाव	(vi) शुक्ल-लेश्या- तीव्रतम प्रशस्त मनोभाव

लेश्याएँ एवं व्यक्तित्व का श्रेणी विभाजन

लेश्याएँ मनोभावों का मात्र वर्गीकरण नहीं है, वरन् चरित्र के आधार पर किये गये व्यक्तित्व के प्रकार भी हैं। मनोभाव अथवा संकल्प आन्तरिक तथ्य ही नहीं हैं, वरन् वे क्रियाओं के रूप में बाह्य अभिव्यक्ति भी चाहते हैं। वस्तुतः संकल्प ही कर्म में रूपान्तरित होते हैं। ब्रेडले भी कहते हैं कि कर्म ही संकल्प का रूपान्तरण है।[13] ये मनोभूमि या संकल्प व्यक्ति के नैतिक आचरण का प्रेरक सूत्र है लेकिन कर्मक्षेत्र में संकल्प और आचरण दो अलग-अलग तत्व नहीं रहते हैं, क्योंकि आचरण से संकल्पों की मनोभूमि का निर्माण होता है और संकल्पों की मनोभूमिका पर ही आचरण स्थित होता है। मनोभूमि और आचरण (चरित्र) का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः जैन विचारकों ने जब लेश्या परिणाम की चर्चा की तो वे मात्र मनोदशाओं की चर्चाओं तक सीमित न रहे, वरन् उस मनोदशा से प्रत्युत्पन्न जीवन के कर्म क्षेत्र में घटित होने वाले बाह्य व्यवहारों की चर्चा भी की और इस प्रकार जैन लेश्या-सिद्धान्त व्यक्तित्व के वर्गीकरण का व्यवहारिक सिद्धान्त बन गया। जैन विचारकों ने इस सिद्धान्त के आधार पर बताया कि मनोवृत्ति एवं आचरण की दृष्टि से

व्यक्ति का व्यक्तित्व या तो शुभ (नैतिक) होगा या अशुभ (अनैतिक)। इन्हें धार्मिक या अधार्मिक अथवा शुक्ल-पक्षी एवं कृष्ण-पक्षी भी कहा गया है। इस प्रकार गुणात्मक अन्तर के आधार पर व्यक्तित्व के दो प्रकार बनते हैं। इसके अतिरिक्त जैनाचार्यों ने इन दो गुणात्मक प्रकारों को भी तीन-तीन प्रकार के मात्रात्मक अन्तरों (जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट) के आधार पर छः भागों में विभाजित किया, जिसके आधार पर लेश्या-सिद्धान्त का वर्गीकरण हुआ है-

(1) कृष्ण लेश्या (अशुभतम मनोवृत्ति) - यह व्यक्तित्व का सबसे निकृष्ट रूप है। इस अवस्था में प्राणी के विचार अत्यन्त निम्न कोटि के एवं क्रूर होते हैं। इनका वासनात्मक पक्ष जीवन के सम्पूर्ण कर्मक्षेत्र पर हावी रहता है जिसके भावावेश में उसमें स्वयं के हिताहित का विचार करने की क्षमता भी नहीं होती। वह अपनी शारीरिक, वाचिक, मानसिक क्रियाओं पर नियंत्रण करने में अक्षम रहता है तथा सदैव इन्द्रियों के विषयों की पूर्ति में निमग्न रहता है। इस प्रकार भोग विलास में आसक्त हो हिंसा, चोरी, व्यभिचार और संग्रह में लगा रहता है। स्वभाव से निर्दयी व नृशंस और हिंसक कार्यों में लिप्त रहता है तथा स्वार्थवश दूसरों का बड़ा से बड़ा अहित करने में वह संकोच नहीं करता।[14]

(2) नील-लेश्या (अशुभतर मनोवृत्ति) – इससे युक्त व्यक्ति कृष्ण लेश्या की अपेक्षा कुछ ठीक होता है लेकिन होता अशुभ ही है। इस अवस्था में भी प्राणी का व्यवहार वासनात्मक, स्वार्थी एवं अहितकारी प्रवृत्ति से शासित होता है। लेकिन वह अपनी वासनाओं की पूर्ति में अपनी बुद्धि का प्रयोग करने लगता है। अतः इसका व्यवहार प्रकट रूप में तो कुछ परिमार्जित सा रहता है, लेकिन उसके पीछे कुटिलता छिपी रहती है। ऐसा यक्ति ईर्ष्यालु, सहिष्णु, असंयमी, अज्ञानी, कपटी, निर्लज्ज, लम्पट, द्वेष बुद्धि से युक्त रसलोलुप एवं प्रमादी होता है।[15]

(3) कापोत-लेश्या (अशुभ मनोवृत्ति) –यह मनोवृत्ति भी दूषित है। इसमें प्राणी का व्यवहार मन, वचन, कर्म से एकरूप नहीं होता। उसकी कथनी-करनी भिन्न होती है। मनोभावों में सरलता की अपेक्षा कपट और अहंकार होता है तथा वह सदैव अपने दोषों को छिपाने का प्रयत्न करता है। उसका दृष्टिकोण अयथार्थ एवं व्यवहार अनार्य होता है। वह अपना हित साधने वाला एवं मात्सर्य भावों से युक्त होता है। फिर भी ऐसा व्यक्ति दूसरे का अहित तभी करता है, जब उससे उसकी स्वार्थ सिद्धि नहीं होती है।[16]

(4) तेजो-लेश्या (शुभ मनोवृत्ति)- यह पवित्र मनोवृत्ति होती है। इस मनोभूमि में प्राणी पापभीरू होता है। धार्मिक एवं नैतिक आचरण में उसकी पूर्ण आस्था होती है। ऐसा व्यक्ति सुखापेक्षी, नम्र, निष्कपट, आकांक्षारहित, विनीत, संयमी एवं योगी होता है।[17] वह प्रिय एवं दृढ़धर्मी तथा परहितैषी होता है।

जैन आगमों में तेजोलेश्या की शक्ति को प्राप्त करने के लिए विशिष्ट साधना-विधि का उल्लेख भी प्राप्त होता है। गोशालक ने महावीर से तेजो-लेश्या की जो साधना सीखी थी उसका दुरूपयोग उसने स्वयं भगवान महावीर और उनके शिष्यों के प्रति किया। इसलिए तेजो-लेश्या का उपयोग शुभत्व और अशुभत्व दोंनों ही दिशा में सम्भव हो सकता है।

(5) पद्म-लेश्या (शुभतर मनोवृत्ति) –इस मनोवृत्ति में पवित्रता की मात्रा तेजो लेश्या की अपेक्षा अधिक होती है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति का क्रोध, मान-माया एवं लोभरूप अशुभ-मनोवृत्तियाँ अतीव अल्प अर्थात् समाप्तप्राय हो जाती है। प्राणी संयमी तथा योगी होता है तथा साथ ही योग-साधना के फलस्वरूप आत्मजयी एवं प्रफुल्लित होता है। वह अल्पभाषी, उपशान्त एवं जितेन्द्रिय होता है।[18]

(6) शुक्ल-लेश्या (परमशुभ मनोवृत्ति)- यह मनोभूमि शुभ मनोवृत्ति की सर्वोच्च भूमिका है। पद्म लेश्या के सभी शुभ गुण इस अवस्था में वर्तमान रहते हैं, लेकिन उनकी विशुद्धि की मात्रा अधिक होती है। प्राणी उपशान्त, जितेन्द्रिय एवं प्रसन्नचित्त होता है। उसके जीवन का व्यवहार इतना मृदु होता है कि वह अपने हित के लिए दूसरे को तनिक भी कष्ट नहीं देना चाहता है। मन-वचन कर्म से एकरूप होता है तथा उस पर उसका पूर्ण नियंत्रण होता है। उसे मात्र अपने आदर्श का बोध रहता है। बिना किसी अपेक्षा के वह मात्र स्व-कर्त्तव्य के परिपालन के प्रति जागरूक रहता है तथा सदैव स्वधर्म एवं स्व-स्वरूप में निगमग्न रहता है।[19]

लेश्या सिद्धान्त एवं बौद्ध धर्म

बौद्ध धर्म में लेश्या (मनोवृत्ति अथवा चित्तवृत्ति) शब्द का प्रयोग अभिजाति के रूप में वर्णित है। महात्मा बुद्ध का कहना था कि व्यक्ति के भाव ही उसके कर्मों को व्यक्त करता है। यदि व्यक्ति का मन (चित्त) दूषित है या अशुभ है तो उसके द्वारा अर्जित कर्मफल भी दूषित होंगे। उनके द्वारा उद्‌बोधित वाक्य जो व्यक्ति के मनोवृत्ति या उसके भाव को उद्योतित करता है। वह हैं- 'सारे पापों का न करना, पुण्यों का संचय करना, अपने चित्त को परिशुद्ध करना, यही बुद्धों की शिक्षा है।

सब्ब पापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।

सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धान सासनं।।- ध0प0 बुद्ध वग्गो-5.

बुद्ध अप्रशस्त मनोवृत्ति के बारे में कहते हैं कि, जो बिना चित्तमलों को हटाए कर्मों को करता है। उमसें स्थिरता का अभाव होगा तथा उसके मन, वचन एवं कर्म में तादात्म्य के नियम का अभाव पाया जाएगा। उसकी श्रद्धा हमेशा चंचलतापूर्ण रहेगी, उसका व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन अशान्त और दुःखमय हो जाता है तथा वह कभी भी सद्धर्म को नहीं जान सकता है। ठीक इसके विपरीत प्रशस्त (शुभ) मनोवृत्ति द्वारा किया गया कर्म उचित, नैतिक एवं स्थिरता प्रदान करने वाला होता है। वह सद्धर्म को जानकर सदा के लिए दुःखों से मुक्त हो विहरता है।

बौद्ध धर्मानुसार, प्रथमतः प्रशस्त (शुभ) और अप्रशस्त (अशुभ) मनोभाव तथा कर्म के आधार पर मानव जाति को कृष्ण और शुक्ल वर्ग में रखा गया है। जो क्रूर-कर्मी हैं, वे कृष्ण अभिजाति के है और जो शुभ कर्मी हैं वे शुक्ल अभिजाति के हैं। पुनः कृष्ण और शुक्ल प्रकार वाले मनुष्यों को गुण-कर्म के आधार पर तीन-तीन भागों में बांटा गया है।[20] साथ ही शुभाशुभ कर्मों एवं मनोभावों के आधार पर छः वर्ग तो मान लिये, लेकिन इसके अतिरिक्त उन्होंने एक वर्ग उन लोगों का भी माना जो शुभाशुभ से ऊपर उठ गये हैं, जिसे अकृष्ण शुक्ल कहा। जैसे- जैन दर्शन में अर्हत् को अलेशी कहा गया है। इस प्रकार बुद्ध ने निम्न छः अभिजातियाँ प्रतिपादित की है-

1. कोई व्यक्ति कृष्णाभिजातिक (नीच कुल में पैदा हुआ) हो और कृष्ण धर्म (पापकृत्य) करता है।

2. कोई व्यक्ति कृष्णाभिजातिक हो और शुक्ल धर्म करता है।

3. कोई व्यक्ति कृष्णाभिजातिक हो, अकृष्ण-अशुक्ल निर्वाण को समुत्पन्न करता है।

4. कोई व्यक्ति शुक्लाभिजातिक (उच्च कुल में समुत्पन्न हुआ) हो तथा शुक्ल धर्म (पुण्य) करता है।

5. कोई व्यक्ति शुक्लाभिजातिक हो और कृष्ण कर्म करता है।

6. कोई व्यक्ति शुक्लाभिजातिक हो अशुक्ल-अकृष्ण निर्वाण को समुत्पन्न करता है।

'दीघनिकाय' में आजीवक सम्प्रदाय के आचार्य मक्खलिपुत्र गोशालक एवं 'अङ्गुत्तरनिकाय' में पूर्णकश्यप के नाम के साथ ही अभिजाति (मनोभाव) के वर्गीकरण का निर्देश हुआ है। ज्ञातव्य है कि दीघनिकाय के 'सामञ्ञफलसुत्त' में गोशालक सम्बन्धी विवरण में मात्र ''छस्वेवाभिजातीसु'' इतना उल्लेख हैं, जबकि अङ्गुत्तरनिकाय में पूर्णकश्यप के द्वारा प्रस्तुत विवरण में इन छः अभिजातियों में कौन किस वर्ग में आता है इसका भी उल्लेख है। पूर्णकश्यप के अनुसार, कृष्ण, नील, लोहित, हरिद्र, शुक्ल और परमशुक्ल ये छः अभिजातियाँ हैं। उक्त वर्गीकरण में कृष्ण अभिजाति में निर्ग्रन्थ और आजीवक श्रमणों के अतिरिक्त अन्य श्रमणों को लोहित अभिजाति के निर्ग्रन्थ श्रमणों को, हरिद्र में आजीवक गृहस्थों को और शुक्ल अभिजाति में आजीवक के प्रणेता आचार्य-वर्ग को रखा गया है। पूर्णकश्यप के दृष्टिकोण की समालोचना करते हुए भगवान बुद्ध आनन्द से कहते हैं कि– ''मैं अभिजातियों को तो मानता हूँ लेकिन मेरा मन्तव्य दूसरों से पृथक है।''[21] इस प्रकार से मनोदशाओं के आधार पर आचरणपरक वर्गीकरण बौद्ध विचारणा का प्रमुख मन्तव्य था।

इस वर्गीकरण में भगवान बुद्ध ने जन्म और कर्म दोनों को ही अपना आधार बनाया है, जबकि जैन परम्परा मनोभावों और कर्मों को ही महत्व देती है, जन्म को नही। फिर भी उसमें देव एवं नारक के सम्बन्ध में जो लेश्या की चर्चा है उससे स्पष्ट होता है कि वे वर्ग-विशेष में जन्म के साथ लेश्या विशेष की उपस्थिति मानते थे।

लेश्या सिद्धान्त एवं अन्य धारणायें

अन्य विचारधाराओं के अन्तर्गत (जैसे कि गीता, योगसूत्र एवं पाश्चात्य नीतिवेत्ता रॉस के दर्शन में) भी लेश्या-सिद्धान्त का वर्णन उपलब्ध होता है। गीता में इसे देवी एवं आसुरी[22] सम्पदा के रूप में वर्णित किया गया है। जिसके अन्तर्गत व्यक्ति की मनःस्थिति एवं आचरण का चित्रण (16वें अध्याय) किया गया है इसमें देवी गुण मोक्ष हेतु एवं आसुरी गुण बन्धन के हेतु होते हैं।[23] वहीं पंतञ्जलि ने अपने योगसूत्र में चार जातियाँ (कृष्ण, कृष्ण-शुक्ल, शुक्ल और अशुक्ल-अकृष्ण) प्रतिपादित की हैं। जिन्हें क्रमशः अशुद्धतर, अशुद्ध, शुद्ध और शुद्धतर कहा गया है। पाश्चात्य नीतिशास्त्री डब्ल्यू0 रॉस ने भी एक ऐसा वर्गीकरण प्रस्तुत किया है जिसकी तुलना जैन लेश्या-सिद्धान्त से की जाती है जो कि नैतिक शुभता, कार्यों, इच्छाओं, संवेगों तथा चरित्रादि से संबंधित है। ये मनोभाव निम्नतम् रूप से उच्चतम रूप तक जाते हैं।[24]

लेश्या सिद्धान्त का आधुनिक विज्ञान एवं नैतिकता से सम्बन्ध

जैन-दर्शन के लेश्या-सिद्धान्त को आधुनिक विज्ञान के परिपेक्ष्य में व्याख्यायित करने का मुख्य श्रेय आचार्य तुलसी के विद्वान शिष्य आचार्य महाप्राज्ञजी को जाता है। उन्होंने आधुनिक व्यक्तित्व मनोविज्ञान के साथ-साथ आभामण्डल, रंग-मनोविज्ञान, रंग चिकित्सा आदि अवधारणाओं को लेकर 'आभामण्डल' जैनयोग आदि ग्रंथों में इसका विस्तार से वर्णन किया है। लेश्या सिद्धान्त मानव के नैतिक एवं चारीत्रिक बदलाव और आध्यात्मिक विशुद्धि की दिशा में सहयोगी है। साथ ही यदि लेश्या सिद्धान्त या मनोवृत्तियों का सहयोग लिया जाए, इसके महत्व एवं उपयोगिता को समझा जाए और इसके माध्यम से चिन्तन किया जाये तो उसके निम्नलिखित मनोवैज्ञानिक लक्षण फलित होने की प्रबल संभावना है। जैसे कि-

(i) मानवीय एकता का विकास,

(ii) सह-अस्तित्व की भावना का विकास,

(iii) व्यवहार में प्रमाणिकता तथा,

(iv) आत्मनिरीक्षण की प्रवृत्ति का विकास।

निष्कर्ष

इस प्रकार से हम देखते हैं कि न केवल श्रमण परम्परा (जैन, बौद्ध) और वृहद् हिन्दू परम्परा वरन् पाश्चात्य विचारक भी इस

विषय में एकमत हैं कि व्यक्ति के मनोभावों से उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। लेश्या के अनुसार जहाँ व्यक्ति का आचरण एक ओर उसके मनोभावों का परिचायक है, तो वही दूसरी ओर उसके नैतिक व्यक्तित्व का निर्माता भी है। इसके चिंतन से प्राप्त लक्ष्य को व्यवहार में लाने से जीवन में बदलाव संभव है। मनुष्य का अहं, विरोध, घृणा, ईर्ष्या, असहिष्णुता आदि दुर्गुणों को विकसित करता है, जबकि लेश्या-सिद्धान्त समन्वय का तथा विरोध परिहास का मार्ग प्रशस्त करता है। लेश्या-सिद्धान्त का मार्ग प्राणिमात्र को ज्ञान, दर्शन एवं चरित्र में समन्वय स्थापित कर दुःखों से मुक्ति की ओर ले जाता है। साथ ही इसमें आग्रहवादिता और अहंवृत्ति से उपजी और अनसुलझी समस्याओं का समाधान भी खोजा जा सकता है।

आज पर्यावरण की विशुद्धि पर तो ध्यान दिया जाने लगा है, किन्तु इस भौतिक पर्यावरण की अपेक्षा जो हमारा मनोदैविक एवं मानसिक पर्यावरण (लेश्या/मनोभाव) है, उसे भी शुद्ध रखने की आवश्यकता है। जिस प्रकार से बीज के अस्वस्थ होने पर पेड़ और उसके फल अस्वस्थ होते हैं, उसी प्रकार व्यक्ति की मन (चित्त) के अकुशल होने पर उसके कर्म भी अस्वस्थ होते है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि हमारे मन की स्वस्थ एवं अस्वस्थ अवस्था का व्यक्ति के कर्मों पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। क्योंकि अकुशल मन और पाप कर्मो के बीच उच्चकोटि का सकारात्मक सह-संबंध होता है। इसलिए अस्वस्थ, दूषित एवं अकुशल मन से कभी भी शुभ, नैतिक एवं कुशल कर्मो की अपेक्षा नहीं की जा सकती है। अतः महात्मा बुद्ध का कहना है कि- अकुशल चित्त को सद्मार्ग पर लगाकर अकुशल कर्मो को समाप्त करके मनुष्य के जीवन को नैतिक बनाया जा सकता है। व्यक्ति का मनोभाव एवं तज्जनित आचरण जैसे-जैसे अशुभ से शुभ की ओर बढ़ता है, वैसे-वैसे व्यक्ति में परिपक्वता एवं विकास दृष्टिगत होता है। ऐसे में शुद्ध, संतुलित, स्थिर एवं परिपक्व व्यक्तित्व का निर्माण होता है, जो कि श्रमण धर्मों द्वारा उपदिष्ट जीवन का लक्ष्य है। धम्मपद में कहा भी गया है कि, मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है, इसलिए उसे स्वालम्बी बनना चाहिए। यथा-

अत्ता हि अत्तनो नाथो, को हि नाथो परो सिया।

अत्ता हि सुदन्तेन, नाथं लभति दुल्लभं।।[25]

(ध0प0गाथा/160)

सन्दर्भ

1. अभिदानराजेन्द्रकोष, श्री विजय राजेन्द्रसूरि, रतलाम, खण्ड-3, पृ0-395
2. लेश्या- अतीव चक्षुरादीपिका स्निग्ध, दीप्त, रूपा छाया। उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पृ0 650.
3. भगवती अराधना, भाग-2, संपादक पं0 कैलाशचन्द्र जी शास्त्री, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, 1935, गाथा- 1909
4. श्री पुस्कर मुनि अभिनन्दन ग्रंथ, संपा0 देवेन्द्र मुनि शास्त्री, प्रका0- तारकगुरू जैन ग्रंथालय, उदयपुर, 1979, खण्ड-5, पृ0-461
5. डॉ0 शान्ता जैन, लेश्या का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, प्रथम अध्याय।
6. उत्तराध्ययन सूत्र, संपा0- रतनलाल दोशी, श्रमणोपासक जैन पुस्तकालय, सैलाना, वीर सं0 2475, 34/2
7. प्रज्ञापनासूत्र, संपा0 आचार्य अमोलक ऋषि, प्रका0 लाला-ज्वाला प्रसाद, हैदराबाद, 17/411
8. तत्वार्थराजवार्तिक, संपा0- डॉ. महेन्द्रकुमार जैन, प्रका0 भारतीय ज्ञानपीठ-काशी, पृ0-238
9. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), संपा0- डॉ0 एन0 एन0 उपाध्ये, प्रका0- भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी- 1978, गाथा-491-492.
10. अभिधानराजेन्द्र कोष, श्री विजयराजेन्द्रसूरि, रतलाम, खण्ड, 6,पृ0-674
11. दर्शन और चिंतन, पं0 सुखलालजी संघवी, प्रका0 गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद, 1957, भाग-2, पृ0 297.
12. उत्तराध्ययनसूत्र, संपा0- रतनलाल दोशी, श्रमणोपासक जैन पुस्तकालय, सैलाना वीर सं0 2478, 34/3
13. एथिकल स्टडीज, ब्रेडले, आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस, लंदन, 1927, पृ0- 65
14. उत्तराध्ययनसूत्र संपा0- रतनलाल दोशी, श्रमणोपासक जैन पुस्तकालय, सौलाना, वीर सं0 2475, 34/2/-22
15. वही, 34/2/-22
16. वही, 34/2/-22
17. वही, 34/2/-22
18. वही, 34/2/-22
19. वही, 34/2/-22
20. अङ्गुत्तरनिकाय, अनु0 भदन्त आनन्द कौसल्यायन, महाबोधि-सभा, कलकत्ता, 6/3
21. वही, 6/3
22. गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर, वि0सं0 2018, 16/6
23. वही 16/5
24. फाउण्डेशन ऑफ एथिक्स-उद्धृत.
25. धम्मपद, गाथा संख्या- 160

वैदिक काल में जल संरक्षण

*डॉ. रंजीत प्रताप सिंह**

भारतीय दर्शन के अनुसार क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर के संयोग से मानव शरीर की रचना हुई। इस प्रकार मानव शरीर के निर्माण एवं उसे जीवित रखने के लिए जल एक अनिवार्य तत्व है। प्राचीन भारतीय मनिषियों ने जल को देव माना है। मानव के इस धरती पर अवतरण के साथ ही शुद्ध पेय जल की तलाश प्रारम्भ हो गयी और वर्तमान समय में भी जारी है। जल का दूसरा प्रयोग नवपाषाण काल में अन्न के उत्पादन के साथ प्रारम्भ हुआ तब से आज तक अधिक से अधिक अन्न उत्पादन के लिए जल का प्रयोग होता रहा है।

विश्वकर्मा ने सर्वप्रथम जल उत्पन्न किया तदन्तर तल में इधर-उधर चलने वाले द्यावापृथ्वी नवनिर्मित द्वीप बनाया।[१] मेघ की वृष्टि से अथवा बर्फ पिघलने से जब नदियों में महापूर (बाढ़) आ जाती है तब जल से बड़ा 'नाद' होता है। इस जल प्रवाह को 'नदी' (नाद करने वाली) कहा जाता है।[२] मनुष्य जल का ही पुत्र है। जल, सूर्य (अग्नि) और वायु ये तीनों जीवन के लिए आवश्यक तत्व हैं।[३] राजा अपने राज्य में नदी और नहरों की उत्तम व्यवस्था रखें, युद्ध के समय यदि शत्रु नदी और नहर की व्यवस्था बिगाड़ दें तो पुन: उसे राजा ठीक कराये जिससे उसके राज्य में चतुर्दिक समृद्धि फैले।[४] ऋग्वेद में सप्तनदियों- सिन्धु, गंगा, यमुना, सरस्वती, शतुद्रि (सतलज), पुरोष्णि (रावी) एवं असक्ति (चिनाब) का वर्णन मिलता है।[५]

नदियों में शुभ्र, निर्मल तथा सुनहले रंग की प्रवाह वाली सिन्धु नदी सर्वश्रेष्ठ मानी गयी है।[६] नदियाँ समुद्र की ओर बहती हैं और कुल्या (नालियाँ) तालाब की ओर बहती है।[७] वैदिक काल में जल की आपूर्ति नदियों के जल के अतिरिक्त वर्षा द्वारा, नहरों द्वारा एवं हिमपर्वतों के पिघले हुए बर्फ से की जाती थी।[८] ऋग्वेद में चार प्रकार से जल प्राप्त होने का विवरण मिलता है।[९]

''या आपो दिव्या उतवा स्रवन्ति खनित्रिमा उत वा याः स्वयं जाः।''

१. दिव्य जल-वृष्टि के द्वारा जो द्यु या आकाश से प्राप्त होते हैं।

२. स्रवणशील जल- नदियों तथा झरनों से प्राप्त होते हैं।

३. खनित्रिमा-जो खोदकर कुएँ और बावड़ियों से निकाले जाते हैं।

४. स्वयंजा- जो स्वयं स्रोत के द्वारा फूट कर बाहर आते हैं।

मूलत: वर्षा ही सभी प्रकार के जल का स्रोत है। प्राकृतिक जल के साधनों में नदी, झील, झरना और वर्षा का जल था, जबकि कृत्रिम साधनों में कुँआ, नहर और जलाशय आदि थे। वैदिक कालीन लोग कृषि की सफलता के लिए वर्षा और मानसून पर आश्रित थे। वेदों में इन्द्र को वर्षा का देवता माना गया है तथा इन्द्र की प्रार्थना भी की गई है।[१०] ऋग्वेद[११] में इन्द्र-वृत्त युद्ध के माध्यम से वर्षा के महत्व को बताया गया है। वैदिक साहित्य में वर्णित दो या तीन फसलों के आधार पर यह संभावना है कि वर्षा भी एक वर्ष में दो या तीन बार होती होगी। जल के स्थान की रक्षा के लिए अथर्ववेद में 'जलाधिपति' की नियुक्ति का वर्णन है।[१२] अथर्ववेद के एक मंत्र में वर्षा करने के लिए पर्जन्य देवता से प्रार्थना की गई है।[१३] दूसरे मंत्र में कहा गया है कि हे मरूद्रण! जिस देश में तुम जलवृष्टि करते हो, वहाँ तुम बलदायक अन्न एवं प्रजा का पोषण करते हो।[१४] जुते हुए खेत को भारी वर्षा सहन करने योग्य बताया गया है।[१५]

उत्तर वैदिक ग्रन्थों में जल के कृत्रिम साधनों के उपयोग के वर्णन मिलते हैं। अथर्ववेद में नहर खोदने का उल्लेख है तथा नदी को गाय एवं नवनिर्मित नहर (कुल्या) को बछड़ा कहा गया है।[१६] यजुर्वेद में कुल्या एवं सरसि शब्द बाँध, कुण्ड या तालाब के अर्थ में भी प्रयुक्त हुए हैं। काट्य (पानी काटकर खेत में ले जाने वाला बम्बा) एवं कुप्य (कुँआ) का भी वर्णन है।[१७]

वैदिक काल में लोगों ने जल की आपूर्ति के लिए कृत्रिम साधनों की व्यवस्था कर ली थी। कूप[१८], सिंचाई के लिए जल[१९], नहरों द्वारा सिंचाई की व्यवस्था[२०] तथा खेतों की सिंचाई करते हुए किसान[२१] एवं नहरों के खोदने[२२] आदि संहिताओं के प्रसंगों से भी इसकी पुष्टि होती है। ऋग्वेद[२३] के अन्य मंत्र भी कृत्रिम सिंचाई की ओर संकेत करते हैं जैसे- अवत-पोखरा, द्रोण-आहाव (काष्ठ के बने-बड़े पात्र), बरत्र-मोटीवत (रस्सी), अक्षित जल (कम न होने वाला जल), उद्रिण (ऊपर निकाले हुए जल), अश्मचक्र (पत्थर के बने चक्र), क्रोश (पेटियाँ जो चक्र में बंधी होती हैं जिनके माध्यम से जल नीचे से ऊपर आता हैं) तथा कूप (कुँआ)। यजुर्वेद[२४] में भी सुत्थार (नाला), कुल्या (नहर), वैशन्त (तालाब), नीप्य (नहर जल), काट्य (बम्बा या गुल जिससे पानी काटकर खेत सींचे जाते हैं), सर (तालाब), कुप्य (कुँए का जल)

* असिंस्टेंट प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

आवट्य (गड्ढों, पोखरों का जल), मेध्य (मेघ का जल) तथा अवर्ष्य (बिना वर्षा जल) आदि का उल्लेख मिलता है।

ऋग्वेद और यजुर्वेद के साथ ही बाद के साहित्य में भी जल प्राप्ति के लिए कुएँ का वर्णन मिलता है। गहरे जल से सदैव परिपूर्ण रहने वाले अक्षित कूप से चर्म-रज्जु की सहायता से जल निकालने का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है।[२५] मजदूरों और बैलों की सहायता से कुएँ से पानी निकालने के लिए चमड़े के बरत्रा, लकड़ी की बाल्टी (कष) और प्रस्तर के चक्र (अश्म चक्र) का प्रयोग होता था। वरत्रा के एक सिरे पर बाल्टी बांधकर पहिए या चक्र के सहारे पानी कुएँ से ऊपर लाया जाता था।[२६]

ऋग्वेद में 'अनुपक्षित'[२७] शब्द मिलता है। गाँव में पुर का जल जहाँ पर पहले उड़ेला जाता है, उसे वर्तमान समय में 'पाच्छा' कहते हैं। मुंशीराम शर्मा ने इस पाच्छा को अनुपक्षित का अपभ्रंश माना है।[२८] बौधायन धर्मसूत्र में सार्वजनिक कूप का वर्णन मिलता है जिससे कुएँ के स्वामित्व एवं विविधता का अनुमान होता है।[२९]

वर्षा एवं कुएँ के अतिरिक्त नहरों के द्वारा भी जल संरक्षण का ज्ञान संभवत: वैदिक जनों का था। ऋग्वेद[३०] में आये 'खनित्रिमा आप:' शब्द नहरों का द्योतक है। कौशिक सूत्र[३१] में नदियों के प्रवाह को मोड़कर नालियों के माध्यम से सिंचाई की विधि को नहरों का प्राचीन एवं प्रारम्भिक रूप माना जा सकता है। वेदों में वर्णित 'कुल्या'[३२] शब्द संभवत: इसी का द्योतक है। नहरों के खोदने एवं उनके द्वारा सिंचाई की व्यवस्था के अनेक वर्णन वैदिक संहिताओं में मिलता है।[३३]

वेदों में तालाबों एवं जलाशयों का उल्लेख प्राप्त होता है।[३४] विपरीत ऋतुओं के लिए वर्षा जल को संग्रहित करने के लिए वैदिक जन जलाशयों एवं तालाबों का निर्माण करते थे। प्राचीन काल से ही भारतीय कृत्रिम जलाशय के निर्माण कला से परिचित थे। मोहन जोदड़ों के स्नानागर इसका समर्थन करते हैं।[३५] कूपों, तालाबों, जलाशयों आदि कृत्रिम जल स्रोतों से क्षेत्रों तक जल पहुँचाने के लिए बड़ी-बड़ी नालियाँ थीं।[३६]

जल शोधन सूर्य किरणों द्वारा, यज्ञ द्वारा एवं वाष्पीकरण की प्रक्रिया से किया जाता है जो यजुर्वेद द्वारा अनुप्रमाणित है, जो यज्ञ से शुद्ध किये हुए अन्य जल और वायु आदि पदार्थ हैं वे सभी बुद्धि, बल, पराक्रम एवं दीर्घायु देने के लिए समर्थ होते हैं।[३७] अग्नि भी जल शोधन की एक प्रक्रिया है अत: उबले हुए जल को कीटाणु रहित माना जाता है।[३८] यजुर्वेद में कुश को भी जलशोधक माना गया है।[३९] मरुदेश से प्राप्त जल विष को दूर करता है।[४०]

ऋग्वेद में वर्णित जल के प्रकारों में नदियों एवं झरनों के जल की भी गणना की गयी है।[४१] अथर्ववेद में बर्फ के पर्वतों के पिघले हुए जल की तुलना झरनों के जल से की गई है।[४२] देश के अधिकांश भागों में वर्षा प्राय: अनियमित एवं असंतुलित होने के कारण प्रारम्भ से ही भारतीय वर्षा के पूरक स्वरूप कुएँ, तालाब, नहर आदि कृत्रिम साधनों से दैनिक जीवन एवं कृषि के लिए समुचित जल संरक्षण करते थे। वेदों में सिंचाई से सम्बन्धित यत्र-तत्र वर्णन मिलते हैं जिनसे यह संकेत मिलता है कि जिस भूमि में वृष्टि से पर्याप्त धान (धान्य) हो जाए वहाँ वृष्टि जल से ही उत्पादन करना चाहिए, किन्तु जहाँ बारिश पर्याप्त नहीं होती वहाँ अन्य स्थानों से जल लाकर कृषि करनी चाहिए। केवल वर्षा पर ही आश्रित रहने वाले देश में उत्तम कृषि नहीं हो सकती। अत: नहर, जलाशय आदि के प्रबन्ध द्वारा जल का उत्तम संग्रह करके अच्छी कृषि करने का उपदेश वेद भी देता है।

जल संरक्षण के इन कृत्रिम साधनों की व्यवस्था न केवल अनावृष्टि के विरूद्ध थी बल्कि अतिवृष्टि एवं बाढ़ के विरूद्ध भी की जाती थी। उद्दश्यों की विभिन्नता के अनुसार कृत्रिम सिंचाई के भी 'खेय और बंध' दो प्रकार थे। खेय का उपयोग प्रवाहित जल को रोक कर संग्रहित करने के लिए किया जाता था। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि वैदिक लोगों को दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाले जल का समुचित प्रबन्धन एवं संरक्षण का ज्ञान था।

सन्दर्भ

१. सरस्वती, जगदीश्वरानन्द (सम्पादक), २०१०, ऋग्वेदभाष्यम, नई दिल्ली, १०/८२/१

२. सरस्वती, जगदीश्वरानन्द (सम्पादक), २०१०, अथर्वेदभाष्यम, नई दिल्ली, ३/१३/१

३. पूर्वोद्धृत, ऋग्वेदभाष्यम, ३/४/७

४. वही, ७/८/९,७/३४/११

५. वही, १०/९५/५

६. वही, ८/२६/२८, १०/७५/१

७. वही, १०/४३/७

८. सातवलेकर, श्रीपाद दामोदर, वेद में कृषि, पृ.१८

९. पूर्वोद्धृत, ऋग्वेदभाष्यम, ७/४९/२

१०. सरस्वती, जगदीश्वरानन्द (सम्पादक), २०१०, ऋग्वेदभाष्यम, नई दिल्ली, १०/१०१/५, १/८५/११

११. वही, १०/९३

१२. सरस्वती, जगदीश्वरानन्द (सम्पादक), २०१०, अथर्ववेदभाष्यम, नई दिल्ली, ३/३/३

१३. वही, १७/१८/१

१४. वही, ६/१२/१-३

१५. वही, ७/१८/१

१६. वही, ६/१२८/१-४, रामगोपाल,१९५९, इण्डिया ऑफ वैदिक कल्पसूत्राज, दिल्ली, पृ. १३५

१७. सरस्वती, जगदीश्वरानन्द (सम्पादक), २०१०, यजुर्वेदभाष्यम, नई दिल्ली, १६/३७-३८

१८. पूर्वोद्धृत, ऋग्वेदभाष्यम, १०/१०१/५, १/८५/११

१९. वही, १०/९३

२०. वही, १०/९९/४

२१. वही, १०/६८/३

२२. वही, १०/७५/२१

२३. सिमचह अवतम उद्रिणं वयं सुषेकमनुप क्षितम।
वही, १०/१०१/५
इष्कृताहावमहतं सुखरत्रं सुषेचनम, उद्रिणं सिंचे अक्षितम्।
द्रोणाहाव मवतम् अश्मचक्रं असंत्रकोशं सिचता नृपाणाम्।
वही, १०/१०१/६

२४. पूर्वोद्धृत, यजुर्वेदभाष्यम, १६/३७-३८

२५. मैक्डोनल्ड, ए., १९६३, दि वैदिक मैथोडोलॉजी, वाराणसी, पृ. ६७

२६. सुदेवो असि वरूण यस्य ते सप्तसिन्धव:।
अनुरक्षन्ति काकुदं सूर्म्य सुषिराभिव।।
वही, १०/१०१/५

२७. वयं उद्रिणं सुषेकं अनुपक्षितं। वही, १०/१०१/५

२८. शर्मा, मुंशीराम, वैदिक संस्कृति एवं सभ्यता, पृ. २५८

२९. बौधायन धर्मसूत्र, २/३/५/५/६

३०. पूर्वोद्धृत, ऋग्वेदभाष्यम, ७/४९/२

३१. कौशिक सूत्र, ४/५/१-१०

३२. कुल्या: इव हृदम्। पूर्वोद्धृत, ऋग्वेदभाष्यम, ३/४५/३, १०/४३/७

३३. पूर्वोद्धृत, ऋग्वेदभाष्यम, १०/७५/२ एवं १०/९९

३४. पूर्वोद्धृत, यजुर्वेदभाष्यम, १०/३७-३८

३५. भारती, भाग-३, १९५९-६०, पृ. १४७

३६. पूर्वोद्धृत, ऋग्वेदभाष्यम, ८/६९/१२

३७. पूर्वोद्धृत, यजुर्वेदभाष्यम, १३/८

३८. वही, यजुर्वेदभाष्यम, ३३/९९, ३/१२

३९. वही, ३३/९९, ३/१२

४०. पूर्वोद्धृत, अथर्ववेदभाष्यम, ६/१००/२

४१. पूर्वोद्धृत, ऋग्वेदभाष्यम, ७/४९/२

४२. पूर्वोद्धृत, अथर्ववेदभाष्यम, १/६/४

●

ईश्वर विचार : केनोपवाक्यभाष्य

*डॉ. मिथिलेश पाण्डेय**

उपनिषदों में केनोपनिषद् सामवेदीय तवलकार ब्राह्मण के अन्तर्गत आता है। इस उपनिषद् में आरम्भ से लेकर अन्त तक सर्वप्रेरक ईश्वर के ही स्वरूप और प्रभाव का वर्णन किया गया है। प्रथम दो खण्डों में सर्वाधिष्ठान परब्रह्म के पारमार्थिक स्वरूप का लक्षणा से निर्देश करते हुए परमार्थ ज्ञान की अनिर्वचनीयता तथा ज्ञेय के साथ उसका अभेद प्रदर्शित किया गया है। इसके पश्चात् तीसरे और चौथे खण्ड में यक्षोपाख्यान द्वारा भगवान् का सर्वप्रेरकत्व और सर्वकर्तृत्व दिखलाया गया है। इसकी वर्णन शैली बड़ी ही उदात्त एवं गम्भीर है। मंत्रों के पाठ मात्र से ही हृदय एक अपूर्व आनन्द का अनुभव करने लगता है।

भगवती श्रुति की महिमा अथवा वर्णन शैली के सम्बन्ध में कुछ भी कहना सूर्य को दीपक दिखाना है।

इस उपनिषद् का विशेष महत्व इसी से प्रकट होता है कि भगवान् भाष्यकार ने इस पर दो भाष्य रचे है।

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥4॥[1]

''ब्रह्म विदित से भिन्न है'' इसकी पुष्टि के लिए ही ये 'यद्वाचा' इत्यादि मन्त्र पढ़े जाते हैं। जो ब्रह्म वाणी से अर्थात् शब्द से अनभ्युदित अनुक्त अर्थात् अप्रकाशित है, और जिससे वाणी अभ्युदित होती है ऐसा कहकर उसे वाणी के प्रकाश का हेतु बतलाया है, अर्थात् वाणी में जो अर्थ को अभिव्यञ्जित करने का सामर्थ्य है वह ब्रह्म का ही है। जो वाणी से प्रकट नहीं होता बल्कि वाणी के प्रकाशित होने का हेतु है इस कथन से ब्रह्म का अविषयत्व सिद्ध करता हुआ शास्त्र पुरुष को अन्य वस्तु के ग्रहण करने की इच्छा से निवृत्त करके अपने आत्मस्वरूप में ही जोड़ता है, और 'उसी को तु ब्रह्म जान' इस वाक्य द्वारा वह उसे अन्य प्रयत्न से उपरत करता है तथा 'नेदं यदिदमुपासते' इस कथन से भी ब्रह्म का उपास्यत्व निषेध करने के कारण वह अन्य सब ओर से उसे निवृत्त करता है।

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥5॥[2]

'यन्मनसा' इत्यादि श्रुतियों का तात्पर्य समान ही है।

'मन मनन' किया जाता है अर्थात् जिस नित्य विज्ञानस्वरूप ब्रह्मद्वारा मन भी विषय किया जाता है। जो सब इन्द्रियों का अविषय है और नित्य विज्ञान स्वरूप से अवभासित होने के कारण जिससे वे सभी इन्द्रियाँ अपने व्यापार और विषयों के सहित अवभासित होती है। यही इस मन्त्र का तात्पर्य है। तथा ''क्षेत्रज्ञ सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है'' इस स्मृति से, और 'उसी के तेज से' यह सब प्रकाशित है, इस आथर्वणी श्रुति से भी ब्रह्म ही प्रमाणित है।

लोक जिसे अन्तःकरण की वृत्ति से युक्त नेत्रद्वारा नहीं देखता अर्थात् विषय नहीं करता, किन्तु जिस चैतन्यात्मज्योति के द्वारा चक्षुओं अर्थात् अन्तःकरण की वृत्तियों के भेद से विभिन्न हुई-नेत्रेन्द्रिय की वृत्तियों को देखता विषय करता यानी व्याप्त करता है उसी को तु ब्रह्म जानो। अन्तःकरण की और प्राण की वृत्तियों के सहित नासिकारन्ध्र में स्थित एवं पृथ्वी के कार्यभूत प्राण यानी घ्राण के द्वारा जो प्राणन अर्थात् गन्धयुक्त वस्तुओं को विषय नहीं करता, बल्कि जिस चैतन्यात्मज्योति से प्रकाश्य रूप से प्राण अपने विषय की ओर प्रवृत्त किया जाता है वही ब्रह्म है।

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त॥1॥[3]

''ब्रह्म ह देवेभ्यो' इस वाक्य से 'ब्रह्म' इस शब्द से यहाँ परमात्मा ईश्वर समझना चाहिए, क्योंकि यहाँ उसी की सूचना देने वाले लिङ्ग देखे जाते हैं। नित्यसर्वज्ञ परमेश्वर को छोड़कर और किसी में अग्नि आदि देवताओं का पराभव करके तृण को बज्र बना देने की शक्ति नहीं हो सकती।

श्रुति से भी सिद्ध होती है- ''सम्पूर्ण लोकों से विलक्षण परमात्मा लोक के दुःख से लिप्त नहीं होता'' 'वह जरा और मृत्यु को पार किये हुए है'। ''जरा और मृत्यु से रहित है। वह सत्यकाम सत्यसंकल्प है, वह सर्वेश्वर है तथा शुभ कर्म कराता है'' ''दूसरा (पक्षी) कर्मफल को न भोगता हुआ केवल उसे देखता है''।

''इस अक्षर ब्रह्म की आज्ञा में सूर्य और चन्द्रमा स्थित है''। इत्यादि श्रुतियाँ संसार धर्मो से रहित एक नित्यमुक्त आत्मा की सिद्धि में ही प्रमाणभूत हैं। जैसे कि सेवा आदि कर्मों का फल उसके अनुरूप फल को जानने वाले सेव्य की बुद्धि पर हुए संस्कार की अपेक्षा से मिलता है। इससे सम्पूर्ण जीवों की बुद्धि कर्म और फल के विभाग का साक्षी, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ ईश्वर सिद्ध हुआ।

यत्साक्षाद्परोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः

'जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है' 'जो सर्वान्तर आत्मा है' इस श्रुति से भी यही प्रमाणित होता है।

*अतिथि अध्यापिका, वैदिक दर्शन विभाग, संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान सङ्काय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

इस सृष्टि में जीवों का वही आत्मा है, उससे भिन्न कोई द्रष्टा, श्रोता, मन्ता अथवा विज्ञाता नहीं है। 'नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ' इत्यादि भिन्न आत्मा का प्रतिषेध करने वाली श्रुति से तथा 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य द्वारा ब्रह्म का आत्मत्व उपदेश करने से सिद्ध होता है मिट्टी के ढ़ेले का सुवर्णरूप से कभी उपदेश नहीं किया जाता। यहाँ पर पूर्वपक्षी शंका करता है कि जीव का ईश्वर से अभेद ठीक नहीं तो भगवान् शंकराचार्य उत्तर देते है कि 'यह ब्रह्म अन्य है, और मैं अन्य हूँ। ऐसा जानने वाला ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानता।

''ते क्षय्यलोका भवन्ति'' 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति' इत्यादि वाक्यों से भेद दृष्टि का निषेध किया जाता है और एकत्व का प्रतिपादन करने वाली तो सहस्रों श्रुतियाँ विद्यमान हैं। बुद्धि आदि उपाधियों से व्यतिरिक्त और विलक्षण ऐसे कोई जीव नहीं है जो ईश्वर से भिन्न लक्षण वाले हों। एक ही नित्यमुक्त ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियों का आत्मा माना जाता है। क्योंकि चक्षु और बुद्धि आदि संघात की परम्परा से प्राप्त हुए अहंकार और ममता रूप विपरीत ज्ञान का विच्छेद न होना ही जिसका लक्षण है, नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त विज्ञानस्वरूप ईश्वर ही जिसका अन्तर्यामी है, जो स्वयं नित्यविज्ञान का अवभास (प्रतिबिम्ब) चित्त, चैत्य (सुखादि विषय) बीज (अविद्यादि) और बीजी (शरीरादि) से तादात्म्य को प्राप्त होकर तद्रूप हो गया है तथा जो कल्पित अनित्य विज्ञानवान् और ईश्वर के लक्षण से विपरीत है वही बाह्य जीव माना गया है जिसके इस औपाधिक स्वरूप का विच्छेद न होने से संसार का व्यवहार होता है, तथा विच्छेद हो जाने पर मोक्षव्यवहार होता है। इसमें जो देव, पितृ और मनुष्य रूप भूतों का संघात विशेष है वह मृत्तिका के लेप के समान प्रत्यक्ष नष्ट हो जाने वाला और (चेतन आत्मा से) सर्वथा भिन्न है। किन्तु जो स्थूल सूक्ष्म और कारण तीनों प्रकार के शरीरों से विलक्षण चौथा आत्मा है वह ईश्वर से भिन्न लक्षणों वाला नहीं माना जा सकता। यदि कहो कि बुद्धि आदि कल्पित आत्मा से निरूपाधिक चेतनस्वरूप आत्मा भिन्न है इस अभिप्राय से हमने 'लक्षण भेद होने के कारण' ऐसा हेतु दिया है, तो तुम्हारा यह हेतु आश्रयासिद्ध है। क्योंकि ईश्वर से भिन्न और किसी आत्मा की सत्ता नहीं है।

यदि ईश्वर से भिन्न और कोई आत्मा नहीं है तो ईश्वर में ही विरूद्ध लक्षणत्व तथा सुख-दुःख आदि का योग होना तो ठीक नहीं है पूर्वपक्षी के इस प्रकार की शंका का समाधान करते हुए भगवान् भाष्यकार ने कहा ऐसी बात नहीं है क्योंकि आत्मा सूर्य के समान केवल निमित्त मात्र है, लोकों की उसमें जो विपरीत बुद्धि है वह केवल आरोप के कारण है। जिस प्रकार सूर्य नित्यप्रकाश स्वरूप होने के कारण लौकिक पदार्थों की अभिव्यक्ति का निमित्त मात्र होता है तथापि लोकों की दृष्टि में विपरीत भाव आ जाने के कारण इस अध्यारोप का पात्र बनता है कि वह उदय-अस्त और दिन-रात्रि आदि का कर्ता है, उसी प्रकार नित्य विज्ञान शक्ति स्वरूप ईश्वर में भी लोकों के ज्ञान का विनाश तथा सुख-दुःख और स्मृति आदि की निमित्तता उपस्थित होने पर लोकों की विपरीत बुद्धि से विपरीत लक्षणत्व तथा सुख-दुःखाश्रयत्व का आरोप कर लिया जाता है। जबकि उसमें स्वतः ऐसा कोई भाव नहीं है। इसके सिवा सभी जीव अपनी-अपनी दृष्टि के अनुरूप ही उसमें आरोप करते हैं इसीलिए भी वह उन सब आरोपों से अछूता है जिस प्रकार आकाश के मेघ आदि से आच्छादित हो जाने पर जिस-जिस को सूर्य का प्रकाश दिखलायी नहीं देता वही-वही अन्यत्र प्रकाश रहने पर भी भ्रांतिवश अपनी दृष्टि के अनुसार ऐसा आरोप करता है कि 'इस समय यहाँ सूर्य प्रकाशमान नहीं है'। इसी प्रकार इस आत्मतत्त्व में भी बुद्धि आदि की वृत्तियों के उदय और अस्त के वैचित्र्य को प्राप्त हुई भ्रांति से आरोपित सुख-दुःखादि का योग हो सकता है। उस ईश्वर के ही स्मृति वाक्य भी हैं, जैसे- ''मुझसे ही प्राणियों को स्मृति, ज्ञान और अज्ञान-प्राप्त होते है' 'ईश्वर किसी के पाप को स्वीकार नहीं करता इत्यादि।

अतः सूर्य के समान एक ही नित्य मुक्त ईश्वर में लोक ने अविद्या वश संसारित्व का आरोप कर रखा है, तथा शास्त्रादि प्रमाणों से उसका असंसारित्व जाना गया है। इसलिए इसमें कोई विरोध नहीं है। इससे प्रत्येक जीव के ज्ञानादि भेद का प्रत्याख्यान हो गया, क्योंकि उन सभी में सूक्ष्मता, चैतन्य और सर्वगत्वादि धर्म समान रूप से रहने के कारण भेद के हेतु का अभाव है। यदि उन्हें विकारी माना जाय। तो वे अनित्य हो जायेंगे। इसके सिवा मुक्तावस्था में किसी ने भी आत्मा का कोई विशेष भाव नहीं माना। यदि ऐसा माना जाय तो अनित्यत्व का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा, तथा भेद तो केवल अविद्यावान् को ही उपलब्ध होता है, अविद्या का क्षय होने पर जीव और ईश्वर का एकत्व ही सिद्ध होता है।

इस उपनिषद् के तृतीय खण्ड में भाष्यकार ने यह दर्शाया है- 'ब्रह्मेति परो लिङ्गात् न ह्यन्यत्र परादीश्वरात् नित्यसर्वज्ञात्।'[4] यहाँ ब्रह्म शब्द से परमात्मा (ईश्वर) समझना चाहिए, क्योंकि यहाँ उसी की सूचना देने वाले लिङ्ग (चिन्ह) देखे जाते हैं। नित्सर्वज्ञ परमेश्वर को छोड़कर और किसी में भी अग्नि आदि देवताओं का पराभव करके तृण को वज्र बना देने की शक्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार 'तन्न शशाक दग्धुम्' (उसे अग्नि नहीं जला सका) इत्यादि लिङ्ग से ब्रह्मशब्द का वाच्य 'ईश्वर' ही है, ऐसा निश्चित हो जाता है। इसके सिवा और किसी कारण से अग्नि तृण को जलाने में और वायु उसे उड़ाने में असमर्थ नहीं हो सकते थे,- यह ठीक है कि 'ईश्वर' की इच्छा से तो तृण भी वज्र हो जाता है। ईश्वर की सिद्धि संसार की नियमित प्रवृत्ति से होती है। जब वासना का परित्याग होता है उसी अवस्था में ब्रह्म की प्राप्ति होती है यही इस उपनिषद् का उपदेश है।

निष्कर्ष स्वरूप इस उपनिषद् में सच्चा कर्मयोगी एवं सच्चा ब्रह्मज्ञानी बनाने की शिक्षा दी गयी है। ब्रह्म सगुण एवं निर्गुण स्वरूप है सब कुछ उसी के संकेत पर होता है। ब्रह्मलक्ष्य साधक जब अपने में कर्तृत्व का अभिमान त्यागकर दृढ़ता धीरता एवं अभिमान शून्यता से ब्रह्म के सामने पहुँचता है, तो वह परमोपास्य सर्वाराध्य, सर्वसमर्थ प्रभु विद्या के रूप में, गुरू के रूप में या मातृ

के रूप में दर्शन देकर अपना परिचय प्रदान करते हैं। वह ज्ञानातीत, बाह्यान्तरिन्द्रिय अगम्य होने पर भी भक्तिलभ्य हैं। कृपालु एवं दयामहार्णव हैं। जो कहता है मैं ब्रह्म को जानता हूँ वह उसे नहीं जानता, जो कहता मैं ब्रह्म को नहीं जानता वह भी उसे नहीं जानता, जो कुछ नहीं कहता वहीं उसे जानता है। वह गुरू, प्रभु, माँ, परम परमेश्वर प्राप्य हैं, लक्ष्य हैं, किन्तु उसके लिए अनासक्ति, निरभिमानिता, दृढ़ता, भक्ति आवश्यक है।

ईश्वर को प्राप्त करने के बाद कुछ भी पाना शेष नहीं रह जाता उसको प्राप्त कर साधक महानन्द प्राप्त कर लेता है। सबका वास्तविक लक्ष्य वही है। लक्ष्य की ओर एवं लक्ष्य-प्राप्ति के साधनों की ओर ही इस उपनिषद् का संकेत है। इस प्रकार ब्रह्मप्राप्त शिव-स्वरूप साधक ही सच्चा कर्मयोगी होता है, वह विचारों में अद्वैती तथा क्रिया में द्वैती साधक विश्व का परम कल्याण करता रहता है।

संदर्भ

1. खण्ड एक (केनोपनिषद्)
2. खण्ड 1 (केनोपनिषद्)
3. खण्ड 3 (केनोपनिषद्)
4. के0उ0वा0भा0

●

भारतीय संगीत : एक अध्ययन

जागृति पाठक एवम् प्रो. विरेन्द्रनाथ मिश्र***

अखण्ड मण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।

नादब्रह्म चिन्दानन्दकमद्वितीयमुपास्महे॥1॥

चैतन्यं सर्वभूतानां विवृत्तं जगदात्मना।

नादब्रह्म तदानन्दमद्वितीयमुपास्महे॥

नादोपासनया देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।

भवन्त्युपासिता नूनं यस्मादेते तदात्मकाः॥

(सं0र0, 1/3/1-2)

जो समस्त संसार का चैतन्य है, जो अद्वितीय और आनन्दमय है, जो विश्वरूप में विवृत्त है, जिसकी पंच प्राणों ने, षट्दर्शन ने, सप्तलोक ने, अष्ट वसु ने, नव निधि ने, दश इन्द्रियों ने, एकादश रूद्र ने, द्वादश आदित्यों ने, इन्द्र, वरूण और मरूत ने, विश्व के आदि, मध्य और अंत ने सर्वदा ही उपासना की है, हम भी उस महत् नाद की उपासना करते हैं।

योग समानार्थ संगीत भी एक उपास्य विद्या है। प्रयोग और विनियोग काल में वही 'कला है। संगीत-विद्या में उपलब्ध नादानुभूति का इतर विद्याओं की कथा-समृद्ध चिन्तन-परम्परा से क्या वैशिष्ट्य है, इसी विचार को विभिन्न दर्शनों में नाद के स्वरूप का चिन्तन शीर्षक प्रकरण में सम्यक् बताने का प्रयास किया गया है। संगीत की एकमात्र उपादानभूत व्यापक नाद-सम्पत्ति को 'नादब्रह्म' की संज्ञा दी गई है। इसका तात्पर्य यह है कि चाहे शिल्प हो, चाहे साहित्य, दृश्य हो अथवा श्रव्य, अन्यान्य कलाओं में कोई भी कला हो। सभी क्षेत्रों में व्यापक तत्व को 'ब्रह्म' शब्द से विभूषित किया गया है।

संसार में एकमात्र 'चैतन्य' ही व्याप्त है। अतः सांसारिक पदार्थ जड़ होते हुए भी उनकी व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार किया गया है। उनमें व्यवहास और लोकरंजन भी होता है। अतः संगीत को 'धर्मार्थकाममोक्षाणाभि दमेवैकसाधनम्' कहकर साध्य और साधन दोनों रूपों में अंगीकृत किया गया है।

नाद को ब्रह्म का रूप माना है। योगी और महर्षियों ने उसे निर्गुण ब्रह्म का सगुण रूप कहा है। भौतिक शास्त्र के विद्वानों ने बतलाया है कि ध्वनि दो प्रकार की होती है-(क) **संगीतोपयोगी ध्वनि**-जिसे हम 'नाद' कहते हैं। **(ख) संगीतेतर ध्वनि-**जिसे हम 'राव' कह सकते हैं।राव के उत्पादक का कम्पन क्षणिक और सन्तति से ही संगीत का उद्भव होता है। दर्शनिकों ने नाद के चार भेद माने हैं-परा पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी। इनमें से मध्यमा को संगीतोपयोगी नाद अर्थात् स्वर का आधार माना गया है। संगीत का उद्भव भावव्यंजक ध्वनि से हुआ है। भाव्यंजक ध्वनि भाषा और संगीत दोनोंका मूल है।

हमारे जितने संगीतशास्त्र हैं, वे सभी यह मानते चले आये हैं कि हमारी संगीत कला के आदि प्रेरक और उपदेशक देव-देवी रहे हैं। शिव ब्रह्मा सरस्वती, गन्धर्व और किन्नर को जो हम अपनी संगीत-कला के आदि प्रेरक मानते चले आये हैं, इसके मूल में यही भावना है कि संगीत-कला दैवी-प्रेरणा से ही प्रादुर्भुत हुई है। हमारे ऋषियों और आचार्यों का यह विश्वास है कि शंकर के डमरू से वर्ण और स्वर दोनों उत्पन्न हुए।

हमारा भारतीय संगीत सृष्टि के प्रादुर्भाव के समय से ही अखिल विश्व की प्रत्येक सजीव गतिविधियों में व्याप्त रहा है। प्राचीनकाल से ही यह हमारे आध्यात्मिक एवं भावात्मक जीवन का एक अभिन्न अंग माना जाता रहा है, क्योंकि मानवमात्र की प्रत्येक क्रिया ही संगीतमय है।

संगीत ईश्वरीय वाणी है? अतः यह स्वयं ब्रह्मस्वरूप ही है। शास्त्रों से ज्ञात होता है कि ब्रह्म एक। अखंड एवं अद्वैत होते हुये भी परब्रह्म और शब्द ब्रह्म-इन दो रूपों में कल्पित होता है। सामान्यतः गाने-बजाने को संगीत के रूप में जाना जाता है, परन्तु जब शास्त्रोकत परिभाषानुसार संगीत को हम देखते हैं तब सबसे पहले संगीत रत्नाकर का यह श्लोक सामने आता है-

''गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते।''

अर्थात्-गीत, वाद्य तथा नृत्य इन तीनों कलाओं का समूह संगीत कहलाता है।

वस्तुत; संगीत एक अन्विति है, जिसमें गीत, वाद्य एवं नृत्य तीनों का समावेश है, अर्थात् गीत, वाद्य, तथा नृत्य, तीनों कलाओं की समष्टि अभिव्यंजना संगीत के रूप में व्यक्त होती है।

प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में संगीत का व्युत्पत्तिगत अर्थ 'सम्यक् गीतम्' रहा हैं 'वराहोपनिषद' में कहा गया है-

''संगीततालललयवाद्यवशं गतापि,

मौलिस्थ कुम्भपरिरक्षणधीर्नटीव।''

*शोध छात्र, वाद्य विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

** प्रोफेसर, वाद्य विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

अर्थात्-संगीत में ताल, लय एवं वाद्य के वश में हुई नहीं भी सिर पर स्थित घड़े की रक्षा में बुद्धि लगा देती है। संगीत की जब 'सम्यक् गीतम्' के अनुसार व्युत्पत्ति करते हैं तो इसमें गीत, वाद्य तथा नृत्य का अभिन्न साहचर्य सा प्रतीत होता है।

संगीत आनन्द का आविर्भाव है। आनन्द ईश्वर का रूप है। संगीत के द्वारा ही दुःख के लेश मात्र से, भी संबंध न रखने वाला सुख मिलता है। अन्य विषयों से होने वाले सुखों के आगे या पीछे दुःख की संभावना रहती है, परन्तु इस दुःख पूर्ण संसार में संगीत एक स्वर्गाभास है। संगीत के ईश्वरस्वरूप होने के कारण इसे मोक्षमार्ग-प्राप्त का साधन कहा गया है। योग और धर्मशास्त्र के आचार्य विज्ञानेश्वर के अनुसार-''वीणा वादन के तत्व को जानने वाला, श्रुति-जातियों में विशारद एवं ताल का ज्ञाता व्यक्ति बिना प्रयास के मोक्ष के मार्ग को प्राप्त करता है।''

पूजा-अर्चना में, साधना में, संगीत के बिना उच्चारण मात्र रहने के रूप में रहता है। संगीत का मनोहर सामञ्जस्य एक दृढ़ रज्जु बनकर भगवान के नाम रूप को मन के साथ बाँध देता है, क्योंकि ईश्वर संगीत से जितना प्रसन्न होते हैं, उतना अन्य तरीकों से नहीं-

''गीतेन प्रीयते देवः सर्वज्ञः पार्वतीपतिः।

गोपीपतिरनन्तोऽपि वंशध्वनिवशंगतः॥26॥

सामगीतिरतो ब्रह्मा वीणासक्ता सरस्वती।

किमन्ये यक्षगन्धर्वदेव-दानव-मानवाः॥27॥

-संगीत रत्नाकर, प्रथमस्वराध्याय

अर्थात् जगतपालक, सब कुछ जानने वाले पार्वतीपति भगवान शंकर गीत से प्रसन्न होते हैं। गोपियों के पति अनन्त भगवान् श्रीकृष्ण वंशी की ध्वनि के वंश में हो जाते हैं, सृष्टिकर्त्ता भगवान ब्रह्मा सामवेद की गीति में आसक्त है तथा देवी सरस्वती वीणा में आसक्त हैं। जब देवी-देवताओं की यह स्थिति है, तब यक्ष, गंधर्व, देव, दानव तथा मानव की बात ही क्या है!

संसार में जितनी भी कलायें हैं, विधायें हैं। उन सभी में संगीत का सर्वश्रेष्ठ स्थान है, क्योंकि प्रत्येक क्षेत्र का मनुष्य स्वान्तः सुखाय के लिये संगीत की शरण चाहता है। यह लौकिक तथा पारलौकिक दोनों ही सुखों को प्रदान करने वाला, तंत्र-मंत्र की मूल शक्ति तथा ब्रह्मा का प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप है।

''यूनान के दार्शनिक प्लेटो के अनुसार, ''संगीत आत्मा का सौंदर्यहै, यह मानसिक व्याधि की औषधि है और साथ ही आत्मा के लिये उत्तम भोज्य-पदार्थ भी।''

शेक्सपीयर के अनुसार, 'जिस मनुष्य में संगीत नाम की कोई वस्तु नहीं होती, जिस पर मीठे स्वरों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वह राजद्रोही, दगाबाज और लुटेरा होने योग्य है। ऐसा मनुष्य कभी विश्वास योग्य नहीं।''

मार्टन लूथर के अनुसार, ''संगीत विश्व का नैतिक विधान है, वह विश्व को दिव्य सौन्दर्य प्रदान करता है। मानव के मस्तिष्क में नवीन रंग भरता है, और भावनाओं में रंगीत उड़ान की नयनाभिराम सुषमाएवं निराशा के प्रांगण में आनन्द का प्रताप प्रवाहित करता है। यह विश्व के प्रत्येक पदार्थ में जीवन और उत्साह के अभिनव स्फुरणों को मुखरित करता है।

ऑक्सफोर्डडिक्शनरी के अनुसार, ''Music is an art of combining sounds with a view to beauty form and expression of emotion. Emotion and will are the driving forces which create inspiration, Knowledge and beauty of Music.''[1]

संगीत, ध्वनियों के संयोग की ऐसी कला है, जो भावनाओं के प्रकार एवं व्यक्त करने को सौंदर्याभूति प्रदान करता है। मनोभाव एवं इच्छाशक्ति के मुख्य तत्व हैं, जो संगीत के लिये ज्ञान, सौन्दर्य एवं अन्तःप्रेरणा का निर्माण करते हैं।

भारतीय संगीत के प्रमाण वेद काल से ही प्राप्त होते हैं। वैदिक साहित्य में, अन्य कलाओं के साथ-साथ संगीत कला का भी उल्लेख प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है।

संगीत का उद्भव

संगीत कला की उत्पत्ति के सम्बन्ध में निश्चित तौर पर कह पाना अत्यंत कठिन है। संगीत कला की उत्पत्ति के बारे में विभिन्न मत प्राप्त होते हैं। संगीत प्रकृति की आत्मा है नदी झरने की कल-कल ध्वनि से भी हमें संगीत सुनाई पड़ता है। संभवतया मानव ने प्रकृति की विभिन्न ध्वनियों के आधार पर ही संगीत कला का आविष्कार किया होगा। ''संगीत की उत्पत्ति के सम्बन्ध में स्वामी प्रज्ञानन्द कहते हैं ''आदिम युग में संगीत मनुष्य के अंतःकरण में निहित था, विविध कार्यों में मनुष्य अपने से अधिक शक्तिशाली प्रकृति को समझता था। विभिन्न पशु-पक्षियों की ध्वनि को वह मंगल या अमंगल का प्रतीक मानता था। अनुकरण प्रिय मनुष्य उन ध्वनियों की सहायता से अर्थहीन भाषा के संगीत से विश्व देवता की वन्दना करता था। संभवतः वह संगीत से एक या दो स्वर का होता था। सप्त स्वरों का विकास कालक्रम में हुआ इसी शृंखलानुसार संगीत की उत्पत्ति हुई।''[2]

प्राचीन संगीत-ग्रंथकारों ने अपना ग्रन्थ प्रारम्भ करने के पूर्व ब्रह्मा, सरस्वती तथा महेश्वर की वन्दना इसी कारण से की है कि पौराणिक दृष्टि से संगीत का संबंध देवी-देवता से अविच्छिन्न रूप से माना है।

पं0 दामोदर द्वारा रचित ग्रन्थ संगीत दर्पण के अनुसार संगीत कला की उत्पत्ति इस प्रकार वर्णित है-

''दुहिणेन यदान्विष्टं प्रयुक्तं भरतेन च।

महादेवस्य पुरतस्तन्मार्गारण्यं विमुक्तिदम्॥''[3]

संगीत दर्पण श्लोक 4, पृ0 12

अर्थात् ब्रह्मा जी ने संगीत को शोधकर निकाला तथा भरतमुनि द्वारा महादेव के समझ जिसका प्रयोग किया गया। यह मुक्तिदायक है तथा मार्गी संगीत कहलाता है। भारतीय परम्परा में कुछ विद्वान संगीत की उत्पत्ति ओम् से भी स्वीकारते हैं।

कुछ विद्वानों का मत है कि संगीत का जन्म 'ओम' के गर्भ से हुआ 'ओम्' शब्द एकाक्षर होकर अ,उ,म् इन तीन अक्षरों से निर्मित हुआ है। संगीत को गांधर्व विद्या भी संबोधित किया गया है, भरत मुनि द्वारा लिखे ग्रन्थ नाट्यशास्त्र के अनुसार गांधर्व विद्या के तत्वों को समाहित करने वाले नाट्यवेद को स्वयंभू ब्रह्मा की रचना स्वीकारा गया है। संगीत की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भरत मुनि कहते हैं-

''एवं सकल्प्य भगवान् सर्ववेदाननुस्मरन्।

नाट्यवेदं तत श्चक्रे चतुर्वेदांगसंभवम्॥

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् साम्भ्यो गीतमेवच।

यजुवेदादभिनयान् रसानार्थर्वणादीप॥

भरतमुनि नाट्यशास्त्र 1-16-18

अर्थात् ब्रह्मा जी ने सर्व वेदों का मनन करके ऋग्वेद से भाषा, सामवेद से स्वर, यजुर्वेद से अभिनय एवं अथर्व वेद से रसशास्त्र उत्पन्न करके यह नाट्यवेद, जिसमें चारों वेद के अंगों का संकलन है निर्माण किया। श्रीमद् भगवद् के अनुसार भी संगीत की उत्पत्ति ब्रह्मा जी के मुख से स्वीकारी गई है।

''आयुर्वेदं, धनुर्वेदं गान्धर्व वेदात्मनः।

स्थापत्यं चासृजद् वेदं क्रमात्पूर्वादिभिर्मुखैः॥

(श्रीमद् भागवद् श्लो0 3/12/38)

अर्थात् आयुर्वेद, (चिकित्सा शास्त्र) धनुवैद (शस्त्र विद्या), गान्धर्व वेद (संगीत कला) और स्थापत्य वेद (शिल्प विधा) इन चारों उपवेदों को भी ब्रह्मा जी ने पूर्णादि मुखों से उत्पन्न किया।

संगीत मकरन्द के रचयिता नारद ने भी संगीत की उत्पत्ति ब्रह्मा जी से मानी है। किन्तु आचार्य शारंगदेव के संगीत रत्नाकर में संगीत की उत्पत्ति सदाशिव से मानी गयी है। शारंगदेव ने संगीतोत्पत्ति से लेकर क्रमिक युग के अनेक विद्वानों के नामों की सूची दी है, जिसमें सदाशिव, शिव, ब्रह्मा, दुर्गा, शक्ति, वायु, रंभा, अर्जुन, नारद आदि पौराणिक नामों के साथ-साथ भारत, कश्यप मुनि, मतंग, कोहल, दत्तिल, तुम्बरू, रुद्रट, नान्यदेव, भोजराज आदि ऐतिहासिक व्यक्तियों के भी नाम हैं।

मतंग मुनि द्वारा रचित वृहदेशी में कोहल के नाम से निम्न श्लोक वर्णित है-

''षडजं वदति मयूरो, ऋषभं चातको वदेत्।

अजा वदति गान्धारं, क्रौंचो वदति मध्यमम्॥

पुष्पसाधारणे काले कोकिलः पञ्चमं वदेत्।

प्रावृट्काले सम्प्राप्ते धैवतं दर्दुरो वदेत्॥

सर्वदा च तथा देवि! निषादं वदते गजः॥

मतंग, वृहद्देशी पृ0 12,16

अर्थात् मोर षड्ज में बोलता है। चातक ऋषभ में, अजा गंधार में, जबकि क्रौंच मध्यम स्वर में बोलता है। नये पुष्प अंकुरण काल में कोयल पंचम श्वर में बोलती है। मेढ़क धैवत स्वर में बोलता है और हाथी निषाद स्वर का उच्चारण करता है।

कुछ विद्वानों का विचार है कि कोहफाक में एक पक्षी है, जिसे फारसी में 'आतिशजन कहते हैं। इसी पक्षी की चोंच के सात छिद्रों में सात प्रकार के स्वर निकलते हैं, जिन्हें मुख्य स्वर मानते हुए संगीत की उत्पत्ति संभव हो चुकी है।

''फारसी में एक कथा इस प्रकार है-हजरत मूसा पैगम्बर को एक पत्थर दिखाई दिया। 'ब्राइल' नामक एक फरिश्ते ने अचानक प्रकट होकर उस पत्थर की ओर संकेत कर पैगम्बर को आदेश दिया कि वह उस पत्थर को सदैव अपने पास रखे। एक दिन बहुत प्यास लगने पर जब पैगम्बर को कहीं पानी नहीं मिला तो उन्होंने खुदा से प्रार्थना की। फलतः पानी की एक धारा उस पत्थर वर पड़ी और पत्थर सात टुकड़ों में बँट गया। धारा भी सात स्रोतों में बँटकर बहने लगी। हर धारा की ध्वनि एक-दूसरे से भिन्न थी। मूसा पैगम्बर ने सातों स्वरों को याद कर लिया। इस प्रकार संगीत का उद्भव हुआ।''[4]

अरूण भट्टाचार्य जी के अनुसार प्राचीन काल में संगीत प्रार्थना करने का एक साधन था। ''Music was no Mere abstract melody pettern to those ancient days, but had a sociological basic as it was a from of prayer.''[5]

पं0 लालमणि मिश्र के अनुसार ''वैज्ञानिक दृष्टि से संगीत-सृष्टि ध्वनि-आन्दोलनों का परिणाम हैं।''[6]

हमारे शास्त्रकारों ने वाणी को स्वरमयी और शब्दमयी माना है और इनको नाद के अधीन मानते हुए वेद, उपनिषद, योग, दर्शन, व्याकरण आदि शास्त्रों में विशिष्ट महत्व प्रदान किया गया है।

''शब्दस्यपरिणामोऽयमिव्याभिनायविदो विदुः।''[7]

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर संपूर्ण जगत को नाद का परिणाम माना गया है। 'संगीत मकरन्द' में नाद के दो भेद बताये गये हैं। आहत और अनाहत। अनाहत नाद बिना आघात के उत्पन्न होता है। इसे केवल तपस्वी, योगी ही सुन एवं समझ सकते हैं और मोक्ष प्राप्त करते हैं। जबकि आहत नाद किसी प्रकार से भी आघात द्वारा उत्पन्न होता है।

संगीत की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों का यह भी कथन है कि संगीत की उत्पत्ति भाषा से पहले हुई अथवा भाषा का जन्म संगीत से पहले हुआ।उमेश जोशी ने अपनी पुस्तक 'भारतीय संगीत का इतिहास' में मि0 लिवार्ड, मि0 हुल पार्डी, मि0 कार्ली गुड आदि प्रसिद्ध विद्वानों के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जो संगीत से पूर्व भाषा की उत्पत्ति को स्वीकार करते हैं। मि0 ओलीवर क्रिफिल्ड का मत है कि मानव को प्रथम ज्ञान भाषा का हुआ और इसके उपरान्त संगीत का। Curt Sachs ने अपनी पुस्तक The rise of Music in the ancient world में संगीत से पूर्व भाषा की उत्पत्ति के विषय में उल्लेख किया है। ''Music descended from spoken language. Philosphers developed this story-Fean Jackqyes Rousseau in france, Hearbert spencer in England, and Numberless others in various countries and musician dung to it with remarkable enthusiasm.''[8] परन्तु कैप्टर्न जार्ज ग्रान्ट ने अनी पुस्तक 'द यूनीवर्सल राइड्स ऑफ म्यूजिक' में संगीत और भाषा का जन्म एक साथ माना है। संगीत और भाषा दोनों की उत्पत्ति साथ ही साथ हुई।

कुछ विद्वान जैसे ''मिस्टर विलियन गेयनर वेल्स, मि0 जार्ज फोक्स, डॉ0 वर्न्स, डॉ0 लिपोर्ड हार्ली, मि0 जेम्स मिचार केन्ट, वेवोरेन माइल्स, मि0 जोन आर्थर आदि विख्यात विद्वानों ने भाषा से पूर्व संगीतोत्पत्ति की पुष्टि की है।''[9]

संगीत के जन्म के विषय में मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने वाले मुख्यतया ये विद्वान हैं-जेम्स लेन्ग तथा फ्रायड/इनके मत इस प्रकार हैं-''James Lange Theory-जेम्स लेन्ग तथा उनके मतानुयायियों के अनुसार पहले मानव ने चलना, बोलना आदि क्रियायें सीखीं, तत्पश्चात् उसमें भाव जाग्रत हुए फिर उन भावों की अभिव्यक्ति के लिए संगीत उत्पन्न हुआ।''[10]

''Freud's Theory-"Music is a Psychological need. Natural process.''[11]फ्रायड के अनुसार संगीत की उत्पत्ति बालक के सामन मानसिक आवश्यकतानुसार हुई। जिस प्रकार बालक रोना, हँसना, चिल्लाना आदि क्रियायें मानसिक आवश्यकता पड़ने पर स्वयं सीख जाता है, उसी प्रकार संगीत मानव को मानसिक आवश्यकता के कारण उसमें स्वतः उत्पन्न हुआ।

संगीत के उत्पत्ति काल के विषय में अनेक विद्वानों ने अपने विभिन्न मत प्रस्तुत किये हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार संगीत का जन्म दस हजार वर्ष ईसा पूर्व हो चुका था। कुछ विद्वानों के मतानुसार ईसा से पंद्रह-बीस हजार वर्ष पूर्व संगीत का जन्म हो चुका था। संगीत के उत्पत्ति काल का ठीकठाक अनुमान लगाना असम्भव है। परन्तु खुदाई द्वारा प्राप्त वस्तुओं से हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ों की सभ्यता एवं संस्कृति उच्च कोटि की दृष्टिगोचार होती है। मोहनजोदड़ों की खुदाई में बाँसुरी, तन्त्रीयुक्त वीणा, चमड़े के कई प्रकार के वाद्य-यन्त्र, दो नर्तकियों की काँसे की मूर्तियाँ और एक नर्तक की पत्थर की भग्न मूर्ति इत्यादि संगीत संबंधी सामग्री मिली है।

हमारा जो सबसे प्राचीन, नियमित और सुसम्बद्ध संगीत मिलता है वह वैदिक-काल का है। यद्यपि शिक्षा-ग्रंथों तक वैदिक संगीत की परम्परा अक्षुण्ण बनी रही तथापि वर्णन की सुविधा के लिए हम वैदिक-काल को तीन भागों में विभक्त करेंगे।

(1) संहिता काल-वेद-मंत्रों के संग्रह का नाम संहिता है। ये संहिताएं चार हैं-ऋक्, यजुः, साम, अथर्व। जिस ग्रंथ में ऋक् या स्तुति मंत्रों का संग्रह हुआ है उसे ऋक् संहिता कहते हैं। यज्ञों में व्यवहार के योग्य मंत्रों का जिस ग्रंथ में संग्रह हुआ है उसे यजुः संहिता कहते हैं। ''ममांसासूत्र 2.1.36 में लिखा है-''गीतिषु सामाख्या'' गीत के लिए साम शब्द का प्रयोग होता है। जो ऋक् मंत्र यज्ञानुष्ठान में गान के काम में आते हैं उनके संग्रह को सामसंहिता कहते हैं।''[12] संगीत का मुख्य संबंध सामवेद है। वे ऋग्वेद काल में गायन, वादन एवं नृत्य-संगीत की तीनों विधाओं का प्रचलन था। गायन के अन्तर्गत गीत, गाथा आदि का गायन होता था। 'गीत के लिए ऋग्वेद में गीति, गातु, गायत्र, गाथा एवं साम आदि नामों का प्रयोग मिलता है। ऋग्वेद की ऋचाएँ स्वरावलियों में निबद्ध होती थी जो स्रोत कहलाती थीं। ऋग्वेद में स्वर के तीन भेद पाये जाते थे-उदात्त, अनुदात्त, स्वरित। ऋग्वेद में वाद्यों के अन्तर्गत कर्करी, वाण, गर्गर, क्षोणी, दुन्दुभि, भूमि दुन्दुभि आदि वाद्यों का उल्लेख मिलता है। गायन तथा वादन के साथ ऋग्वेद में नृत्य का भी पूर्ण अस्तित्व विद्यमान है। समय-समय पर नृत्यकला का प्रदर्शन होता था जिसमें स्त्री एवं पुरुष दोनों भाग लेते थे। जैमिनीय सूत्र में ''गीतिषु सामाख्या''। अर्थात् जो मंत्र गाये जाते हैं, वे साम हैं। संगीत की दृष्टि से सामवेद ही वह ग्रंथ है जिसमें भारतीय संगीत के अनादि रूप का स्पष्ट दर्शन होता है। सामवेद के मुख्य दो भाग हैं-आर्चिक एवं गान। आर्चिक में केवल ऋग्वेद की ऋचाओं का संग्रह है, इसके दो भाग हैं-पूर्वाचिर्क एवं उत्तरार्चिक। समावेद का दूसरा भाग गान-ग्रन्थ हैं ये गान ग्रंथ चार हैं-ग्रामगेयगान, आरण्यक गान, ऊहगान एवं ऊह्यगान। सामवेद की 13 शाखायें मानी गयी हैं परन्तु आज सामवेद की तीन शाखायें ही उपलब्ध हैं-राणायणी, कौथुमी और जैमिनीय। सामवेद में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित तीन प्रकार के स्वर प्रयुक्त हुए हैं। इन तीनों के अतिरिक्त दो स्वरों का और प्रयोग हुआ है-प्रचय और सन्नतर, जो स्वरित के ही भेद माने गए हैं। नारदीय शिक्षा के अनुसार सामवेद में सात प्रकार के स्वर-प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मंद्र, क्रुष्ट, अतिस्वर माने हैं।

सामवेद काल में स्वर के तीन स्थान (सप्तक) मंद्र, मध्यम तथा उत्तम प्रयुक्त होने लगे थे। सामवेद में पाँच श्रुतिजाति मानी गयी है-दीप्ता, आयता, करूणा, मृदु, मध्या। दुन्दुभि, तुणव, पिचोल, काण्डवीणा आदि वाद्यों का उल्लेख है। सामवेद के गान के साथ वीणा का वादन होता था। साम के तीन गायक होते थे-प्रस्तोता, उद्गाता और प्रतिहर्ता। तथा सामगान के पाँच भेद माने गये हैं-हुँकार या हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीत, प्रतिहार, निधन।

ब्राह्मण, आरण्यक आदि के काल का निर्णय वेदों के काल निर्णय पर ही आधारित हैं। उपनिषदों की रचना ब्राह्मण-ग्रंथों के परिशिष्ट के रूप में हुई है। ब्राह्मणों के अन्तर्गत तैत्तिरीय, ऐतरेय, शतपथ आदि ब्राह्मणों में संगीत विषयक चर्चा एवं सामग्री मिलती है। ''छान्दोगय के अनुसार साम का सम्बन्ध 'स्वः' नामक व्याहृति से है तथा सामविषयक दोष यज्ञ में होने पर 'स्वः स्वाहा' इस मंत्र से आहवनीय अग्नि में हवन किया जाना चाहिए। प्राचीन वैदिक परम्परा के अनुसार उपनिषदों के अन्तर्गत ऋक् तथा साम का मंजुल सामंजस्य श्रेयस्कार माना गया है। ऋक् गीत का बहिरंग है और साम उसी का अन्तरंग है। छान्दोग्य के अनुसार साम का आधार 'स्वर' है तथा स्वर का आधर है 'प्राण'।''[13] सप्तक के तीनों स्थानों का बोध उस समय तक हो गया था जिन्हें मंद, मध्यम और उत्तम कहा जाता था। ब्राह्मण काल में उत्तरमंद्रा मूर्च्छना का उल्लेख है। तैत्तिरीय ब्राह्मण से तूणव, वीणा, दुन्दुभि, शंख आदि वाद्यों का उल्लेख मिलता है। सामाजिक उत्सवों के साथ-साथ याज्ञिक उत्सवों में भी संगीत तथा नृत्य का प्रयोग किया जाता था। सूत्र साहित्य से स्पष्ट होता है कि उस समय साम का गायन यज्ञों के अतिरिक्त सामाजिक अवसरों पर भी होता था, जैसे-विवाह, गृह-प्रवेश, नामकरण विधि आदि के अवसर पर। वाद्यों के अन्तर्गत सूत्र साहित्य के शांखायन श्रोत सूत्र में शततंत्री वीणा का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त अलाबू वीणा, कर्करी वीणा, काण्ड वीणा आदि का भी वर्णन है। नाड़ी, तूणव, गोमुख, पिच्छोल, भेरी, दुन्दुभि, मृदंग आदि वाद्यों का सूत्र साहित्य में उल्लेख है। गायन, वादन एवं नृत्य तीनों का उल्लेख जातक साहित्य में मिलता है। उस समय के प्रमुख संगीताचार्य गुत्तिल, मुसिक और सग्ग आदि थे। गुत्तिल जातक में सप्ततंत्री वीणा का विशेष महत्व परिलक्षित होता था। वीणा के अतिरिक्त वेणु, शंख, खरमुख, मृदंग, पणव, मुरज, पटह, आनक, दुन्दुभि, डिण्डिम आदि वाद्यों का उल्लेख जातक साहित्य में है। ऋग्वेद प्रतिशाख्य में सप्त स्वरों की 'यम' संज्ञा मिलती है। सप्त स्वरों को इसमें दो प्रकार से बताया गया है-षड्ज, ऋषभ, गंधार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद-ये लौकिक गान अथवा गांधर्व में प्रयुक्त सप्त स्वर हैं। वेद के षडंगों में शिक्षा-ग्रंथों का विशेष महत्व है। याज्ञवल्क्य शिक्षा में षड्जादि सप्त स्वरों को इस प्रकार बाटा है-निषाद एवं गंधार को उदात्त, ऋषभ एवं धैवत को अनुदात्त तथा षड्ज, मध्यम और पंचम को स्वरित माना है। नारदीय शिक्षा में स्वर, राग, तान, ग्राम आदि का वर्णन हैं नारद ने स्वरोच्चार के तीन मुख्य स्थानों (मन्द्र, मध्य, तार) के साथ यह भी उल्लेख किया है कि प्रातःकाल के समय नीचे के स्वरों में, दोपहर के समय मध्य के स्वरों में और सांयकाल के समय ऊँचे स्वरों में गाना चाहिए। नारद ने षड्ज, मध्यम एवं गांधार ग्राम का उल्लेख किया है। नारदीय शिक्षा में वैदिक एवं लौकिक संगीत के मूल नियमों एवं सिद्धान्तों का उल्लेख हुआ है।

''The Naradisiksa deals with the fundamental lows and principles of both the vaidika and laukika types of Music with their uses of metress, tones and tunes.''[14]

पाणिनि का समय 300 ई0पू0 के लगभग माना गया है। पाणिनि कृत अष्टाध्यायी मूलतः संस्कृत व्याकरण का ग्रंथ है। परन्तु फिर भी इसमें तत्कालीन संगीत के विषय में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। इस काल में संगीत को शिल्प माना जाता था। ''अष्टाध्यायी (2.4.2) के सूत्र में 'तूर्याड्ग' का उल्लेख मिलता है।''[15] 'तूर्य' वाद्य की एक बहुत प्राचीन संज्ञा है। जिसका वादन हाथ अथवा अन्य किसी वस्तु से किया जाता था। तूर्य के अंग को तूर्यांग कहते थे। ये एक साथ बजते थे, जैसे-'मार्दङ्गिक-पाणविकम्' मृदङ्ग के बजाने वाले को मार्दङ्गिक और पणव को बजाने वाले को पाणविक कहते थे और दोनों को साथ बजाने वाले जुट को 'मार्दङ्गिकपाणविकम्' कहते थे। वाद्यों के अन्तर्गत वीणा, दुर्दर, मड्डुक, झर्झर नाड़ि आदि का उल्लेख है। हाथा से ताल देने वाले को पाणिधा और तालघ संज्ञा का प्रयोग हुआ है। महाकाव्य काल भारत का एक गौरवमय काल है। इस काल में विश्व प्रसिद्ध दो महाकाव्यों की रचना हुई। एक रामायण तथा महाभारत जो भारत वर्ष की अमूल्य धरोहर है। रामायण के अनेकों श्लोकों से स्पष्ट होता है कि उस समय संगीत के अन्तर्गत गायन, वादन तथा नृत्य तीनों का समावेश था। संगीत के लिए गांधर्व शब्द का उल्लेख हुआ हैं लवकुश रामायण काव्य का गान तीनों प्रमाणों, सात जातियों तथा वीणा और लय के साथ करते हैं। तीन प्रमाणों का अर्थ है-द्रूत, मध्य एवं विलम्बित लय। इसमें तीन स्थानों-मंद, मध्य तथा तार और मूर्च्छना आदि का उल्लेख भी मिलता है। रामायण काल में वीणा का अत्यधिक उल्लेख था इसके अतिरिक्त डमरू, मृदंग, दुन्दुभि, पणव, पटह, डिमडिम, आडम्बर आदि वाद्यों का उल्लेख मिलता है। स्वागत, विदाई, जन्म-मरण, विवाह, राज्याभिषेक, पूजन आदि सभी सुख-दुःख में मागध नामक जातियों के लोग आख्यानों, वीरगाथाओं की रचना तथा गायन करते थे। महाभारत कोई सांगीतिक ग्रंथ नहीं है। तथापि इसमें संगीत सम्बन्धी चर्चा प्राप्त होती है। संगीत के अन्तर्गत गीत, वाद्य एवं नृत्य को समान स्थान प्राप्त था। गेय प्रबंधों के अन्तर्गत गाथा, मंगलगीतों स्तुति आदि के व्यवसायी गायक भी थे जो नट, सूत, बंदी, मागध, वैतालिक आदि कहलाते थे। षड्ज, मध्य तथा गंधार ग्राम का प्रचलन था। चतुर्विध वाद्यों का भी उल्लेख है। ताल के अन्तर्गत मणिताल, शम्या, समताल आदि का उल्लेख प्राप्त होता है। अगर हम पुराणों की चर्चा करें तो 8 पुराणों में से कुछ पुराण ऐसे हैं जिनमें संगीत संबंधित चर्चाएं हैं। संगीत-विषयक विशेष सामग्री हमें वायुपुराण, मार्कण्डेयपुराण और विष्णुधर्मोत्तर उपपुराण में मिलता है। वायुपुराण के 86 और 87वें अध्याय में संगीत-विषयक सामग्री मिलती है। इस पुराण में भी सामगान की महिला तथा गांधर्व संगीत का प्रचुर उल्लेख है। वायुपुराण के उन्नाचासवें प्रकरण में स्वरमण्डल के अन्तर्गत पूर्वकालीन विद्वानों के अनुसार षड्जादि सात स्वर, षड्ज-मध्यम-गांधार ग्राम, 21 मूर्च्छनाएँ तथा 49 तान मानी है। चार

वर्ण, अलंकार तथा चतुर्विध वाद्यों के अन्तर्गत शंख, मेरी, पटह, वीणा, गोमुख, दुन्दुभि, झर्झर, घण्टा वाद्यों का उल्लेख आया है।

मार्कण्डेयपुराण के 23वें अध्याय में संगीत-विषयक सामग्री मिलती है। मार्कण्डेयपुराण में सात स्वर, सात ग्रामराग, सात गीतक, 49 तानें और तीन ग्राम है, चार प्रकार के पद और ताल हैं, तीन प्रकार के लय हैं। चार प्रकार के आतोद्य (वाद्य) है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण के 18वें अध्याय में गीत तथा 19वें अध्याय में वाद्य का वर्णन है। संगीत के संगीत तीनों स्थानों उर, कंठ तथा शिर के साथ ही मंद, मध्य एवं तार सप्तकों का स्पष्ट वर्णन है। तीन ग्राम, सप्त स्वरों, 21 मूर्च्छना 40 तानों आदि का उल्लेख है। इसमें वादि-संवादि तथा अनुवादिको वृत्ति कहा है। जाति, जाति के दस लक्षण, नौ रसों का भी उल्लेख है। वाद्यों के अन्तर्गत वीणा, मृदंग, दुन्दुभि, शंख, झर्झरि, पणव, तुरह, दर्दुर आदि वाद्यों का उल्लेख है।

बौद्ध एवं जैन वाङ्मय में भी संगीत का वर्णन मिलता है। बौद्धकाल में तक्षशिला विद्या का प्रमुख केन्द्र रहा। संगीत के लिए 'गन्धब्बवेद' या 'गान्धर्ववेद' शब्द का प्रयोग हुआ है। बुद्धचरित के अनुसार अन्तःपुरों में महिलायें संगीत निपुण होती थीं तथा विभिन्न वाद्यों का वादन करती थीं। तत्कालीन व्यवसायिकों में नट, नर्तक, गायक, भेरीवादक, नाटककारों आदि वर्गों का उल्लेख मिलता है। बौद्ध काल में संगीत को राजाश्रय प्राप्त था। बौद्धकाल में गिरग्ग, समज्ज तथा नक्क्त्रकीलम आदि संगीत संबंधी तत्कालीन लोकोत्सवों में गायन-वादन तथा नृत्य तीनों का पूर्णरूपेण समावेश रहता था। चतुर्विध वाद्यों के अन्तर्गत वीणा, विपंची, महती, परिवादिनी, वल्लकी, मृदंग, पणव, भेरी, दुन्दुभि, घण्टा, झल्लरी, शंख, तूर्य श्रृंग आदि का उल्लेख मिलता है। संगीत के अन्तर्गत ग्राम-मूर्च्छना तथा रागों के विषय में उल्लेख मिलता है। गौतम बुद्ध के समय ही महावीर स्वामी नामक महापुरुष का आवरण हुआ जिन्होंने जैन धर्म को चलाया। लौकिक संगीत के अन्तर्गत गाथा, आख्यान, कथाओं आदि का समावेश था। व्यवसायिक वर्गों में गायक, नर्तक, नटादि संगीत द्वारा जनता का मनोरंजन करते थे। जैन साहित्य में षड्जाति सप्त-स्वर, तीन ग्राम 21 मूर्च्छनाएँ, एकादश अलंकारों का उल्लेख मिलता है। ठाणांग सुत्त में गीत के गुण एवं दोष, स्वरोत्पत्ति स्वरों का प्राणियों की ध्वनि से तथा मानव-स्वभाव से सम्बन्ध आदि विषयों का विवरण है। चतुर्विध वाद्यों में भ्रामरी, आमोद, विचिकी, आलिंग, पिरिपिरिया इत्यादि। स्मृति ग्रंथों, प्राचीन तमिल साहित्यों में भी संगीत की प्रचुर सामग्री है। तमिल साहित्य में संगीत के लिए 'इसइ' शब्द का प्रयोग हुआ है। वीणा के लिये तमिल साहित्य में 'याज' संज्ञा आयी है। कौटिल्य कृत 'अर्थशास्त्र' विशेष रूप से राजनीति पर लिखा गया एक मौर्यकालीन ग्रंथ है। फिर भी इसमें संगीत सम्बन्धी जानकारी प्राप्त होती है। मौर्यकाल में संगीत जीवन का किन्तु संगीतकारों का स्थान अधिक सम्मानजनक नहीं रह गया था। संगीत का विषद वर्णन नाट्यशास्त्र में प्राप्त होता है। नाट्यशास्त्र के 28वें से 37वें अध्याय तक संगीत का उल्लेख है।

गुप्त काल संगीत की उन्नति के लिए स्वर्णिम काल है। गुप्त काल में 'तांडव' नामक नृत्य प्रकार का प्रचार था। महाकवि कालिदास चन्द्रगुप्त द्वितीय के समकालीन थे। कालिदास के ग्रंथ कुमारसम्भव। रघुवंश नामक महाकाव्य, शाकुन्तलम आदि नाटक तथा मेघदूत आदि गीत काव्य भारतीय साहित्य की नहीं अपितु विश्व-साहित्य की अमूल्य निधि हैं। कालिदास की सभी कृति संगीतमयी पृष्ठभूमि से युक्त हैं।

विभिन्न कालों में विद्वानों ने अनेक ग्रंथों की रचना की जिसमें संगीत संबंधित संपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। दत्तिल कृत दत्तिलम, मतंग कृत बृहद्देशी, जयदेव कृत गीतगोविन्द, शारंगदेव कृत संगीत रत्नाकर आदि ग्रंथ जो संगीत की संपूर्ण जानकारी प्रदान करते हैं।

समय परिवर्तन के साथ-साथ हमारे संगीत में भी परिवर्तन आये किन्तु परिवर्तित संगीत भी प्राचीनता को समेटे हुए आज हमारे बीच विद्यमान है।

भारतीय संगीत संपूर्ण भारतवर्ष की सार्वभौम निधि है। यह एक ऐसी कला है जिसमें सभी जाति, धर्म, भाषा के लोग इन सीमाओं को लांघकर संगीत में एक चित्र एक समाधि हो जाते हैं।

सन्दर्भ सूची

1. भारतीय शास्त्रीय संगीत मनोवैज्ञानिक आयाम, डॉ0 साहित्य कुमार नाहार, प्रकाशन-प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1999, पृ0 4,5
2. संगीत का योगदान मानव जीवन के विकास में, डॉ0 उमाशंकर शर्मा, प्रकाशन-ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2001, पृ0 64
3. वहीं, पृ0 65
4. भारतीय संगीत इतिहास और समाज के विकास में उसका योगदान, डॉ0 वन्दना अग्रवाल, प्रकाशन-शलभ पब्लिशिंग हाउस मेरठ, प्रथम संस्करण,2010, पृ0 9
5. वही, पृ0 9,10
6. वही, पृ0 12
7. भारतीय शास्त्रीय संगीत, मनोवैज्ञानिक आयाम,1999, पृ0 9
8. भारतीय संगीत इतिहास और संस्कृति के विषय में उसका योगदान, प्रथम संस्करण 2010,पृ0 12
9. वही, पृ0 13
10. संगीत की मनोवैज्ञानिक उत्पत्ति : बाल पुरोहित, संगीत कला विहार, प्रथम संस्करण 2001, पृ0 451
11. वही, पृ0 452
12. भारतीय संगीत का इतिहास, स्व0 डॉ0 ठाकुर जयदेव सिंह, प्रकाशक-विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण 2010, पृ0 14
13. भारतीय संगीत का इतिहास, डॉ0 शरतचंद्र श्रीधर परांजपेय, प्रकाशक-चौखम्बा विद्याभवन, प्रथम वि0संवत 2026, पृ0 104
14. A Historical Study of Music-Swami Prajnanananda, मार्च 1986- p. 251
15. भारतीय संगीत इतिहास, ठाकुर जयदेव सिंह, द्वितीय संस्करण 2010

उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत का वर्तमान स्वरूप

*डॉ. भीमसेन सरल**

उत्तर भारतीय संगीत के अन्तर्गत 'गायन-संगीत' 'वादन-संगीत' एवं 'नर्तन-संगीत' के वर्तमान स्वरूप की चर्चा हम इस प्रकार कर सकते हैं-

1. गायन-संगीत

उत्तर भारतीय भू-भाग में वर्तमान में ध्रुवपद, धमार, ख़्याल, तराना, टप्पा, ठुमरी, माँड, चैती, कजरी, गीत, भजन, ग़ज़ल, कव्वाली, हवेली संगीत (नाथद्वारा परम्परा), गुरुमत संगीत (गुरूवाणी), रवीन्द्र संगीत आदि गान-शैलियाँ प्रचलित हैं। यद्यपि रवीन्द्र संगीत, हवेली संगीत, गुरुमत संगीत इत्यादि विभिन्न विधाएँ उत्तर भारतीय भू-भाग में प्रचलित हैं, जो उत्तर भारतीय संगीत से पृथक् मानी जाती हैं तथापि उत्तर भारतीय भू-भाग में प्रचलित व विकसित होने के कारण उत्तर भारतीय संगीत से इनका अटूट लगाव है। इन संगीत शैलियों में हवेली संगीत का विकास ध्रुवपद (विष्णुपद) के आधार पर हुआ है तो रवीन्द्र संगीत में ध्रुवपद एवं ख़्याल का व्यापक प्रभाव दिखलाई पड़ता है। इतना ही नहीं इन संगीत विधाओं के साथ उत्तर भारतीय संगीत में प्रचलित पखावज, तबला, सारंगी, बाँसुरी आदि वाद्यों के द्वारा ही लय-ताल व स्वर-राग की संगत प्रदान की जाती है।

इनमें से कुछ गान-विधाएँ शास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत, तो कुछ उपशास्त्रीय और कुछ सुगम (भाव) संगीत के अन्तर्गत स्थान पाती हैं। उत्तर भारत में प्रचलित विभिन्न प्रकार के लोकगीतों का अध्ययन यहाँ पर अपेक्षित नहीं है। यह एक अलग व वृहद् अध्ययन का क्षेत्र है।

(क) शास्त्रीय गायन शैली

शास्त्रीय गायन के अन्तर्गत ध्रुवपद, ख़्याल (विलम्बित एवं द्रुत), तराना इत्यादि शैलियाँ आती हैं।

(ख) उपशास्त्रीय गायन शैली

ध्रुवपद अंग के अन्तर्गत धमार, होरी, ख़्याल अंग की ठुमरी, चैती, कजरी, दादरा एवं टप्पा आदि गायन शैलियाँ इस वर्ग में रखी जाती हैं।

रवीन्द्र संगीत एवं हवेली संगीत जैसी गान-विधाओं को शास्त्रीय तथा उपशास्त्रीय दोनों ही वर्गों में रखा जा सकता है। वैसे ये गान विधाएँ उच्च स्तरीय उपशास्त्रीय संगीत के अधिक समीप लगती हैं। इसी प्रकार गुरुमत संगीत को भी उपशास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत माना जाता है। अतः हवेली संगीत, रवीन्द्र संगीत, गुरुमत संगीत आदि विधाओं को उनके मूल स्वरूप के आधार पर उत्तर भारतीय संगीत की एक अन्य शाखा, धारा या स्वरूप हम मान सकते हैं।

(ग) सुगम (भाव) गायन शैली-

सुगम गान-शैली के अन्तर्गत गीत, भजन, ग़ज़ल, कव्वाली आदि शैलियाँ आती हैं। भजन, ग़ज़ल व कव्वाली का गायन उपशास्त्रीय शैली से भी किया जाता है।

संक्षेप में प्रमुख गान-शैलियों का परिचय व वर्तमान स्वरूप निम्नवत् है-

ध्रुवपद

व्यापक दृष्टि से अध्ययन करने पर हम पाते हैं कि ध्रुवपद दो अर्थों में प्रयुक्त होता है- **एक** काव्य के सदृश ''वह पद (गीत रचना) जो अडिग हो, उसे ध्रुवपद कहते हैं'' और **दो** गायन-संगीत के सदृश ''जब ध्रुवपद रूपी रचना (पद) के गायन में शास्त्रोक्त संगीत के समस्त पद यानी स्वर, राग, ताल, लय आदि अचल या अडिग रूप में प्रयोग हों, तब उस गायन शैली को 'ध्रुवपद' की संज्ञा प्रदान करते हैं। ध्रुवपद में काव्य और संगीत के समस्त तत्व अडिग होते हैं।'' दूसरे शब्दों में, ''एक विशेष काव्य (पद) रचना जिसे सूरदास, नन्ददास, हरिदास आदि कवियों ने रचा है तथा उन विशेष काव्य रचना का संगीत के शास्त्रोक्त नियमों के अनुसार गायन किये जाने को 'ध्रुवपद' कहते हैं। इसमें ताल संगत व उपरंजन का कार्य 'पखावज' के द्वारा किया जाता है।''

ध्रुवपद वर्तमान संगीत की सर्वाधिक शुद्ध स्वर, शब्द और लय, ताल से युक्त गान शैली है। वर्तमान में प्रचलित गायन शैलियाँ एवं तन्त्रवाद्य सितार आदि की जो भी वादन-सामग्री है, उसका आधार ध्रुवपद गायन शैली ही है।

ध्रुवपद एक प्राचीन गायन शैली है। बृहद्देशी के ग्रन्थकार मतंग ने इसका नाम 'चोक्षा' दुर्गशक्ति, याष्टिक और शारंगदेव ने 'शुद्धा गीति' बतलाया है। इसे 'अचल पदों वाली गायकी' भी कहते हैं। ध्रुव शब्द का अर्थ अखण्ड व अचल माना जाता है। इसका प्रचार कविवर जयदेव, नायक गोपाल, स्वामी हरिदास, तानसेन, पं॰ बैजनाथ (बैजू बावरा) आदि महान् कलाकारों के द्वारा हुआ। भारतीय संगीत में 1455 ई॰ के आसपास जन्में राजा मानसिंह तोमर को ध्रुवपद गायन शैली का प्रवर्तक माना जाता है। राजा मानसिंह ने प्राचीन प्रबन्धों को अपनी प्रतिभा और विशेष लगन से 'ध्रुवपद' शैली में परिवर्तित व विकसित किया।

*तबला शिक्षक, माउण्ट लिट्रा जी स्कूल, वाराणसी।

सुलोचना बृहस्पति जी ने ध्रुवपद सम्बन्धी अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है- ''पद का अर्थ सार्थक शब्द-समूह या भाषा है, वह पद जो 'ध्रुव' नामक गेय प्रबन्धों में प्रयुक्त हो 'ध्रुवपद' है। अतएव ध्रुवपद शब्द ध्रुव नामक प्रबन्धों के भाषा पक्ष का बोधक है।''[1]

ध्रुवपद एक धीर-गम्भीर स्वर और लय प्रधान गान-शैली होने के कारण इसमें एक-एक स्वर व अक्षर का गणितीय समन्वय होता है। यह स्थाई, अन्तरा, संचारी और आभोग इन चार चरणों में गाया जाता है। इसके स्वरूप के अनुसार इसमें तीव्रा ताल, शूलताल, चारताल, ब्रह्मताल, लक्ष्मीताल जैसी गम्भीर प्रकृति के तालों की संगत पखावज से की जाती है। ध्रुवपद शैली में भाव पक्ष, कला पक्ष और रंजन पक्ष तीनों का समन्वय रहता है। लयकारी के विभिन्न रूपों एवं स्वरों के बोलबाँट द्वारा कला पक्ष की वृद्धि होती है। राग के शुद्ध स्वरूप, वादी, सम्वादी, अल्पत्व, बहुत्व, न्यास आदि के प्रयोग से राग का भाव पक्ष प्रबल होता है और चारों चरणों में ध्रुवपद गायन राग के समस्त शास्त्रोक्त तत्वों को सिलसिलेवार प्रकट करने में सक्षम है।

सांस्कृतिक दृष्टि से ध्रुवपद का बहुत महत्व है क्योंकि इनके वर्ण्य-विषय अधिकतर नवाबों और राजाओं की प्रशंसा तथा ईश्वर की भक्तिपूर्ण स्तुतियाँ हैं। इसके अतिरिक्त अनेक धार्मिक-सामाजिक रीति-रिवाजों, वेदान्त के सिद्धान्तों तथा भक्तिमार्ग के पंथों और विभिन्न पर्वों का विस्तृत रूप प्राप्त होता है। हज़ारों वर्षों की सांस्कृतिक परम्परा की धरोहर इसमें संरक्षित है। मन्दिरों एवं देवालयों में कीर्तनकार जो पद गाते थे, वे 'विष्णु पद' थे, जिनका स्वरूप 'ध्रुवपद' की भाँति था। यही 'विष्णुपद' दरबार में जाकर 'ध्रुवपद' के नाम से प्रचलित हुए। भारतीय संगीत की आध्यात्मिक आत्मा के दर्शन ध्रुवपद गीतों में प्राप्त होते हैं। रागों को देवता के रूप में मानते हुए, उनकी अवतारणा के लिए ईश्वर के नाम के अक्षरों को लेकर आलाप करना ध्रुवपद की पहचान है। इसीलिए इसमें 'नोम्, तोम्' आदि का आलाप तथा भक्ति परक रचनाओं का प्रयोग किया जाता है।

ध्रुवपद गायन की अलग-अलग शैलियाँ या रीति हैं, जिसे 'बानी' कहते हैं। ये बानियाँ चार प्रकार की थीं- गोबरहार बानी, खण्डार बानी, डागुर बानी और नौहार बानी। आज अधिकांशतः डागुर बानी (डागर घराने) के कलाकारों की प्रतिष्ठा है। डागर बन्धुओं ने इसका काफी विस्तार किया है। इसी तरह गुंदेचा बन्धु ध्रुवपद की कीर्ति पताका को उच्च स्तर पर वर्तमान में फहरा रहे हैं। ध्रुवपद गायन शैली वाद्यों पर भी प्रस्तुत की जाती है।

धमार

'धमार' गायन शैली के विकास में भी प्राचीन संगीत का ही योगदान है। मतंग, दुर्गशक्ति, याष्टिक, शार्दूल तथा शारंगदेव आदि विद्वानों ने इसे 'भिन्ना गीति' कहा है और आज हम इसे 'धमार' कहते हैं। जैसे भिन्ना गीति में स्वर, शब्द और लय का प्रयोग भिन्न-भिन्न प्रकार से किया जाता था वैसे ही आधुनिक धमार गायकी को विभिन्न प्रकार के बोल-बाँटों से अलंकृत किया जाता है। धमार विभिन्न शब्दयुक्त लहरियों द्वारा गाई जाती है। इसमें और ध्रुवपद में अंतर केवल इतना ही है ध्रुवपद गायकी का प्रदर्शन विभिन्न प्रकार की लयकारियों द्वारा किया जाता है और धमार गायकी में बोल-बाँट अर्थात् शब्दों को विभिन्न स्वर लहरियों द्वारा व्यक्त करते हैं। ध्रुवपद में गान की धुन नहीं बदलती परन्तु धमार में गीत को विभिन्न प्रकार की रागवाची धुनों द्वारा प्रस्तुत करते हैं। इन धुनों को सुन्दर तिहाइयों से सुसज्जित करते हैं। धमार गायन से पूर्व ध्रुवपद जैसा ही 'नोम् तोम्' का आलाप किया जाता है।

धमार गीतों में ब्रज की होरी लीलाओं का वर्णन रहता है, जिसमें भगवान कृष्ण गोपियों के साथ होरी खेलते दिखाये जाते हैं। यह गीत धमार नामक 14 मात्रे भी ताल में गाया जाता है, जिसकी संगत पखावज से की जाती है। होली के दिनों में पखावज, मंजीरे आदि के साथ इस गीत को ब्रज क्षेत्र विशेष में अत्यन्त उल्लास और उत्साह से गाया जाता है। इसकी रचना ख्याल के समान दो तुक वाली होती है, परन्तु गायन शैली ध्रुवपद के समान होती है।

धमार गायकी एक रंगारंग परम्परा की गायन शैली है। इसी कारण 'धमार' को 'धमाल' और 'धमारी' के नाम से भी पुकारा जाता है। 'धमाल' का अभिप्राय ही धमा-चौकड़ी करना है। धमार या धमाल शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत भाषा की 'धम्' धातु से हुई है, इस धातु में 'अच्' प्रत्यय लगाने पर धमाल या धमार शब्द बनता है। आचार्य बृहस्पति के अनुसार- ''धमार शब्द के अन्तर्गत धम् से धमार की उत्पत्ति हुई है जिसका अर्थ है सुलगाना, भड़काना आदि। इस शब्द की व्युत्पत्ति 'धम् इव जृच्छति', धम + कृ + अच् हो सकता है। जिसका अर्थ होगा, गान का वह प्रकार जो प्रेरित करता हुआ अथवा फड़काता हुआ चले। धमा-चौकड़ी, धूमधाम और धमाधम जैसे शब्दों में संस्कृत की धातु 'धम्' का प्रभाव है।''[2]

धमार गीत एक सामूहिक गीत है जो टोलियों में गाया जाता है। होली के दिनों में होली खेलने वाली टोलियाँ रंग खेलती हुई धमार गाती हैं। आज भी ब्रज के गोकुल-बरसाने में होली गीत के रूप में धमारों का गायन अत्यन्त उल्लास से किया जाता है।

हवेली-संगीत या पुष्टिमार्गीय-संगीत

''किसी विशाल भवन (हवेली) या परिसर, जहाँ असंख्य भक्तों के बीच भगवान श्रीकृष्ण (नाथ) की आठों याम सेवा-पूजा का विधान संगीत की स्वर-राग व लय-ताल से परिपूर्ण पदों (गीत) के माध्यम से किया जाता है, उसे 'हवेली संगीत' कहते हैं।'' ये विशाल भवन या परिसर, देवालय या मन्दिरों के प्रांगण होते हैं, जिसमें विशेष रूप से भगवान् कृष्ण की उपासना-आराधना भक्तगण समवेत होकर सुर, लय और ताल के साथ किया करते हैं। देवालयों में की गई यही सांगीतिक उपासना ही 'हवेली-संगीत' कहलाने लगी।

सही अर्थों में हवेली-संगीत भक्ति-संगीत है। इसी भक्ति-संगीत के पद और कीर्तन ध्रुवपद धमार जैसी शास्त्रीय सम्पन्न गायन शैलियों के मूल स्त्रोत हैं। इनके पदों को विष्णु पद कहते हैं। हवेली संगीत के उद्गम का मूल स्त्रोत 'वैदिक गान' (ईश्वरपरक स्तुतिगान) हैं और पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय के भक्त-संगीतज्ञ सन्तों ने देवालयों में गाये जाने वाले इन भक्ति गीतों के गायन को 'हवेली संगीत' की संज्ञा दी।

हवेली संगीत में प्रमुख रूप से संकीर्तन गायन-वादन के साथ कृष्ण की लीलाओं एवं उपासना का वर्णन किया जाता है। पहले बालमुकुन्द कृष्ण (गोपाल) की प्रातः काल से लेकर रात्रि तक जागना, श्रृंगार करना, भोग लगाना, भोजन और रात्रि शयन आदि क्रियाओं के भावों को आठ यामों (आठ बार) में गीत-संगीत के माध्यम से व्यक्त किया जाता था, जिसे क्रमशः मंगला, श्रृंगार, ग्वाल, राजभोग, उत्थापन, भोग, आरती और शयन कहा जाता है। अर्थात् बाल कृष्ण की अहर्निश की क्रियाओं का पूजन-अर्चन संगीत के माध्यम से होता है। यद्यपि वर्तमान में इस प्रकार की पूजा-अर्चना-उपासना कम ही देखने में मिलती है। इसके अतिरिक्त समय-समय पर विभिन्न प्रकार के उत्सव, ऋतुओं के अवसर पर किये गये विभिन्न लीलाओं के दर्शन संगीत के माध्यम से होते हैं, जैसे- सावन में झूला उत्सव, होली के अवसर पर रंगभरे होली गीत, गोवर्धन लीला, कृष्ण जयन्ती, नरसिंह जयन्ती आदि इस संगीत के वर्ण्य-विषय हैं।

'हवेली' फारसी भाषा का शब्द है, जिसका सामान्य अर्थ है- 'चहारदीवारी से युक्त पक्का बड़ा मकान या भवन'। 'मन्दिर' संस्कृत का शब्द है, जो देवालय के लिए प्रयुक्त होता है। पुष्टिमार्ग में जहाँ श्रीनाथजी विराजते हैं और जहाँ चक्र-चिह्न के दर्शन होते हैं, उसे मन्दिर कहा गया है और जहाँ प्रभु (श्रीनाथ) अलग-अलग रूप में विराजमान हैं, उसे नन्दालय के भाव से 'हवेली' की तरह पहचाना जाता है। इसलिए नाथद्वारा (राजस्थान) में श्रीनाथजी का निवास 'मन्दिर' कहलाता है और बाक़ी देवालयों को 'हवेली' कह सकते हैं।[3]

पुष्टिमार्ग के सम्प्रदाय में देवालयों को उत्तर भारत में 'मन्दिर' और गुजरात में 'हवेली' कहते हैं। क्योंकि मुस्लिम-काल में आक्रामकों द्वारा जब उत्तर के मन्दिरों को ध्वस्त करना आरम्भ किया गया, तो भगवान् के स्वरूपों को वहाँ से हटाकर गुजरात की ओर भेज दिया गया, जहाँ उन्हें विशेष निवास-स्थानों पर स्थापित किया गया। ऐसे घरों को ही 'मन्दिर' न कहकर 'हवेली' कहा गया। जब हवेलियों में भक्ति-संगीत गूँजने लगा तो उसी को 'हवेली-संगीत' कह दिया गया। अतः 'हवेली-संगीत' नाम ज्यादा प्राचीन नहीं है।[4] मुग़लकाल में यह नाम संज्ञा प्रदान की गयी।

पुष्टिमार्गीय कीर्तन-पद्धति को ही 'हवेली-संगीत' कहा गया है। राग और भोग से सम्पन्न पुष्टिमार्ग में भगवान् की सेवा संगीत के बिना अधूरी मानी जाती है, इसलिए प्रत्येक देवालयों में संगीत सुनाई पड़ता है। इस सम्प्रदाय में दीक्षित व्यक्ति छह सौ साल से चली आ रही इस परम्परा का निर्वाह अत्यन्त श्रद्धा के साथ करते हुए शास्त्रीय संगीत की ध्रुवपद-धमार जैसी पद्धतियों के आधार पर भगवान् का गुणानुवाद 'संकीर्तन' करते हैं। हवेली-संगीत की बन्दिशें अष्टछाप के संगीतकारों के काल से चली आ रही हैं, जिन्हें बहीखातेनुमा पोथियों में अंकित करके बहुत सुरक्षित रखा जाता है।[5]

पुष्टिमार्ग के आद्य प्रवर्तक महाप्रभु वल्लभाचार्य का जन्म सन् 1478 में वैशाख कृष्ण ग्यारह को रविवार के दिन चम्पारण्य (बिहार) में हुआ था। सम्वत् 1550 में ये गोकुल आये, जहाँ अपने प्रमुख सेवक दामोदर दास हरसानी को यहाँ के गोविन्द-घाट पर इसी वर्ष श्रावण शुक्ल ग्यारह को सर्वप्रथम मन्त्र की दीक्षा देकर पुष्टिमार्ग की स्थापना की।[6] ईसा की 16वीं शताब्दी के अन्त तक रामानन्दी सम्प्रदाय, वल्लभ सम्प्रदाय, चैतन्य अथवा गौड़ीय सम्प्रदाय (बंगाल में), राधावल्लभ सम्प्रदाय और हरिदासी सम्प्रदाय का प्रचार उत्तर भारत में हो चुका था।

वैष्णव धर्म के इन सम्प्रदायों ने विष्णु एवं उनके अवतारों की भक्ति को सगुणोपासना के रूप में अपनाया। भगवान् के लीला गान में आत्मविस्मृत होकर अपने इष्ट से तादात्म्य स्थापित करने में भक्त-साधकों को संगीत से बहुत मदद मिली। चैतन्य सम्प्रदाय के शिष्य रूप सनातन और जीव गोस्वामी ने ब्रज क्षेत्र में सामूहिक संकीर्तन की पद्धति का प्रचार किया। वल्लभाचार्यजी के पुत्र विट्ठलनाथजी ने पुष्टिमार्ग के मन्दिरों की अष्टयाम-सेवा में 'कीर्तन' को प्रमुख अंग बनाया। इसी प्रकार अन्य सम्प्रदायों ने संगीत को ईश्वर प्राप्ति का सहज और महान् साधन माना। साहित्य एवं संगीत को सुरक्षित रखने के लिए उन्होंने जिस गान-पद्धति का प्रचार किया, उसे 'समाजगान' कहा गया। सभी सम्प्रदायों की उपासना में संगीत को प्रधान मानते हुए 'वल्लभ सम्प्रदाय' में 'कीर्तन-पद्धति', राधावल्लभ, हरिदासी एवं निम्बार्क सम्प्रदाय में 'समाजगान-पद्धति' तथा गौड़ीय सम्प्रदाय में 'संकीर्तन' और 'पदावली' अथवा 'लीलाकीर्तन' को विशेष महत्व दिया गया। सभी गायन-पद्धतियों में शास्त्रीय संगीत की ध्रुवपद-धमार गायन-विधा को ही प्रमुखता प्रदान की गयी। पुष्टिमार्गीय संगीत के सभी सम्प्रदायों में पखावज के द्वारा लय-ताल संगत करने की परम्परा है।

पुष्टिमार्ग के इन सम्प्रदायों में प्रयुक्त होने वाले संगीत अर्थात् हवेली-संगीत में जो ध्रुवपद या विष्णुपद गाये जाते हैं, उनके साथ पहले वीणा सहित बहुत से वाद्ययन्त्रों का वादन किया जाता था, लेकिन आजकल केवल हारमोनियम, इसराज, सारंगी, पखावज (मृदंग) झाँझ, मंजीरा, कठताल, तबला तथा सितार जैसे वाद्ययन्त्र ही प्रचार में हैं।

भावपक्ष तथा कलापक्ष, दोनों दृष्टियों से सम्पन्न होकर इसने भारतीय शास्त्रीय संगीत की प्राचीन परम्परा को सुरक्षित व प्रवाहशील बनाये रखने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। 'हवेली-संगीत' रजवाड़ों के 'दरबारी-संगीत' का जवाब था। 'दरबारी-संगीत' में नरेशों की स्तुति की प्रधानता रहती थी, तो 'हवेली-संगीत' में भगवान् के

गुणानुवाद का गान किया जाता था। वर्तमान स्वरूप को देखते हुए निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि भगवान् की आराधना के निमित्त प्रस्तुत 'हवेली-संगीत' पुष्टिमार्ग का वह संकीर्तन है, जो ब्रज में 'समाज-गान' के रूप में व्याप्त है।[7]

आज शास्त्रीय संगीत में जो गिरावट देखी जा रही है, उसका प्रमुख कारण ध्रुवपद-धमार जैसी श्रेष्ठ और संगीत-शास्त्र-सम्मत गायन शैलियों को अनदेखा करना है। इन शैलियों के अभ्यास से ही सुर, लय और ताल का सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है।

संक्षेप में हवेली-संगीत की परम्परा वस्तुतः कीर्तन और विष्णुपदों की है, जिनका गायन-वादन मन्दिरों में किया जाता था। इन्हीं मन्दिरों या हवेलियों के कीर्तनों और पदों से मध्यकालीन ध्रुवपद और धमार का जन्म हुआ तथा यहीं पर वे शैलियाँ पल्लवित और विकसित हुईं। यह खेद का विषय है कि आज हवेली संगीत की जानकारी भी लोगों को नहीं है। केवल कुछ ही मन्दिरों में आज भी भगवान् की सेवा-पूजा ध्रुवपद शैली में की जाती है। इसी प्रकार हवेली-संगीत की कुछ छाप स्वामी नारायण के मन्दिरों पर भी पड़ी है। तद्नुसार इन मन्दिरों की गायन-शैली भी हवेली-संगीत की परम्परानुसार है। हमें पुनः संगीत को उच्च स्तर पर लाने हेतु हवेली-संगीत के स्वरूप, परम्परा और इसमें प्रचलित ध्रुवपद-धमार को प्रमुख मान्यता देते हुए इसके शिक्षण, प्रदर्शन, सम्मेलन आदि की समुचित व्यवस्था सामूहिक रूप से सभी को करनी पड़ेगी।

ख़्याल

'ख़्याल' फारसी भाषा का एक शब्द है, जिसका अर्थ है- 'कल्पना' अथवा 'विचार'। इस विशेष गायन-शैली में गायक-कलाकार की कल्पना को महत्व दिये जाने के कारण ही इसे 'ख़्याल' की संज्ञा दी गई है। अतः ''वह गायन विशेष जिसमें आलाप, तान, खटका, मुर्की, कण आदि विभिन्न अलंकारों व गीत (पद) के द्वारा किसी राग में उसके नियमों का पालन करते हुए विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति अपनी कल्पना शक्ति के आधार पर की जाती है, 'ख़्याल' कहलाता है।''

ख़्याल में स्वरों की सजावट का विशेष ध्यान रखा जाता है। इसमें शृंगार रस की प्रधानता होती है। ख़्याल गायकी की क्रम प्रणाली में सर्वप्रथम राग-वाचक स्वरों का संक्षिप्त आलाप किया जाता है। उसके पश्चात् बन्दिश का मुखड़ा पकड़कर गायन शुरू होता है और मुखड़े को विभिन्न स्वरों व भावों के माध्यम से बार-बार दोहराया जाता है। मुखड़े को दोहराने का क्रम आवर्तन के आखिरी में करते हैं और सम पर आकर मिलते हैं। बंदिश शुरू होने के बाद कण, मींड, गमक युक्त आलाप, शब्दालाप, गमक, बहलावा, तान आदि का प्रयोग करते हैं। पहले विलम्बित यानी बड़ा ख़्याल और उसके पश्चात् द्रुत यानी छोटा ख़्याल गाया जाता है। इस प्रकार ख़्याल दो प्रकार के होते हैं- एक- विलम्बित अर्थात् बड़ा ख़्याल और दो- द्रुत अर्थात् छोटा ख़्याल।

बड़ा ख़्याल विलम्बित तीनताल (तिलवाड़ा), एकताल, आड़ा चौताल, झूमरा आदि तालों में तो छोटा ख़्याल तीनताल, द्रुत एकताल, रूपक ताल व झपताल आदि तालों में अधिकांशतः गाया जाता है। गीत रचना और गायन शैली दोनों दृष्टियों से ख़्याल का अपना स्थान है। उसका गीत (पद) छोटा और केवल दो या तीन पंक्तियों का होता है, परन्तु उसको गायक अपनी कल्पना से इतना अधिक सजा देता है कि वह गीत नवीन सौन्दर्य के साथ खिल उठता है। ख़्याल गायन में शब्दों को उतना अधिक महत्व नहीं दिया जाता, जितना स्वरों की सजावट का। यह दो चरणों में गाया जाता है- स्थायी और अन्तरा। इसके साथ स्वर संगत के लिए सारंगी, इसराज एवं हारमोनियम का अत्यधिक प्रयोग होता है तथा ताल संगत व उपरंजन हेतु तबला प्रयुक्त होता है।

आज की प्रचलित गायन-शैली में ख़्याल गायन-शैली सबसे अधिक लोकप्रिय है। वर्तमान शास्त्रीय संगीत से यह इतना अधिक घुलमिल गया है कि इसके बिना रागदारी संगीत की कल्पना ही नहीं की जा सकती। यहाँ तक कि वाद्ययन्त्रों पर भी ख़्याल-गायकी बजायी जाने लगी है। वर्तमान में ख़्याल-गायन की कई शैलियाँ अर्थात् घराने प्रचलित हैं। मध्यकाल में जो लोकप्रियता ध्रुवपद को प्राप्त थी, वही लोकप्रियता आधुनिक काल में ख़्याल को प्राप्त है।

इन प्रमुख गायन शैलियों के अलावा ठुमरी, टप्पा, दादरा, चैती, कजरी, गीत, भजन, ग़ज़ल आदि गायन शैलियाँ भी वर्तमान में उत्तर भारतीय संगीत में प्रचलित हैं। लेकिन इन सभी गान शैलियों में ध्रुवपद, धमार, ख़्याल व हवेली-संगीत का न्यूनाधिक प्रभाव परिलक्षित होता है जिसका स्वतन्त्र अध्ययन विषय-वस्तु को ध्यान में रखते हुए आवश्यक नहीं है।

2. वादन-संगीत

वादन-संगीत के अन्तर्गत दो तरह के वाद्यों का वादन होता है, एक- स्वर-राग प्रधान वाद्य और दो- लय-ताल प्रधान वाद्य। यद्यपि वादन-संगीत के अध्ययन में अधिकांशतः स्वर-राग प्रधान वाद्यों के वादन का अध्ययन ही किया जाता है। उसी प्रकार, जिस प्रकार से संगीत के अध्ययन में गायन-संगीत व गायन-शैलियों का अध्ययन अधिकांशतः किया जाता है। लेकिन यह अविकसित मानसिकता का परिचायक है और काफी खेदजनक है। इससे संगीत के एक स्वरूप से ही हम परिचित हो पाते हैं या यूँ कहें कि मात्र एक दृष्टिकोण से ही संगीत को देखा जाता है। पूरी दृष्टि (विज़न) इस पर नहीं डाली जाती। परिणाम यह होता है कि संगीत के समस्त स्वरूपों के ज्ञान से हम अनभिज्ञ रह जाते हैं। अतः संगीत के अन्तर्गत आने वाली समस्त विषय-वस्तुओं का संक्षिप्त अध्ययन यहाँ पर किया जा रहा है। इसी क्रम में वादन-संगीत के अन्तर्गत लय-ताल वाद्यों के वादन का अध्ययन भी अपेक्षित है।

स्वर-राग प्रधान वाद्यों में दो प्रकार के वाद्य आते हैं- एक वे जिनमें मिजराब या जवे के प्रहार से ध्वनि उत्पन्न की जाती है और

दूसरे वे जिनमें गज के घर्षण या फूँक (हवा) से ध्वनि उत्पन्न की जाती है। घर्षण या फूँक से बजाये जाने वाले वाद्यों की ध्वनि में स्थिरता अधिक होने से, वह कण्ठ ध्वनि से समानता रखती है। जबकि मिजराब या जवे के प्रहार से उत्पन्न होने वाली ध्वनि सूक्ष्म खण्डों की होने के कारण, इनमें छन्द और लयकारी के वादन की सुविधा रहती है। इस प्रकार वादन-कला का विकास दो रूपों में हुआ। एक प्रकार का वादन गायन-शैली के अनुरूप विकसित हुआ तो दूसरे प्रकार का वादन गत-शैली के अनुरूप विकसित हुआ। अतः वादन-संगीत की दो प्रमुख शैलियाँ या स्वरूप वर्तमान में दृष्टिगत होती हैं- एक- गायकी अंग की शैली और दो- गतकारी अंग की शैली।

गायकी अंग के वादन में भी दो तरह की शैलियाँ हैं- एक ध्रुवपद अंग और दूसरा ख्याल अंग। ध्रुवपद अंग की शैली में ध्रुवपद-गायन के अनुरूप वादन किया जाता है तो ख्याल अंग की शैली में ख्याल-गायन शैली का ही वादन किया जाता है।

इसी प्रकार गत शैली के वादन में प्रमुख रूप से दो प्रकार की गतों का प्रचलन है- एक मसीतखानी गत और दो रज़ाखानी गत। 'गत' प्रमुखतः सितार-वादन की विशेषता है, जिसे अन्य वाद्यों पर भी बजाया जाता है। सितार के इन गतों की यह विशेषता होती है कि उसके प्रत्येक स्वर मिजराब के बोल होते हैं, जैसे -

'सासा रे गग प प'
'दिर दा दिर दा रा'।

अतः किसी राग में स्वर-ताल बद्ध सितार के बोलों की व्यवस्थित रचना 'गत' कहलाती है। इसे सरोद, इसराज, सारंगी, संतूर, वॉयलिन, बाँसुरी आदि सभी स्वर-वाद्यों पर बजाते हैं। गत मुख्यतः दो भागों मे विभक्त होते हैं- स्थायी और अन्तरा।[8]

मसीतखानी गत का आविष्कार तानसेन के वंशज मसीत ख़ाँ ने किया था। यह गत विलम्बित लय में बजायी जाती है, अतः इसे विलम्बित गत भी कहते हैं। इस गत की विशेषता है कि इसकी विलम्बित चाल में वादक-कलाकार को सुर, लय और ताल के माध्यम से अपनी कल्पना को व्यक्त करने का अधिक मौक़ा रहता है। इस गत के बोल बनाव भी विलम्बित लय के अनुसार होते हैं। इसमें गमक, जोड़, मुर्की, मींड, ज़मज़मा आदि का अधिक प्रयोग होता है और इसमें गम्भीरता अधिक होती है। जिस प्रकार ख्याल गायन में विलम्बित या बड़ा ख्याल होता है, उसी प्रकार तन्त्र वाद्यों में मसीतखानी यानी विलम्बित लय की गत बजाने की प्रथा है। यह विलम्बित तीनताल में बजायी जाती है।

मसीतखानी गत के पहले विस्तार में आलाप करते हैं, जो ध्रुवपद के 'नोम्-तोम्' आलाप के समान होता है। आलाप की गति धीरे-धीरे बढ़ाई जाती है और अन्त में झाला बजाकर आलाप समाप्त करके गत शुरू करते हैं। मसीतखानी गत सदैव खाली की तीन मात्रा बाद यानी 12वीं मात्रा से प्रारम्भ होती है। गत के बोल इस प्रकार होते हैं-

दिर	**दा**	**दिर**	**दा**	**रा**	**दा**	**दा**	**रा**	**दिर**	
	3				**x**				
	दा	**दिर**	**दा**	**रा**	**दा**	**दा**	**रा**		
	2				**0**				

ये बोल मसीतखानी गत में सामान्यतः नहीं बदलते। मसीतखानी गत में 5 मात्रे का मुखड़ा तथा उपरोक्त क्रमानुसार बोल रखे जाते हैं।[9]

रज़ाखानी गत का आविष्कार लखनऊ के नवाब आसफुद्दौला के आश्रित मुहम्मद रज़ा ख़ाँ ने ऊन्नीसवीं शताब्दी के शुरुआत में किया था। द्रुत लय में बजाने हेतु इन्होंने इस बाज का निर्माण किया। आधुनिक समय में रज़ाखानी गत खूब प्रचलित है। इसका वादन प्रायः मसीतखानी गत के बाद किये जाने की परम्परा है। अतः तन्त्रवाद्य सितार आदि में मसीतखानी, रज़ाखानी और जोड़, झाला आदि बजाये जाने पर तन्त्रवाद्यों का वादन पूर्ण हुआ माना जाता है। इसे लखनऊ बाज या पूर्वी बाज के नाम से भी जाना जाता है। द्रुत गति में बजने के कारण यह गम्भीर न होकर चंचल प्रकृति की होती है।[10]

रज़ाखानी गत में वादक-कलाकार को अपनी इच्छानुसार तोड़े बजाने की स्वतन्त्रता होती है। इसके बोल निश्चित नहीं हैं। कलाकार अपनी इच्छानुसार बोलों में परिवर्तन कर सकता है। इसके मुख्य बोल इस प्रकार हैं- ''दा दिर दिर दिर दाऽ रदा ऽर दा''। इस गत में तैयारी के साथ तोड़े बजाये जाते हैं, जिसमें गतकारी और चिकारी का खूब प्रयोग करते हैं। अंत में झाला के विभिन्न प्रकार बजाकर गत समाप्त किया जाता है, जो महत्व कण्ठ संगीत में छोटा ख्याल का है, वही तन्त्रवादन में रज़ाखानी गत का है। वर्तमान में स्वर-वादन-संगीत के भी कई घराने प्रचलित हैं।

स्वर प्रधान वादन-संगीत में लय-ताल संगत पहले पखावज से की जाती थी, परन्तु सितार के विकास व तबला के विकास के बाद से लय-ताल संगत अधिकांशतः तबले से ही प्रदान की जाती है। कहीं-कहीं पखावज और तबला दोनों वाद्यों का एक साथ प्रयोग भी संगत हेतु देखा जाता है।

लय-ताल प्रधान वाद्यों में अवनद्ध वाद्य वर्ग के पखावज एवं तबला प्रमुख महत्व रखते हैं। उत्तर भारतीय संगीत में तालवाद्य के रूप में इन्हीं दो वाद्यों की प्रधानता है। यद्यपि लय-ताल प्रधान वाद्यों की उत्पत्ति व विकास के मूल में संगीत के क्षेत्र में लय-ताल संगत प्रदान करना व उपरंजन करना रहा है तथापि पखावज व तबला जैसे वाद्यों की वादन-शैली व वादन-साहित्य आदि में इतनी अधिक समृद्धता आई कि ये कालान्तर में सोलो (एकल) वादन की भी प्रस्तुति देने लगे। आज पखावज और तबला प्रमुख रूप से उत्तर भारतीय संगीत के ऐसे दो लय-ताल प्रधान वाद्य हैं कि इनका संगत के साथ-साथ एकल-वादन भी काफी लोकप्रिय हो चुका है।

पखावज एवं तबला में संगत के साथ-साथ एकल-वादन के लिए विभिन्न प्रकार के विस्तारशील व अविस्तारशील बन्दिशों का निर्माण व विकास समय-समय पर विभिन्न कलाकारों द्वारा होता रहा है, जैसे- पेशकार, उठान, कायदा, रेला, गत, परन, चक्रदार, फ़र्द आदि। इसी प्रकार वादन-शैली व बोल-समूहों का भी निरन्तर विकास होता रहा है। विभिन्न प्रयासों से पखावज व तबला जैसे वाद्य आज अपने आप में इतना समृद्ध हो चुके हैं कि कई-कई घण्टों तक इसमें आकर्षक व चमत्कृत एकल-वादन की प्रस्तुति कलाकारों द्वारा दी जाती है। आज वादन-संगीत के अन्तर्गत लय-ताल प्रधान वाद्य भी अपना स्वतन्त्र व पूर्ण विकसित अस्तित्व रखते हुए स्वतन्त्र-वादन में पारंगत हो चुके हैं और इनका वादन लोकप्रियता के शिखर को छू चुका है।

इन वाद्यों की प्रस्तुति व प्रस्तुतिक्रम विभिन्न घरानों व बाजों की भिन्न-भिन्न होती है। इन वाद्यों के वादन में किसी स्वर-प्रधान वाद्य, जैसे- सारंगी, इसराज, हारमोनियम आदि वाद्यों द्वारा लहरानुमा संगत प्रदान की जाती है। यानी ऐसे वाद्यों के वादन-संगीत में संगत प्रदान करने का कार्य कोई स्वर वाद्य करता है और उसके इस संगत को 'लहरा' कहते हैं। किसी निश्चित ताल के मात्रा-संख्या व उसके विभाग का प्रदर्शन स्वर-वाद्यों के माध्यम से किये जाने को 'लहरा' संज्ञा प्रदान किया जाता है।

3. नर्तन-संगीत

उत्तर भारतीय संगीत में नर्तन-संगीत के अन्तर्गत कथक नृत्य को महत्व प्राप्त है। उत्तर भारत की प्रसिद्ध शास्त्रीय नृत्य शैली के रूप में 'कथक नृत्य' विश्वविख्यात है। कथक नृत्य का इतिहास अनेक परिधियों से घिरा हुआ है। यद्यपि इसके जन्म को लेकर विद्वानों में विभिन्न मत है, तथापि यह निश्चित है कि कथक मन्दिरों का नृत्य है तथा यह एक प्राचीन नृत्य शैली है। मुस्लिम युग में मुस्लिम प्रभाव से यह नवीन स्वरूपों में विकसित हुआ। कथक एकल नृत्य है, परन्तु अभिनव प्रयोगों के इस दौर में नृत्य नाटिकाएँ तथा समूह में भी नृत्य होने लगे हैं।

कथक नृत्य के क्रम में सबसे पहले कलाकार द्वारा मंच पर 'थाट' बाँधा जाता है। इसके बाद सलामी, आमद, टुकड़े, चक्रदार, परन, परमेलु, कवित्त इत्यादि प्रस्तुत किया जाता है। ज्ञातव्य है कि नर्तक कलाकार के नृत्य प्रस्तुत करने के पूर्व पखावज या तबला-वादक द्वारा एक लम्बा व ज़ोरदार उठान बजाने का भी प्रचलन है। इसके बाद गत तथा भाव में ठुमरी, भजन इत्यादि को गाकर एक-एक पंक्ति को अनेक प्रकार से नृत्य करके दिखाया जाता है। सम्पूर्ण नृत्य में शृंगार रस का वर्चस्व होता है तथा अन्य रस सहारा लेकर यथा स्थान प्रकट किये जाते हैं। कथक नृत्य में पद-संचालन का विशेष रूप से प्रदर्शन होता है। कठिन तालों में द्रुतगामी पदाघात आश्चर्यचकित करने वाले होते हैं। कृष्ण-राधा पर छेड़छाड़, होली, विरह, नायिका-नायक भेद इत्यादि पर भाव दिखाया जाता है। कथक नृत्य में पखावज तथा तबले का प्रमुख महत्व होता है। कथक के अधिकांश बोल पखावज तथा तबला पर ही आधारित होते हैं। अतः इन वाद्यों की हू-ब-हू ध्वन्यात्मक संगत कथक में अनिवार्य रूप से की जाती है। पहले पखावज की संगत पर कथक नृत्य प्रस्तुत किये जाते थे, परन्तु वर्तमान में तबला से संगत की जाती है। वैसे कहीं-कहीं पखावज और तबला दोनों वाद्यों की संगत एक साथ कथक नर्तन में देखी जाती है। इनके अलावा स्वर संगत व लहरा हेतु आवश्यकतानुसार सारंगी, हारमोनियम, बाँसुरी, वॉयलिन आदि वाद्यों का प्रयोग किया जाता है।

कथक नर्तन की प्रस्तुति में एक विशेषता यह भी दिखलाई पड़ती है कि स्वर-वाद्यों द्वारा विषय-वस्तु के अनुरूप कहीं लहरा प्रदान किया जाता है तो कहीं प्रस्तुत स्वरावलियों की संगत की जाती है। सामान्यतया पखावज या तबला संगत कलाकार जब उठान बजाता है और थाट, आमद, परन आदि में कथक की हू-ब-हू ध्वन्यात्मक संगत करता है, तब स्वर-वाद्यों द्वारा निश्चित ताल की मात्रा संख्या व विभाग को प्रदर्शित करते हुए लहरा बजाया जाता है और ठुमरी, भजन आदि के भाव नृत्य में प्रस्तुत स्वरावलियों की संगत करते हुए उनमें भराव देने व भाव को उभारने का कार्य किया जाता है।

कथक का वाचिक अर्थ है- 'कथा कहने वाला'। कथा शब्द से ही 'कथक' या 'कत्थक' की उत्पत्ति हुई है। लेकिन मुग़लकाल से अब तक रूढ़ अर्थ में 'कत्थक' शब्द नृत्य विशेष के लिए ही प्रयुक्त होता है। वैदिक काल में जो शास्त्रीय नृत्य था और जिसका विकास गुप्त युग तक होता रहा, उससे कथक नृत्य का सीधा सम्बन्ध है। पहले कथक भरत कहलाते थे। वे देव-मन्दिरों में पूजा के बाद कथा-गायन के साथ नृत्य करते थे। लेकिन धार्मिक असहिष्णुता के कारण जब मन्दिर भी उजड़ने लगे, तो इन भरत लोगों को छोटी जाति के लोगों और गणिकाओं को नृत्य की शिक्षा देने को मज़बूर होना पड़ा। इससे हिन्दू समाज में भी वे हेय दृष्टि से देखे जाने लगे। अठारहवीं शताब्दी के लगभग इनका सम्पर्क हण्डिया में रहने वाली कथक जाति विशेष से हुआ। उन्होंने जब इस नृत्य को पेशे के रूप में अपना लिया तो इस प्राचीन शास्त्रीय नृत्य का नाम बदल गया और वह 'कथक' के नाम से प्रसिद्ध हो गया। संक्षेप में 'कथक' का वाचिक अर्थ है कथा करने वाला और पारिभाषिक शब्दावली में 'वह शास्त्रीय नृत्य जिसमें कथा का समावेश हो, कथक कहलाता है।''[11]

यहाँ यह ध्यान देना अपेक्षित है कि विशेषकर वर्तमान में प्रचलित कथक नृत्य में किसी कथा का समावेश अल्प मात्रा में ही दिखलाई पड़ता। इसमें थाट, आमद, परन, परमिलू, कवित्त आदि की ही प्रधानता दृष्टिगत होती है।

कथक नृत्य ताल और लय पर आधारित है। हाव-भाव और मुद्राएँ उसे पूर्णता प्रदान करते हैं। कथक में मृदंग और बीन ही प्रमुख वाद्य-यंत्र हैं। ताण्डव और लास्य इसी नृत्य के अन्तर्गत आते हैं जिनका सीधा सम्बन्ध शंकर, पार्वती और कृष्ण से है।[12]

मुग़ल दरबारों में कथक की एकदम काया पलट हो गयी। उसका शास्त्र सम्मत रूप विलुप्त हो गया। अब उसे ईरानी लिबास धारण करना पड़ा। राधा की जगह साक़ी ने और कृष्ण की जगह बादशाहों ने ली। प्रस्तुति को अदा, स्तुति को सलामी और आगमन को आमद कहा जाने लगा।[13] वर्तमान में कथक नृत्य के भी कई घराने प्रचलित हैं।

सन्दर्भ

1. शर्मा, अनीता- प्राचीन सांगीतिक परम्परायें एवं ध्रुवपद शैली, संजय प्रकाशन, दिल्ली, 2010, पृ॰ 3
2. शर्मा, डॉ॰ महारानी- संगीत मणि (भाग-1), श्री भुवनेश्वरी प्रकाशन, इलाहाबाद, 2012, पृ॰ 115
3. गर्ग, डॉ॰ लक्ष्मीनारायण- ब्रज-संस्कृति और लोक संगीत, संगीत कार्यालय, हाथरस, प्रथम संस्करण, नवम्बर 2009, पृ॰ 32
4. वही, पृ॰ 33-34
5. वही, पृ॰ 32
6. वही, पृ॰ 32
7. वही, पृ॰ 35
8. सरल, डॉ॰ भीमसेन- 'स्वर-वादन-सिद्धान्त', लुमिनस् बुक्स, बी॰ 2/236, भदैनी, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 2016, पृ॰ 16
9. वही, पृ॰ 44-45
10. वही, पृ॰ 45
11. राम, कार्तिक- 'रायगढ़ में कथक', राजकमल प्रकाशन प्रा॰लि॰, 8, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, फरवरी-1982, पृ॰ 35-36
12. वही, पृ॰ 36
13. वही, पृ॰ 37

●

शमशेर बहादुर सिंह की कविता में प्रगतिवादी तत्त्व

प्रो. राधेश्याम राय एवम् आनन्द कुमार सिंह***

शमशेर बहादुर सिंह की कविता में छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नई कविता की काव्य प्रवृत्तियाँ विद्यमान है। शमशेर बहादुर सिंह यद्यपि मूलतः प्रगतिवादी कवि नहीं है, किन्तु उनके काव्य में प्रगतिवादी तत्व पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। रचनाकार युगीन परिस्थितियों से संचालित एवं प्रभावित होता है, अतः उनकी कविताएँ प्रगतिवादी विचारों से साम्य रखती नज़र आती है।

अमानवीय बर्बर फाँसीवाद, साम्राज्यवादी ताकत और उपनिवेशी शोषणों से विरोध लेने के लिए मानवतावादी मूल्यों की आवश्यकता महसूस हुई। हिन्दी साहित्य में भी समाजवाद को महत्व दिया जाने लगा, जिसके तहत प्रगतिवादी विचारधारा का जन्म हुआ। प्रगतिवादी काव्य में सामाजिक यथार्थ का वर्णन सबसे अधिक होता है। यथार्थ के माध्यम से कवि मानवीय संरचना एवं सम्बन्धों का वास्तविक एवं ठोस धरातल पर चित्रण करता है। शमशेर बहादुर सिंह ने अपने तत्कालीन परिवेश एवं वातावरण से प्रभाव ग्रहण करते हुए महत्त्वपूर्ण प्रगतिवादी कविताओं का सृजन किया है।

शमशेर की कविताओं में साधारण जनता के प्रति गहरी संवेदना एवं सहानुभूति प्रदर्शित होता है। प्रगतिवादी दृष्टी के कारण ही उन्होंने समाज को व्यक्ति से ऊपर माना है-

''मैं समाज तो नहीं, न मैं कुल जीवन
कण समूह में हूँ मैं केवल एक कण।''[1]

शमशेर की कविता शब्दों तक सीमित न होकर व्यापक एवं जटिल है जिसके केंद्र में समाज की अनेक समस्याएँ है। उन्होंने अपने काव्यानुभवों के माध्यम से काव्य वस्तु का चयन किया है। शमशेर की कविताओं में क्रांति, विद्रोह और संघर्ष की अनेक दृष्टिकोण दिखाई पड़ते है। 'समय साम्यवादी' कविता पर विचार करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है-''यथार्थ वही स्वप्न है, स्वप्न में रूमानी रंग गहरा है, यथार्थवाद का स्पर्श कम है।''[2]

शमशेर बहादुर सिंह ने 'शाम होने को हुई' नामक कविता में किसानों की विवशता और दुर्दशा का यथार्थ वर्णन किया है। उन्होंने देखा कि किसान फटे मैले वस्त्र पहनकर शाम के समय घर लौटता है, उसका ध्यान रखने वाला कोई नहीं है। वही दूसरी तरफ हमारा और आपका शाम मनोरंजन और भौतिक सुख सुविधाओं से भरा होता है। कवि शमशेर बहादुर सिंह ने सभ्रांत युवकों के शाम की तुलना किसान के शाम से करते हुए लिखा है-

''तू न चेता। काम से थककर
फटे मैले वस्त्र में कसकर
लौट आए खोलियों में मौन।
चेतनेवाला न तू-है कौन?
वही दूसरी तरफ-
शाम : हम तूम, और बाबू लोग
लड़कियाँ चंचल, निठल्ले युवक,
स्फूर्त मन सब सिनेमा की ओर
चले : जाने कौन-सी है ललक।''[3]

शमशेर जनता के दुख और उसके कारण से पूर्णरूपेण-परिचित है। उन्होंने समाज के जटिल, क्रूर एवं नग्न यथार्थ को सफलता पूर्वक उद्घाटित करने का प्रयास किया है। 'बात बोलेगी' नामक कविता में उन्होंने शोषण प्रक्रिया एवं मजदूर वर्ग की स्थिति को रेखांकित करते हुए लिखा है-

बात बोलेगी/हम नहीं
दैव्य दानव/क्रूर स्थिति।
कंगाल बुद्धि : मजूर घर घर /
एक जनता का-अमर वर
एकता का स्वर।
अन्यथा स्वातंत्र्य इति।[4]

शमशेर बहादुर सिंह की कविता सीधे-सरल तरीके से सामाजिक संघर्ष को व्यक्त नहीं करती, बल्कि उनकी कविता भाषा की बहुस्तरीय बेधकता को समझकर ही प्रगतिवादी तत्व प्रदर्शित करती है। 'य शाम है' शमशेर की एक महत्वपूर्ण कविता है। इस कविता में ग्वालियर की एक खूनी शाम का भाव चित्रण किया गया है। लाल झंडे, जिनपर रोटियाँ टँगी हुई है, लिए हुए मजदूरों का जुलूस निकलता है। ग्वालियर की सामंती रियासती सरकार ने उनपर बर्बरता पूर्वक गोलियाँ चलवाई। उसी दिन 12 जनवरी सन् 1944 को शमशेर ने लिखा है-

''कराहती धरा
कि हाय-मय विषाक्त वायु
धूम्र तिक्त आज
रिक्त आज

*वरिष्ठ आचार्य, हिन्दी विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
** वरिष्ठ शोध छात्र, हिन्दी विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

सोखती हृदय

ग्वालियर के मजूर का।''[5]

शमशेर बहादुर सिंह यद्यपि मार्क्यवादी विचारधारा में गहरी रूचि रखते थे, किन्तु उन्होंने मार्क्सवादी विचारधारा को सतही रूप में कभी भी स्वीकार नहीं किया। प्रगतिवादी साहित्य में शमशेर की कविता का स्वर एकदम अलग दिखाई पड़ता है। उनके यहाँ प्रगतिशील चेतना का अर्थ आधुनिक मानवीयता और उनकी सर्जनात्मकता की रक्षा करना है। उन्होंने स्वीकार किया है कि मार्क्सवाद को मैं सामाजिक राजनैतिक पहलुओं से नहीं देखता, बल्कि हमारे युग में वह मानव की गहनतम चिंताओं से जुड़ा हुआ है। शमशेर बहादुर क्रान्तिकारिता को हौवा नहीं बनाना चाहते थे, यही कारण है कि उनकी कविता में वर्ग संघर्ष की तीव्र उत्तेजना का अभाव है। उन्होंने कल्पनामयी, आकर्षक एवं उत्साहमयी कविताओं का सृजन करते हुए आंतरिक बल को बढ़ाने का कार्य किया है-

''ढीली इस जीवन की कमान

कसनी है :

छूटेंगे जिस पर कड़े प्राण के

तीर, जो कि

भेदेंगे

सातों असमान।''[6]

शमशेर ने प्रगतिशीलता को आधुनिक जीवन को समझने की एक दृष्टि माना है। उनके काव्य में एक ओर अतियांत्रिकता, शोषण आदि से त्रस्त मानव के प्रति गहरी सहानुभूति है, तो दूसरी ओर काव्य में कला मूल्यों की रक्षा की तिलमिलाहट भी उपस्थित है। यही शमशेर बहादुर सिंह के द्वंद्व का कारण है, अर्थात उनके आत्मसंघर्ष का कारण है। इसीलिए उन्होंने कला को सबसे बड़ा संघर्ष माना है और यही संघर्ष सौन्दर्य का पर्याय भी है-

''कला सबसे बड़ा संघर्ष बन जाती है

मनुष्य की आत्मा का

प्रेम का कँवल कितना विशाल हो जाता है

आकाश जितना

और केवल उसी के दूसरे अर्थ सौन्दर्य हो जाते हैं

मनुष्य की आत्मा में''[7]

शमशेर की प्रगतिवादी चेतना पर विचार करते हुए डॉ. विजयदेव नारायण साही ने लिखा है-''प्रगतिवाद शमशेर के लिए मात्र वह नहीं है जो वह है, बल्कि वह है जो उनकी निजी जरूरत को पूरा करता है।''[8] डॉ. कुंवर नारायण ने शमशेर पर विचार करते हुए लिखा है-''शमशेर की साहित्यिक चेतना में सार्वभौतिक आदर्शों की व्याप्ति है। वे भारतीयता के नाम पर स्थानीयता या प्रादेशिकता के संकुचित दायरे नहीं बनाते बल्कि दोनों के अर्थ को विस्तृत करने की कोशिश करते है। एक ऐसी कला में जिसके सन्दर्भ बुनियादी जीवन मूल्यों और रचनात्मता के नियमों का स्पर्श करते हो।''[9]

समसामयिक यथार्थ के चित्रण में हिन्दी की प्रगतिवादी कवियों की दृष्टि यथार्थपरक है। उनके लिए यथार्थवाद का अर्थ था कि जो कुछ सामाजिक पटल पर है, उसे सही और सुसंगत ढंग से देखना। शमशेर बहादुर सिंह का यथार्थ जगत अत्यन्त व्यापक है। जीवन के विविध पक्षों का उद्घाटन उन्होंने यथार्थ ढंग से किया है। तत्कालीन समाज, रानजीति, पुरातनपन्थी रूढ़ियाँ, अंधविश्वास आदि का यथार्थ परक वर्णन उनकी कविताओं में पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। 'स्वतंत्रता दिवस' नामक कविता में उन्होंने कवियों से विरह मिलन को छोड़कर मजदूरों, किसानों की ओर ध्यान देने का आग्रह किया है-

''फिर वह एक हिलोर उठी-गाओं।

वह मजदूर किसानों के स्वर कठिन हठी

कवि है! उनमें अपना हृदय मिलाओं।''[10]

उनका मानना है कि बुजुर्आ भाव खत्म होने पर प्रगतिवादी चेतना का संचार हो पाएगा-

''काट बुजुर्आ भावों को गुमठी को गाओ!

अति उन्मुक्त नवीन प्राण स्वर कठिन हठी

कवि है उनमें अपना हृदय मिलाओं।''[11]

भाषाई साम्प्रदायिकता के विरूद्ध शमशेर ने भाषाई एकता पर बल दिया है। उन्होंने स्वीकार किया है कि-''मैं उर्दू और हिन्दी का दोआब हूँ।'' शमशेर ने धार्मिक उन्मादकता को भी रेखांकित किया है। उन्होंने देखा कि धर्म के नाम पर समाज में अनेक विकृतियाँ व्याप्त है। अतः धर्म पर प्रहार करते हुए उन्होंने लिखा है-

''जितना ही लाउडस्पीकर चीखा

उतना ही ईश्वर दूर हुआ (अल्ला ईश्वर दूर हुए)

उतने ही दंगे फैले, जितने

दीन-धरम फैलाए गए।''[12]

शमशेर बहादुर सिंह शोषण पर आधारित समाज को बदलने के हिमायती है। वे जनता के दुख दर्द को महसूस करने वाले समर्थकवि है। 'भारत की आरती' नामक कविता में उन्होंने नागार्जुन की शैली में पूँजीवाद के नष्ट होने और साधारण जनता के उन्नत होने की कामना की है-

''साम्राज्य पूँजी का क्षत होवे

ऊँच-नीच का विधान नत होवे

साधिकार जनता उन्नत होवे

जो समाजवाद जय पुकारती।''[13]

15 अगस्त 1947 को स्वतंत्रता दिवस के अवसर पर लिखी गयी इस महत्त्वपूर्ण कविता में उन्होंने साधारण किसान, मजदूर एवं श्रमिक वर्ग के उत्थान की बात करते हुए लिखा है-

''यह किसान कमकर की भूमि है

पावन बलिदानों की भूमि है

भव के अरमानों की भूमि है

मानव इतिहास को सँवारती।''[14]

शमशेर बहादुर सिंह के प्रगतिवादी दृष्टि का परिचय वहाँ मिलता है जब वे व्यंग्योक्ति के माध्यम से जन जागृति की बात करते है-

''भूख लगती है हमें तब इन्कलाब आता है।''[15]

इस प्रकार हम देखते है कि शमशेर बहादुर सिंह ने सामाजिक यथार्थपरक कविताओं का सृजन बहुतायत मात्रा में किया है। उन्होंने साधारण दीन-हीन नागरिकों की पीड़ा एवं व्यथा से जुड़कर प्रगतिवादी कविताओं का सृजन किया है। समाज में व्याप्त विसंगतियों को रेखांकित करते हुए उन्होंने सर्वजन कल्याण की कामना की है। शमशेर ने आंतरिक रूप से आन्दोलित होकर प्रगतिवादी कविताओं का सृजन किया है। एक जगह उन्होंने अपनी प्रगतिशिलता पर विचार करते हुए लिखा है-''मैं समझता हूँ कि कविता के अंदर मेरा यह एक बड़ा संघर्ष रहा है कि मैं प्रगतिशीलता के तत्त्व प्राप्त कर सकूँ। मगर बेशक जबरदस्ती उन्हे ठूँसकर नहीं, बल्कि वह इसमें आंतरिक रूप से, अपने निसर्ग पैदा हो।''[16]

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. शमशेर बहादुर सिंह : प्रतिनिधि कविताएँ-सं. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, आठवाँ संस्करण-2016 पृ. 3
2. नई कविता और अस्तित्ववाद-रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1978, पृ. 55
3. शमशेर बहादुर सिंह प्रतिनिधि कविताएँ-सं. नामवर सिंह, रामकमल प्रकाशन नई दिल्ली, आठवाँ संस्करण-2016 पृ. 45
4. वही, पृ. 44
5. वही, पृ. 41
6. वही, पृ. 32
7. इतने पास अपने-शमशेर बहादुर सिंह- कुंवरनारायण, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, आठवाँ संस्करण-2016, पृ. 44
8. शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट-डॉ. विजयदेव नारायण साही, विवेक के रंग, सम्पादक-देवीशंकर अवस्थी, वाणी प्रकाशन, इलाहाबाद पृ. 76
9. शमशेर बाहदुर सिंह : इतने पास अपने-कुवरनारायण, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली प्रकाशन-1993 पृ. 186
10. शमशेर बहादुर सिंह : प्रतिनिधि कविताएँ-सं. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली आठवाँ संस्करण-2016 पृ. 27
11. वही, पृ. 27
12. शमशेर बहादुर सिंह : इतने पास अपने-कुंवरनारायण, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, प्रकाशन-1993 पृ. 179
13. शमशेर बहादुर सिंह : प्रतिनिधि कविताएँ-सं. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, आठवाँ संस्करण-2016 पृ. 70
14. वही, पृ. 71
15. कुछ और कतिवाएँ-शमशेर बहादुर सिंह, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली पृ. 90
16. भारती साहित्य के निर्माता : शमशेर बहादुर सिंह-प्रभाकर क्षेत्रिय, साहित्य अकादमी प्रकाशन, नई दिल्ली संस्करण-1997 पृ. 110

●

कबीर, तुलसी, धूमिल एवं केदारनाथ सिंह की कविताओं में प्रयुक्त भोजपुरी के शब्दों की सांस्कृतिक चेतना और उसका अर्थ गाम्भीर्य

उज्ज्वल सिंह एवम् प्रो. श्रीनिवास पाण्डेय***

आधिकारिक और व्यवहारिक रूप से भोजपुरी हिन्दी की एक उपभाषा या बोली है, जिसे आम तौर पर लोग बोली, जनपदीय भाषा या लोक भाषा के नाम से जानते हैं।

भोजपुरी भाषा के नामकरण पर विचार करे तो हम पाते हैं कि स्थान के नामकरण के आधार पर विद्वानों में विभिन्न प्रकार का मतभेद है किन्तु सर्वाधिक प्रचलित मत बिहार राज्य के आरा जिले में स्थिति भोजपुर नामक गाँव के नाम पर हुआ है। भोजपुर के आस-पास बोली जाने वाली भाषा को लोग भोजपुरी नाम से पुकारने लगे जिससे इसका नाम भोजपुरी चल पड़ा।

वर्तमान समय में भोजपुरी भाषा का जितना विस्तार हुआ है, उतना अन्य किसी लोकभाषा का नहीं हुआ है। मौजूदा समय में भारत में लगभग पाँच से सात करोड़ लोग भोजपुरी बोलते समझते हैं, वैश्विक स्तर पर भी इसे बोलने समझने वालों की संख्या कम नहीं बल्कि करोड़ों में है हिन्दी के बाद संभवतः भोजपुरी भारत के सबसे ज्यादा जन और ज़मीन की भाषा है जो हिन्दी के किसी उपभाषा या बोली के पास नहीं है। यह वर्तमान भारत के पाँच प्रदेशों पूर्वी उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बिहार, मध्यप्रदेश, झारखण्ड एवं छत्तीसगढ़ के कुछ क्षेत्रों में बोली जाती है। पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बिहार के कुछ जिलों जिसमें भोजपुरी का विशेष रूप से बोल-बाला है, क्रमशः बनारस, जौनपुर, मिर्जापुर, गाज़ीपुर, बलिया, गोरखपुर, देवरिया, आज़मगढ़, बस्ती, भोपजुर (आरा), बक्सर, रोहतास (सासाराम), भभुआ, छपरा (सारन), सिवान, पूर्वी चम्पारण, पश्चिम चम्पारण आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

भारत के बाहर नेपाल, मॉरिशस, फिजी, त्रिनिदाद, गुयाना, जमैका, सूरीनाम, वर्मा आदि तक भोजपुरी का प्रचार-प्रसार है जहाँ भोजपुरी बोली एवं समझी जाती है मॉरिशस में तो इसे संवैधानिक मान्यता भी प्राप्त है। नेपाल में भोजपुरी बोलने वालों की संख्या वहा की भाषा बोलने वालो की लगभग नौ फीसदी है।

आज भोजपुरी को बोली के सीमित दायरे से हटकर देखने की जरूरत है। इसके पास जन और जमीन दोनों है, जो दूसरी कई भाषाओं के पास जैसे मैथिली, संथाली आदि से अधिक है किन्तु संवैधानिक रूप से भाषा होने की मान्यता इसे नहीं प्राप्त है, जबकि मैथिली और संथाली को भाषा होने की संवैधानिक मान्यता प्राप्त है। इसके होने का कारण कुछ विद्वान उसकी साहित्य संपदा मानते है, आज भोजपुरी के पास भी उसकी साहित्य संपदा है उसका भी अपना इतिहास है तो आखिरकार उसे भाषा होने की मान्यता क्यों नहीं।

भोजपुरी अपने स्वरूप में कई एक भाषाओं से ज्यादा समृद्ध एवं लोकप्रिय है किन्तु उसे भाषा होने की संवैधानिक मान्यता नहीं प्राप्त है जिसे भाषा की मान्यता दिलाने की जदोजहद और कयास आज भी जारी है भाषायी परिवार के स्तर पर भोजपुरी एक आर्यभाषा है जो अपनी शब्दावली के लिए मुख्यतः हिन्दी और संस्कृति पर निर्भर है कुछ शब्द इसने उर्दू से भी ग्रहण किये हैं।

भोजपुरी संस्कृति पर विचार करने से पहले संस्कृति को जान लेना आवश्यक है संस्कृति शब्द संस्कार से बना है, जिसका अर्थ है कुछ कार्यों को विधि के अनुसार करना। हिन्दू परिवार में जन्मा एक व्यक्ति जन्म से ही विभिन्न प्रकार के संस्कारों को पूरा करता है, जिसमें उसे अनेक प्रकार की भूमिकाएँ निभानी पड़ती है। जबकि संस्कृति में विभिन्न संस्कारों के द्वारा सामाजिक जीवन के उद्देश्यों की प्राप्ति होती है।

आमतौर पर संस्कृति को अभौतिक संस्कृति तथा भौतिक संस्कृति के रूप में देखा जाता है, अभौतिक संस्कृति में, साहित्य, भाषा, व्यवहार,धर्म, रीति-रिवाज, नैतिकता, ज्ञान, विचार, मनोवृत्ति, संगीत, विश्वास आदि को रखा जाता है, जबकि भौतिक संस्कृति में मानव द्वारा निर्मित तथा मूर्त वस्तुओं को रखा जाता है, जिसमें वायुयान, कार टेलीविजन पंखा, कूलर आदि आते हैं

अभौतिक संस्कृति अपनी पिछली पीढ़ी से पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ती चलती है, तथा प्रत्येक पीढ़ी में इसमें आवश्यकता तथा समय की मांग के अनुसार कुछ परिवर्तन होता चलता जाता है, किन्तु भौतिक संस्कृति की तुलना में इसमें कम परिवर्तन होता है। संस्कृति और भाषा का विशेष सम्बन्ध होता है, भाषा के अभाव में संस्कृति का कोई नाम लेवा नहीं रहता। भोजपुरी क्षेत्रों की संस्कृति को जानने के लिए, भोजपुरी भाषा को जानना आवश्यक है, इसका मतलब ये नहीं है कि इसके अभाव में भोजपुरी संस्कृति को दूसरी भाषाओं जैसे हिन्दी, अवधी, ब्रज आदि के द्वारा जान नहीं सकते है, किन्तु उनमें वह सरसता और मौलिकता नहीं रहेगी जो निजी क्षेत्र विशेष की भाषा में होगी या रहती है।

वर्तमान समय में दुनिया भर के तमाम शिक्षाविदों ने यह स्वीकार किया है, कि अपनी मातृभाषा में किसी चीज को समझना

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

** सम्पादक- 'प्रज्ञा' जर्नल, प्रमुख, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

बेहद आसान होता है। भोजपुरी बोली हमारे लिए महज भाषा और संवाद का माध्यम नहीं है, इस भाषा के माध्यम से हमारी संवेदनाओं का विकास हुआ है। ये हमारे व्यक्तित्व में संस्कारों की भाँति घुल-मिल गयी हैं। इस प्रकार भोजपुरी संस्कृति भोजपुरी समाज की अमूल्य धरोहर है।

हिन्दी कविता में भोजपुरी शब्दों के प्रयोग के इतिहास पर प्रकाश डाले तो हम पाते है, कि अपने आरम्भिक समय में सिद्धों की रचनाओं में इसका प्रयोग अन्य भाषाओं के साथ हुआ है, जिसमें भोजपुरी के कुछ क्रिया पद कुछ संज्ञा पद मिल जाते है, भोजपुरी क्रियापद का प्रयोग चौरंगीनाथ की रचना 'प्राण संकली' में हुआ है – 'नमसकार करीला नमाईला माथा, आसिरवाद पाईला'। चौरासी सिद्धों में सिद्ध भुसुकु का नाम बड़ा प्रसिद्ध है इन्होंने 'सहजगीति' नामक पुस्तक में लिखा है –

''आज भुसु बंगाली भइली,
णिअ धरिणीं चंडाली लेली।''[1]

इस पद्य में भइली क्रिया भोजपुरी की है। स्पष्ट है कि सिद्धों की रचनाओं में भोजपुरी संज्ञापदों एवं क्रियापदों का प्रयोग हुआ है, किन्तु उनकी काव्य भाषा भोपजुरी नहीं है। नाथों के यहाँ विशेषकर गोरखनाथ के यहाँ भोजपुरी शब्द महज संज्ञापदों एवं क्रियापदों के रूप में नहीं बल्कि उससे आगे बढ़कर काव्यभाषा के रूप में दिखायी पड़ती है। गोरखनाथ हँसने, खेलने, रंग में रहने और काम-क्रोध न करने की बात भोजपुरी बोली में ही करते है - हँसिबा खेलिबा रहिबा रंग, काम-क्रोध न करिबा संग। इसके बाद निर्गुण सन्त काव्यधारा के कवियों में भोजपुरी शब्दों का प्रयोग मिलता है जिसमें कबीरदास, धमरदास,धरनीदास आदि का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। इन कवियों ने अपनी कविताओं के द्वारा तत्कालीन समाज में व्याप्त बाह्यआम्वडरों कुरीतियों पर जमकर प्रहार किया। इन कवियों की कविताओं में भोजपुरी शब्दों का अत्यन्त सार्थक एवं साभीप्राय प्रयोग हुआ है। कबीरदास की कुछ पंक्तियाँ-

i. ''सैंया बुलावे मैं जैहों ससुरे, जल्दी से कहँरा डोलिया कस रे।''

ii. ''सन्तों ससुरे का पढवों संदेस, नैहरवा में आग लागी।''

iii. ''दुलहिनी गावहु मंगलचार, मोरे घर आए हो राजा राम भरतार।''

धमरदास के लोकगीतों में भोजपुरी के शब्दों का प्रयोग मिल जाता है-

''कहवा से जीव आइल,
कहवाँ समाइल हो।
कहवाँ कइल मुकाम,
कहाँ लपटाइल हो।''[2]

इसके बाद भारतेन्दु युग के कवियों ने भोजपुरी शब्दों का प्रयोग किया है, जिसमें भारतेन्दु, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', प्रतापनारायण मिश्र आदि का नाम लिया जा सकता है। प्रतापनारायण मिश्र निम्न पंक्तियाँ उल्लेखनीय है- 'कौन करेजो नहीं कसकत, सुनि विपत्ति बाल विधवन की'।

स्पष्ट है कि हिन्दी के कवियों में विशेषकर जो भोजपुरी क्षेत्र में आते है, उनकी कविताओं में भोजपुरी के कुछ-न-कुछ शब्द जरूर मिल जायेगें। भोजपुरी क्षेत्र से आये हिन्दी के कुछ प्रमुख कवियों की ओर ध्यान दे तो आदिकाल से आधुनिककाल तक के कवियों की संख्या अपेक्षाकृत कुछ कम ही है। जिसमें रैदास, कबीरदास, भारतेन्दु बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', जयशंकर प्रसाद, धूमिल, केदारनाथ सिंह आदि प्रमुख है। जिन्होंने भोजपुरी शब्दों के द्वारा भोजपुरी संस्कृति को उकेरने का प्रयास किया है।

इन कवियों (कबीर, तुलसी, धूमिल एवं केदारनाथ सिंह) की कर्मभूमि काशी रही है, ये भोजपुरी संस्कृति में रचे-बसे है। जिसके कारण इनकी कविताओं में भोजपुरी शब्दों का अत्यन्त सार्थक एवं साभीप्राय प्रयोग हुआ है। कबीरदास जी ने स्वयं अपनी बोली के विषय में स्वीकार किया है कि-

''बोली हमारी पूर्व की, हमें लखै नहिं कोय
हमको तो सोई लखै, धुर पूरब का होय''[3]

धुर पूरब का होय से उनका तात्पर्य भोजपुरी पूर्वी प्रदेश से रहा होगा, जहाँ भोजपुरी बोली एवं समझी जाती है।

''जैसा प्रसिध्द है, कि कबीर भोजपुरी प्रदेश के निवासी थे,अतः उनकी कविता में भोजपुरी का गहरा पुट होना तथा भोजपुरी में उनकी काव्य रचना स्वाभाविक है। कबीर की कविता में अन्य बोलियों का जो पुट पाया जाता है उसका कारण यह है, कि उनकी सन्त वाणी का प्रचार जिस प्रान्त में हुआ उस प्रान्त के लोगों ने उसे अपनी भाषा में रंग दिया। उसे प्रान्तीय चोला पहना दिया। कबीर की भाषा को सधुक्कड़ी, खिचड़ी भले ही कहा जाय परन्तु उसकी आत्मा भोजपुरी ही है।''[4]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' से इस सम्बन्ध में विचार करते हुए लिखते है, ''इनकी भाषा सधुक्कड़ी अर्थात् राजस्थानी पंजाबी मिली खड़ीबोली है, पर रमैनी और सबद में गाने के पद है, जिनमें काव्य की ब्रजभाषा और कहीं-कहीं पूर्वी बोली का भी व्यवहार है''[5] पूर्वी बोली से उनका आशय भोजपुरी से रहा होगा।

सुप्रसिध्द भाषा शास्त्री डॉक्टर सुनीत कुमार चटर्जी ने लिखा है कि, ''भोजपुरी का सबसे पुराना नमूना कबीर के कतिपय पद्यों में पाया जाता है। यद्यपि उन्होंने तत्कालीन हिन्दी कवियों की प्रथा के अनुसार साधारणतया ब्रजभाषा और कभी-कभी अवधी में कविता की

है परन्तु उनमें भोजपुरी का पुट लक्षित हो जाता है और उन्होंने अपनी भोजपुरिया का प्रयोग किया है वहाँ ब्रजभाषा प्रकट हो जाती है।''[6]

कबीर के यहाँ लोकजीवन में प्रचलित शब्दों ससुराल, नैहर, घुघट, दुलहिन, दुलहा, भरतार, पिया, दुलहिनी, सोहागिनी आदि का प्रयोग बहुत बार हुआ है, जिसमें प्रचुर अर्थ गाम्भीरी और भोजपुरी सांस्कृतिक चेतना सन्निहित है।

वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित कबीर साहब की शब्दावली चौथा भाग, पृ0 सं0 19

''अपने पिया की मैं होइबों सोहागिनी अहे सजनी

भइया तजि सइयाँ सँग लागव रेकी।

सइयाँ के दुअरिया अनहद बाजा बाजै-अहे सजनी

नाचहिं सुरति सोहागिनी रेकी।''[7]

उपर्युक्त पद में पिया, सोहागिनी, सजनी, भइया, सइयाँ, दुअरिया आदि भोजपुरी के है, जिसका अपना विशेष अर्थ वैशिष्ट एवं गाम्भीर्य है, जिसमें सोहागिनी का अर्थ विवाहित स्त्री से है जिसका पति जीवित हो, सहजनी का अर्थ सखा के अर्थ में, पिया का अर्थ पति के रूप में, भइया का अर्थ भाई के अर्थ में हुआ है। जो भोजपुरी क्षेत्रों से आज भी जुड़े हुये हैं जिनका अपना एक सांस्कृतिक महत्व है।

कबीर साहब की शब्दावली (भाग पहला), पृ0 सं0 23, शब्द 5

''कौन ठगवा नगरिया लूटल हो।

चन्दन काठ के बनल खटोलन

तापर, दुलहिन सूतल हो।

उठो री, सखी मोरी माँग सँवारो

दुलहा मोसे रूसल हो।

आई जमराज पलंग चढ़ि बइठे

नैनन आँसू टूटल हो।

चारि जने मिल खाट उठवले

चहु दिस धू-धू उठल हो।''[8]

उपर्युक्त पद में ठगवा, नगरिया खटोलना, दुलहिन, सूतल, दुलहा, रूसल, उठवले, चहुदिस आदि भोजपुरी शब्दों का प्रयोग हुआ है। जिसमें दुलहिन का अर्थ नई नवेली विवाहित स्त्री से है, नगरिया का अर्थ नगर (गाँव) से है, चाहुदिस का अर्थ चारों दिशाओं से है।

कबीर साहब की शब्दावली(दूसरा भाग) पृ. 40, शब्द 28

''तोर हीरा हिराइल बा किचड़े में

कोई ढूँढै पूरब कोई ढूँढे पच्छिम, कोई ढूँढै पानी पथरे में।

सुर नर मुनि और पीर औलिया, सब भूलल बोड़े नखरे में।

दास कबीर ये हीरा को परखै, बाँधि लिहले जतन से अचरे में।''[9]

उपर्युक्त पद में हिराइल, किचड़े, भूलल, नखरे, परखै, लिहले, अचरे आदि सभी भोजपुरी के शब्द है।

''बाबा घर रहलू त बबुई कहवलू

सइयाँ घर चतुर सेयान

चेतब घरवा आपन रे।

का ले जैबो प्रतीम घर एबौ,

गाँव के लोग जब पूछन लागि हैं

तब हम का रे बतैबों।''[10]

उपर्युक्त पद में बबुई, सइया, सेयान, चेतब, जैबो, पूछन, बतैबो आदि शब्द भोजपुरी के हैं। कबीर की कविता में ऐसे अनेक पद हैं जिसमें भोजपुरी के शब्दों का प्रयोग हुआ है। जिसमें सइया का अर्थ पति के रूप में, सेयान का अर्थ वयस्क के रूप में, चेतब का अर्थ जानने के अर्थ में, जैबो का अर्थ जाने के रूप में, बतैबों का अर्थ बताने के रूप में हुआ है।

भोजपुरी क्षेत्रों से जुड़े हिन्दी के अनेक कवियों ने भोजपुरी के शब्दों अत्यन्त सार्थक एवं साभीप्राय प्रयोग किया है। इनमें तुलसीदास का भी नाम आता है। जैसा कि हम लोग जानते है, तुलसीदास के जीवन का काफी समय काशी में बीता है। यही पर रहकर उन्होंने 'रामचरित मानस' का अधिकांश भाग तथा सम्पूर्ण विनय पत्रिका का प्रणयन किया है। काशी भोजपुरी क्षेत्रों के अन्तर्गत आता है। तब काशी एवं इसके आस-पास के क्षेत्रीय शब्दों का प्रयोग इनकी रचनाओं में स्वभाविक ही हैं। तुलसीदास जी ने भाषा नहीं भाव को प्रधानता दी है। भाषा के सन्दर्भ में दोहावली में उन्होंने लिखा है–

''का भाषा का संस्कृति भाव चाहियों साँच,

काम जुआवै कावरि का लै करे कुँवाच।''

तुलसीदास की रचनाओं कवितावली, विनयपत्रिका, रामचरितमानस आदि रचनाओं में कहीं-कहीं भोजपुरी के शब्दों का प्रयोग हुआ है, परन्तु रामचरितमानस में इसकी अधिकता पायी जाती है।

''तेइ तृन हरिन चरै जब गाई

भाव बच्छ सिसु पाई पेन्हाई

नोई निवृत्ति पात्र विश्वासा

निर्मल मन अहीर निज दासा।''[11]

उपर्युक्त पद में पेन्हाई, अहीर, निवृत्ति आदि भोजपुरी के शब्दों का प्रयोग हुआ है जिसका विशिष्ट अर्थ है जिसमें नोई का अर्थ गाय के पिछले पैर को बाधने वाली रस्सी से पेन्हाई का अर्थ भाव या वात्सल्य के कारण जब बछड़ा गाय के थन में सिर को मारने से (जिससे थन में दूध आ जाने से) है।

''अचल होइ 'अहिवात' तुम्हारा

जब लग गंग-जमुना जलधारा।

गुरु पितुमातु न मानौ काहू,

कहौं सुभाउ नाथ पतिआहू।''[12]

भोजपुरी में अहिवात शब्द का अर्थ स्त्री का सौभाग्य और पतिआना का अर्थ विश्वास करने के अर्थ में होता है, तुलसीदास जी ने इसका सार्थक एवं साभीप्राय प्रयोग किया है।

भोजपुरी में आप के लिए राउर शब्द का प्रयोग किया जाता तुलसीदास जी राउर शब्द का प्रयोग बड़ी सुन्दर रीति से किया है-

''जो राउर अनुशासन पाऊँ,

कन्दुक इव ब्रह्मांड उठाऊँ

कहत बचन दुःख रउरे लागा।''[13]

भोजपुरी में खोजने के लिए जोही शब्द का प्रयोग होता है-

बार-बार मृदु मूरति 'जोही'।

'गवं' ठेठ भोजपुरी का शब्द है जिसका अर्थ ताक या अवसर होता है गोस्वामी जी ने शब्द का सार्थक एवं साभीप्राय प्रायोग किया है-

जिमि गंव तकइ किरात किशोरी।

कवितावली रामायण में भूभुरि शब्द का प्रयोग गर्म बालू के अर्थ में तुलसी बाबा ने किया है-

पोंछि पसेउ बयारि करों

अरु पायँ पखारिहौ भूभुरि ढाढ़े।

धूमिल की जन्मभूमि एवं कर्मभूमि दोनों काशी रही है जिसके कारण इनकी कविताओं गवई भोजपुरी भोजपुरी संस्कृति एवं शब्दों का प्रयोग सहज देखने को मिलता है। गवई संस्कृति से जुड़े होने के कारण इनकी कविताएँ भोजपुरी शब्दों से भरी पड़ी है वे 'पटकथा' कविता में लिखते हैं-

''अपने यहाँ संसद

तेली की वह घानी है

जिसमें आधा तेल

और आधार पानी है।''[14]

धूमिल यहाँ संसद अर्थात् भारतीय जनतत्र का विरोध कर रहे हैं किन्तु विरोध को दिखाने के लिए उदाहरण अपने गंवई भोजपुरी शब्दों से ले रहे है जो उनकी कविता की असली ज़मीन है उपर्युक्त उदाहरण में घानी शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ है अनाज की वह मात्रा जो एक बार में कोल्हू में परी अथवा कढ़ाई में भूनी जाती है।

'गाँव कविता में धूमिल ने भोजपुरी शब्दों का अत्यन्त सार्थक एवं साभीप्राय प्रयोग किया है-

''मूत और गोबर की सारी गंध उठाए

हवा बैल के सूजे कंधे से टकराए

खाल उतारी हुई भेड़ सी

पसरी छाया नीम पेड़ की

डॉय-डॉय करते डॉगर के सीगों में

आकाश फँसा है''

उपर्युक्त कविता में मूत, गोबर, डॉय-डॉय करते डॉगर,आदि भोजपुरी गवई शब्दों का प्रयोग हुआ है, जिसमें डॉगर का अर्थ हड्डी दिखाई देना है। मूत और गोबर, गवई जीवन का यथार्थ है।

''करछुल.....

बटलोही से बतियाती है और चिमटा

तवे से मचलता है

चूल्हा कुछ नहीं बोलता

चुपचाप जलता है, और जलता रहता है''[15]

किस्सा जनतंत्र की यह कविता जिसमें भोजपुरी के शब्दों करछुल, चिमटा, चूल्हा आदि का जिक्र हुआ है, यह हर घर की सच्चाई है, जिसका प्रयोग दैनिक जीवन में होता है।

बच्चों के खेलने का जिक्र भी उनकी कविता में आता है किन्तु गवई भोजपुरी चेतना एवं शब्दों के साथ-

''बच्चें आँगन में.....

आँगड-बाँगड़ खेलते है

घोड़ा-हाथी खेलते हैं

राजा रानी खेलते हैं, और खेलते रहते है।''[16]

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी धूमिल की गंवही भोजपुरी शब्दावली के विषय में लिखते है कि ''जनता की शब्दावली उनकी भाषा में बहुत मिलती है, चूल्हें का कोयला, पतीली की दाल, बाल्टी, चौका, पाला लगी मटर, सोहर, मूत आदि और गोबर, डॉय-डॉय करते डॉगर, चकती, टाँकना, नाघना, पोकना, हुचर-हुचर, लिट्टी आदि शब्दावली इसी प्रकार की है। इस प्रकार की ग्रामीण शब्दावली और देवाती जिन्दगी के ठेठ चित्रों के लिए उनकी मोचीराम, प्रौढ़ शिक्षा, कवि, किस्सा जनतंत्र, गाँव और नक्सलवाणी शीर्षक कविताएँ पढ़ी जा सकती है। धूमिल की कविता में ग्रामीण शब्दावली का स्तेमाल चौकाने के लिए नहीं हुआ,न आँचलिक छौक देने के लिए बल्कि यही उनकी उसली ज़मीन है।'[17]

केदारनाथ सिंह की कविताओं में भोजपुरी शब्दों का प्रयोग खूब हुआ है, जिसका एक कारण उनका भोजपुरी क्षेत्र से होना है तथा दूसरा कारण उनका कविता विषय है। इनके विषय आँचलिक प्रधान होते है जिसके कारण वे क्षेत्र विशेष के परिवेश से अपने आप जुड़ जाते हैं। प्रकृति वर्णन इनकी काव्यों का प्रिय विषय है, 'एक पारिवारिक प्रश्न शीर्षक कविता में वे लिखते है-

''छोटे से आँगन में

माँ ने लगाये हैं

तुलसी के बिरवे दो

पिता ने उगाया है

बरगद छतनार

मैं अपना नन्हा गुलाब

कहाँ रोप दूँ।''[18]

कविता के विषय की प्रतिपाद्य मैं से जिसमें भोजपुरी शब्दों, तुलसी, बरगद छतनार आदि का प्रयोग हुआ है। वे 'दुपहिरयाँ' शीर्षक में लिखते है- 'झने लगे नीम के पत्ते बढ़ने लगी उदासी मन की वे

'उड़ने लगी बुझे खेतों से

झुर-झुर सरसों की रंगीनी,

धूसर धूप हुई मन पर ज्यों

सुधियों की चादर अनवीनी'

उपर्युक्त कविता में झुर-झुर सरसों, धूसर, धूप बुझे खेतों आदि भोजपुरी शब्दों का प्रयोग हुआ है। इनकी कविता के भोजपुरी अंचल के विषय में विश्वनाथ प्रसाद तिवारी लिखते है-

''सौन्दर्य के ताजे सूक्ष्म चित्र केदार की कविताओं में बहुत मिलेंगे। दुपहरिया, फागुन का गीत, बसंत गीत, पात नये आ गये, धानो का गीत, रात विदागीत आदि प्रसिध्द गीतों तथा अन्य कविताओं में कवि की भाषा में लोकजीवन बिम्ब योजना की विशिष्टता लक्षित की जा सकती है, उसकी भाषा में लोकजीवन की भीनी गन्ध है। यह गंध भी एक खास अंचल की है जिसे भोजपुरी अंचल कह सकते है।'[19]

केदारनाथ सिंह की कविताओं में ग्राम्य प्रकृति के विविध रुपों का चित्रण हुआ है। जिसमें नदी, नाले, कोयल की कूक, तट, जंगल, धूप सरसों, के खेत, चिड़िया, घास, फुनगी, शरद प्रातः हेमन्ती रात, काँपते गुलाब आदि प्रमुख है-

''ओस भरे

काँपते गुलाब की टहनी पर

तितली के पंखों सी सटी हुई

धूप!''[20]

उपर्युक्त कविता में ओस, काँपते, टहनी आदि भोजपुरी शब्दों का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार इन चारों कवियों (कबीर, तुलसी, धूमिल एवं केदारनाथ सिंह) की कविताओं में भोजपुरी शब्दों का अत्यन्त सार्थक एवं साभीप्राय प्रयोग हुआ है। हिन्दी के ऐसे और भी कवि है जिनकी कविताओं में भोजपुरी शब्द देखने को मिलते हैं, किन्तु इन कवियों की कविताओं में भोजपुरी शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है, जिसका कारण प्रत्यक्ष,अप्रत्यक्ष रूप से इनका भोजपुरी संस्कृति एवं क्षेत्रों से जुड़े रहना है।

सन्दर्भ सूची

1. भोजपुरी लोक साहित्य, कृष्णदेव उपाध्याय, विश्वविद्यालय प्रकाशन चौक,वाराणसी, द्वितीय संस्करण 2008, पृ. सं. 33.
2. वही, पृ. सं. 38.
3. वही, पृ. सं. 38.
4. वही, पृ. सं. 36.
5. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, अनुपम प्रकाशन, अशोक राजपथ, पटना, संस्करण 2008, पृ. सं. 52.
6. भोजपुरी लोक साहित्य, पृ. सं. 36.
7. भोजपुरी भाषा और साहित्य, उदयनारायण तिवारी,बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, संस्करण 2010
8. वही, पृ. सं. 254.
9. वही, पृ. सं. 254.
10. भोजपुरी लोक साहित्य, पृ. सं. 37.
11. रामचरितमानस, हनुमानप्रसाद पोद्दार, पृ. सं. 948.

12. भोजपुरी लोक साहित्य, पृ. सं. 35.
13. वही, पृ. सं. 35.
14. संसद से सड़क तक, राजकमल पेपर बैक्स, नई दिल्ली, संस्करण 2013, पृ. सं. 127.
15. समकालीन हिन्दी कविता, विश्वनाथप्रसाद तिवारी, लोकभरती प्रकाशन, संस्करण 2014,पृ. सं. 239
16. वही, पृ. सं. 239
17. वही, पृ. सं. 238
18. वही, पृ. 210
19. वही, पृ. सं. 212
20. वही, पृ. सं. 212

●

बाङ्ला-विभूति शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय महासम्मान पर उफन पड़ी महावेदना

प्रो. एम. एन. दुबे[*]

श्री शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय एक जमाने के सर्वाधिक प्रसिद्ध कथाकार रहे हैं, फिर भी जमाने ने उन्हें प्राप्य यथोचित सम्मान कभी दिया नहीं। जब चारों ओर से उपेक्षा-ही-उपेक्षा मिलती रही आ रही हो, तक यदि कहीं किसी ओर से ढंढी बयार की लहरी सी कोई आत्मीयता मिलती है; प्यार-दुलार की जगह माँ मरे बालक पर जब बिना किसी दोष-अपराध के ही मार-ही-मार पड़ती है, तो रोने की सीमा पार हो जाने पर जब बाहरी रोना-धोना छोड़ उसका रोंयाँ-रोंयाँ कलपता होता है, निराला जिसे देख, उल्टे उसी के द्वारा स्वयं को देखने की दशा बखानते हुए, कहते हैं, देखा मुझे इस दृष्टि से जो मार खा रोई नहीं।'' उस महामौन-व्यथा को व्यक्त कर ही देने की कोशिश में श्री मैथिली शरण गुप्त जी प्रश्न करने की आहत-भावना में कह उठते हैः-

''करूणे । क्यों रोती है?

उत्तर में और अधिक तूँ रोई।''

तो बात कुछ अभिव्यक्ति पाती सी लगती है।' हृदय-विदारक व्यथा झेलनेवाले को जब कोई सच्चे हृदय से प्यार-दुलार पूर्व सान्त्वना देने जाता है, तब चुप-शान्त-होने की जगह उसका आन्तरिक दुःख पुक्का फाड़ के चिग्धाड़ के रूप में उफनाने लगता है। ठीक यही दशा हुई थी, बाङ्ला साहित्य के साथ-साथ समस्त भारतीय कथा-साहित्य की विभूति शरतचन्द्र जी की, जब उनकी अपेक्षा काफी कमतर हैसियत के साहित्यकारों की कलकत्ता विश्वविद्यालय ने डी0 लिट की उपाधि से तो सम्मानित किया, किन्तु उनकी ओर देखा तक नहीं। केवल ''अगत्तारिणी-पदक'' देकर, बस उसके ही समझ मुँह फेर लिया। ब्रिटिश सरकार द्वारा उनके उपन्यास ''पथेर दाबी'' को प्रतिबन्धित कर जप्त कर लिए जाने पर, प्रार्थना करने पर भी जब कहीं से कोई सहायता नहीं मिली 'फरारी हालत मे जब सामताबेड़ नामक एक स्थान पर गुप्तवास करने को बाध्य हुए थे, तब एक मात्र उमा प्रसाद मुखोपाध्याय ही ऐसे व्यक्ति थे, जो उनसे मिलने गए थे। संयोगवश तब उन्होंने अपने कैमरे से उनकी एक फोटो भी खीची थी, उससे शरतचन्द्र की प्रकृत अवस्था का पता चलाता है। बाद में कुछ उत्साहित लोगों ने उन्हें स्वास्थ के लिए विदेश भिजवाने का जुगाड़ किया, फिर खुद हो कैंसिल कर दिया। ऐसी अवस्था मे पूर्व बंगाल की ढाका यूनिवर्सिटी ने उन्हें डी. लिट. की उपाधि से विभूषित किया। फिर मुस्लिम साहित्य-समाज ने उन्हें अपना सभापति निर्वाचित कर महासम्मान से विभूषित किया, तो सुप्त वेदना उफ न पड़ी।

मुस्लिम साहित्य-समाज ढाका, पूर्वीबंगाल भारत वर्ष के दशम-वार्षिक अधिवेशन के सभापति पद से शरतचन्द्र वन्दोपाध्याय द्वारा दिया गया भाषण। इस अधिवेशन का आयोजन ढाका के जगन्नाथ-हाल (ढाका विश्वविद्यालय दो हालों मे से एक) में किया गया था, जिसका नाम ''मिलनायतन'' था। इसी मिलनायतन मे ईस्वी सन् 1936 के 02 अगस्त महीने की दूसरी तारीख को दिए गए इस अभिभाषा को तब की प्रसिद्ध बाङला पत्रिका ''देश'' ने अपने वर्ष 03 संख्या 04 दिनांङ्क 22 अगस्त 1936 ई0 को प्रकाशित किया था। उस प्रकाशित रूप का ही समान्ता प्रस्तुत है। विगत 81 वर्षों में ढाका-पूर्वी बंगाल; पूर्वी-पाकिस्तान फिर अब 'बाङ्ला देश' की राजधानी हो चुका है। तब उनके अन्तरतम से उभरी हुई व्यथा उनकी काशी के माध्यम से जिस रूप में अभिव्यक्त हुई थी, उसे सुनने की तो कोई बात ही नहीं, किन्तु उस समय की बाङ्ला पत्रिका ''देश'' ने उस पूरे भाषण को अपने वर्ष 3 संख्या 40 तिथि 02 अगस्त 1936 ईस्वी के पृष्ठों पर तत्कालीन बाङला छापेखनो मे प्रचलित लिपि में जैसी दशा प्रकाशित किया था, अनुवाद उसके ठीक-ठीक अनुरूप भाषान्तर आप के बाद बंङला प्राकृत भाषाओ को रखा जाता है।

इसी प्रकार ''भाषा'' नाम की एक विशेष भाषा थी उत्तर भारतीय उच्चारण में जिसे ''भाखा'' कहते हैं। जो बोलकर कहने के अर्थ - पाइ सु समय शिवा सन भाखा'' से स्पस्ठतः भिन्न आज की Language भाषा अर्थ में ही प्रयुक्त होती थी-

''का भाखा का संस्कृत'' – कबीर

'' भाखा बद्ध करब में सोई।-तुलसी

''भाषा बोल न जा नहीं जिनके घर के दास।'' चेशवि- उसे भुलवाकर उसे ''हिन्दी'' नाम दिया जा रहा है।

सबकी सेवा में प्रस्तुत ही कर रहा हूँ। उसे पढ़कर आप निश्चय ही मुझसे अधिक अच्छी वह उसकी संवेदनाओं को समझ सकेंगे। उनके द्वारा अभिव्यक्त तत्कालीन भारतीय मानसिकता-विशेषतः हिन्दू-मुस्लिम-पारस्परिक-सम्पर्क, अब पाकिस्तान फिर बाङला देश बन जाने के बाद कितने कुछ मधुर हो गए हैं? इसे और उसके साथ जो साहित्य-सेवी किसी राजनयिक-सम्प्रदाय से अथवा किसी साहित्यिक-खेमे से अपने को नहीं जोड़ सके हैं, उन्हें समुचित सम्मान दिए जाने की अब जो उदारता देश-किसी विशेषतः-भाषी-समुदाय मे विशेषतः कितनी अधिकमात्रा में आ गई है? इसे भी आप मुझसे अधिक गम्भीरता से महसूस करेंगे ही। फिर मुझे कुछ कहने की जरूरत ही क्यों हो? किन्तु चूँकि आरंभ में मैने रोते

* प्रोफेसर, पूर्व निदेशक, हिन्दी तथा भाषा विज्ञान, विद्यापीठ

हुए के प्रति समवेदना प्रदर्शित करने पर रूलाई को ही और अधिक उकसा देने की बात कही है, अतः आप जैसे सहृदय साहित्यिक कम से कम कुछेक ऐसी परिस्थितियों को जानना चाह सकते हैं, जिनकी पृष्ठभूमि में उस महासम्मान की बेला मे शरद चन्द के दिल के और विदीर्ण हो जाने की परिस्थिति का बन अपना आप को भी सहज-स्वाभाविक लगे। अतएव मैं ऐसी बस एक घटना की चर्चा किए दे रहा हूँ; जिससे कि आप की उत्कण्ठा भी शान्त हो, और शरतचन्द्र की जगह मेरा हि ऊल-जलूल लेख पढ़ने का अनपेक्षित कष्ट भी आपको अकारण हो न झेलना पड़े।

हाँ उस एक घटना को बताने के पहले भी एक लोक-स्वाभाविक स्थिति को बतलाना और आवश्यक समझता हूँ। वह यह कि; आदमी जब ऐसी दर्दनाक स्थिति में पहुँच जाता है, जब उसे अपने आप को बँचा पाने का कोई मार्ग नहीं सूझता, तो सोचते-सोचते ईश्वर के अलावे जिस एक विशेष व्यक्ति को अपना परित्रता-निश्चय ही जिसके द्वारा तनिक भी सहायता पा लेने पर अपने को सर्वथा सुरक्षित हो जाने का विश्वास जमा लेता है। फिर देवता-स्वरूप उस महान् व्यत्त्वि के सामने अपना रोना रोकर सहायता करने की प्रार्थना करता है, तब उस दशा में वह शब्द-आत्मा जब सहायता करने से इनकार कर देता है, हाँ न कर पाने के सच्चे-सटीक तर्क भी भले देता है, किन्तु टूटे हुए दिल को उससे कोई तसल्ली भला कैसे मिल सकती है। संज्ञेप में घटना यह है;-

शरतचन्द्र लिखित ''पथेर दाबी'' उपन्यास, जो देश की स्वतन्त्र करवाने की लड़ाई लड़ रही भारतीय जनता में इतना लोकप्रिय हुआ था कि शीघ्र ही सभी भारतीय भाषाओं में अनूदित हो- हो प्रकाशित-प्रचारित हो गया था,- सितम्बर सन् 1926 ईस्वी में पुस्तकाकार जैसे ही प्रकाशित हुआ, तत्कालीन ब्रिटिश सरकार ने उसे शासन विरोधी मानते हुए दिनाङ्क 13 जनवरी 1972 को एक शासनादेश (नोटिफिकेशन) जारीकर उसकी सारी प्रतियाँ को जप्त कर लिया, तथा शरत् चन्द को सरकार-विरोधी – भावना फैलाने का अपराधी मानते हुए, भविष्य में ऐसी गलती न करने की हिदायत दी थी। वैसे अन्दर-अन्दर से उन्हें गिरप्तार करने की योजना थी।

ऐसी परिस्थिति में शरतचन्द ने विश्व कवि रवीन्द्रनाथ के प्रभावों को आधार बनाते हुए, और अपने प्रति उनके आत्मीयतापूर्ण संबंधों पर भरोसा करते हुए, स्वयं रवीन्द्रनाथ जी के पास जाकर अपने पास, जैसे-तैसे-बँची रह गई, उक्त पुस्तक की एक प्रति देते हुए उसे पढ़ कर, बिना किसी पुष्ठ आधार के ही ब्रिटिश सरकार ने जो उसे प्रतिबन्धित कर दिया है, इसके विरूद्ध कुछ लिखने अथवा बयान जारी करने का अनुरोध किया था ताकि उसे पढ़ने वाले नवयुवकों- तक के विरूद्ध ब्रिटिश सरकार जो अत्याचार कर रही है,उस पर विराम लगे। परन्तु कविगुरू ने उस उपन्यास के पढ़ने क बाद 27 माघ बंगाल 1333 (ईस्वी सन् 1927 जनवरी) को जो पत्र भेंजा (पत्र लम्बा होने के कारण मैं यहाँ महींदे पा रहा हूँ) उसे पढ़कर शरत् चन्द्र को भारी आघात लगा था। उन्होंने उसका उत्तर भी लिख डाला था, किन्तु उसे और विस्तार से लिखने और भाषा को यथासंभव अधिकाधिक विनम्रतापूर्ण बनाने की इच्छा से अभी भेजा भी नहीं था कि तभी उमाप्रसाद मुखोपाध्याय जी उनके-उस समय के प्रसिद्ध राजनयिक श्यामा प्रसाद मुखर्जी के भाई निवास स्थान सामताबेड़ पहुँच गए थे। फिर तो उस जबाबी पत्र पर दोनों में काफी विचार-विमर्श हुआ, जिसके परिणाम स्वरूप उसे न भेंजना ही उचित समझ गया। यद्यपि यह पत्र छोटा था, फिर भी उसका उल्लेख करूँ तो मेरे इस लेख का आकार बढ़ जाएगा; अतः उसे भी छोड़ता हूँ। विशेषतः इसलिए कि लगभग इसी आशय का एक अत्यन्त छोटा पत्र शरतचन्द ने अपनी एक संबंधी राधारानी देवी को अक्तूबर 10 सन् 1927 को लिखा था, जिससे ही उमाप्रसाद जी को उनके छिपे होने के स्थान सामताबेड़ का पता चला था। सुप्रसिद्ध तीर्थयात्री उमाप्रसाद तो यात्राएँ करते ही रहते थे और उनका विवरण लिखते भी रहते थे। घुमक्कड़ वृत्ति में ही वे राजधानी के पास पहुँच गए थे। राधारानी को लिखा पत्र छोटा था। जो इस प्रकार का था।

एक विशेष बात मैं तुम्हें जना रहा हूँ। परन्तु ध्यान रखना, किसी भाँति किसी और को मत बतलाना। ''पथेर दाबी'' जब सरकार द्वारा बाजेयाप्त हो गई, तब रवि बाबू के पास जाकर मैने अनुरोध किया, कि इसके विरोध में यदि आप प्रतिरोधात्मक कारवाहीं करें, तो निश्चय ही एक सार्थक कार्य सिद्ध हो जाएगा, जिससे कि पृथिवी के (देश के) सभी लोग जान सकेंगे कि ब्रिटिश-सरकार कैसा-कैसा अत्याचार साहित्य-रचना के प्रति कर रही है। यद्यपि कि इससे मेरी वह पुस्तक फिर से संजीवित नहीं हो पाएगी। अंग्रेज लोग ऐसी कुछ उदारता दिखाने वाले हैं ही नहीं। फिर भी दुनियाँ के लोग तो जानकारी पा ही जाएंगे। यही सोच-विचार मैं अपनी वह पुस्तक भी उन्हें दे आया था। किन्तु उसके प्रत्युत्तर मे उन्होंने एक पत्र में लिख भेंजा, कि-

''सारी पृथ्वी का चक्कर लगा-लगाकर मैंने अपनी आँखों देखा कि अंग्रेज राजशक्ति जैसी क्षमा करने वाली, सहिष्णु शासन-सत्ता कहीं भी, कोई और दूसरी नहीं है। तुम्हारी पुस्तक पढ़ने से पाठकों का मन-मस्तिष्क अंग्रेज-गवर्नमेन्ट के प्रति विशुब्ध हो उठता है। तुम्हारी पुस्तक का प्रकाशन प्रतिबन्धित करने भर से, उसके अलावे तुम्हारे खिलाफ कुछ और न करके, अंग्रेज सरकार जो बिरत हो,चुप रह गई; सो एक प्रकार से तुम्हें क्षमा कर देने जैसी उदारता ही है। ऐसी क्षमाशील कारवाही पर निर्भर करके सरकार के विरूद्ध अनाप-सनाप कुछ भी कारवाही करना अथवा निन्दा-भर्त्सना करना साहस की बिडम्बना है।

यह जानकर क्या तुम सोच भी सकती हो, कि बिना किसी अपराध के ही कोई किसी के प्रति इतनी बड़ी कटुक्ति कर सकता है अपने इस पत्र को उन्होंने छपवा देने के लिए भी कहा था, परन्तु मैं छपवा नहीं सका। बस इसी कारण से कि इतनी बड़ी सर्टिफिकेट स्टेटसमैन आदि अंग्रेजी समाचार-पत्र इसे पूरे दुनियाँ में तारे जैसी तीव्रता से प्रचारित कर देंगे। और इधर जो हमारे देर के नवयुवकों को बिना किसी न्यायसंगत कारण के ही, जोर-जुल्म ढाते हुए जेलों में ठूँस-ठँस बन्द कर रखे हुए है और इसी को लेकर जो हमारी

जनता में जो तमाम-आन्दोलन हो रहे हैं, वह सारा-का सारा संग्राम ही निस्फल हो जाऐगा।''

ऐसी दारूण-दशा के बीच ही एक दिन ढाका विश्वविद्यालय उन्हें अपनी डी0लिट0 उपाधि प्रदान कर स्वयं को गौरवान्वित करना चाहता है। ऐसे आमन्त्रण पर भला किसे प्रसन्नता होगी? सो शरतचन्द को भी हुई ही थी, किन्तु हृदय एक काँटा सा भी बिंधा था कि शरतचन्द की अपेक्षा नितान्त साधारण से साहित्यकारों तक को डी0लिट0 उपाधि से सम्मानित कर जो कलकत्ता नगरी में अपने जीवन का अधिकश-समय गुजारते रहने पर भी कलकत्ता विश्वविद्यालय ने उन्हें इस योग्य नहीं माना।

ढाका विश्वविद्यालय ने उन्हें परमश्रद्धापूर्वक बुलाकर केवल डि0लि0 की सम्मानित उपाधि तो नहीं दी; अपितु मुख्य अतिथि के रूप में अपने विश्वविद्यालय के जगन्नाथ-हाल (सम्मान समारोह सभागार) में भाषण देने की प्रार्थना करके और भी अधिक सम्मानित किया। उस हाल में दिए गए भाषण को भी मैं यहाँ नहीं दे पा रहा हूँ, किन्तु अनावश्यक विस्तार भय से नहीं; बल्कि इसलिए कि एक बांङ्ला साहित्य-प्रेमी उसे पढ़ने के लिए जो माँग कर ले गए, फिर उसे वापस करने को जो कहा, तो उन्होंने यह कह कर क्षमा माँग ली कि उक्त प्रति उनसे कहीं खो गई है। वैसे इतनी सारी ऊपरी बातें करके मैने जो आप सबको कष्ट पहुँचाया, उसके लिए अब स्वयं क्षमा माँगते हुए मैं आप सबके सामने शरतचन्द के उस वक्तव्य को यथावत-हिन्दी में रूपान्तरित-रख रहा हूँ। जिसे उन्होंने 02 अगस्त 1936 ई0 को ढाका विश्वविद्यालय जगन्नाथ हाल मिलनायतन नामक सभा मण्डप में मुस्लिम साहित्य समाज के दशम-अधिवेशन में दिया गया-भाषण-

श्रीमान् शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय

आप सब महानुभावों ने मुझे ''मुस्लिम साहित्य समाज'' के दसवें वार्षिक अधिवेशन का सभापति (सभी की इच्छानुसार-सर्वसम्मति से) सभापति चुना है। यद्यपि कि आप लोगों ने इसका नाम करण किया है- ''मुस्लिम-साहित्य-समाज'' फिर भी जो मुझे सभापति बनाया है, इसी से स्पष्ट है कि आप सबके द्वारा मुझे चुने जाने में एक उदारता का विशिष्ट भान है। क्योंकि मैं एक हिन्दू हूँ अथवा मुसलमान समाज के अन्तर्गत हूँ, बहुदेवतावादी हूँ, अथवा ऐकेश्वादी हूँ? इस-प्रकार के प्रशनों पर विचार करने की परवाह आप लोगों ने नहीं की। ऐसे किसी संन्देहात्मक झमेले में न पड़कर आप सबने बस केवल यही सोचा-विचारा है कि मैं एक बंगाली हूँ। बाङ्गाली साहत्य की सेवा एक लम्बे समय से करते हुए काफी पुराना या अनुभवी हो गया हूँ। अतएव साहित्य के विशाल-समारोह-दरबार में मेरा एक विशेष स्थान है। उस विशिष्ट स्थान को आप सबने बिना कोई आगा-पीछा सोचे-विचारे बेहिचक मुझे प्रदान किया है। मैने भी आनन्दपूर्वक परिपूर्ण कृतज्ञता-समादर के भाव से अपने दोनो हाथ पसारकर, आप द्वारा दिए गए उस दान को ग्रहण किया है।

सोचता हूँ, यदि सभी प्रकार के विषयों में यदि ऐसी ही सद्भाव हो पाती तो कितना अच्छा होता? जो व्यक्ति गुणवान है, जो सचमुच महान है, जो बड़ा है; वह चाहे हिन्दू हो मुसलमान हो,क्रिश्चियन हो, अछूत हो, जिस किसी भी समाज-धर्म का भी क्यों न हो; वह जिस आदर-सम्मान के पाने का अधिकारी है, उसके उस सम्मानपूर्ण स्थान को हम उसे मुक्तमन से, स्वच्छन्दतापूर्वक अति सम्मान के साथ उसे दे पाते। संशय-संकोच, तरह-तरह के पक्षों पर घ्यान देने की शंकालु-भावना इसमे कहीं कोई, बाधा खड़ी न कर पाती। इस सुगम-पथ पर काँटे न हो पांती।

परन्तु छोड़े उन सब बातों को। मैने कुछ समय पहले अपने एक पत्र में अपने विचारों को व्यक्त करते हुए कहा था कि साहित्य के तत्त्वों पर विचार-विमर्श करने का काम बहुत हो चुका है। अनेकों मनीषियों, अनेक साहित्य-मर्मज्ञ रासिकों, अनेक अधिकारी विद्वानो ने अनेक-अनेक बार इसके सीमा क्षेत्र एवं इसके तात्त्विक-स्वरूप पर विचार कर-करके समुचित निर्देश घोषित कर दिया है। फलतः उस प्रकार की आलोचना अब आगे फिर प्रस्तुत करने में मेरी कोई अभिरूचि नहीं है। मेरा तो कहना है कि साहित्य-सम्मेलनों का आयोजन नाना प्रकार के शोधपूर्ण निबन्धों- प्रबन्धों का पाठ करने के लिए नहीं हैं। न तो अपनी बड़ी पैनी-तीखी समालोचना से किसी एक महान को चोंटिल कर धराशायी कर देने के लिए ही हैं। कौन कितना कमजोर, कितना अक्षम है, इसी को बड़े ऊँचे स्वर में घोषित करने के लिए भी नहीं हैं। किसी विशिष्ट लेखक ने अपनी रचना में जो कुछ लिखा है, उससे और-और अच्छा उसने क्यों नहीं लिखा? इसके कारणों या कैफियत को कुरेद-कुरेद कर उससे जवाब देने को मजबूर करने के लिए भी नहीं है। यह तो बस केवल साहित्यकार के दूसरे साहित्यकारों से मिलने-जुलने का विशिष्ट-क्षेत्र है। इसका मूल प्रयोजन एक के साथ दूसरे के भाव-विनिमय और अच्छी तरह से परिपूर्ण परिस्थित हो जाने के लिए है।

मुझे याद आते हैं वे पुराने दिन; जब मेरी उम्र (साहित्यकार के रूप में काम करते रहने की समय-सीमा) कम थी। साहित्य के इस व्रत में जब मैं अभी नया-नया ब्रती था, नौसिखुआ था, तब ऐसे साहित्य-समारोहों के जगह-जगह से बुलाए जाने, उनसे आदरपूर्ण आमन्त्रण पाने पर भी दुबिधाओं और संकोचों के कारण मैं उनमें भाग लेने से कतराता रहा। ऐसे अधिवेशनों में भाग लेने नहीं जा सका। ऐसी सभाओं मे उपस्थित क्यों नहीं हो पाया? क्योंकि मैं निश्चयपूर्वक जानता था, कि ऐसी सभाओं क सभापति महोदयो का जो लम्बा-अभिभाषण होगा, उसका एक अंश-एक विशेष हिस्सा मेरे लिए पहले से ही निर्धारित होगा-ही-होगा। कभी सीधे-सीधे मेरा नाम लेकर, तो कभी बिना नाम लिए ही मेरी समालोचना का हिस्सा तो उसमें निश्चय है ही। वह वक्तव्य भी अत्यन्त सीधा-सादा अतिशय स्पष्ट हैः- ''मेरे लेखन-मेरी रचनाओं-में जो अनैतिकता है अशिष्टता है, उससे सारा देश भर गया है। ऐसी-ऐसी सामाजिक बुराइयाँ हैं कि उनसे परम-पवित्र हिन्दू-समाज रौ-रौ नरक में जा पड़ा है।'' इस प्रकार के फैसले सुनाए जाने निर्धारित हैं ही। ऐसे

समारोहों में जाने पर इस बात की आशंका थी कि ऐसे फैसलों को सुनकर यदि मैं सह नहीं पाऊँ और अपनी इस असहमशीलता क चलते यदि अपनी ओर से सच्ची मजीरें दे-देकर मैं उनका जबाब देने लगता। तब हालात कैसे हो जाते? परन्तु ऐसे अपकर्म मैने कभी किए नहीं।

बस अपने मन-ही-मन में यही सोचता रहता कि मेरी साहित्य-रचना यदि सत्य के ऊपर प्रतिष्ठित है, उसके मूल में सच्चाई-ही-सच्चाई है, तब एक दिन, न एक दिन लोग उसके महत्त्व को समझेंगे ही। जो कुछ वास्तविकता हो, जिन दुःखों को मैंने स्वयं भोगा है, उसे दूसरों को देना नहीं चाहता हूँ। अतएव निष्कपट भव से कह सकता हूँ कि मेरा भाषण सुन चुकने के बाद भी साहित्य-संबंधी ज्ञान-परिज्ञान आप लोगों का रंचमात्र भी, एक तिल भरे, भी नहीं बढ़ेगा। ऐसी दशा में जब आप सबका ज्ञान कुछ बढ़ेगा ही नहीं। इसे जब अच्छी तरह जानता ही हूँ तो फिर कुछेक वाहियात बातों को आप के सामने ला रखूँ ही क्यों? सो, अपना अभिभाषण इसी बिन्दु पर समाप्त कर देना ही तो श्रेयस्कर होता। यही समाप्त कर देना ठीक नहीं होता, ऐसी कोई बात नहीं है, फिर भी चूँकि मैंने स्वयं ही एक दिन एक प्रसंग छेड़ दिया था, अतएव उसी का सत्र पकड़कर, आप के इस सम्मेलन में और भी, कुछेक बातें कह सुनाने का लोभ हो रहा है।

मेरे कलकत्ता स्थित निवास स्थान पर एक दिन काजी मोताडर साहेब आ उपस्थित हुए थे। साहित्य की आलोचना-प्रत्यालोचना करने के उद्देश्य वे उस दिन नहीं गए थे। गए थे शतरंज खेलने के लिए। इस खेल को खेलने की जो कुछ भी बुराई है, वह हम दानों मे ही है। चूँकि उस दिन मैं काफी बीमार था, अतः शतरंज का खेल तो जमा नहीं। बल्कि उसकी जगह वर्त्तमान साहित्य के संबंध में ही हम लोगों के बीच चर्चा-परिचर्चा होती रही। उस दिन हम दोनों के बीच जो भी विचार-विमर्श हुआ उसके कुछ अंशों को महत्त्वपूर्ण समझते हुए मैने एक पत्र के रूप में आदरणीय जहानारा जी की वार्षिक पत्रिका 'वर्षावाणी' में प्रकाशनार्थ भेंज दिया। उसी पत्र को ''बुलबुल''-नामक मासिक-पत्रिका के सम्पादक श्रद्धेभ जनाब मुहम्मद हबीबुल्ला साहेब ने अपने, आषाढ़ के अंक में ''अवाल्दित-वयवधान'' शीर्षक से उद्धृत करते हुए प्रकाशित किया। बाद में मैंने देखा कि उस प्रकाशित पत्र के प्रत्युत्तर मे दो महाशयों ने अपनी प्रतिक्रियाएँ भेंज प्रकाशित करवायी हैं। एक श्रीमान लीलाधर राय ने और दूसरी जनाब वाजेद अली शाह ने।

लीलाधर राय ने जो प्रतिक्रिया दी है- उसमें अत्यन्त्र शोभ है, क्रोध है और निराशा का भाव भी गहरा है।

मैने अपने वक्तव्य में लिखा था कि- 'साहित्य-साधना यदि सत्य है, तो उस सत्य के माध्यम से ही एकता की भावना एक-न-एक दिन आएगी ही; आएगी। इसका मूलभूत कारण यह है कि सारे-के-सारे साहित्य सेवी परस्पर परम आमीय हैं। हिन्दू हों, मुसलमान हों, क्रिश्श्यन हो तो भी वे एक दूसरे से अलग था पराए नहीं हैं। एक-दूसरे से अलग था पराए नहीं हैं। एक दूसरे के खासमखास अपने संबंधी हैं।'' लीलाधर जी ने अपने विचार इस रूप मे कहे है,:- ''समस्या का निवारण हो पाने की यदि कोई संभावना है, तो वह साहित्य में संभव न होकर स्वाजात्य में है।''- स्वाजात्य-शब्द से वह क्या बतलाना चाह रहे हैं? यह मैं समझ नहीं पाया आगे उन्होंने और कहा हैः- '' एकता की भावना वाली चीज Organic शारीरिक अंगो से संबद्ध मार्मिक है। हड्डी के मांस को जोड़ देने भर से जैसे मानव-प्राणी नहीं होता, उसी तरह, हिन्दू के साथ मुसलमान को जोड़ देने भर से ''बंगाली'' नहीं होता। भारतीय नहीं बन जाता।''- आगे चलकर उन्होंने और भी कहा हैः- ''हिन्दू मुसलमान के बीच समझौता करने के अलावा और कुछ करने-धरने को है नहीं। परिणाम-स्वरूप व्यवधान तो बना ही रहेगा। राष्ट्रीय भी नहीं हो जाएगी और आत्मीयता भी नहीं होगी।''

इस प्रकार की विचारधारा मन के अन्दर बसे शोभ के बाहर उड़ेल देने के अलावे और कोई चीज नहीं है। फिर भी मैं इस पर बस यही कहूँगा कि इनके जैसे- श्रेष्ठ साहित्यकार, ज्ञानी-मुनी और विचारवान महापुरूष, यदि आज भी ऐसी बातें कहते रहेंगे, तब तो निराशा के गाढ़ेपन से सारी दिशाएँ- (हर ओर-हर कहीं) काली हो जाएँगी।'' इस बात के संबंध में ये महान् लोग क्या कुछ सोचते-विचारते नहीं। मन की गहराई में बसी तिक्तता द्वारा कोई समझौता नहीं हो सकता है, परिणाम स्वरूप किसी भी प्रकार का मिलन-मेल-जोल-भी संभव नहीं होता।

अलावा इसके, मैने देखा कि ठीक इसी प्रकार की निराशा के भाव ही, मोहम्मद वाजेद अली साहेब के विचारों में (ठीक वैसे ही भावों में उनके द्वारा लिखे लेख में) भी अभिव्यक्त हुए हैं। अपने उस लेख में उन्होंने कहा है कि –''आज (के वर्तमान समय) में जो लोग नये सिरे से हम दोनों पड़ोसी समाजों के संबंध पर विचार करने को प्रयत्नशील होंगे, इसे लेकर जिस आश्चर्यजनक समस्या की सृष्टि हो गई है, उसके बन्धनों को काटकर उन्हें कल्याण मार्ग पर ले जाने के लिए, मिलन करवाने के लिए सचेष्ट होंगे, उनका रास्ता बहुत ही लम्बा होगा उनकी साधना भी अत्यन्त कठिनाई भरी होगी।''

मैं इस तरह की बात तो मानना ही नहीं चाहता। इसीलिए बड़ी दृढ़तापूर्वक प्रश्न पूछना चाहता हूँ कि क्यों भाई। उनका मार्ग बहुत लम्बा क्यों होगा? क्या कारण है कि उनकी ऐसी साधना अत्यन्त कठिनाई भरी हो जाएगी? ऐसी कौन सी अटपटी वजह इसमें टाँग अड़ाए पड़ी है, जिससे कि एक सहज-सुन्दर रास्ते, एक मनभावन ढंग से इस समस्या का समाधान हम सब ढूँढ नहीं निकालेंगे? आगे चलकर वाजेद साहेब ने कहा है- ''जिन लोगों के दिलों में अत्यन्त प्रबल विरोध का भाव जड़ जमाए हुए है, हृदय के अतल-तल में गहरा द्वेष; गहरी शत्रुता बनी हुई है, चेतना में अत्यन्त दीर्थ व्यवधान बना ही हुआ है; ऐसे लोगों को जोर-जबरदस्ती से खींच-खाँचकर खूब सटाकर खड़ा भी कर दिया गया; तो भी शिष्टाचार निभाने के लिए उनके हाथ एक-दूसरे से मिलें; किन्तु इस निकटता से भी उनकी आँख-से-आँख तो मिलने से रही। उनमें

आपस में दृष्टि-विनिमय तो हुआ ही नहीं। एक-पक्ष का हृदय, दूसरे-पक्ष के हृदय से सैकड़ों योजन दूर ही पड़ रहा।''

ऐसी दशा आखिर हुई भी तो क्यों हुई है? इसके कारणों पर भी प्रकाश डालते हुए, उन्होंने बतलाया है कि, अनजान-अनपहचान मुस्लिम विजयी वेश में आ धमका। राज्य-सिंहासन पर अपना अधिकार जमा बैठा। इस देश का सम्राट बन जाने पर उसकी राजाओं के अनुसार चलने वालों, अनुचरों, सेवकों द्वारा हर प्रकार की इज्जत आबरू, राज्य-सम्मान उसने इस देश के बासिन्दों द्वारा नहीं पाया, ऐसी भी कोई बात नहीं। परन्तु भारतवर्ष को अपना खुद का स्वदेश स्वीकार कर लेने पर भी, इस देश के बन्धुत्व का मन की मित्रतास के भाव को प्राप्त कर पांने का सौभाग्य उसके भाग्य में कभी नहीं जुटा। फलस्वरूप इन दोनो पड़ोसियों के बीच क अपरिचय का व्यवधान; तह चाहे, भले ही अवांछित ही क्यों न रहा हो; दोनो देश भले ही उसे अच्छा नहीं समझते रहे हो, फिर भी वह कभी हटा नहीं, मिटा नहीं।''

परन्तु मैं पूछता हूँ कि यही क्या पूरा-का-पूरा सत्य है। मान लो अगर यही सत्य है, तो इस अवांक्षित व्यवधान का हटाकर एक-दूसरे से मुक्त-हृदय से मिलन करवा देने में भला कितने दिन लगेंगे?

इस परिवेश में जब लीलामय राय के वक्तव्य पर विचार करता हूँ तो पाता हूँ कि भारी व्यथा से कातर होकर ही लालमय ने लिखा हैः-

''जो लोग बाहर, विदेश, से आए हैं, और आज भी इस तथ्य का मन में बसाए हुए, याद किए रखे हुए हैं, कि वे किसी बाहरी देश से आए हुए हैं। जो पानी के ऊपर-ऊपर फैले तेल की भाँति ऊपर-ऊपर ही छाए रहेंगे, आने वाले अनन्त युगों-युगों तक, ऐसा मन में दृढ़ निश्चय कर रखा है। इस देश के विगत अतीत को जानने-समझने की जिनमें कोई अभिरूचि नहीं है, और फिर वर्त्तमान की दुर्दशा के प्रति कोई समवेदना का भाव नहीं उभरता है। इस राष्ट्र के भीतर अपना एक निजी अलग राष्ट्र बना लेने का जिनका मनोवांछित सुख-स्वप्न है, ऐसे महानुभावों के हम होते ही कौन हैं? कि जबरदस्ती उनके करीब जाकर जो सत्य उनके लिए अत्यन्त अप्रिय है; उसे ही सुनाने के लिए उनके पास जाएँगे?''

इसका अर्थ यह नहीं है कि हम लोग आपस में एक-दूसरे की टाँग खींचना, कम अड़ंगा-डालना पसन्द करते हैं। परस्पर, मित्रता रखना चाहते ही नहीं। परस्पर आलोचना-समालोचना करते हुए एक-दसूरे को समझते हुए मेल-जोल बढ़ाने की प्रवृत्ति से दूर रहना ही हमारा मुख्य उद्देश्य है। इस प्रकार के मन्तव्य करने का असली मकसद या उद्देश्य क्या है? इस प्रश्न का उत्तर मैं पूरे मुस्लिम समाज से ही देने का अनुरोध कर रहा हूँ। परस्पर लड़ाई-झगड़ा, वाद-विवाद, तर्क-वितर्क, का अपना सिद्धान्त सत्य सिद्ध हों, चाहे-न-हो', दूसरे द्वारा प्रस्तुत किया गया सिद्धान्त जिस किसी तरह भी असत्य ठहरायाजा सके, केवल इसी के लिए व्यर्थ का हुल्लड़-गुल्लड़ मचाना, दूसरों को नीचा दिखा-दिखा कर के, नहीं। किस विशेष स्थिति में अन्याय छिपा हुआ है, इस प्रकार की सही पहचान कर स्वस्थ, सरल-चित्त से, विशुद्ध मन से ढूढ निकालने की सलाह देता हूँ और फिर अनुरोध करता हूँ दोनो ही पक्षों से कि परस्पर विनीत भाव से, एक-दूसरे के प्रति आद-सम्मान रखते हुए उसे स्वीकार कर लेने के लिए। यदि हम इस सरल रास्ते पर चले तो एक-दसूरे के प्रति प्रेम का, स्नेह का, सहिष्णुता का, सहन करने और क्षमा कर देने का उत्तम भाव पाएँगे ही-पाएँगे।

जनाब वाजेद अलीशाह ने एक बड़ी ही ऊँचे दर्जे की भरोसे की बात कही है- जिसे हिन्दू-मुसलमान दोनो को ही अपने मन में सँभालकर रखना उचित है। उन्होंने कहा है कि-''मुस्लिम-साहित्य सेवक अपनी रचनाओं'' मे अरबी-फरसी भाषा के शब्द बाङ्ला भाषा के अंगों में जोड़ना चाहते हैं, उनकी इस इच्छा पर आपत्ति-अनापत्ति व्यक्त करने की बात अत्यन्त ओछी बात है, बेहद तुच्छ-प्रवृत्ति है, क्योंकि केवल बस कलम चला-चलाकर लिख देने भर से वह काम सिद्ध नहीं हो सकता है। उसके लिए तो चाहिए भारी मात्रा की विशुद्ध साहित्यिक ताकत; चाहिए रचना करने मे समय उच्चकोटि की प्रतिभा। ये दो विशिष्ट गुण जहाँ नहीं हैं, वहाँ भाषा के गहने पहनने की कोशिश करते हुए नौटंकी-भड़ैती के चोले पहन कर नाटकबाजी तो कर सकते हों किन्तु भाषा में शुद्ध अलंकरण नहीं ला सकते।

नौटंकी बाजी, तड़क-भड़क की वेश-भूषा भर पहन लेने भर की यह कवायद तो सरलता से कर ही सकते हैं। करते रहते भी है, परन्तु इसकी समझ किसे है? जो सचमुच के ही साहित्य-रसिक हैं, बस उन्हें ही इसका ज्ञान है। जो भाषा को सचमुच ही प्यार करते करते हैं, बिना किसी छल-कपट के बस कवल-साहित्य की ही सेवा करते हैं, बस उन्हे ही इसका ज्ञान होता है। साहित्य के ऐसे शुद्ध रसिकों से तो हमें कोई खतरा नहीं है। कोई डर नहीं हैं हमे भारी भय तो उनसे है, जो लोग साहित्य की सेवा न करते हुए भी साहित्य के भारी महारथी बने हुए हैं। अपने आप को साहित्य का अभिभावक-संरक्षक मानते हुए- मनमानी करते जा रहे हैं। एक ऐसा उदाहरण हालांकि बहुत प्रिय लगने वाल तो नहीं है; फिर भी मैं आप सबके सामने पेश किए दे रहा हूँ।

''महेश'' शीर्षक से प्रकाशित मेरी रची हुई एक छोटी कहानी है। साहित्य-प्रेमी बहुत सारे लोगों की प्रशंसा उसे मिल चुकी है। एक दिन मुझे जानकारी मिली कि हमारे प्रदेश की मैट्रिक (दसवीं कक्षा) के पाठ्यक्रम में उसे स्थान मिला है। बाङ्ला-साहित्य-पाठ्यक्रम में वह भी पढ़ाई आ रही है। फिर एक दिन सुनाई पड़ा कि जिस पाठ्य-क्रम में वह रखी गई थी, वहाँ से अब उसे हटा दिया गया है, माने पाठ्य-क्रम से निकाल बाहर कर दी गई हैं। विश्वविद्यालय से तो अपना कोई योगायोग या संबंध-सूत्र वग़ैरह कुछ है ही नहीं। पाठ्य-क्रम में कोई रचना कैसे लगती है कैसे निकाल दी जाती है इसका कोई ज्ञान तो मुझे है नहीं। अतएव मैने समझा कि सम्भवतः ऐसा ही कुछ नियम होगा। कोई रचना पाठ्य-क्रमों में कुछ समय के लिए रख ली जाती है, फिर कुछ

समय बाद निकाल भी दी जाती है। परन्तु उसके काफी समय बाद एक साहित्य-प्रेमी मित्र के मुख से बातों-बातों में ही असली कारण सुन पाया। जिससे पताचला कि उसे इस वजह से पाठ्यक्रम से निकाला गया है, क्योंकि मेरी उस कहानी में ''गो-हत्या'' का प्रकरण है। अरे-अरे ऐसी कहानी रहने से तो हिन्दू-बालक-विद्यार्थियों के हृदय में गोहत्या की वह वर्छी की नोंक बाराबर चुभती ही रहेगी। विश्वविद्यालय के बाङ्ला- विभाग के हेड आफ दि डिपार्टमेन्ट-प्रधान कर्त्ता-धर्ता, जो बहुत अधिक रूपयों की सैलरी पर नियुक्त किए गए हैं, वे महाशय ऐसे अत्याचार को सहेंगे भी तो भला कैसे सह सकेंगे? अतएव ''महेश'' कहानी को पाठ्यक्रम से बाहर निकाल कर उसकी जगह उनके द्वारा रची हुई, उनकी खुद की कहानी ''प्रेमेर ठाकुर'' माने ''प्रेम के देवता'' को ला रखा गया है।

आप महानुभावों में से कोई-कोई ऐसे होंगे जिन्होंने मेरी ''महेश'' नामक वह कहानी पढ़ी होगी। अलावा उनके अधिकांश लोग ऐसे होंगे, जिन्होंने उसे नहीं पढ़ा होगा। इसीसे उस कहानी की केवल विषय-वस्तु भर संक्षेप में कह दे रहा हूँ।:-

''एक हिन्दू आबादी बहुल, फलतः हिन्दू प्रधान हिन्दू, जमींदार के द्वारा शासन किए जा रहे एक छोटे से गाँव में एक गरीब हरजोत्ता किसान, जिसका नाम ''गफूर'' था, का भी घर था। घर क्या था? रहने के नाम पर उसके पास बस एक बहुत दिनों की पुरानी-धुरानी, बहुत से छिद्रों से भरी हुई, जगह-जगह टूटी-फूटी एक झोपड़ी भर थी। बाँस की खपच्चियों, कास-पतलो, घास-फूस से छाए उस घर के अलावे उसके साथ रह रही एक लगभग दस वर्षों की आयु की एक 'अमीना' नाम की बेटी थी और एक था साँड़ माने बिना बधिया किया हुआ बैल। उसे अत्यन्त प्यार-दुलार देते रहने के कारण गफ़ूर ने उसे अत्यन्त प्यार। सा एक नाम दिया था- महेश -। वह उसे प्रायः ही इसी नाम से पुकारता था।

मालगुजारी-लगान-की रकम चुका न सकने की एवज में जमींदार ने उसकी धान की पकी फसल को, धान के साथ पुवाल सहित-जप्त कर लिया। छोटेसे गाँव के और भी अधिक छोटी नीयत-वाले उस जमींदार के इस अत्याचार यह फेंकर-फेंकर कर रोते हुए उसने बिनती की,:- ''हुज़ूर! आप मेरा सारा धान जप्त कर लीजिए, अन्न के अभाव में हम बाप-बेटी भीख माँग-माँग कर खाएँगे, मगर पुवाल हमे दे दीजिए। नहीं तो आफत-बिपत के इन दिनो में हम अपने-महेश की जान भला कैसे बँचा पाएँगे? परन्तु उसकी सारी चीख पुकार अरण्य-रोदन ही सिद्ध हुई। किसी को भी कोई दया नहीं। उसके बाद तो उस पर नाना प्रकार के दुःखों का पहाड़ ही टूटने लगा। तंगी-बेहाली के इस दुर्दिना मे ऊपर के लोगों के तरह-तरह के उत्पीड़न-अत्याचार भी ढहने लगें। बिटिया जब मिट्टी का घड़ा ले पानी लाने के लिए दूर चली जाती, तो भूख से व्याकुल महेश का वह अपनी मड़ई की दीवाल बने घास-फूस, पुवाल को ही नोंच-नोंच कर निकाल-निकाल बिटिया की नजरों से बँचा चोरी-चोरी खिलाता रहता। किसी-किसी दिन भारी भूख होने पर भी बिटिया से झूठ बोलते हुए कहताः- ''माँ! (बिटिया) अमीना! आज मुझे ज्वर चढ़ आया है, अतः तूने जो मेरे हिस्से का भात बना रखा है उसे 'महेश' को खिला दे। इस तरह दिनो-दिन पूरे-के-पूरे दिन भर स्वयं बिना खाए पिए ही गुजार देता। भूख की आग में जलता-तड़पता महेश अगर मूड़ी झटकार सींग-फटकार मार-पीट देता, खुद उस पर या बिटिया पर कोई अत्याचार ढा देता, तो उसकी ऐसी हरकतों के लिए दस वर्ष की उस बिटिया के सामने भी उसे ऐसा डर लगता, इतना अफसोस-दुःख बोध होता, जिसकी कोई सीमा ही नहीं होती।

रहम दिखाते हुए कुछ लोग सलाह देते- ''देख गफूर! जब तूँ इस बैल को खिला-पिला सकने की ताक़त नहीं रखता। पाल नहीं सकता है, तो फिर इसे बेंच दे।'' तब महेश की पीठ पर धीरे-धीरे बड़ी मुलायमित से हाथ, फेरते हुए गफूर कहता-'' महेश तूँ तो मेरा बेटा है। हमारी गृहस्थी का सहारा। तूने बीते सात वर्षों तक हमारा लालन-पालन किया है। इधर ठीक से सानी-पानी न खाने-पीने से तू कितना कमजोर हो गया है। तुम्हारी ऐसी दशा मे मैं क्या तुम्हें किसी और के हाथ मे दे सकता हूँ? भला इतना बड़ा पाप मैं करूँगा बाबा (बेटा!)?

इसी प्रकार की महा तकलीफ की दशा में जब हालत ऐसी हो गई थी कि दिन बीतना ही नहीं चाह रहे थे, दुःख की घड़ियाँ काटे नहीं कट पा रही थी, कि तभी एक दिन एक ऐसी असंभव महा दारूण घटना घट गई। खाने की चीजो की तो छोड़े, उस गाँव में पीने का पानी भी आसानी से नहीं मिल जाता था। जो पोखरी पूरी तरह सूख गई थी, उसी के बीच एक जगह गड्ढा खोदकर लोगों ने जो कुआँ सा बनाया था, उससे पीने लायक थोड़ा सा पानी बड़ी मुश्किल से मिल पा रहा था। ऐसी ही परिस्थिति में अमीना; एक तो मुस्लिम, ऊपर से महादरिद्र, घर की होने से, छूआ-छूत के डर से, उस पोखरी के एक किनारे, औरों से दूर-दूर खड़ी रहकर पड़ोसी लड़कियों से चिरौरी-बिनती करके, उनसे माँग-माँग काफी देर में बड़ी कठिनाई से अपना मिट्टी का घड़ा भर पाई। पानी से भरे घड़े को सिर पर लादे वह जैसे ही घर के सामने आई कि भूख-प्यास से आकुल-व्याकुल हुए महेश ने पानी पी लेने की गरज से अमीना को मूड़ी से धक्का मार दूर फेंक दिया और घड़े को फोड़ जमीन पर पड़े पानी को पीने लगा। गिरने से चोटिल हुई बिटिया। जोर-जोर से रोने लगी। उस दिन सचमुच ही तेज बुंखार चढ़ आने से प्यास से सूखते गले की जलन से व्याकुल गफूर झोपड़ी से बाहर निकला, तो इस भयानक-दर्दनाक दृश्य को सहन नहीं कर सका। अच्छे-बुरे परिणाम का विचार करने की बुद्धि उसमें रह ही नहीं गई थी। गुस्से के गुबार में सामने पड़ा जो एक लटठ उसे मिला, उसे ही उठाकर पूरी ताकत लगा महेश के माथे पर बड़े जोर से दे मारा। पिछले कई दिनो से बिना खाए-पिए मरियल हुआ सा महेश इस आकस्मिक प्रहार को सह नहीं पाया। दो-चार बार हाथ-पाँव दिला-डुला कर अन्ततः उसने प्राण त्याग ही दिया।

आस-पास अड़ोसी-पड़ोसी आ जुटे, तो उन्होंने चीखना-चिल्लाना शुद्ध किया-''हिन्दूओं के गाँव में गो-हत्या। हाय-हाय ऐसा

महापाप! इस पाप के प्रायश्चित्त की क्या व्यवस्था हो सकती है? इसकी जानकारी लेने के लिए जमींदार ने अपने कारिन्दों को तर्करत्न जी के पास भेंज दिया है। कहीं ऐसी खचीली व्यवस्था न बतला दें कि उसे करने में तुम्हारा घर-द्वार सभी कुछ न बेंच देना पड़े।'' मगर गफ़ूर को तो जैसे काठ मार गया। बिना कोई चूँ-चाँ की आवाज निकाले अपने दोनो घुटनों के ऊपर कपार रखे वह महामौन साधे बैठा रहा। महेश की मृत्यु के शोक से; हड़बड़ी-बेवकूफी में कर दी गई भयानक गलती के पछतावे के कारण उसके अन्तरतम में धधक रही आज से उसके हृदय का ज़र्रा-जर्रा जला जा रहा था।

जब सभी लोग चले गए। रात काफी गहरा गई, तब काफी रात में गफूर ने अपनी सोती हुई बेटी को हाथ पकड़ कर उठाया और कहा-''चलो (माँ) बेटी! अब हम लोग यहाँ से हट चलें।''

बिटिया तो उस दिन झोपड़ी के बाहर अँगनाई मे ही सो गई थी। आँखे मलते-मलते पूछ पड़ीः-''ऐसी बेला मे कहाँ जाएँगे हम !

''फूल बेड़े शहर की चटकल में मज़दूरी करने।''-गफ़ूर ने जवाब दिया। अमीना भारी अचरज से हैरान-परेशान हुई एकटक देखती रह गई। उसे याद आई कि इसके पहले, इससे भी अधिक दुःख-दर्द भरे, दिन जो आए थे, तब कई लोगों के सुझावों को दर किनार करते हुए उसके पिता जिस चटकल (बोरे बनाने का कारखाना) में मज़दूरी करने जाने को तैयार नहीं हुए। लोगों के ऐसे सुझावों पर पिताजी प्रायः ही कहते- वहाँ धर्म-ईमान सुरक्षित नहीं रह पाता। लड़कियों की इज्जत-आबरू बँची नहीं रहती,-वहाँ तो कभी नहीं जाऊँगा।'' परन्तु अब वहीं जाने को कह रहें हैं। अचानक ही ऐसी बात?

गफूर बोल पड़ा-चलने में देरी मत करो; माँ! (बेटी) जल्दी चलो। यहाँ से शुरू करने पर फिर बहुत लम्बी दूर तक के रास्ते पर पैदल-पैदल चलना होगा।''

पानी पीने का बर्त्तन और उसके पिताजी के खाना खाने की पीतल की जो थाली थी, उसे अमीना उठा चुकी थी, साथ में ले जाने के लिए, लेकिन उसके पिताजी ने उसे मना करते हुए कहा- ''वह सारा कुछ यहीं पड़ा रहे न बेटी। रहने दे यहीं; उन्हीं सभी से हमारें महेश की दर्दनाक मृत्यु का प्रायश्चित होगा।''

उसके बाद उस कहानी के उपसंहार, या अन्तिम अंश के रूप ऐसा 'प्रकरण है!- गम्भीर अँधेरे की आधी रात को वह अपनी बिटिया का हाथ पकड़ कर बाहर 'निकल पड़ा'। इस गाँव में उसका कोई अतिशय निकट संबंध का आत्मीय तो था नहीं। किसी से भी कुछ भी करने-सुनने की ज़रूरत भी नहीं थी। झोपड़ी के सामने की आँगन-दुआर की जगह पार, होकर रास्ते के किनारे। उगें-बढ़े उस बबूल के वृक्ष के नीचे आकर फेंकर-फेंकर कर रो पड़ा। तारों-नक्षत्रों से भरे आकाश की ओर मुहँ उठाकर बोल उठा- अल्लाह ताला! आप मेरे कसूर के लिए मुझे चाहे जो भी कठिन- से- कठिन सजा दीजिएगा। लेकिन ध्यान रखिएगा कि मेरा कि मेरा महेश भारी प्यास लिए मरा है। इतने बड़े गाँव में चरागाह तो दूर, एक साँड-बैल के चरने के लिए भी किसी ने कहीं कोई जगह-जमीन नहीं छोड़ रखी। जिन लोगों ने तुम्हारी ही दी हुई धरती के मैदानो की घास, तुम्हारी ही रहमत से मिले पानी के स्त्रोतों से प्यास मिटाने की पानी की जगह उसे पीने को नहीं दी, उन लोगों के कसूर को तुम कभी भी माफ नहीं करना; बस यही एक अरदास है।''

यही है वह गोहत्या। इसे ही पढ़ने पर हिन्दू बालकों के हृदय में बर्दी का काँटा चुभता रहेगा। उससे तो अच्छा है कि उसकी जगह वे पढ़े- ''प्रेमेर ठाकुर''- प्रेम के देवता। उससे उनका यह लोग यदि नहीं भी हुआ, तो भी परलोक तो निश्चय बहुत सुधरेगा।

विद्यालयों की पाठय-पुस्तकों में अपनी रचनाएँ पढ़ाए जाने पर उसके बदले में रूपए कमाना मैं चाहता ही नहीं; इस प्रकार का व्यापारिक काम मेरा है ही नहीं; अतएव इससे मेरे कामों में कोई नुकसान या फायदा पहुँचने की भी कोई सम्भावना नहीं है। फिर भी मानसिक पीड़ा होती है। अपने लिए नहीं, बल्कि दूसरे कारणें से ही। इस पीड़बोध से बँचने का चूँकि एक उपाय है, वह यह कि इस सिद्धान्त से-कि अयोग्य व्यक्ति के हाथ में पड़ने पर ऐसा होता ही है। इसे स्वीकार कर लेने पर क्लेश कम हो जाता है। जिस व्यक्ति ने जीवन में कभी साहित्य साधना की ही नहीं, वह भला किस तरह महसूस कर पाएगा कि किसके मन में क्या है? सुना है, अब पाठय-क्रम समिति ने मेरे उपन्यास ''राम की सदबुद्धि'' (''रामेर सुमति'') को पाठय- क्रम लगा दिया है। बड़ी ही मासूम-बेचारी सी रचना है; मुझे समझ में आता है, कि संभवतः इससे ऐसी आशा लगाई होगी कि इसके सहारे रामोको, राम को आदर देनेवालों को सुबुद्धि आएगी। परन्तु इसमें एक कठिनाई यह तो रह ही गई; कि हमारे देश में उनके अलावे रहीम के समाजवाले भी तो बहुत सारे हैं।

महेश के भाग्य में केवल विद्यालययों के पाठय-क्रमो से निकाल बाहर करने की ही दुर्घटना नहीं घटी इसके अतिरिक्त और-और भी आफतें आईं हैं। उन सभी का विस्तृत विवरण मैं देना नहीं चाहता। परन्तु पूरे विश्वस्त सूत्र से जान पाया हूँ, कि एक हिन्दू जमींदार महोदय ने महाक्रोध में आँखे लाल-लाल करके धमकी देते हुए कहा है, कि डिस्ट्रिक्ठ बोर्ड (जिला परिषद) की आर्थिक सहायता से प्रकाशित मासिक अथवा साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं-पुस्तकों में आगे फिर कभी इस प्रकार कहानी प्रकाशित नहीं की जाए। क्योंकि इस तरह की रचनाओं के माध्यम से प्रजा-वर्ग को जमींदार लोगों के विरूद्ध आन्दोलन करने के लिए उत्तेजित पगला दिया जाता है। अर्थात् देश का इससे सर्वनाश कर देने का काम होता है। परन्तु यह सब अपने निजी संबंधों से जुड़ी बातें की चर्चा छोड़ें।

उपर्युक्त हिन्दू महानुभावों की तरह ही मुस्लिम-समाज के भी अनेक महाशक्तिशाली प्रमुख लोग भी हैं। सुनने में आता है कि वे लोग आदेश जारी कर रहे हैं, कि भारतवर्ष का इतिहास उनकी मर्जी के मुताबिक नये रूप में लिखा जाय। किसी भी कक्षा की किसी भी पाठ्य-पुस्तक में कहीं लेश मात्र भी इस बात की चर्चा नहीं होनी चाहिए, जिसमें बतलाया गया हो कि इस्लाम मज़हब के मानने वाले

किसी राजा-शहंशाह तो क्या किसी मामूली मुसलमान ने भी कहीं कोई अन्याय-अत्याचार अथवा बुरी न दिखाई जाए। इस सन्दर्भ में भी अपने देश का मंगल होने के लिए भरोसे की एक बात बड़ी पुख्ता है। वह यह कि ऐसे फरमान जारी करने वालों में से किसी ने भी कभी कोई साहित्य-सेवा नहीं की है। यदि किए रहे होते, तो ऐसी बात अपने मुख पर लाते ही नहीं। साहित्यकार-साहित्य प्रेमियों के हाथ में यदि यह भार पड़े, तो मेरा विश्वास है कि हिन्दू अथवा मुसलमान, किसी भी पक्ष से बिन्दु-मात्र भी अभियोग-शिकवा-शिकायत अथवा एक-दूसरे पर दोषारोप नहीं सुनाई पड़ेगा। भाषा के प्रति, साहित्य के प्रति सचमुच की समवेदना उन्हें सत्य की राह पर ही चलने को उत्प्रेरित करेगी।

वाजेद अलीसाहब ने एक और जगह अपने लेख में कहा है कि ''मुस्लिमों का यह नवीन, स्वतः स्फूर्त्त, (नया-नया उभरा शक्तिमान) आत्म-प्रकाश, इस्लामी-संस्कृति का यह प्रबल महाजागरण ने साहित्य के क्षेत्र में शरतचन्द, जैसी सशक्त प्रतिभासम्मान लेखक का ध्यान अपनी ओर खींचा है इसी से सम्भवतः देश के आने वाले भविष्य के समय के लिए यह एक शुभ संकेत है। फिर न जाने किन्हीं अज्ञात कारणों से मन सन्देहों-अविश्वासों, दुबिधाओं-आगामी समय की संभावनाओं की जिज्ञासा से काँपने लगता है। ''बुलबुल (पत्रिका) में प्रकाशित उनके (संपादक के नाम) पत्र में स्पष्ट दिखाई पड़ता है जैसे मुस्लिम समुदाय के प्रति सहानुभूति का अभाव। मुस्लिमों के प्रति प्रेम-सद्भाव का अभाव, कुल मिलाकर यदि कहें तो एक विशिष्ट अन्तदृष्टि का अभाव जान पड़ता है।''

इस प्रकार के विचारों को देखते हुए मेरी यह पूछने-समझने की इच्छा हो रही है कि नयी-नयी उभरी हूई मुस्लिमो की आत्मप्रकाश की यह भावना, इस्लामी-संस्कृति को यह बलशाली जागृति विशिष्ट रूप से है किसी वर्ग की? जो परम्परावादी प्राचीन-रूढ़ियों के संरक्षक हैं, उनकी है, या कि जो नवीन हैं, उदार हैं, बाङ्ला-भाषा को जो बिना किसी दबाव, भय, आशा-पीछे की भावना के निस्संकोच रूप से अपनी मातृ-भाषा स्वीकार करते हैं, उनकी है? मेरा अपना अभिमत (-विशिष्ट-मान्यता-) तो यही हैं, कि जो प्राचीन-पंथी (पुरानी-परम्पराओं-मान्यताओं को ही उपयुक्त मानते हुए उन्हीं रूढ़ियों में जकड़े हुए) हैं, जो पीछे (जो बीते हुए, पिछले-जमाने की ओर) देखने के अलावे सामने (जो जमाना आने-आने को है) की ओर देखना चाहते ही नहीं, सम्मुखीन-समस्याओं का सामना करना जानते ही नहीं, उन लोगों का जागरण-चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान, ऐसे रूढ़िवादी तबके का-जागरण महाविद्दत स्वरूप ही है। हिन्दुओं के संबंध में मैने यह बात कई बार, कई-कई जगहों पर लिखी है। बिना किसी संकोच, दुविधा के ठीक यही बात मैं मुस्लिम-समुदाय के प्रति भी कह सकात हूँ। नये-नये जिस जागरण की ओर आप संकेत कर रहे हैं, वह जागरण यदि नयी पीढ़ी वालों का है, तो वह साँवन महीने की पूर्णिमा तिथि को उमड़ते-घुमड़ते महाज्वार की तरह सभी कुछ को उखाड़-पछाड़ कर बहा ले जाने की तरह भी आए, तो भी मैं अपनी दोनो बाहें उठाकर बड़े उत्साह, बड़े सम्मान पूर्वक स्वागत-अभिननदन करूँगां। समझूँगा कि इन सबों के हाथ मे पड़ने से सभी कुछ शुभ-कल्याणमय-और सुन्दर होगा। इनके हाथों से हिन्दू हों या मुसलमान, किसी की भी कोई क्षति नहीं होगी। फलतः किसी को भी डरने की ज़रूरत नहीं। इनके होथों में सत्ता आने से हम दोनों ही समुदायों-दोनो ही पक्षों के लोग बिघ्न-बाधाओं से मुक्त हो सर्वथा सुरक्षित रहेंगे। मुझे भारी आशंका बस पुरातन पंथियों को लेकर ही है।

उन्होंने (वाजेद अली) आगे चलकर कहा है-''शरतचन्द्र जैसे साहित्यिकी का सम्प्रदाय-जातीयता (राष्ट्रीय भावना) एक होने के अलावा दूसरी कत्तई नहीं है। उनका (उनकी) यह भावना) यह विचार बड़ी सरलता से हम लोगों की भी स्वीकृति (सहमति) या लेने के अधिकार का दावा कर सकता है। उसे तो हम सब मानेंगे ही। परन्तु मैं एक और बात की ओर भी उनकी द्यष्टि-आकर्षित करना चाहता हूँ। वह यह; कि साहित्य मानव के मन की सृष्टि है और मनुष्य के मन की सृष्टि करता है, उसका धर्म, उसका समाज, उसका परिवेश, उसकी संस्कृति। इन तमाम चीजों से उसे अलग करना, क्या कोई मामूली विषय है? अलावा इसके साधारणतः वह क्या पूरी तरह से कर पाना संभव है?

ये सब जो विचार उन्होंने व्यक्त किए हैं, दरसल ये केवल आंशिक रूप से ही सत्य हैं। सम्पूर्णतः सत्य नहीं है। कारण यह है कि, मोटेतौर पर यह जानकारी रखना अत्यन्त आवश्यक है कि कोई भी साहित्यकार-मानव जब साहित्य रचना मे परिपूर्ण चित्त से ध्यान मग्न हो रचना करता होता है, तब उस बेला में वह ठीक-ठीक न तो हिन्दू होता है, न मुसलमान होता है। उस वेला में वह अपनी सर्वजन परिचित-सभी के समक्ष विख्यात निजी ''मैं'' अहमन्यता- को बहुत दूर अतिक्रमित कर जाता है। अहंबोध को दूर फेंक चुका होता है। मैं अपने को फलांग कर दूर निकल जाता है। यदि ऐसा नहीं कर पाए, तो उसकी साहित्य-साधना व्यर्थ हो जाती है। इसी वज़ह से जहाँ-कुछ भी एक समान नहीं है, बाहर –बाहर के ऊपरी रूप में कुछ मिलता-जुलता नहीं दिखाई देता, वहाँ भी म्यैक्सिम गोकी जैसे साहित्य-सेवक सब हमारे हृदय के भीतर के अधिक क्षेत्रों में आत्मीयता का आसन लगाए बैठे रहते हैं। इस तात्त्विक बात को मै सभी साहित्यिकों को ही बराबर याद किए रखने को कहता हूँ। किस विशेष रचयिता मे किस विशेष स्थल पर, किन्ही असावधानी की स्थितियों को क्या कुछ कह डाला है; वही उसके जीवन का परम सत्य नहीं है। अतएव उसके कृतत्त्व पर, केवल उन्हीं विवरणों को आधार बनाकर फैसला करना कत्तई ठीक नहीं हैं। अतएव इस विशेष आधार पर ही जनाब वाजेद अली साहिब ने अपने लेख में मेरे संबंध में जो कठोर टिप्पणीयाँ की हैं, उन सबका उत्तर देने का काम करने में नहीं बैठूगाँ। उनका गुस्सा जब ठंढा हो जाएगा; तब अपने आप ही वे अपने मन की गहराई में पैठ स्वीकार करेंगे, कि मैने वाजिब और सही बात ही कही थी।

अपने वक्तव्य में वाजेद अली साहेब ने सबसे अधिक मर्म-भेदी बात इस विशेष स्थल पर कही हैः- ''यह जो महाविक्षोभ दिखाई पड़ता है, वह वस्तुतः दो अत्यन्त विषम अनात्मीय-(जिनमें एक-दूसरे को अपना समझने की कोई गुंजाइश ही नहीं है।) संस्कृतियों के संघर्षों के परिणाम स्वरूप पैदा हुआ विशोभ है। ''हिन्दू, मुसलमान को समझता ही नहीं।''-इस के लिए महाकष्टकारी रोना-चिल्लाना चारों ओर गूँज रहा है। परन्तु यह सब इसलिए भी तो हो सकता है कि उनका जितना कुछ भी धर्म, समाज और संस्कृति का-सामूहिक प्रभाव है, उसने उनके मन को संकुचित सीमाओं में जकड़ दिया है, उनकी सोचने-विचारने की दृष्टि को भारी अवरोधों से ढँक दिया है। आँखों पर पर्दा डाल दिया है। हालात ऐसे बन चुके हैं कि अपनी बनाई हुई सीमाओं के घेरे से बाहर निकलने, सीमाओं के बन्धन तोड़ बाहर चल सकने की उसकी ताक़त ही खत्म हो गई है। अपने अभिजात्य-स्वयं के सर्वश्रेष्ठ होने की अवमन्यता में जो हमेशा के लिए डूब चुके है, बुरी तरह हारने की पुरानी विवशता की स्मृति की तड़पन से जो अभी तक ऐसे विकल्प हैं, किसी मान-मनौवल से तुष्ट होने वाले ही नहीं, जिनका मान-भंग कोई कर ही नहीं सकता, सूई की नोक बराबर जमीन भी बिना युद्ध किए, दान के रूप में भी देने में जिनकी आपत्ति असीम-अनन्त है। उनकी बुद्धि को मुक्त या स्वतन्त्र कहना बहुत मुश्किल है। जब कि जिसे मुक्ति नहीं है, (जिसके हाथ-पैर बँधे हुए हैं) वह चलता नहीं है, चल सकता ही नहीं। तत्त्वतः वह जड़ है। इस तात्मकेन्द्रित, पर विमुख, जड़ बुधि के परिवेश ने इस देश के मुसलमानो को-''अपने निवास स्थान मे ही प्रवासी या परदेशवासी'' कर रखा है। भारत की मिट्टी के रस से सरोबोर होकर भी उसका मन उस रस से असंपृक्त ही रह जाता है। एक बूँद की भी शीतलता से भी भींगता नहीं।

महाशय ने जो तथ्य वाक्य कहा है-''वो नितान्त विरोधी-विषम अनात्मीय संस्कृति के पारस्परिक संघर्षों के परिणाम स्वरूप यह विशोभ है।'' इस के उत्तर में कोई आक्षेप करना व्यर्थ है। हम दोनों ही, एक-दूसरे के अत्यन्त करीब के पड़ोसी हैं। हमारा आकाश,बतास-वायुमण्डल-माटी-धरतीं पानी, सभी एक ही है। मात्रभाषा भी एक हैं, ऐसा हम दोनो ही स्वीकार करते हैं। फिर भी परस्पर में संघर्ष इतना बड़ा और कठोर है कि उसके लिए आक्षेप करना भी व्यर्थ है।-यदि यही मनोभाव सभी हिन्दुओं, सभी मुसलमानो में मान्य सत्य हो, तब तो मैं यही बात कहूँगा कि इससे बड़ी कोई और दुर्गति मनुष्य जाति की हो ही नहीं सकती।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की बुद्धि भी क्या जड़बुद्धि है? उनका मन भी क्या मुक्त नहीं हो पाया है? यदि ये सब बातें सत्य ही हैं तो वाजेद अली साहेब की यह भाषा फिर आई कहाँ से? अत्यन्त सहज; सुन्दर; खेल की तरह बिना कोई जोर दिए सरल ढंग अपने मन के भावों को व्यक्त कर देने की शक्ति उन्हें फिर दी, तो किसने दी? हमारे इस युग मे ऐसा कौन लेखक; ऐसा कौन साहित्य-सेवक है जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उनका श्रृणी नहीं है?

साहित्य कोई धर्म-ग्रन्थ नहीं है, नीति-राजनीति शिक्षा की (पुस्तक भी नहीं है, फिर भी अपने विशाल क्षेत्र में अपनी मधुरता के बल से सभी (विषय-क्षेत्रों) को अपना बना रखे हुए है। इसी से साहित्य क्या है? रस नामक पदार्थ दरसल है क्या? आज तक कोई भी इसका सच्चा अता-पता नहीं पा सका हैं। इन्हें लेकर कितना तर्क-वितर्क, मतों की कितनी भिन्नता बनी हुई है।

इस ''अवाञ्छित-व्यवधान'' के संबंध में मिआनुर रहमान ने ''बुलबुल'' पत्रिका के ज्येष्ठ-मास के अंक में प्रकाशित अपने लेख में एक जगह करूणा का भाव विसार कर अत्यन्त कटु मन्तव्य प्रकाशित किया है,:- ''शरत बाबू ने अपने ढेरों-सारे उपन्यासों के भीतर स्थान-स्थान पर मुसलमान समाज के खूब ऊँचे दर्जे के लोगो की तस्वीरें नहीं अंकित की हैं।''

उनके इस वक्तव्य पर मैं कुछ कह तो सकता नहीं, किन्तु एक जानकारी उनसे ज़रूर पाना चाहूँगा, कि-ऊँचे-नीचे दर्जो के पुरूष या नारी चरित्रों की छवि आँकने पर ही क्या उपन्यास की उच्चता-निकृष्टता, अच्छाई-बुराई निर्भर होती है? यदि उनका यही आखिरी निर्णय है, तब तो मेरे साथ उनके विचारों का मेल हो पाना संभव ही नहीं है। चलिए, मतों का मेल हमारा भले न हो, मगर अन्तिम हिस्से में उन्होंने जो कहा है,- ''हिन्दू-समाज में घुसी नाना प्रकार की जड़ताओं, अन्धविश्वासों, भूतों, दोषों-योंग्य थी प्रवृत्तियों, समस्याओं को देखते हुए शरतचन्द ने जो बहुत सारी कहानियाँ और उपन्यास लिखे हैं, और उन्हें दूर करने, उन्हें सत्पथ पर ले आने के उद्देश्य से, अपने ही उस समाज पर जो चाबुक-पर-चाबुक मारे हैं, शुभ-मंगलमय बनाने की कल्याणकारी सुबुद्धि की प्रतिष्ठा के उद्देश्य से किए गए इस प्रकार के निर्मम-कठोर-से-कठोर कोड़े की मार को भी मुस्लिम-समाज बिना कोई रोना-धोना किए, प्रसन्न-मन से स्वीकार करने को तैयार है। पूरे समाज की ओर से मैं बड़ी दृढ़ता से यह घोषण कर सकता हूँ। बाङ्ला कथा-साहित्य के सम्राट से मैं एक बार इस दावे की सच्चाई की परीक्षा करके देखने का अनुरोध करता हूँ। हमारे समाज पर भी ऐसा प्रहार करके देखें तो।''

उस दिन वे जगन्नाथ सभा के भवन में मेरा जो अभिनन्दन किया गया था उसमें मेरे संबंध में जो भाषण हुए थे, उसके प्रत्युत्तर में मैने इस तरह की बातों का जवाब दिया था। अपने आन्तरिक हृदय की शुभ-कामनाओं को मैने जो व्यक्त किया था, उन्हें ये लोग किस रूप में ग्रहण करते हैं'';- इस दुनिया से विदा होने के पहले मैं देख जाऊँगा। स्थिति चाहे जैसी भी हो, मनुष्य तो केवल अपनी मनोकामना को व्यक्त भर ही तो कर सकात है। उसके पूरे होने का भार होता है, उससे सर्वथा भिन्न एक दूसरे ही व्यक्तित्व पर, जो शरीर और मन की सारी शक्तियों से अगोचर हैं। जिन्हें ढाका विश्वविद्यालय द्वारा डी0लिट उपाधि प्रदान करने के बाद ढाका वि0वि0 के दूसरे बड़े हाल-जगन्नाथ हाल (अब तो जगन्नाथ कालेज भी विश्वविद्यालय हो गया है) सभा भवन में उनका जो अभिनन्दन किया गया था, उसकी ओर संकेत है। मना दुबें जाना ही नहीं आ सकता।

महामहिम (हिज़ ऐक्सेलेंसी-गर्वनर साहब) राज्यपाल महोदय ने उस दिन जो दावत दी थी, उसमें उनके साथ मैं जो भोजन करने बैठा था, तब उन्होंने भी ठीक यही प्रश्न किया था। उत्तर में मैने कहा था कि, मैं अपने संकल्पों को दोनो, समाजों के आशीर्वाद से पूरा करना चाहता हूँ। ठीक-ठीक इन समाजों के न होकर, मैं दोनो; समाजों के साहित्य-सेवकों का आशीर्वाद चाहता हूँ। जिस भाषा, जिस साहित्य की सेवा मैने लगातार इतने समय तक की है, उसके परिणाम स्वरूप अब उतना कर चुकने के बाद वेवज़ह, अकारण ही किया जाने वाला अशिष्ट-दुर्व्यवहार, मुझसे सहा नहीं जाता। मेरा तो दृढ़-विश्वास यह है कि मेरे जैसे साहित्यकार जो सचमुच की साहित्य-साधना करते हैं, वे हिन्दू हों, चाहे मुसलमान हों किसी की भी ऐसा अत्याचार सहन नहीं होगा। सौन्दर्य और मधुरता की खातिर परिवर्त्तन की यदि कुछ-कुछ आवश्यकता पड़े-ऐसा तो कई बार हुआ भी है;- तो यह काम भी यही लोग धीरे-धीरे सम्पन्न करवायेंगे। कोई और दूसरे लोग नहीं। ऐसा काम ये हिन्दूओं के कल्याण अथवा मुस्लिमों के कल्याण के लिए न करके, विशुद्ध रूप से भाषा और साहित्य के कल्याण के लिए कहेंगे। कुल मिलाकर यही मेरी सर्वप्रमुख हार्दिक-प्रार्थना या गुजारिश हैं।

अपनी किस रचना में कहाँ पर मैंने मुस्लिम समुदाय के प्रति अन्याय कर दिया है- वैसे मेरा तो पूरा विश्वास है कि ऐसा कहीं किया नहीं;- उसका बाल की खाल निकालने जैसे अतिसूक्ष्म वाद-प्रतिवाद करना, संशेधित कर लेने, सुधारने का कोई उचित रास्ता नहीं है। बल्कि ऐसी प्रतिक्रिया पारस्परिक मन-मुटाव, झगड़ा-झंझट का नया-नया रास्ता खोलेगी।

(अपने इस निवेदन में मैने) ''बुलबुल'' पत्रिका के नाना स्थानों से, नाना प्रकरणों को उदधृत किया है,-विशेष-विशेष प्रयोजनो की आवश्यकता के चलते। इस पत्रिका की सतत-लगातार-उन्नति करना ही इनका एक मात्र उद्देश्य है। मेरी भी मनोकामना तो यही है। हो सकता है कि इसके किसी विशेष बिन्दु पर अप्रिय-आक्षेप-पूर्ण कटुक्ति भी कर गए हैं, भुला दी जानेवाली-बिसरा दी जाने वाली चीज़े हैं।

कहने लायक-विषय तो अभी भी ढेर सारे अछूते ही रह गए हैं, परन्तु नहीं, अब और नहीं। इतना कुछ कह कर ही मैंने आप लोगों की सहन-शक्ति, धैर्य-धारण करने की क्षमता के प्रति काफी अत्याचार कर डाला है। उसके लिए दया कर क्षमा कर देने के लिए आप सभी से प्रार्थना करता हूँ। इस अभिभाषण मैं विद्वत्तता का कोई प्रस्तुतीकरण अथवा भाषण कला-कौशल की बारी नहीं हैं। जो कुछ कहना था, उसे बेलौस, सीधे-सीधे कहता गया हूँ, ताकि उसका अभिप्राय समझने में किसी को भी कोई तकलीफ महसूस न हो। भाषण सुनने के बाद प्रशंसा करते हुए भी कोई ऐसी राय जाहिर न करें, कि जिस तरह अनुपम शब्दों की समृद्धि भरी वक्वृता थी, वैसी ही उसे प्रस्तुत करने की शैली की कारीगरी भी थी, सभी कुछ हरतरह बेमिसाल था, परन्तु पूरे वक्तव्य में कुल मिलाकर क्या कुछ कहा गया है, वही समझ में नहीं आ सका।

बाङ्ला-साहित्य की सेवा में संलग्न मुस्लिम-समुदाय के जो महान् व्यक्तित्त्व हमेशा याद किए जाने लायक हैं, उनके प्रति मेरे में अपार श्रद्धा और अनन्त आदर का भाव हैं, फिर भी उन सज्जनों का नाम गिना गिनाकर उल्लेख करने के काम से मैं अलग ही रहा। अध्यक्षीय भाषणों के अन्त में कृतज्ञता ज्ञापन करने की एक रीति है। ठीक वैसी ही जैसी कि भाषण आरंभ-प्रारंभ करने के पहलें भी करने की एक रीति है,जिस में खुद को सभापति बनाये जाने पर अपनी अधिकाधिक विनम्रता प्रकाशित करने की होती है। वह पहली वाली तो मैने निभाई नहीं। कारण यह कि साहित्य-सभाओं के ऐसे काम इतना अधिक किए और देखे हैं कि अब साठ वर्ष की अपनी इस अवस्था में अपने आप को इस गरिमामय पद के अनुपयुक्त, अयोग्य, सर्वथा बेवकूफ आदि जितने प्रकार के विनम्रता सूचक विशेषण हैं, उन सभी का प्रयोग अपने लिए करते हुए जो उन तमाम कृतियों के अपने में होते हुए, इतनी उच्च आसन दे दिए जाने के लिए आयोजकों की उदमता बखानी जाती है, उनका अपने लिए प्रयोग करना खुद को ही कुछ आया नहीं। परन्तु कृतज्ञता प्रकाश करने की इस बेला में वैसी हिचक कत्तई नहीं है।

मुस्लिम समाज के साहित्य रसज्ञ, विद्वान, गुणी और परम उदार सभी लोगों के सामने आज मैं खुले दिल से कृतज्ञता निवेदन कर रहा हूँ। आप सभी लोग मेरा सादर प्रणाम स्वीकार करें। अपनी बोलने की जो प्रकृतिगत शारीरिक खामियाँ हैं, भाषा प्रयोग और कहने के लहज़े में जो दोष है, उससे यदि किसी को तकलीफ़ पहुँचा दिए होऊँ, निश्चय जानिए वह मेरी भाषा-प्रयोग की प्रवृत्ति की गलती है, अपने आन्तरिक मन से सोच-समझ कर किया गया अपराध नहीं है।

''देश'' (बाङ्ला-पत्रिका) ने अपने अंक 3 वर्ष संख्या 80 सन् 1936 ई0 क 22 अगस्त के प्रकाशन शरतचन्द जी का यह पूरा भाषण प्रकाशित करने के साथ-साथ उनका एक फोटो भी छापा है, किन्तु स्पस्टतः वह भाषण देने की मुद्रा का नही लगता। तब आज की तरह फोटो-कैमरों की धूम थी भी नहीं। लगता है, भाषण पूरा होने के बाद उच्चासन पर बैठाकर उनका अकेले-अकेले फोटो खींचा गया है। शरतचन्द्र की रचनाओं के मुखपृष्ठ पर छपते आ रहे आक्क्ष (छाती) तक के फोटो से यह नितान्त भिन्न तो है ही धोती-चप्पल तक की पूरी शरीर-छवि देने संभवतः एक अकेली पूर्णतः प्रकृत छवि है, अतः रूपान्तर या अनुवाद का अंश न होने पर भी मैं उसकी छाया छवि आप सबके समक्ष रखे दे रहा हूँ।

●

योग एवं योग शिक्षा की विद्यार्थियो हेतु उपादेयता : सम्प्रत्यात्मक अनुशीलन

विरेन्द्र कुमार सिंह एवम् डॉ0 आलोक गार्डिया ***

योग हजारों सालों से भी अधिक समय से हमारे भारतीय समाज में प्रचलित रहा है। प्राचीन भारतीय साहित्य वेदों-उपनिषदों में इसका उल्लेख मिलता है। जैन और बौद्ध साहित्यों में भी इसका उल्लेख पाया जाता है जिसमें योग के महत्व के बारे में बताये गये हैं।

महर्षि पतंजलि को योग के पिता के रूप में माना जाता है और उनके द्वारा रचित ग्रन्थ योगसूत्र पूरी तरह योग के ज्ञान के लिए समर्पित ग्रन्थ है।

योग मनुष्य के शारीरिक और मानसिक दोनों पक्षों से जुड़ा हुआ है। योगासन शरीर और मन दोनों को शुद्ध करता है। बूढ़े या युवा, स्वस्थ या कमजोर सभी के लिए योग का अभ्यास लाभदायक है और सभी को उन्नति की ओर ले जाता है। इसके मुख्य उद्देश्य की बात करें तो यह हमारे मन और मस्तिष्क को स्थिरता प्रदान करता है और हमें बीमारियों से बचाने में मदद करता है, जिससे हम एक स्वस्थ जीवन शैली प्राप्त करते हैं। योग हमारे तन-मन को स्वस्थ बनाने का सर्वोत्तम साधन है।

योग का अर्थ

'' 'योग' शब्द की उत्पत्ति संस्कृत भाषा के युजिर् धातु से हुई है, जिसका अर्थ है- 'सम्मिलित होना' या 'एक होना'। इस एकीकरण का अर्थ जीवात्मा तथा परमात्मा का एकीकरण अथवा मनुष्य के व्यक्तित्व के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक पक्षों के एकीकरण से लिया जा सकता है। साथ ही मनुष्य का उसके पर्यावरण के साथ समन्वय भी योग है।'' (सिंह, 2014)

''उपनिषदों की परम्परा के अनुसार योग वह उच्च अवस्था है, जिसमें पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन की वृत्तियाँ रूक जाती है और बुद्धि भी स्थिर हो जाती है। इस प्रकार इन्द्रिय नियन्त्रण से ध्यान स्थिर हो जाता है।'' (सिंह, 2014)

''महर्षि पतंजलि के योगशास्त्र के अनुसार, **योगश्चित्त वृत्ति निरोधः** अर्थात् मन की वृत्तियों जैसे- रूप, रस, गंध, स्पर्श व शब्द के लोभ में दौड़ आदि को रोकना योग है। अर्थात् इनके अनुसार मन या चित्त की चंचलता का दमन ही योग है।'' (विशनोई, 2010)

भगवद्गीता के अनुसार योग दुःख या वेदनाओं से मुक्ति की अवस्था है। योगाभ्यास द्वारा मन स्थिर हो जाता है, जिससे वह अपने आपको निरीक्षण करता है और स्वयं में ही प्रसन्न होता है।

'भगवद्गीता' में विभिन्न सन्दर्भों में निम्नलिखित तीन परिभाषाएँ बतलायी गयी है-

1. **सिद्धासिद्धयो समोभूत्वा समत्त्वं योग उच्चते।** (2/90) मित्र, शीत और उष्ण आदि छन्दों में सर्वत्र समभाव रखना योग है।

2. **दुःख संयोगवियोगं योगसंज्ञितम्** अर्थात् दुःख के संयोग से वियोग को योग कहा गया है।

3. **'योगः कर्मसु कौशलम्'** (2/50) अर्थात् कर्म में कुशलता ही योग है।'' (सिंह, 2014)

''बौद्ध के अनुसार, **कुशल चितैकग्गता योगः** अर्थात् कुशल चित्त की एकाग्रता योग है।'' (पटेल, 2017)

''स्वामी विवेकानन्द के अनुसार, योग व्यक्ति के विकास को संक्षिप्त करने का क्रमबद्ध सुनियोजित व चैतन्य प्रकृति वाला साधन है।'' (गुप्ता, 2010)

''महर्षि अरविन्द ने योग को आत्मपूर्णता की दिशा में सुव्यवस्थित ढंग से किया जाने वाला एक ऐसा प्रयास माना है जो अपूर्णताओं व सीमाओं को मिटाकर मनुष्य की अव्यक्त सम्भावनाओं का विकास करने में सहायक होता है।'' (गुप्ता, 2010)

''सर्वपल्ली राधाकृष्णन के अनुसार- योग वह पुरातन ग्रन्थ है, जो व्यक्ति को अंधेरे से प्रकाश में लाता है।'' (विशनोई, 2011)

इन परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि योग मानसिक, शारीरिक तथा आध्यात्मिक विकास का सर्वोत्तम माध्यम है, जिससे व्यक्ति के अव्यक्त शक्तियों का विकास सम्भव है। योग का लक्ष्य शरीर को मानसिक शान्ति हेतु तैयार करना है, जो कि परब्रह्म प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

योग के प्रमुख आसन

आसन से तात्पर्य शरीर की वह स्थिति जिसमें आप अपने शरीर और मन को शान्त, स्थिर और सुख से रख सकें।

''स्थिर सुखमासनम्।''

''इस योगसूत्र के अनुसार जिससे साधना में स्थिरतापूर्वक सुख से बैठा जा सके, वह आसन कहलाता है।'' (विशनोई, 2011)

*कनिष्ठ शोध अध्येता, शिक्षा संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

** एसोसिएट प्रोफेसर, शिक्षा संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

योगशास्त्रों के अनुसार आसनों की संख्या चौरासी लाख (8400000) बताई गई है और ये सभी आसन किसी न किसी जीव-जन्तुओं के नाम पर आधारित है। सभी आसनों के अपने-अपने लाभ और महत्व हैं लेकिन केवल 84 आसनों को ही प्रमुख माना गया है और अन्य आसनों को इनके उपआसनों के रूप में जानते हैं।

योगासन मनुष्य के चतुर्मुखी विकास करने में सहायक होता है। यहाँ चतुर्मुखी विकास से तात्पर्य व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक, नैतिक विकास से है। योगासनों का अभ्यास शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक स्वास्थ्य लाभ व उपचार के लिए किया जाता है। अतः कहा जा सकता है कि योगासन वह साधन है जिसके माध्यम से व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास करके अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने में समर्थ बन पाता है।

योगासनों को दो वर्गों में विभाजित किया गया है-

1. गतिशील आसन
2. स्थिर आसन

1. गतिशील आसन- वे आसन जिनमें शरीर शक्ति के साथ गतिशील रहता है।

2. स्थिर आसन- वे आसन जिनका अभ्यास शरीर में बहुत ही कम गति के साथ या बिना गति के किया जाता है।

चूँकि आसनों का उद्देश्य शारीरिक और मानसिक दोनों पक्षों स्वस्थ रखना और उसका उच्चतम विकास करना होता है। अतः योगासनों को उनसे होने वाले लाभ के आधार पर भी दो समूहों में विभाजित किया जा सकता है-

1. व्यायामात्मक आसन- व्यायामात्मक आसन के अन्तर्गत वे आसन आते हैं जो शरीर को मजबूत, लचीला और सुन्दर बनाते हैं तथा मांसपेशियों को दृढ़ता प्रदान कर सबल बनाता है। इसके साथ-साथ ये आसन शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता में वृद्धि करता है तथा मन की चंचलता को नियन्त्रित करके मन को शान्ति प्रदान करता है। इन आसनों के अभ्यास से मनोकायिक रोगों का उपचार होता है तथा शारीरिक रोग से बचा जा सकता है।

2. ध्यानात्मक आसन- इसके अन्तर्गत वे आसन आते हैं जिसमें मन को किसी वस्तु विशेष में स्थिर करते हैं, एकाग्रचित्त करते हैं, मन को चंचल करने वाली इन्द्रियों को उनके विषयों से हटा कर इन्द्रियों को वश में किया जाता है। जिससे मन से विकार निकल जाता है और शान्ति प्राप्त हो जाती है।

योग शिक्षा की आवश्यकता

योग मनुष्य के सर्वांगीण विकास का एक महत्वपूर्ण साधन है। इसके द्वारा शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक विकास किया जा सकता है। मनुष्य के जीवन में इन सभी पहलुओं का अपना महत्व है। एक खुशहाल एवं सम्पन्न जीवन के लिए इनको स्वस्थ रखना और इनका उचित विकास करना आवश्यक है।

शिक्षा जगत में योग की शिक्षा बहुत ही आवश्यक है। क्योंकि आज के अति आधुनिक युग में छात्र-छात्राएँ अनेक प्रकार के शारीरिक व मानसिक बीमारियों का शिकार होते जा रहे हैं जिनके कारण उनके शिक्षा का उचित विकास नहीं हो पाता। फलतः वे अपने लक्ष्य तक पहुँचने में असफल हो जाते हैं। यदि उन्हें अपने जीवन में लक्ष्य की प्राप्ति करनी है तो योग का अभ्यास आवश्यक है। योग के बल पर वे अपने मन को स्थिर करके विचार शक्ति को बढ़ा सकते हैं। अपने शरीर को स्वस्थ, सबल और ऊर्जावान बना सकते हैं।

अतः विद्यार्थियों को जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए योग शिक्षा बहुत आवश्यक है।

विद्यार्थियों के लिए योग-शिक्षा का लाभ

विद्यार्थियों के लिए योग बहुत ही लाभदायक माना जाता है, इससे बच्चों के मन-मस्तिष्क में स्थिरता आती है और बच्चों को अपनी पढ़ाई में ध्यान केन्द्रित करने में भी सहायता मिलती है। आज पूरी दुनिया योग के लाभ को स्वीकार किया है। योग कई असाध्य बीमारियों को दूर करने में लाभदायक सिद्ध हो रहा है। योग के प्रभाव को देखते हुए आज चिकित्सक एवं वैज्ञानिक योग के अभ्यास की सलाह देते हैं। इसी वजह से दुनिया के अधिकांश देशों के विद्यालयों में योग शिक्षा को अपनाया गया है। योग केवल साधु-सन्तों के लिए नहीं है अपितु समस्त मानव जाति के लिए आवश्यक है। विशेषकर छात्र जीवन के लिए बहुत ही आवश्यक है। योग से सभी व्यक्तियों को समानरूप से लाभ प्राप्त होता है। इसलिए योग को अपने जीवन में सभी को अपनाना चाहिए। योग के कुछ लाभ निम्नलिखित हैं-

1. मन की एकाग्रता में वृद्धि- आजकल के विद्यार्थियों में पढ़ाई के प्रति रूचि थोड़ी कम देखी जा रही है। वे पढ़ाई में ध्यान नहीं लगा पा रहे हैं। इसका एक कारण यह हो सकता है कि उनका शरीर स्वस्थ नहीं है, शरीर के स्वास्थ्य के साथ-साथ मन का स्वास्थ्य भी ठीक नहीं है अर्थात् मन स्थिर नहीं है। शरीर के स्वस्थ और मन के एकाग्र होने पर ही व्यक्ति सही ढंग से कार्य कर सकते हैं। योग से शरीर के सारे रोगों का निदान हो जाता है और विद्यार्थियों में एकाग्रता बढ़ती है। तन-मन के स्वस्थ और निरोग रहने से विद्यार्थी हमेशा सभी क्षेत्रों में आगे रहते हैं। योग के नियमित अभ्यास से विद्यार्थियों में पढ़ाई की भावना प्रबल होती है।

2. आत्मविश्वास में वृद्धि- आजकल के विद्यार्थियों में बचपन से ही विभिन्न विषयों की पढ़ाई का बोझ रहता है। और साथ ही साथ विद्यालय में उनमें प्रतिस्पर्धा की भावना भी होती है। वे एक-दूसरे से आगे भी रहना चाहते हैं। लेकिन जब वे असफल होते हैं तो यह

सहन नहीं कर पाते हैं, अपना आत्मविश्वास खो बैठते हैं और मन से भी कमजोर हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में वे कुछ गलत कदम भी उठा लेते हैं। इसलिए विद्यार्थियों को शुरू से योग शिक्षा देना बहुत आवश्यक है, योग से बच्चों में सहनशीलता बढ़ती है और मन शक्तिशाली होता है। योगाभ्यास से मन-मस्तिष्क का संतुलन बना रहता है जिससे उनको समस्याओं को सहन करने की शक्ति मिलती है। योग विद्यार्थियों को आगे बढ़ने की और आत्मविश्वास को बढ़ाने की शक्ति देता है।

3. मानसिक क्षमताओं का विकास- स्मरण शक्ति एवं बौद्धिक क्षमता जीवन में प्रगति के लिए प्रमुख साधन माने जाते हैं। योग का नियमित अभ्यास करने से मस्तिष्क शक्तिशाली एवं संतुलित बनता है। वैसे बाजार में कई प्रकार की दवा उपलब्ध है जो दिमाग को तेज करने के लिए मिलते हैं लेकिन यह एक छलावा मात्र है। लेकिन योग प्राकृतिक साधन है जिसका कोई मुकाबला नहीं है। योग से मानसिक क्षमताओं का विकास होता है और स्मरण शक्ति पर भी गुणात्मक प्रभाव होता है। योग मुद्रा और ध्यान मन को एकाग्र करने में सहायक होता है। एकाग्र मन से स्मरण शक्ति का विकास होता है। योग की क्रियाओं द्वारा तार्किक शक्ति एवं कार्यकुशलता में भी गुणात्मक प्रभाव होता है।

4. तनाव से मुक्ति- वर्तमान समय में मानसिक चिन्ता एवं तनाव, बीमारी के समान हो गये हैं, जो अन्य बीमारियों को भी निमंत्रण देते हैं। योग का एक महत्वपूर्ण लाभ यह है कि यह मानसिक चिन्ता एवं तनाव से मुक्ति प्रदान करता है। योगासन, प्राणायाम, ध्यान ये सभी तनाव को दूर करने के साधन हैं। यह प्रमाणित तथ्य है कि योग मन को विभिन्न विषयों से हटाकर स्थिरता प्रदान करता है और कार्य विशेष में मन को स्थिर करने में सहायक होता है। तनाव मुक्त होने से शरीर और मन पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। कार्य करने की क्षमता भी बढ़ती है।

5. रोग प्रतिरोधक क्षमता में वृद्धि- वर्तमान समय के जीवनशैली और खानपान से हम अनेक प्रकार के नये-नये बीमारियों से ग्रसित हो गये हैं। हमारा रोग प्रतिरोधक क्षमता कमजोर होता जा रहा है। योगासनों के द्वारा विभिन्न ग्रन्थियों को जागृत किया जा सकता है जिससे उनमें आपेक्षित मात्रा में रस (Metabolism) उत्पन्न होता है। यही रस रक्त में मिलकर शरीर को संतुलित विकास करता है। योग के नियमित अभ्यास करने से शरीर की रोग-प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है। क्योंकि इससे खून में सफेद रक्त कण में बढ़ोत्तरी होती है।

6. ऊर्जा में वृद्धि- वर्तमान में विद्यालय के अनेक विषयों का अध्ययन, प्रदत्त कार्य, पाठ्य सहगामी क्रियाएँ, गृह कार्यों को पूरा करते-करते दिन के अन्त में विद्यार्थी शारीरिक और मानसिक रूप से पूरी तरह थका महसूस करते हैं। प्रतिदिन कई कार्यों को दिनभर करते हुए पूर्ण रूप से थक जाते हैं। प्रत्येक दिन कुछ मिनट का योग विद्यार्थियों को पूरे दिन ताजगी और ऊर्जा से भरा रखता है। योगाभ्यास से शरीर लचीला बनता है इससे शरीर में स्फूर्ति आती है, काम करने की शक्ति बढ़ती है। हमारा शरीर हमेशा नयी ऊर्जा से भरा रहता है।

7. लक्ष्य प्राप्ति में सहायक- जो लोग अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाते और यदि उन्हें जीवन में लक्ष्य प्राप्ति करनी है तो वे योग का अभ्यास अवश्य करें। योग का अभ्यास व्यक्तियों में छुपी हुई शक्तियों को जागृत करता है। विद्यार्थी योग के बल पर अपने मस्तिष्क को शुद्ध करके अपने विचार शक्ति को बढ़ा सकते हैं जिससे विद्यार्थियों को उनके लक्ष्य प्राप्ति में सहायता मिलती है। जो बच्चे प्रारम्भ से ही योग करते हैं वे अपने व्यवहार तथा कार्यों से दूसरों को प्रेरणा देते हैं। योग की सहायता से बच्चे अपने लक्ष्य को जल्द ही पहचान लेते हैं और उसको सफल करने में जुट जाते हैं।

8. नशीले पदार्थों से मुक्ति- अधिकांश विद्यार्थियों को अपने शिक्षाकाल में ही बुरी संगति के कारण गलत आदतों का लत लग जाती है। इस बुरी संगति में वे मादक द्रव्यों का सेवन, धूम्रपान, गुटका जैसे नशीले पदार्थों का सेवन करने लगते हैं। इन नशीलें पदार्थों का स्वास्थ्य पर बहुत बुरा असर पड़ता है। जो उनके भविष्य के लिए बहुत ही हानिकारक होते हैं। वो अपने राह से भटक जाते हैं। लेकिन योग का नियमित अभ्यास इन व्यसनों से छुटकारा दिलाने में सक्षम है क्योंकि योग से मन-मस्तिष्क की चेतना जागृत होती है और बच्चों को गलत-सही आदतों की पहचान होने लगती है।

उपसंहार

वर्तमान के प्रतिस्पर्धायुक्त दौर में सफलता प्राप्त करने के लिए योग शिक्षा विद्यार्थियों के लिए काफी उपयोगी है। यह बालकों के शारीरिक विकास के साथ मानसिक शक्तियों के विकास में भी सहायता करता है। यह मन को स्थिरता प्रदान करता है। स्थिर मन में ही स्मरण शक्ति तथा बौद्धिक क्षमता का विकास होता है।

योग न केवल हमारे शरीर व मस्तिष्क को ही ताकत पहुँचाता है बल्कि हमारी आत्मा को भी शुद्ध करता है। योग शिक्षा हमारे शरीर और मन को प्रभावशाली रूप से प्रसन्न कर स्वस्थ जीवन जीने की ओर ले जाता है, अतः इसका समावेश हमारे दैनिक जीवन में एक नियतचर्या के रूप में होना चाहिए।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. लाल, रमन बिहारी (2013), शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धान्त। मेरठ : रस्तोगी पब्लिकेशन्स।
2. गुप्ता, एस0पी0 एवं गुप्ता, ए0 (2010), भारतीय शिक्षा का इतिहास, विकास एवं समस्यायें। इलाहाबाद : शारदा पुस्तक भवन। (पृ0सं0 561-562)

3. बिशनोई, उन्नति (2011), योग शिक्षा। मेरठ : विनय रखेजा C/o आर0 लाल, बुक डिपो। (पृ0सं0 16, 17, 168)

4. सिंह, रामहर्ष (2014), योग एवं यौगिक चिकित्सा। दिल्ली : चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान। (पृ0सं0 01-02)

5. दास, अभिलास (2012), महर्षि पतंजलिकृत योग दर्शन परख भाष्य। इलाहाबादः कबीर पारख संस्थान।

6. उपाध्याय, बलदेव (2011), भारतीय दर्शन। वाराणसी : शारदा मंदिर

7. पटेल, कृष्ण (2017), शारीरिक स्वास्थ्य एवं योग शिक्षा। आगरा : अग्रवाल पब्लिकेशन्स। (पृ0सं0 355)

●

कलाभास नायिका (छवि) का चित्र पक्ष

प्रो. दीप्ति प्रकाश मोहन्ती एवम् डॉ. राजेश कुमार शुक्ल***

प्राचीन भारतीय संस्कृति और साहित्य के अमित विस्तार में मानवीय बुद्धि को स्फूर्ति देने वाली, **'कला'**, **मन मयूर को थिरका देती है।** वहीं वह नीतिगत् मूल्य के मान में, धर्म के मार्ग में प्रवृत्त करने वाली **'वरद् विधायिनी शक्ति'** है। जिसके आलोक में विश्वव्यापी महान् चैतन्य तत्त्व के अनुभव की साक्षी, मानवीय कल्याण की सुखमयी प्रबुद्धता प्रदायिनी जो सारग्रही अंश हैं, उसी में श्रद्धा होती है। जीवन से विरहित होकर भूतकाल की उपासना करना केवल बुद्धि का कुतूहल या विलास है, अतीत के ज्ञान भण्डार का जो प्राणवन्त पक्ष है, उसमें हमारी रूचि दिव्य होनी चाहिए।

अतीत के कालखण्ड में साहित्य और संस्कृति के ऊँचे स्तूप में **भूत की ठठरी** के कुछ **पुष्प** चुने हुए मिलेंगे। उनमें रूचि मात्र से वर्त्तमान मानव के लिए अधिक उपयोगी ही नहीं, प्रत्युत् उसी स्तूप के मस्तक पर एक देव सदन प्रतिष्ठित है, जो अमर देहली द्वार है, जिस पर काल से जड़ी भूत प्रभाव नहीं पड़ा। विचारों की उस **'देव-हर्मिका'** के मध्य में एक **'अमृतकुम्भ'** आरक्षित है। उस अमृत घट के साथ जब हमारे मन का निलय हो जाता है, तब अतः सलिला उस घट के मुख को जीवन के नव नवीन पल्लवों से लहलहाता हुआ देख सकती हैं। प्राचीन समय का प्रत्येक **शास्त्र, मन्त्र, ग्रन्थ, महाकाव्य कला का बीज बिन्दु है।** वस्तुतः यह महत्त्वपूर्ण है कि किस तत्त्व की प्राप्ति में वह शक्तिशाली बना है? इस प्रश्न रूप व्याकरण में उत्तर पक्ष यही है कि उस शास्त्र या ग्रन्थ की अन्तः कुक्षि में सत्य का कोई न कोई सूत्र सूक्त छिपा हुआ है। **'विश्व-वृक्ष** सत्य का ही दूसरा रूप है। उसके **'प्रत्येक पत्ते पर सत्य के बीजाक्षर लिखे हैं।'**[1] जिस ग्रन्थ, साहित्य या वाक्य में उस सत्य कला की शक्ति विद्यमान है, जो उसकी व्याख्या करता है, वही चिन्तन हेतु उपयोगी है। सत्य-वृक्ष के अनन्त पर्ण, पुष्प और फल काल-धर्म से अनुप्रणित क्षीण नहीं होते। भारतीय वाङ्मय के मूल्य में इसी प्रकार के नित्य सत्य का पूर्णकुम्भ प्राण प्रतिष्ठित है। इस मंगल घट को **'अमृतांशु-कलश'** भी कहते हैं। जिसके तत्त्व में सृजनात्मिका अमृत, अमर और अनन्त होती है। **वेद, धर्म** और **संस्कृति** के **त्रिवर्ग** में जो **अर्थ गुप्त** हैं, वह कला और सौन्दर्य के लिए महत्त्वपूर्ण हैं उससे जीवन के संजीवनी का घनिष्ठ सम्बन्ध है। वस्तुतः जो **प्रज्ञा का कोष इष्ट** है। जो रचनात्मक पक्ष है, वह सदा नीरा की आभा नये - नये रूप में सामने आती रहेगी। **'नवो नवो भवति जायमानः** यह वैदिक सत्य जीवन के समुद्रगत् नियमन की ओर ही ध्यानाकर्षित है। भारतवर्ष के मनीषियों ने अतीत में जिस सत्य को पहचाना था, उसका मूल अक्षय है। **मानवीय देह की भाँति संस्कृति का शरीर भी जड़ और चेतन के संयोग की निर्मिति है।** विविध संस्थाएँ उसका जड़ीभूत अंश हैं। वे जन्मना है, उठती है और काल के कपाल में सविस्तार रूप से परिवर्त्तन करती हुई अपरिमित है, किन्तु उनके पीछे जो सत्यात्मक मूल प्रेरणा है, वही हमारे लिए रूचिकर है। मन पुनः उस कला सत्य की सन्निधि प्राप्त करना चाहता है।

बौद्धिक विचार अनेक **प्रतीकों-बिम्बों-रूपकों** के अभिप्रायों की सहायता से प्रकट किए गए हैं। आवरण हटाकर उन अभिप्रायों को चिन्हित करना होगा, अथवा कह सकते हैं कि उन रूपकों या अभिप्रायों की जो **बारह खड़ी है,** उसकी युक्ति से अर्थाना होगा। तभी गुत्थियाँ खुलेंगी। **रूप के चौखट पर मानवीय मन के अर्थ नये प्रकाश से भर जाते हैं।** जिज्ञासा की प्रत्याशा में कल्पना के रंग जिन सूक्ष्म रूपों से मंथित हैं उसमें संकेतित धारणा हमारी ओर अग्रसर होती है, **'ऋषिभि बहुधा गोतम्'** वाङ्मय की मूल भित्ति में प्रकृति की प्राणधारा या **सोमधारा** के उस चरित को, जो **विश्वरूपों** में हमारे सम्मुख उद्घाटित हैं, जिसकी मीमांसा **'कला तत्त्व'** की **'संस्कृति'** है वस्तुतः साहित्य दर्शन का व्यापक सत्य है। मानवीय जीवन को केन्द्र में रखकर कहने का जो प्रयत्न विवेकीय आस्था है, वह हमारे मानस की विवरणिका है। फलतः सत्यधर्म के सुदृढ़ कला आसन पर उल्लास और आनन्द का नर्तन है जहाँ बुद्धि की कतरव्योंत और विषाद् का तथ्य नास्तिकता को भी जन्म देता है। यद्यपि समस्याओं के अत्यन्त समीप निष्कर्ष का चरित योग आशा की कल्प लता है। हमारे मानस का आदर्श लोक कृतियों के दर्शन में चिन्तन के क्षेत्र विशेष बनते हैं। **विद्या** और **उपविद्या** की नायिका **महाविद्या** की **पराकाष्ठा है** इसलिए यह **स्त्रष्टा की अद्भुत रचना है।** 'हवा, पानी, नदी, पहाड़, आग, फूल अर्थात् दृश्य और अदृश्य जगत् में' सर्वत्र उसे ही देखा जाता है, उसे ही लिखा जाता है, उसे ही पढ़ा जाता है। **वह सर्वमान है, लेकिन सर्वनाम नहीं** सारे सर्वनाम पुरुष वाचक होते हैं- मैं, हम, तू, तुम, वह, वे सभी पुरुष वाचक हैं।'[2] परिभाषा में शरीर को संज्ञाएँ क्रियाबल की उत्स हैं, जिसमें नायिका की संरचना, **कमनीय काया की माया है,** वह कविता है, नाटक है, उपन्यास है, संगीत

*चित्रकला विभागाध्यक्ष एवं संकाय प्रमुख, दृश्य कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

** पूर्व शोधछात्र, चित्रकला विभाग, दृश्य कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

है, कला है, जीवन की शैली है। रचयिताओं की प्रेयसी है या कहें कि ज्ञानधारा का कोई ऐसा सोपान नहीं जिसके बिना कुछ भोग्य हो।

संस्कृत साहित्य कला-संस्कृति, प्राकृत अपभ्रंश हिन्दी से होती हुई संयोग-वियोग के भावों को सहज अभिव्यक्ति देने वाली यह अवधारणा **'भारतीय चित्रकला परम्परा'** में अत्यन्त सहज, **'रसवती'** हो गयी है। पहाड़ी शैली में 'शृंगार के दोनों पक्षों को सहज अभिव्यक्ति दी पर वियोग की गहन् अनुभूतियों की मार्मिक अभिव्यक्ति इतनी करूण हो उठी कि लोक मन उसकी करूणा से नहा उठा।'[3] **प्रेम तत्त्व के परिपाक** से कितनी कृतियाँ, जन्म लीं पर प्रेम पक्ष का गूढ़ार्थ नयनों की भाषा में **रस** का आस्वाद बन गयी। वह **'गूँगे का गुड़'** हो गयी। इसी प्रेम को जिसे सहजता, सरलता के साथ हमारी वाचिक परम्परा बाँचती आयी है, यह एक अनोखा उदाहरण है। यह **चित्रार्थ का सत्यार्थ** है जिसमें **जीवन छन्द का आधार प्रेम** है, यह प्रेम जाने कितने रूपों में सदियों से सदियों तक अभिव्यक्ति पाएगा। **'शास्त्रों में शृंगार रस को 'रसराज'** कहा गया है। उसका कारण सम्भवतः यही रहा कि प्रेमानुभूति सबसे प्राणवान और सशक्त अनुभूति है। यह प्रकृति के कण-कण में व्याप्त है। यही सृष्टि का कारक है'[6] यही जीवन को गति भी देता है और ठहराव भी। लोक कला एवं साहित्य में इस अनुभूति का वैभव सर्वत्र व्याप्त है।

भारत श्रीकृष्ण और श्रीराम की लीला भूमि हैं। श्रीकृष्ण की प्रेम लीला में शृंगार के **संयोग** और **वियोग** दोनों पक्ष चरमोत्कर्ष पाते हैं। श्रीराम का आदर्श दाम्पत्य जीवन लोक में **प्रेम का आधार है।** राम, सीता, राधा-कृष्ण का वियोग दुःख वियोग की चरम पराकाष्ठा है। लोक में प्रेम का भाव लोक मंगल से जुड़ा है। राधा-कृष्ण की प्रेम कथा जन-मन में इतनी समा गयी है कि, वे प्रेम के अधिष्ठान हो गये हैं। एक ओर शिव-पार्वती के दाम्पत्य प्रेम में लोक मंगल इतना गहराया कि परस्पर नोंक-झोंक से उनका प्रेम और प्रगाढ़ होता रहा। शिव को लोक कल्याण के लिए विवश करने वाली पार्वती हर **'सुहागिन' का आदर्श** बन गयीं। दूसरी ओर राम-सीता का प्रेम सुख-दुःख में साथ निभाने का दाम्पत्य भाव, लोक मन में, इतना बस गया कि, इतना कष्ट उठाने वाली सीता हर नारी के लिए अनुकरणीय बन गयीं। चित्र लोक में ऐसा लगता है कि पति-पत्नी ही प्रेमी-प्रेमिका है। पर कहीं-कहीं परकीया प्रेम की झलक भी मिलती है। किन्तु लोक सहानुभूति से वंचित परकीया पर पुरूष की धात्री है, क्षोभ और तिरस्कृत छवि से पीड़ित पात्र पुरुष निर्भरा है, वह जीवन और समाज में रचना बसाना और सुरक्षित रखना के दायित्व बोध से बन्धी है, **पृष्ठ दरपृष्ठ पड़ी नायिका गुप्त गायत्री है।** आकस्मिक नहीं हैं कि अपने देश से लेकर सारी दुनियाँ में अर्ध विलोचन हैं। वह कलहीं काली कंकाली **युद्ध संघर्ष की नेत्री है** सीता, द्रौपदी (याज्ञसेनी), कुन्ती, तारा, मन्दोदरी, अहिल्या, कभी संयोगिता, पद्मिनी बनकर सदानीरा, कामायनी है, **महाकाव्य की नायिका चित्रों की धारिका है।** पंचकथा की पंच महासती **रीतिकालीन शृंगार पतिका है।** 16 (सोलह हजार) 108 (एक सौ आठ) पटरानियों में **'आह्लादिनी शक्ति'** राधा उस संख्या की वाचिका है जो **'शून्य'** का **'योगफल'** है। जब स्वर्णमयी द्वारका के निर्मिति में 16 हजार सांख्यायिकाओं में से एक का भी स्थान आरक्षित नहीं हुआ। वासप्रवास के इस प्रतीक को समझने की चेष्टा प्रासंगिक है। यह प्रसंग शृंगार से अध्यात्म तक, लोक कण्ठ से फूटते रहते हैं 'देव सेना', 'वसन्त सेना', 'कोर्नेलिया', 'मालविका', 'चम्पा', 'मधुलिका', 'मानिनी', श्रद्धा (शतरूपा) आदि **देह और मन की संघर्ष जयी हैं। 'श्रद्धा** और **विश्वास'** की **बुद्धिमती 'मालती माधव'** है। 'उर्वशी', 'मेनका', 'रम्भा', 'भूत', 'प्रेत', 'परियाँ', 'अप्सरा' **परीक्षा लेने वाली देवियाँ है।** स्वकीया प्रेम भारी है यह रूपगर्विता यौवन मद को कुचलती है। अंगज यत्नज, स्वभावज आदि अलंकारों, नायिका के 32 (बत्तीस) लक्षणों एवं 16 (सोलहों) शृंगार का चित्रण विभिन्न रूपों की अवस्था है जिसका परिचय, कमल, शहद, केसर की गंध **सात वर्ण की आभा है।** मौलिक बिम्बों की नवीन सर्जना **अभिसारिका नायिका** है। प्रकृति के उल्लसित उन्मादी रूप को देखकर विरह वेदना और गहरी हो जाती है, श्रीकृष्ण की दानशीलता मान लीला तथा गोपियों की हृदय वेदना के पश्चात् **महारास छाया** और **प्रकाश की तरह संसार का सत्य है।** इस सत्य की सहज कोमलता और मानवीय सम्वेदना के साथ देखने की दृष्टि, **लोक मानस का चित्रायतन है** आज जीवन में प्रेम बिना स्नेह के टिमटिमाता हुआ दीपक है। जिसमें बुझने का संकट सम्बन्धों के मिठास का ग्रहण है। गहरे राग बोध से मन को जोड़ने वाले संयोग वियोग का अनुभावन हैं रूपों में रची गयी मन की आकृति प्रेम प्रीति का रस नायिका का छलकता नेह स्पर्श गन्ध के शब्द हैं।

रंग रस की धार में अवगाहन मन की उड़ान है। मनुष्य के भीतर सम्वेदना के सन्दर्श, रागात्मक वृत्ति सृष्टि विस्तार का आधार है। आदिकालीन परम्परा का **प्रेम रोग** आत्मसर्जित अनुभूतियों की **साधना का मन्दिर है,** जिसमें काम की 64 (चौसठ) योगिनियाँ हैं। जो सिद्धि योग की **'राजश्री'** हैं **नख-शिख वर्णन कला की पंखुरी में बन्दी है।** यौवन की उद्धाम तरंगे निर्बाध रूप से हिलोरें लेती रहीं। माधुर्य लता की कीर्ति में युग-युग के संस्कार संकलित भाव के नियोजक हैं। उपमान के अनुपात में चाँदनी का उद्गम क्या है, पूर्ण चन्द्र का अनुबन्ध लेकर नायिका के मुख को गढ़ा गया है, अमृत से मुँह धोने पर छिंटकी बूँदे आकाश की, छिटक चाँदनी है। दसों दिशाओं में प्रकाश सूचक रम्य, विलक्षण, भाव, भरी अंग सौन्दर्य **विश्व-सौन्दर्य** की **सुकुमारता है।** वेश-भूषा श्वेत वस्त्र, हाव-भाव मांसल देह यष्टि से संतुष्ट नायिका मन्त्रमुग्ध है, **एक अनिर्वचनीय अजस्र धारा चित्र सत्य का प्रमाण है।** प्रभावशाली

चितवन, कहीं अंग प्रदर्शन गतिमय आवेग स्वाभाविक लज्जा की शिथिलता नेत्रों से कज्जल की धार में लालिमा बड़ा आकर्षण है सद्यः स्नाता की सबसे रमणीक कल्पना भींगें वस्त्र, नायिका के पारदर्शी चित्रण में 'कृष्णा भिसारिका'[5] नीले वस्त्र में वर्षा, कौंधती बिजली के मध्य सर्पिणी, डाकिनी-शाकिनी, पिशाचनी आदि कठिनाइयों पर अभिसारिका अपने साहस से सरल कर देती है। आमावस्या की घनान्धकार परकीया प्रेम की प्रतिष्ठा है। विषम कितनी विषम परिस्थितियों में नायिका अपने अविचल प्रेम का परिचय देती है। रीति मर्यादा का भय, गुरुजन, परिजन का भय, लोक लाज का भय, घर से आँख बचाकर निकले तो पथिकों का भय, पथिकों से प्राण बचे तो, प्रकृति है। कभी चाँदनी भेद खोलने पर तुली है, कभी दोपहर की तपती धरती सुकुमार चरणों को झुलसाती है, कभी घोर अन्धकार, कभी तेज बारिश में कड़कती बिजलियाँ... पर बाधाओं के समक्ष **प्रेम कब हार मानता था या है।** कामान्ध नायिका और काम तृप्त नायिका का चित्रण कलाकारों ने इतना जीवन्त किया है चढ़ती नदी, धँसी नौका, टूटेहार, चटकी चूड़ियाँ खिसके कुण्डल घुले तिलक चुचके ओंठ (अधर) मानों **भौंरें ने रस पान कर लिया हो,** और अधर पर ओष्ठचिन्ह बन गए। मार्ग के काँटों में उलझकर वस्त्र फट गए जलधरी लुढ़क गयी तेज गति से कबरी शिथिल हो गयी। **विद्ग्ध विलास** प्रेम की चरम सीमा अर्थात् **द्वैत की समाप्ति** जीवन में अनिवार्य रूप से सामने आती है पहाड़ी चित्रकारों ने रूपसी का एकांन्तिक क्षणों को अंकित करने में दूरदर्शिता का परिचय दिया है। संयोग सुख जितना व्यापक और बहुमुखी होता है। वियोग का दुःख उतना ही गहरा और तीव्र। **विरह प्रेम की जागृति है।** तीन प्रकार के वियोग है- यथा-पूर्व **राग जनित, मान जनित** और **प्रवास जनित** भारतीय चित्रकला में तीनों प्रकार के वर्णन मिलते हैं। सखी नायक नायिका के **रूप-सौन्दर्य का वर्णन रतिभावेन चेष्टा है।** व्याकुलता ऐसी जैसे कोई वस्तु खो गयी ह, नायक विहीन नायिका, अधीर हो जाती है प्रवास जनित विरह, भिन्न से भिन्न का अभिन्न मेल विरक्ति को जगा देता है। प्रेम और यौवन पर उपेक्षा का चोट अनन्य कठोरता का चित्रण **घनश्याम की छाया में वज्रपात** की घनी दृष्टि, अनुभूति की अभिव्यक्ति है। इस कल्पना में प्रेम गुणमयी सौन्दर्य है लेकिन देह की दुर्दशा पर पीड़ा का भोग भीतरी घुमड़ है। इतने पर भी दोष दूषकों का चित्रचिन्तन षट्अंग के आयाम हैं।

जिस भाँति साधना जगत् में जीव और ब्रह्म का मिलन (भेंट) प्रसिद्ध है उसी प्रकार प्रेम-जगत् में प्रेमी-प्रेमिका का व्याकुलता की पराकाष्ठा पर **'मृगमरीचिका'** का प्रकटी करण है। संसार का सम्पूर्ण सौन्दर्य और प्रेम, समस्त विरह व्याकुलता को मथ कर जिस **कोमल-मंजुल मूर्ति** का निर्माण किया गया- **वह है राधा।** राधा का प्रेम इतना प्रबल है कि वे धर्म, कर्म मान-मर्यादा, विधि-विधान सब अपने प्रेमी पर निछावर कर देती हैं। ऐसे उद्दाम वेग से बहने वाला प्रेम ही आत्मा के लिए आदर्श हो सकता है।

इसी मधुर भाव के उपासक आँख बचाकर अपनी प्रियतमा को अभिसार का निमन्त्रण देता है, समय, प्रतीक, सर्प को पैर से लिपटा हुआ देख उसे अपना हितैषी रूप मानित है। जीवन के रूप विह्वलता की मूक पुकार हृदय में उमड़ते भावों की ऐसी सरस अभिव्यक्ति है कि, उसमें किंचित मात्र परिवर्त्तन भी समस्त भाव धारा को विशृंखल कर देती है। निःसन्देह बाह्य शरीर के वर्णन में **'पहाड़ी चित्रकारों की कलम अधिक रमी है,** फिर भी मन की गहराई में वे पूरे उतरे हैं। यौवन काल का इतना मनोमुग्धकारी चित्र उपस्थित करने वाला कोई अन्य चित्र शैली नहीं है'[6] रस रंग में संसार डूबा है, यौवन के वेग में रूप है, प्रेम है, उमड़ता हृदय है, आकर्षण है, मिलन हैं, विरह है, तब तक चित्रकला की इस शैली का संयोजन अमर रहेगा नये-नये रूपों में विमर्श की सम्भावना के साथ, काम कथाओं के क्षेत्र में भारत विश्वभर में अग्रणी रहा है (वा0वि0 **कामसूत्र**) को कौन भूल सकता है। निःसंकोच प्राकृत की **'बड्डकहा'**, संस्कृत की **'कथासरितसागर'** तथा **'शुकसप्तति'** में **पुश्चली स्त्रियों** की अनेक ऐसी **रूपावलियाँ** समय के अन्तराल पर विश्व कहानियों में **रूपित हो गयीं,** पति की उपस्थिति में **'रमणेच्छा' 'शुकसप्तति'** से यूनानी मध्य पूर्व एवं पश्चिम के साहित्य में भी पहुँच गयीं। **नैठा** और **त्रिया चरित्र प्रेमाख्यानों की दिव्यता बन गयीं।** लोक भावन में चित्रित प्रेम से अलौकिक पवित्रता **'नर-नारी' अभिव्यक्ति देहभाषा का प्रणयन है।** नायिकाओं की बात प्रबल सिद्ध आत्मा और परमात्मा की प्रतीक है। साधना पद्धति के अनुसार तो आत्मा को परमात्मा से मिलने की आतुरता ही नायक को फाँसने की कला है, जो **काम कन्दला** सांसारिक प्रेम का चित्रण करते हैं- **रस मांसलता** का **श्रृंगार वर्णन चित्रकला का शाश्वत प्रतिमान है।** प्रेम की अदम्य भावनाओं का लावा नारी विहीन सभ्यता संस्कृति और कला की ज्वालामुखी से फूटती ही नहीं। समाज में माता, पत्नी, भगिनी, पुत्री, सखी सेविका परिचारिका तपश्विनी आदि रूपों में **काव्य शास्त्रीय लक्षणा व्यंजना है।** वासक सज्जा, प्रोषित पतिका रूप गुण का दर्शन है। आशा एवं सुखमयी किरणावली सुन्दर स्वप्नों की प्रतिमा कल्पना की जीवन्त तरल तूलिका के सहारे जीवन की प्रेरिका होती है। प्रेरक बिन्दु के नाते **कला में नारी रूप** श्रृंगार का अंकन चित्रकारों की शक्ति एवं **दक्ष तूलिका** संघात है। सौन्दर्यमयी प्रतिरूपी का कलात्मक अभिव्यक्ति अद्वितीय प्रेरणा की **सामुद्रिका** है। प्रागैतिहासिक काल से आधुनिक काल तक भारतीय कला में रूपसी का वैविध्य है। पशु-पक्षियों के अंकन में नारी सौन्दर्य 'अंजन', 'खंजन', 'मीन', 'पियासी' केश विन्यास पत्राच्छेदन गतिशील मुद्रा अलंकृत वस्त्र स्तन भार से झुकी हुयी रूप वाहिनी, **ज्यामितीय रूपों मोहन जोदड़ों की तत्वंगी** (काँस्य प्रतिमा) **नर्तकी चित्र-शिल्प का वर्ण श्रृंगार है।** वेणी गुंथन, घनकेश पाश, गायिका का मायिक संसार **अजन्ता, एलूरा, सित्तन-वासल, बादामी,**

ऐलीफेण्टा जैन-बौद्ध की **चित्र संस्कृति** में जगत् को आकर्षित कर रही हैं। **'कल्पद्रुम'** जैनकृति में चोली बन्द, चुनरी, रंगीन धोती एवं कटिपट का प्रयोग, अलंकृत वस्त्रों की अभिकल्पना विभिन्नता चारूता युक्त है। ललाट बिन्दी, बाजूबन्द, कुण्डल अँगूठी, एक चश्म, डेढ़ चश्म, 2 चश्म मुख ज्ञान **भारतीय कला का उच्च केन्द्र है।** सेव की तरह उभरी ठुड्डी नाभिकुण्ड पर बल-रेखा, गर्व और गौरव से भरे हैं। भवें, नयनों का समरूप फैलाव शुक नासिका' चंचु की भाँति नुकीली, नेत्र-ओंठ उभरे और उठे हों, अनुपातिक योग में कर्ण, ब्रह्माणी, देवनन्दा, क्षत्राणी, त्रिशला, सरस्वती, पद्मावती, ज्वाला मालिनी, देवियों यक्षिणियों सोलह विद्या देवियों, चौबीस तीर्थकरों की अधिष्ठात देवियाँ, राजकुमारियाँ प्रेमिकाओं का अंकन **चित्रसाधकों का मनोहारी अंकन** है मुगल और राजस्थानी चित्रकला में **'बनीठनी'** यौवनांगी दर्शित रूप है सम्पूर्ण भारतीय चित्रकला का प्रतिनिधि प्रतीक पारदर्शी दृष्टि् से **पार्थिव जगत् का रस पान है।** रंगों की योजना, वस्त्रों की सज्जा, रास चित्रों की सौम्यता 'एक मन मोहिनी' स्त्री नायिका (छवि) भावमय सौन्दर्य का साकार रूप है। घूँघट के पट श्रृंगार के रस परिपाक हैं। नारी रूप निर्मिति में **'नारीकुञ्जर'**, **'हय बदन'**, सम्बन्धी चित्र संयोजन **'कदली परिरम्भ', 'लता वल्लरी'** कोमल एवं लयात्मक अंग, धनुषाकार आँखें, उत्तेजक भाव का बिम्ब, सत्कुल भाव रूप है। छलकते इस **रस कलश** में रहस्यमयी मुख आकृति अद्भुत रंग संयोजना तूलिका का अनुभवबद्ध, मानस अभ्यस्त रूप है।'[7]

'अमिय हलाहल मद भरे, स्वेत स्याम, रतनार।

जियत, मरत, झुकि-झुकी परत् जेहिं चितवत इक बार।।'

अंग दर्पण में रसलीन ने **'नेत्रोन्मीलन'** की जो अभिव्यक्ति दी है, वह सम्पूर्ण **अंग दर्पण का प्रतिबिम्ब** है। जो कालजयी इस पंक्ति में सौन्दर्य की अभीप्सा ऐसी **प्रतिपिप्सा** है जो लिप्सा बन कर खड़ी है। नायिका के मुख मण्डल पर कामांगि छाया की प्रत्यक्ष माया वशीभूत द्युति को रससिक्त कर उसमें निम्मज्जित कर देती है।

इस भाँति काम दग्ध नायिका हों या शक्ति, प्रेम की अधिष्ठात्री ये भारतीय कला के पद चिन्ह हैं-

'नवरसाः स्मृताः भावाः नारिरूपेण भाविता।

चित्रं योगिन्येः कला स्मृता ते गुणाः अवलम्बते।'

'नवरसाः स्मृताः भावाः नव नाट्यैः रसाः स्मृताः।

चित्रं योगिन्ये कलाः स्मृताः नारिरूपेण भाविता।'

'नवरसाः स्मृताः भावाः नारिरूपेण भाविता।

चित्रं योगिन्ये कला स्मृताः नारिरूपेण आनन्दन्ति।।'

जिस प्रकार भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में नवभाव एवं नव रस का उल्लेख किया है उसी प्रकार नारी के रूप में नव भाव और नव रस के साथ चित्र योगिनियों को अंकित किया गया है, चित्रकारों ने **'चित्रमेतत स्वरूप'** में **रूपसी** अर्थात् **योगिनियों की वन्दना** की है, जो प्रत्येक पुरुष की कामना है। संस्कृतज्ञों के भाव विन्यास के इस स्वरूप का मूल विवेचन अन्तर भेद के कारण तीनों श्लोकों की प्रस्तुति दी जा रही है। 'एक ही सूर्य।' विश्व का प्रभु है, एक ही उषा विश्व को आलोकित करती है।[8] वैदिक ऋषि ने ऋग्वेद के इस मन्त्र में **अक्षय यौवना** अनिद्य सौन्दर्य यामिनी की जो परिकल्पना की वही मीरा की इस पंक्ति में है कि **'संसार में सभी स्त्री** है। पुरूष तो **केवल एक ही है'** तुलसी के लिए यह पंक्ति बड़ी प्रेरणादायी थी। ज्ञान दर्शन के इस आलोक में जो तत्त्वार्थ का सारग्रही अंश है वही हमारी कला यात्रा है। चित्र संयोजन के वैविध्य में जो लालित्य है वही कलाभास नायिका का चित्र पक्ष है।

कलात्मक संयोजन का चित्रपक्ष

काम जीवन की मुख्यतम वृत्ति है। यह तीक्ष्णता या मन्दता के अनुरूप व्यक्ति के व्यक्तित्व को प्रभावित करता है। सर्वाधिक चिन्तन इसी पक्ष से उद्घाटित है। वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक प्रक्रियाएँ शास्त्र विवेचित है। ज्ञान, आनन्द के इस पक्ष पर '**इन्द्र** के समान **गुण** सम्पन्न आधिपत्य रखना **इन्द्रिय सन्निकर्ष** है'। कला और सौन्दर्य में उसकी जीवन रेखा नायक और नायिका में लीन है। चित्रों में **प्रेम प्रतीक** के अनेक कर्त्तव्य हैं किन्तु नायक के क्या कर्त्तव्य है? सम्मोहन उच्चाटन के इंगित निधान क्या हैं **'तेजोसि बलि वीर्य 'मसिंदेहि' 'उर्वशी पुरूरवा'** आख्यान जिस दिशा का ज्ञान कराता है वह स्वागत के योग्य है। वशीकरण के वशीभूत तन्त्र की प्रतिष्ठा है जो चित्त को हर लेती है, अतिसूक्ष्म दृष्टि से प्रस्तुत चित्त की स्थूलात्मक वृत्तियाँ ऊपर की ओर उठने का भाव जगाती हैं जिसे हम खजुराहों के आलों में देख सकते है **'शार्दूल'** इसी चिन्तन का परिणाम है। काम का शमन काम को प्रदीप्त कर देता है वहीं संलिप्त से निर्लिप्त 'रूप स्कन्ध' की पंचइन्द्रिया (=चक्षुः, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय) पूर्व जन्मार्जित फल के अनुसार चलती हैं यह आन्तरिक एवं बाह्य नियमन का पालन करती हैं। हमारे यहाँ श्रीकृष्ण **जितेन्द्रिय** कहे गए हैं क्योंकि वह **'काम की चुनौती'** का सामना करते हैं ब्रह्मा शंकर योगी मुनि की तरह पलायन नहीं करते अथवा भस्मीभूत भी नहीं करते अपितु, उसकी उपस्थिति को ही अप्रासंगिक बना देते हैं **'रासपञ्चाध्यायी** का **रहस्यवाद'** इस इस तथ्य का साक्षी है। रास हमारे जीवन के परिष्कार का संस्कार है हम इसमें रमते हैं तब कहीं जाकर उठते हैं वहीं पतनशीलता अमर्ष को नष्ट करती हैं। अतः कृष्ण पर साहित्य संगीत एवं चित्र कला मर्मज्ञों ने दीपित स्पर्श देने की जो श्रेष्टा की है वह **'नृत्यायसूत्तं गीताय शैलुषं, धर्माय सभाचरं'** के इस मन्त्र को अभिसिंचित करती हैं, जिसके अभिषेक से जनमन नहा उठता है। सर्वाधिक महत्ता काम और स्वाद पर नियन्त्रण इसका अर्थ 'मात्रात्मक प्रयोग' है। गोपियों

संग श्रीकृष्ण वास्तव में सत्यसन्ध कहे गए ऋषी है जो अपने इष्ट की समीपता चाहते हैं। गर्गसंहिता तो यही कहती है। **'त्रिभंग ललित'** का यह खेल तो यही कहता है।

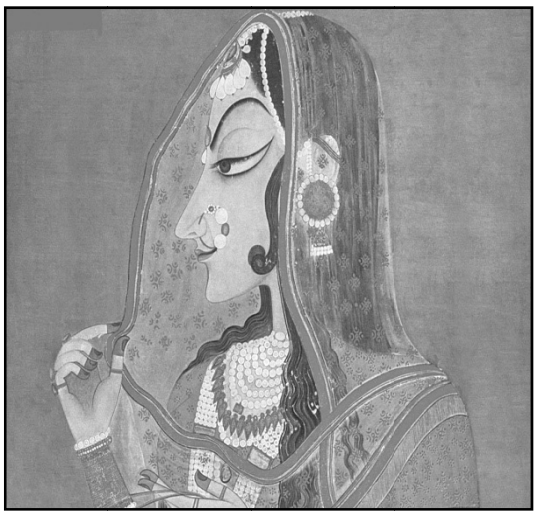

अनिंद्य सौन्दर्य की स्वामिनी

'बनी-ठनीं/= बन ठन कर सज सँवर कर' यह चित्र सामान्यतया **एक विशिष्ट नायिका** अथवा **भारतीय नारी** का है जो सोलह श्रृंगार युक्त हैं लेकिन इसके मूल में श्रीकृष्ण की **'आल्हादिनी शक्ति श्री राधा जी'** है। सौम्यता विनम्रता भावगम्य मुख मण्डल पर विराजित है, नेत्रप्रियतम के ध्याय में निमग्न है, 'साहित्य में जिस सौन्दर्य की कल्पना की गयी है' उस कोटि में यह चित्र अपना स्थान स्वयमेव आरक्षित रखता है। नख से शिख तक आभूषण मोतियों रत्न जड़ित श्रृंगारिकता के केन्द्र हैं। केश विन्यास यौवन का उदाम वेग है। **गौरांगी** सिन्दूरी, हरे, श्वेत, हल्के नीले, रंगों, हाथों में लाक्षारस महावर युत अंकन अलंकृत एवं पारदर्शी वस्त्र से संयोजित है। यह चित्र किशन गढ़ शैली में निर्मित है **भारत सरकार** ने इस **चित्र पर डॉक टिकट** भी जारी किया है। सुन्दरता कला के इस अद्भुत नमूने को कुछ अज्ञानी **भारतीय 'मोनालिसा'** भी कहते हैं। यह विश्वविदित चित्र भारतीय चित्रकला का अतुलनीय पक्ष है।

नारी कुञ्जर

पहाड़ी चित्रकला के दर्पण में **'नारी कुञ्जर'** कमलवत निर्लिप्तता का प्रतीक है। जिसका प्रतिबिम्ब **कामजयी है 'कामायनी'** लोक में सुरक्षित रहने की जिजिविशा ऊपर उठने का **'गज केशरी योग है', 'गोपी रूपी बुद्धि पर विवेक की पताका' मोक्ष का द्वार है,** नायिका रूपी हाथी पर श्रीकृष्ण विराजित हैं यह चित्र जीवन में सन्तुलन साधने का **मन्त्र पाठ** देता है। जिसका अपना विज्ञान है। विशिष्ट प्रकार के इस ज्ञान में **ब्रह्मवर्चस्व** है गोपियाँ अपने प्रियतम की सेवा में आनन्दित और मुग्ध हैं। वाद्यवृन्दों की सहायता से गुणानुवाद **मणिकांचन** रूप एक **राजसी वैभव** में तो दूसरा **समेकित वैभव** में **चित्रांकित** है। रंग वैविध्य में हल्के एवं गहरे रंगों से **'षडंग-दर्शन'** को ध्यान में रखते हुए चित्र संयोजन को मान प्रदान करना निम्मजित अर्थ का द्योतन है।

उत्कल चित्र संस्कृति में **'नारीकुंजर'** और **'हयबदन'** पर चित्र संयोजन लोक सम्पूजित है। अलंकरणात्मक शैली में **सप्तरंगीय आभा** का यह प्रतिफल कलात्मकता का सौजन्य है। पृष्ठभूमि में कदम्ब वृक्ष फल-फूल से परिपूर्ण है। पीताम्बर धारी **'अधर धरे मोहन मुरली पर'** सातछिद्र जीवन के सात सोपान हैं जिस पर मर्म का भेदन अर्न्तध्वनि है। इस ध्वनि की मुग्धता में **'कामस्वादु पयोधरं'** की प्रतीति जीवन रस का पान है। काम

कमल का रसयिता गोपियों के परिरम्भ से सम्पृक्त है। नीचे **गौंएँ उत्साहवर्धित चंचलांगी है,** जो कृष्ण को प्रतीक्षा से व्यग्र हैं। जो मोह से विरक्ति का प्रसाद है।

हयबदन

प्रस्तुत चित्रविधान अश्व **शक्ति का परिचायक है 'अश्वाकृति' में नायिकाएँ अवगुंठित है,** जो यौवनांगी अपनी सेवा भाविता के योगदान से अनुगृहीत हैं। हमारे यहाँ अश्व के काम शक्ति का उदाहरण समान आनन्द की मिठास है लेकिन इस मिठास पर लिप्सा का पाठ न पढ़े कृष्ण की वंशी यही ध्वनि तो देती है। **सूर** ने जिस **मर्म** को पकड़ा वही **जगत्** के **उद्भाषित रूप की झाँकी है।**

'यद्वाजी मुरली अली रस भरी टेरी हरी कुंजरी, ब्रह्मा-शंकर योगी सिद्ध मुनि की छूटी समाधि सखी री कालिन्दी उल्टी बही निरखुरी तोसौं कहाँ लौं यद्वाजी मुरली अली रस भरी टेरी कुंज री.....' देखोरीय विमान पै गगन में गन्धर्व कन्या खड़ी चोली बन्द छुटी अनंग बसते सारी सरग गिर पड़ी.....' यद्वाजी मुरली अली रस भरी टेरी हरी कुंज री।

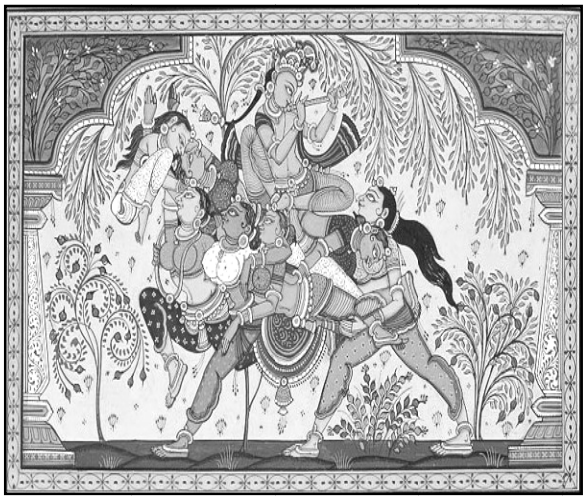

कामरथ

जिस पर **'अर्जुन सवारी'** कर रहें है काम दग्धा से निर्भीक अपने अस्त्र-शस्त्र से युक्त है। पृष्ठभूमि शान्त है चित्र संयोजन का भावार्थ जिसका मन पर नियन्त्रण है उस पर **'कामकन्दला'** कभी सफल नहीं हो सकती है। रथ को **शुक तोता** खींच रहा है जिसको कामिनी लयबद्ध गति प्रदान कर रही हैं।

'तोता लज्जा का प्रतीक हैं' प्रत्येक तरूणी अपनी भूमिका में मगन है स्त्री आकृतियों की प्राधान्यता में सैन्य पति की सेवा सेनानियों से रक्षित है वस्तुतः रेखा-प्रधान **भारतीय चित्रकला ज्ञान वैराग्य** की **साधिका** और **धर्म की राजिका हैं** विवस्त्रा देवियाँ रणागंन की शोभा है जीवन के काम युद्ध में इनके समक्ष पुरूषार्थ थक जाता है जो हमारी दुर्बलता का संकेतक है। अर्जुन परिपक्व मस्तिष्क के प्रतीक हैं।

रूपसी की निहारता

आत्ममुग्ध नायिका दर्पण में **मुख दर्शन** के निमित्त **शृंगार** को व्यवस्थित करती हुई **संतृप्त** है। जो **'रूप गर्विता'** का मान है। रेशमी वस्त्र, शृंगारिकता की कसौटी हैं। मणिमय मुक्ताओं स्वर्णाभूषणों से अंग प्रत्यंग शोभित है, पृष्ठभूमि गहरे रंग और भाव लालित्य से हर पुरूष की **'कामादर्श' नायिका** का केश पाश खुले हुए है **जो स्वच्छन्दता** का ही एक लक्षण है। पारदर्शी वस्त्र **त्रिफुलिया अलंकरण युक्त है** यह सौन्दर्य की महामाया है। जीवन की काया यहीं शरण लेती है।

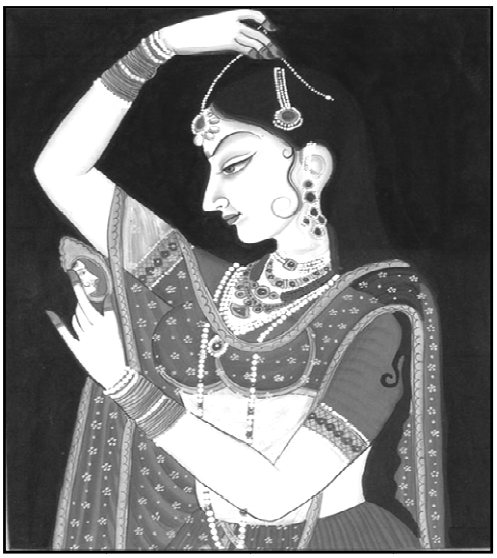

कृष्णाभिसारिका

लोक लाज त्याग कर **'गुप्त मन्त्र की धारिका' पथ के विघ्नों से** 'निर्भीक' सर्पिणी, कड़कती सौदामिनी, अमावस्या के घनान्धकार को चीरती हुई चलती है उसके लक्ष्य में केवल **प्रियतम मिलन** है। डाकिनी, शाकिनी, पिशाचिनी का प्रयत्न निष्फलित होता है। **इच्छा क्रिया** का **संग्रन्थन** जिस वेग को जन्म देता है, यदि उसका अभिधेय पवित्र नहीं है तो पतन सुनिश्चित है इसीलिए कहा गया है कि **'हजार दिन का यश एक दिन के चरित्र पर निर्भर करता'** है। नायिका नीले वस्त्रों में सुकुमारिता, कालरात्रि को शुभ रात्रि में परिवर्त्तित भाव की धारा है। चित्रकला की नायिका **प्रेमकला निष्णात** है पहाड़ी चित्रकारों ने इस पर अपनी तूलिका के कौशल का उन्नत परिचय दिया है।

सन्दर्भ-सूची

1. वासुदेवशरण अग्रवाल- कल्पवृक्ष (भूमिका), वर्ष 1998, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली- 110001, पृ0सं0 4-5.
2. शुकदेव सिंह- हाशिए पर स्त्री और स्त्री रचनाकार वर्तमान साहित्य/मार्च-अप्रैल, 2006/पृ0 26/पत्रिका सम्पादक- कुँवर पाल सिंह/नमिता सिंह। अलीगढ़, उ0प्र0।
3. विद्याविन्दु सिंह- ढ़ाई आखर : मन पटे की यारी अवधी लोक साहित्य में प्रणय प्रसंग/साहित्यिक पत्रिका 'नया ज्ञानोदय' प्रेम महा विशेषांक 5 नवम्बर 9/पृ0 12, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन/सम्पादक रवीन्द्र कालिया, अंक 81, नयी दिल्ली।
4. किशोरी लाल वैद्य/ओमचन्द हाण्डा- पहाड़ी/चित्रकला/प्रतीक/पृ0 46, 50/नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली/प्रथम सं0 1969.
5. डॉ0 भानु अग्रवाल- ''भारतीय चित्रकला के मूल स्त्रोत' अलगारिद्म पब्लिकेशन्स, वा0प्र0सं0 1999, पृ0 203, 204-205/206।
6. रायकृष्ण दास- भारत की चित्रकला/भारती भण्डार इलाहाबाद/1974/पृ0 76/77.
7. वा0गैरोला- भारतीय चित्रकला/चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली/ वर्ष 1990/पृ0 भूमिका।
8. एकएवाग्निबर्हुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनुप्रभूतः। एकैवोषा सर्वमिदं विभाति...।। ऋ0 सं0 8/58/2.

●

सूर और तुलसी के काव्य में नारी

*डॉ. सत्यपाल शर्मा**

सूर और तुलसी के काव्य में नारी-विषयक दृष्टिकोण और उसकी स्थिति को समझने के पूर्व हमें सृष्टि में नारी की विराट भूमिका को ध्यान में रखते हुए उसकी स्थिति के उत्कर्ष और अपकर्ष की व्यथा-कथा को भी देखना होगा। वस्तुतः नारी प्रकृति के कण-कण में व्याप्त ऐसा कोमल स्पन्दन है, जो मानव-जीवन को ऊर्जा, शक्ति, प्रेरणा और अवलम्बन देती है। नारी सृष्टि की अनिवार्य चेतना है। जीवन में उसकी उपस्थिति अनिवार्य और अपरिहार्य है। अपनी इस महत्ता से उसके उत्कर्ष और अपकर्ष, प्रभुता और हीनता, ह्रास और रुदन, उल्लास और वेदना की कहानी जुड़ी हुई है। साथ ही जुड़ा हुआ है एक चिरन्तन, ज्वलन्त प्रश्न कि पुरुष के आकर्षण, सम्मोहन और प्रलोभन के केन्द्र नारी ने मानव समाज को जितना दिया उसका न्यायोचित प्रतिदान पा सकी है वह?

भारतीय समाज में नारी की स्थिति को देखने के लिए वैदिक साहित्य से लेकर अद्यतन साहित्य तक को आधार बना सकते हैं। परन्तु ध्यान दें तो हम पाते हैं कि प्रत्येक युग के साहित्य में नारी के सम्बन्ध में परस्पर विपरीत धर्मा उक्तियां मिलती हैं। ऋग्वेद में- ''साम्राज्ञी श्वसुरेभव साम्राज्ञी अधिदेवेषु'' कहकर उसे श्वसुर-गृह की साम्राज्ञी कहा गया तो वृहत्संहिता में उसे पुरुषार्थ का शरीरार्ध, श्री और लक्ष्मी के रूप में मनुष्य के जीवन को सुख और समृद्धि से दीप्त करने वाली तथा पूजार्ह बताया गया है-

''प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन।[1]

कहीं उसे 'या देवी सर्वभूतेषु...' कहकर सृष्टि की आद्या शक्ति के रूप में नमन किया गया तो कहीं 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' कहकर उसे कल्याणकारी और शुभकारी बताया गया। परन्तु इसी समय के ग्रन्थों में 'न स्त्री स्वातन्त्रयमर्हति' का उद्घोष करके उसे प्रत्येक अवस्था में पुरुष के अधीन रहने का विधान भी बनाया गया-

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति।।[2]

जिस महाभारत में 'भार्या मूलं त्रिवर्गस्य' कहकर नारी के भार्या रूप की प्रशंसा की गई है, वहीं उसे सम्पत्ति की भाँति दान, दक्षिणा, उपहार तथा आतिथ्य में देने के उदाहरण भी मौजूद हैं। यही नहीं, द्यूत-क्रीड़ा में उसे दाँव पर भी लगाया जा सकता था।

कालान्तर में स्त्रियों की शिक्षा पर प्रतिबन्ध लगा। पर्दा, सती प्रथा आदि को बढ़ावा मिला। स्त्री के अस्तित्व को चहारदीवारी में सीमित कर पुरुष ने उस पर एकाधिकार कर लिया। मध्यकाल में पर्दे के साथ बाल-विवाह के प्रचलन से स्त्रियों की स्थिति और भी सोचनीय हो गयी। सती प्रथा जो पहले ऐच्छिक थी, बल-प्रयोग द्वारा पूर्ण की जाने लगी। वैदिक साहित्य में वर्णित पूजार्ह और सम्माननीया नारी मध्यकालीन समय में निन्दनीय, गर्हित और त्याज्य हो गयी। सूर और तुलसी के काव्य में नारी की स्थिति और नारी विषयक दृष्टिकोण का अध्ययन करते समय मध्यकालीन सामाजिक व्यवस्था को ध्यान में रखना आवश्यक है।

विद्वानों ने तुलसी को लोकनायक, समाजसुधारक, समन्वयकारी, युगचेता, क्रान्तिदर्शी, महाकवि आदि अनेक विशेषणों से विभूषित किया है। तुलसी के प्रति कतिपय नकारात्मक प्रतिक्रियायें भी व्यक्त की गयीं किन्तु इससे तुलसी के महत्व में न्यूनता नहीं आ सकी। जहाँ भी तथाकथित बुद्धिजीवियों और आधुनिक प्रगतिशील विद्वानों का समागम होता है- तुलसी को नारी निन्दक, सामन्तवादी, वर्णाश्रम व्यवस्था का समर्थक आदि कहकर उनकी यश चन्द्रिका को धूमिल करने की चेष्टा की जाती है। तुलसी का 'मानस' भाव-निधि का रत्नाकर है और 'जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ' की उक्ति के अनुसार उनके एक-एक भाव रत्न को पाने के लिए 'मानस' में गहराई तक जाना होगा।

तुलसी के नारी विषयक वक्तव्यों का विश्लेषण करते समय हमें तीन बातों का ध्यान रखना चाहिए- एक, वे नाना पुराण निगमागम का अनुसरण कर रहे थे।, दो वे एक ऐसे विशाल महाकाव्य की रचना कर रहे थे जिसमें विभिन्न प्रकार के पात्र, विभिन्न परिस्थितियों में भाव-मनोभावों की विभिन्न स्थितियों को व्यक्त करते हैं, तीन, वे उस युग में जी रहे थे जहाँ वैदिककाल में पुरुष की सखी-सहचरी बनने वाली नारी दासी बनकर रह गयी थी। शिक्षा से वंचित, अल्प आयु में विवाह कर पर्दे में आजीवन घर की चहारदीवारी में बंदिनी सी रहने वाली मध्ययुगीन नारी कभी जौहर और कभी सती प्रथा के रूप में जलने को विवश की जाती थी।

तुलसी को नारी निन्दक कहने वाले विद्वान 'नारी सहज जड़ अज्ञ', 'प्रमदा सब दुःख खानि', 'सहज अपावनि नारि', 'अव गुन आठ सदा उर रहहीं', 'जिमि सुतन्त्र भइ बिगरहि नारी', 'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी, सकल ताड़ना के अधिकारी' जैसी तुलसी की पंक्तियों को आधार बनाते हैं। तुलसी की नारी-दृष्टि पर आक्षेप-

* एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

करने वाली अधिकांश पंक्तियाँ राम-वन गमन-प्रसंग की हैं। प्रसंग, घटनाक्रम और पात्रों की मनःस्थिति के आलोक में इन पंक्तियों का विश्लेषण उचित होगा। कुछ पंक्तियों की विवेचना प्रसंगानुकूल नीचे की जा रही है-

कवने अवसर का भयउ, गयउ नारि विस्वास।

कैकेयी की कपट लीला (राम वन गमन प्रसंग) से व्यथित राजा दशरथ क्रोध, शोक, खीझ, विवशता की मानसिकता में केवल उपर्युक्त पंक्ति कह सके। यह राजा के आहत मर्म की चरम वेदना का प्रकाशन है न कि कवि तुलसी की व्यक्तिगत विचारधारा। राम वनगमन का वृत्तांत सुनकर अवध में 'जो जहँ सुनई धुनई सिर सोइ' और 'जहँ तहं देहि कैकेइहि गारी' का दृश्य उपस्थित हो गया था। इस दारुण और अकल्पनीय प्रसंग की सूत्रधार और सूत्र संचालिका नारी थी। अतः उसे अपने सम्पूर्ण समाज के साथ लोक निन्दा और लांछन का दंश तो सहना ही पड़ेगा।

'विधुहि न नारि-हृदय गति जानी।

सकल कपट अघ अवगुन खानी॥'

यह चौपाई राम के वन और दशरथ के परलोक गमन के समाचार से शोकाकुल भरत के मुख से निःसृत है। आकुल-व्याकुल भरत ने अपना मनस्ताप विभिन्न प्रकार से व्यक्त किया है। कभी वे माँ की निन्दा करते हैं तो कभी स्वयं को धिक्कारते हैं। कभी वे राजा दशरथ की बुद्धि पर तरस खाते हैं तो कभी सम्पूर्ण नारी जाति को ही कपट और पाप की खान कह डालते हैं।

भ्राता पिता पुत्र उरगारी।

पुरुष मनोहर निरखत नारी।

होइ विकल सक मनहिं न रोकी।

जिमि रवि मनि द्रव रविहि विलोकी॥

ये पंक्तियाँ शूर्पणखा-प्रसंग में प्रस्तुत की गई हैं। आलोचकों का मत है कि स्त्री का इससे अधिक अपमान क्या हो सकता है कि उसे इतना कामुक बताया जाय कि वह पुरुष को देखते ही व्याकुल हो जाती हैं, चाहे वह भाई, पिता या पुत्र ही क्यों न हो। मेरे विचार से इन पंक्तियों की व्याख्या इसके सन्दर्भ को दृष्टि में रखकर ही की जानी चाहिए। यह कथन शूर्पणखा के उच्छृंखल स्वभाव को बताने के लिए कहा गया है। शूपर्णखा राक्षस जाति की स्त्री है, जो स्वभावतः स्वैरिणी, व्यभिचारिणी और स्वच्छन्दकाम होती है। किसी भी पुरुष के प्रति कामातुर होकर रति याचना करना उनका सहज व्यापार होता है। समाज में सज्जन और दुर्जन, उत्तम और अधम जैसे विरोधी प्रकृति के नर-नारी होते हैं। काव्य में जहाँ जिस प्रकार के पात्र का वर्णन किया जाता है, वहाँ उसी संवर्ग की विशेषतायें बतलायी जाती हैं। तुलसीदास ने सूर्यकान्तमणि का उदाहरण देकर अपना मत स्पष्ट कर दिया है। सभी प्रकार की मणियाँ द्रवित नहीं होतीं, केवल एक विशेष मणि ही सूर्य को देखकर द्रवित होती है अन्यथा इस अर्थ को व्यक्त करने के लिए वे हिमखण्ड, मोम या किसी ऐसी अन्य वस्तु का उदाहरण देते जो सामान्य रूप से सूर्य की उपमा से पिघलने लगती है। स्पष्ट है कि तुलसी की दृष्टि में सब स्त्रियों का स्वभाव ऐसा नहीं होता है। किसी कुपात्र के प्रसंग में व्यक्त किये गये विचारों को कवि का व्यक्तिगत दृष्टिकोण नहीं मानना चाहिए।

अवगुन मूल सूल-प्रद, प्रमदा सब दुःख खानि

उपर्युक्त पंक्ति अरण्यकाण्ड की है। राम नारद को बताते हैं कि यदि प्रपंचपूर्वक नारद को विवाह से न रोकते तो उनका युगसंचित तप और वैराग्य नष्ट-भ्रष्ट हो जाता। नारी माया स्वरूपा है, उसके आकर्षण से काम, उसकी अप्राप्ति से क्रोध, उसके संसर्ग से वासना और उसकी प्राप्ति से मोह-ममता, मद, अहंकार में वृद्धि होती है। नारी-संसर्ग के क्षणिक सुख में मनुष्य, धर्म का आचरण भूल बैठता है। यह समझने के लिए राम ने उपर्युक्त कथन प्रस्तुत किया था। पुरुष को सांसारिक विकारों से, वासनात्मक आसक्तियों से दूर रहने का ऐसा सन्देश तुलसी से अधिक मध्यकाल के संत कवियों ने दिया है। कबीर ने तो नारी के लिए क्या कुछ नहीं कहा, देखिये यह तक कह दिया कि

नारी की झाईं परत, अंधा होत भुजंग

कबिरा तिन की कौन गति, जो नित नारी संग॥

सब सोने की सुंदरी आवै बास सुवास।

जो जननी होय आपनी तउ न बैठे पास॥[3]

कबीर ने तो 'जननी' और 'प्रमदा' शब्द का अर्थ-भेद ही समाप्त कर दिया है। तुलसी की पंक्ति 'अवगुन मूल सूल प्रद प्रमदा सब दुःख खानि' सांसारिक आसक्तियों से दूर रहने का उपदेश देती है, उन्हें नारी-निन्दक सिद्ध नहीं करती।

किष्किन्धाकाण्ड में वर्षाकालीन प्रकृति के माध्यम से राम ने अनेक नीतियुक्त कथन प्रस्तुत किये हैं, उन्हीं के अन्तर्गत एक पंक्ति है-

महावृष्टि चलि फूटि कियारी। जिमि सुतंत्र भइ बिगरहि नारी॥

नारी को किसी न किसी पुरुष के संरक्षण में रहने का नियम बनाकर शास्त्रकारों ने उसके आजीवन भरण-पोषण और उसके सम्मान की व्यवस्था की थी। स्त्री शारीरिक और आर्थिक दृष्टि से पुरुष से निर्बल और अशक्त थी। मध्यकाल के सन्दर्भ में देखें तो उस काल की स्त्री अशिक्षित और घर में ही कैद रहने के काण बाह्य अनुभवों से अनभिज्ञ थी। अपने अधिकारों और कानूनी जटिलताओं से अनभिज्ञ नारी पुरुष के संरक्षण के अभाव में सहज ही किसी दुष्ट पुरुष से छली जा सकती थी। अतः उस समय यह व्यवस्था नारी-हित में थी। आज जब स्त्रियाँ स्वावलम्बी हो गयी हैं, शिक्षित हो गयी हैं, पुरुषों के समकक्ष योग्यता अर्जित कर अनुभव सम्पन्न हो

गयी हैं, उनकी स्वतन्त्रता की सीमा स्वतः प्रसरित हो गयी है। अतः उपर्युक्त कथन को केवल मध्यकालीन नारी की स्थिति का ही बोधक मानना चाहिए। प्रत्येक युग की प्रत्येक की प्रत्येक नारी के विषय में व्यक्त कवि का व्यक्तिगत विचार नहीं।

तुलसीदास को नारी निन्दक सिद्ध करने के लिए जिस उक्ति का सर्वाधिक उपयोग किया जाता है, वह है-

ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी।।

आलोचक इस पंक्ति का अपने पक्ष में उपयोग करते हैं। मगर यह नहीं देखते कि यह उक्ति किस प्रसंग में और किसके द्वारा कही गयी है। इस पंक्ति को प्रसंग से जोड़कर देखना चाहिए। राम के क्रोधित होने के बाद समुद्र अपना मान-अपमान त्यागकर विप्र रूप में राम के चरण पकड़ कर क्षमा याचना करता है। एक अपूर्व, अलौकिक, शक्ति सम्पन्न पुरुष के क्रोध को शान्त करने के लिए विनय करता हुआ जड़ जीव अपनी दीनता प्रदर्शित करने के लिए क्या कुछ नहीं कह सकता है? यह तो मध्य युग की दरबारी संस्कृति का ऐसा दृश्य था जिसे तुलसी ने महसूस किया होगा। प्रभुता-सम्पन्न व्यक्ति के आगे रोता गिड़गिड़ाता, दीन याचक अपनी वाणी से अपनी सात पुश्तों की अवमानना कर लेता है। सिन्धु की इस क्षमा प्रार्थना में कहे गये वचन उसके दैन्य भाव का प्रकाशन करते हैं। उन्हें लेखक का मन्तव्य नहीं मानना चाहिए।

तुलसी के मन में नारी के लिए कोई विद्वेषपूर्ण पूर्वग्रह नहीं था। 'ताड़ना' शब्द का अर्थ 'सुधारना' यहाँ प्रसंगानुकूल प्रतीत होता है, मारना-पीटना नहीं। क्योंकि ढोल के स्वर को लययुक्त बनाने के लिए एक विशेष प्रकार से, विशेष स्थान पर ठोका जाता है। यदि उसे जहाँ-तहाँ मार-पीट कर बजाया जाय तो वह बेसुरी और कर्कश ध्वनि करेगा। तुलसी नारी-ताड़ना (पीटना) के समर्थक होते तो वे अपने पात्रों के व्यवहार से उसे पुष्ट कर सकते थे लेकिन उनके पात्र चाहे दशरथ हों या रावण- अत्यन्त क्रोध, खीझ और दुःख की स्थिति में नारी के लिए अपशब्द तो कहते हैं परन्तु किसी भी अवस्था में नारी पर हाथ नहीं उठाते। इस कथन को तुलसी की विचारधारा मानना उचित नहीं है।

'नारि सहज जड़ अज्ञ' यह अर्द्धाली बालकाण्ड की है। सती को राम के ईश्वर होने में सन्देह हुआ था, उन्होंने यम की परीक्षा सीता का रूप धारण कर ली थी और शिव से यह बात छिपा ली थी। सती को अपनी मूर्खता का ज्ञान हुआ और आत्मग्लानि में उन्होंने उपर्युक्त अर्द्धाली कहा। 'नारि' शब्द यहाँ आत्मव्यंजक है, जाति व्यंजक नहीं।

अनुसूया के द्वारा सीता को दी गई स्त्री-शिक्षा को भी आलोचकों ने तुलसी की विचारधारा मानकर उन पर नारी निन्दा का दोषारोपण किया है। वस्तुतः तुलसी ने मध्यकालीन सामाजिक स्थिति के लिए उपयोगी समझकर उसे प्रस्तुत किया। मध्यकाल के समाज में भोग-लिप्सा और विलासिता अधिक बढ़ गयी थी। नारी के सतीत्व को छलने के लिए नर के अन्दर एक रावण अवसर की ताक में बैठा था। ऐसे विषम वातावरण में नारी को स्वयं अपने पातिव्रत्य की रक्षा करनी चाहिए- इस उद्देश्य से तुलसी ने शास्त्र मत की विस्तृत व्याख्या करते हुए उत्तम, मध्यम, अधम और निकृष्ट चार प्रकार की स्त्रियों की विशेषताएँ वर्णित कीं। 'सहज अपावनि नारि' कहकर अनुसूया ने यज्ञादि धार्मिक कृत्यों में सम्मिलत होने के अधिकार से वंचित नारी की स्थिति का संकेत दिया है।

कतिपय आलोचकों को आपत्ति है कि जब लक्ष्मण को शक्ति लगी तब राम ने भाई के समक्ष पत्नी का मूल्य कम आँका-

जइहौं अवध कवन मुँह लाई। नारी हेतु प्रिय भाइ गँवाई।।

वस्तुतः यह प्रसंग मार्मिकता का व्यंजक है और भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से पूर्ण मनोवैज्ञानिक है। इस सन्दर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत द्रष्टव्य है- ''भाव दशा का तात्पर्य न समझने वाले, नीति के नाम पर पाखण्ड धारण करने वाले इसे चरित्रग्लानि समझेंगे या कहेंगे। पर ऐसे प्रिय बन्धु का शोक, जिसने एक क्षण के लिए भी विपत्ति में साथ न छोड़ा, यदि एक क्षण के लिए सब बातों का विचार छुड़ा देने वाला न होता तो राम के हृदय की वह कोमलता कहाँ दिखलाई पड़ती?... यह कोमलता, यह सहृदयता सब प्रकार के नियमों से परे है।''[2]

नारि सुभाऊ सत्य कवि कहहीं। अवगुन आठ सदा उद रहहीं।।

उपर्युक्त कथन रावण द्वारा कहा गया है। रावण असत् पात्र है, वह तो अनीति का ही प्रतिपादन करेगा। रचनाकार अपना मत असत् पात्र के माध्यम से व्यक्त नहीं करता। मन्दोदरी रावण को नीति की बातें समझा रही थी तब रावण ने उपर्युक्त कथन कहा। रावण ने मन्दोदरी के समझाने पर ध्यान नहीं दिया, इस बात के लिए तुलसी रावण की निन्दा करते हैं-

फूलइ फरइ न बेंत, जदपि सुधा बरषहिं जलद।

मूरख हृदय न चेत, जौ गुरु मिलहि विरंचि सम।।

आलोचक इस दोहे पर ध्यान दें तो स्पष्ट हो जायेगा कि तुलसी मन्दोदरी की बातों का समर्थन कर रहे हैं, रावण का नहीं। यह दोहा किसी पात्र के मुख से नहीं कहलवाया गया, स्वयं तुलसी ने अपना दृष्टिकोण व्यक्त करने के लिए प्रस्तुत किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी को नारी निन्दक मानना ठीक नहीं है। उनके द्वारा कही गई (लिखी गई) पंक्तियों की व्याख्या युग की परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर पात्रों और प्रसंगों की अनुकूलता के आधार पर करनी चाहिए। ऐसा करने पर आलोचकों की यह भ्रान्ति दूर हो जायेगी कि तुलसी नारी निन्दक थे।

तुलसी ने 'रामचरितमानस' में स्त्रियों के प्रति अपने शुद्ध और सद्भावपूर्ण विचारों की अभिव्यक्ति की है। 'मानस' में सीता, कौशल्या, मन्दोदरी, अनुसूया आदि नारियों के माध्यम से तुलसी ने नारी के प्रति अपनी अशेष श्रद्धा समर्पित की है। उन्होंने नारी को अर्चनीया तथा पूजार्ह सिद्ध किया। तुलसी की नारी दृष्टि को समझने के लिए इन्हीं आदर्श चरित्रों का अवलोकन करना चाहिए।

तुलसी की सीता सर्वश्रेयस्करी हैं, सौन्दर्यशालिनी हैं। यह सौन्दर्य 'परमपुनीत' है जो सात्विक भावों के उदय का कारक है। इसलिए तुलसी की सीता को देखकर 'सबहि मनहि मन किए प्रनामा'। तुलसी की कौशल्या 'सब आचरन पुनीत' हैं, अतः तुलसी उन्हें पूर्व दिशा के समान वन्दनीय मानते हैं। 'बन्दौ कौसल्या दिसि प्राची'। तुलसी की पार्वती तो 'मूरतिमंत तपस्या' जैसी हैं। सभी आदर्श नारी पात्रों को तुलसी ने सुमति, सुसीला, पुनीता, जननि कहकर ही सादर सम्बोधित किया है।

अनेक उक्तियों और प्रसंगों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि तुलसी के काव्य में नारी के प्रति उनकी दृष्टि अत्यधिक संवेदनात्मक रही है। मध्यकाल में नारी की स्थिति अत्यन्त दयनीय और शोचनीय थी। पुत्री के जन्म के समाचार से ही माता-पिता सन्तप्त हो जाते थे जबकि तुलसी के मत में कन्या लक्ष्मी है, कन्या का जन्म हर्ष और उल्लास का विषय है, जैसे उमा के जन्म पर-

जब तें उमा सैल गृह आई। सकल-सिद्धि-सम्पत्ति तहँ छाई।

मध्यकाल में विवाह के उपरान्त नारी की स्थिति और भी दयनीय हो जाती थी। तुलसी का मत है कि नारी को पतिगृह में भी वैसा ही प्यार-दुलार और मान-सम्मान मिलना चाहिए, जैसा पितृगृह में मिलता है। राजा दशरथ अपनी रानियों से बहुओं के लिए ऐसा ही व्यवहार करने का आदेश देते हैं-

वधू लरकिनी पर घर आई। राखेहु नयन पलक की नाई॥

मध्यकाल में नारी सर्वाधिक शोषित और प्रताड़ित थी। पुरुष नारी को अपनी आश्रिता अथवा दासी मानने लगा। तुलसी ने नारी की इस स्थिति को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने सर्वत्र स्त्री को पुरुष की सहचरी, अर्धांगिनी और मित्र के समान माना है। सीता के रूप में तुलसी ने उस शक्तिरूपा नारी का चित्रण किया है जो सच्चे अर्थों में पुरुष की सहचरी है। माता-पिता, सास-ससुर की आँखों की पुतली, धरती पर पाँव न रखने वाली सीता आपातकाल में पति के साथ कठोर धरती पर नंगे पाँव चलने के लिए सहर्ष प्रस्तुत हो जाती हैं। सीता की यह तेजस्विनी मूर्ति हर युग की नारी का आदर्श हो सकती है। यही तुलसी की श्रेष्ठ नारी की परिकल्पना है।

तुलसी की नारी सम्बन्धी एक मुख्य वैचारिक दृष्टि जिसका उन्होंने सर्वत्र प्रतिपादन किया है वह यह कि पति को पत्नी की सलाह माननी चाहिए। तुलसी के मत में नारी ही गृहस्थाश्रम की धुरी है। तुलसी ने नारी को पुरुष से अधिक विवेकी, नीतिज्ञ और व्यावहारिक बुद्धि सम्पन्न माना है। जिस पुरुष ने अपनी पत्नी के कथन की उपेक्षा की, उसे तुलसी ने धिक्कारा और फटकारा है। बालि के प्रसंग में वे कहते हैं- 'मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना नारी सिखावन करेसि न काना।' मन्दोदरी भी रावण को समय-समय पर नीतिपूर्ण सलाह देती है। तुलसी उसे 'विरंचिसम गुरू' कहते हैं, स्त्रियों की मति का ऐसा सम्मान और पत्नी की बात को मानने की ऐसी बलवती संस्तुति तुलसी के अतिरिक्त अन्य किसी कवि ने कही है? और क्यों न करते तुलसी, क्योंकि यह तो उनका स्वीकृत सत्य था।

माता के रूप में नारी सर्वथा पूज्य और वन्दनीय है, परन्तु परिवार में माता की अपेक्षा पिता का प्रभुत्व सदैव अधिक रहा है। वाल्मीकि रामायण की कौशल्या पिता की आज्ञा से बँधे राम को रुकने के लिए कहने का साहस नहीं कर पाती। इसके विपरीत तुलसी की कौशल्या राम से आदेशपूर्वक कहती है-

जो केवल पितु आयसु ताता। तो जनि जाहु जानि बड़ माता॥

मध्यकालीन सामाजिक परिवेश में तुलसी का यह कथन अत्यन्त साहसपूर्ण कार्य है। अहल्या प्रसंग तुलसी की नारी के प्रति संवेदनात्मक दृष्टि का उत्कृष्ट उदाहरण है। कथा है कि गौतम ऋषि की पत्नी अहल्या को इन्द्र ने छल से भ्रष्ट किया था। तुलसी अहल्या को निर्दोष मानते हैं जबकि महर्षि वाल्मीकि ने इन्द्र के कुकृत्य में अहल्या की सहमति बताकर उसे दुष्टा प्रमाणित किया। तुलसी ने अहल्या की कथा की पुनरावृत्ति न करके, उसकी लज्जा पर सम्मान का आवरण डालकर नारी-जाति के प्रति अपनी सहानुभूति प्रदर्शित की है।

'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं' मानस की इस प्रसिद्ध अर्द्धाली को स्वतन्त्रता का महत्व समझाने के लिए उद्धृत किया जाता है, परन्तु इसके पूर्वार्द्ध फर कम ही ध्यान दिया गया है। पराधीनता को दुःख की पराकाष्ठा बताने वाली यह पंक्ति पार्वती की विदाई के अवसर पर उनकी माता के द्वारा प्रस्तुत की गई है। वह कहती हैं- 'कत विधि सृजी नारि जग माहीं, पराधीन सुख सपनेहु नाहीं।' हे विधाता, इस संसार में तूने नारी की रचना ही क्यों की? पराधीन व्यक्ति को तो स्वप्न में भी सुख नहीं मिलता और नारी तो आजीवन परतन्त्र ही बना दी गई है। यह माता के पुत्री-वियोग के दुःख की अभिव्यक्ति मात्र नहीं है, यह समस्त नारी-जाति के हृदय का आर्त्तनाद है। इसमें संयुक्त है कवि के संवेद्य हृदय की छटपटाहट जो युगों से पराधीन नारी के जीवन का इतिहास बदल देना चाहता है, जो नारी के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को स्वतन्त्र और विकसित देखना चाहता है। 'कत विधि सृजी नारि जग माहीं' के रूप में तुलसी की नारी विषयक संवेदना और भावुकता की चरम अभिव्यक्ति हुई है।

जो कवि पराधीन नारी की पीड़ा को इतनी आत्मीयता से अनुभूत करता है, जो परिवार में माता को सर्वोच्च स्थान का अधिकारी मानता है, जो पति को पत्नी की सलाह मानने का निरन्तर उपदेश देता है, जो नारी को पति की दासी नहीं वरन सहचरी और मित्र बनाकर प्रस्तुत करता है, उसे नारी निन्दक कैसे माना जा सकता है? तुलसी ने प्रत्येक रूप में नारी को सम्मान दिया है। उनकी संवेदना में अदृष्टपूर्व गहनता और मार्मिकता है। नारी के प्रति उनकी उदात्त भावना और आदर्श परिकल्पना परिलक्षित होती है। अतः तुलसी को नारी-विरोधी या नारी निन्दक कहना वस्तुतः अपनी ही संकुचित दृष्टि का प्रदर्शन करना है।

सूरदास के काव्य में नारी के तीन रूप मिलते हैं- माँ, पत्नी और प्रेयसी।

सूरदास ने यशोदा और देवकी के रूप में माँ के हृदय का भावपूर्ण चित्रण किया है। श्रीकृष्ण के जन्म पर शिशु रक्षा के लिए देवकी विकल हो जाती है। अत्यन्त कातर शब्दों में वह पति से कहती है-

अहो पति, सो उपाइ कछु कीजै

जिहि उपाइ अपनौ यह बालक राखि कंस सौ लीजै॥

वसुदेव जी अपने बालक को गोकुल पहुँचा आते हैं। यशोदा कृष्ण को पालती हैं। यशोदा के मातृ हृदय के वात्सल्य का सूरदास ने इतना मनोरम और भावपूर्ण वर्णन किया है कि आश्चर्य होता है। ऐसा लगता है जैसे सूरदास को मातृ हृदय मिला था। बच्चे को सुलाने के लिए माता का उसे पालने में सुलाना और 'जोइ-सोइ' गाना, सूर के शब्दों में-

जसोदा हरि पालनै झुलावै,

हलरावै दुलराइ मल्हावै, जोइ-सोइ कछु गावै॥

माता की इच्छा पुत्र की उन्नति देखने की होती है-

जसुमति मन अभिलाष करै।

कब मेरौ लाल घुटुरुवनि रेगैं कब धरणी पग डैक धरै

पुत्र को घुटनों चलते देखकर माता को बहुत प्रसन्नता होती है-

चलति देखि जसुमति सुख पावै।

और **सिखवति चलन जसोदा मैया।**

बालक कृष्ण दो-तीन वर्ष का हो गया है। पर माता का दूध अभी तक पीता है। माता चाहती है कि बच्चे की आदत छूट जाय।

जसुमति कान्हहिं यहै सिखावति

सुनहु स्याम अब बड़े भये तुम कहि स्तन पान छुड़ावति

बालक कृष्ण बड़े होते हैं। गोपिकायें यशोदा से कृष्ण की शिकायत करती हैं। पर माता कैसे विश्वास कर ले कि उसका छोटा-सा बालक इतना उत्पात कर सकता है? अतः माता यशोदा अपने पुत्र का पक्ष लेकर गोपियों को झूठा बताने लगीं। पर जब उलाहने आने लगे तब एक दिन बहुत खीझ कर उन्होंने बालक की खबर लेने की ठानी-

कन्हैया, तू नहिं मोहि डरात

षटरस घरे छाँड़ि, कत पर घर, चोरी करि खात।

एक स्थान पर वह गोपी को डाँटती हुई कहती हैं-

तैं जु गँवारि पकरि भुडा याकी बदल दहनौ लपटायौ।

सूरदास ने अपने काव्य में वात्सल्य के इतने चित्र उकेरे हैं कि आचार्य शुक्ल को कहना पड़ा- ''वात्सल्य और श्रृंगार के क्षेत्रों का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बन्द आँखों से किया, उतना किसी और कवि ने नहीं। इन क्षेत्रों का कोना-कोना वे झाँक आये।''[5]

कृष्ण के मथुरा जाने की खबर सुनकर यशोदा को जैसे बिजली मार जाती है-''यशोदा बार-बार यू भाखे''। वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ती हैं। कृष्ण के वियोग में यशोदा इतनी दुःखित हैं कि वह कहती हैं-

नंद! ब्रज लीजै ठोकि बजाय।

देहु विदा मिलि जाहि मधुपुरी जहँ गोकुल के राय॥

''ठोकि बजाय'' में कितनी व्यंजना है। तुम अपना ब्रज अच्छी तरह सँभालो, तुम्हें इसका गहरा लोभ है, मैं जाती हूँ। एक-एक शब्द के साथ हृदय लिपटा हुआ आता दिखाई दे रहा है।

वियुक्त पुत्र को सन्देश भेजती यशोदा का चित्र अत्यन्त मार्मिक बन पड़ा है-

संदेसो देवकी सो कहियो।

हौं तो धाय तिहारे सुत को, कृपा करति ही रहियो।

प्रातः उठत मेरे लाल लड़ैतहि माखन रोटी भावै॥

कृष्ण राजभवन में हैं लेकिन एक माता का हृदय पुत्र के सुख के प्रति निश्चिंत नहीं है। मातृ हृदय का ऐसा अनुभव सूर के ही वश की बात थी।

सूर के काव्य में पत्नी के रूप में नारी का यत्र-तत्र वर्णन कुब्जा और रुक्मिणी के माध्यम से हुआ है। सूर का मन तो राधा

और गोपियों के वर्णन में ही रमा है। राधा कृष्ण की पत्नी नहीं है मगर कृष्ण के जीवन में राधा की भूमिका पत्नी से भी महत्वपूर्ण है। ब्रजनारियों में राधा का महत्वपूर्ण स्थान है। कृष्ण पर उनका विशेष अधिकार है। वे बचपन से ही वाचाल हैं, प्रगल्भा हैं और अपनी चातुरी से कृष्ण को मुग्ध किये हैं।

काहै को हम ब्रज तनि आवति, खेलति रहति आपनी पौरी।

सुन रहत स्त्रवननि नंद ढोटा करत रहत माखन दधि चोरी।।

राधा-कृष्ण के प्रति विशेष अनुरक्त हैं और कृष्ण ने भी उन्हें अपने हृदय में विशिष्ट स्थान दिया है।

पुनि पुनि कहति है ब्रज नारि।

धन्य बड़भागिनी राधा, तेरे बस गिरधारी।।

राधा एक आदर्श गृहिणी के समान हैं। राधा का नारीत्व वियोगावस्था में विशेष रूप में मुखरित होता है। गोपिकायें कृष्ण पर भाँति-भाँति से रोष प्रगट करती हैं लेकिन वहाँ राधा मौन हैं- माानो उनके शब्द ही खो गये हैं। भाँति-भाँति के बहाने बनाकर माँ को बहकाकर कृष्ण मिलन को आने वाली राधा, सखियों से अपना प्रेम छिपाने वाली राधा-कृष्ण को अपनी वाकचातुरी से परास्त व मुग्ध करने वाली राधा इस अप्रत्याशित वियोग से मानों अपनी वाणी खो बैठी। उनकी दशा भी गोपिकायें बताती हैं

अति मलीन वृषभानु कुमारी

हरि स्त्रम जल भीज्यो उर अंचल, तिहिं लालच न धुवावति सारी।

राधा की दशा वियोग में यह हो जाती है कि कृष्ण को रटते-रटते वह स्वयं कृष्ण स्वरूप हो जाती हैं और राधा-राधा रटने लगती हैं।

सूरदास ने वास्तव में जिस नारी को अपने काव्य में सृजित किया वह अनामिका है, असंख्य है (सम्भवतः सोलह हजार) अव्यक्तिगत है, वह केवल गोपी है- 'गोपिका' अथवा ब्रजनारी। सूर की गोपिका सामान्य नारी है। चरित्र विश्लेषण की दृष्टि से देखें तो उनका स्वरूप वैशिष्ट्य एक प्रेमपगी नारी का है। उनका नाम, माता-पिता, घर-द्वार का ब्यौरा आदि नहीं है। उनका अस्तित्व कृष्ण को लेकर है। प्रारम्भ में कृष्ण के प्रति वात्सल्य भाव है जो धीरे-धीरे कृष्ण के कैशोर्य एवं यौवन लाभ करते-करते प्रणय-श्रृंगार में परिवर्तित हो गया है और वहीं स्थिर हो गया है। अब उसमें कोई परिवर्तन नहीं आ सकता। प्रेम भाव का परिणाम है सौतिया डाह, वह उनमें कभी मुरली के प्रति और कभी कुब्जा के प्रति उमड़ता है।

उद्धव जो ज्ञान का सन्देश लाये हैं, उसे भी वे कुब्जा को देने को कहती हैं। उसके प्रति क्रोध, अमर्ष सभी कुछ है जो किसी सपत्नी को ही हो सकता है। निष्फल दाँत पीसने वाला क्रोध भी है-

अब कुबिजा पटरानी कीन्हीं, कूबर पे इतरात।

कहौ तो जाई जहाँ हौं झगरौं, दे कूबर पर लात।।

गोपिकाओं का विशेष महत्व भ्रमर गीत के सन्दर्भ में है। यह सूरदास की विशेषता है कि उन्होंने गोपिकाओं के माध्यम से सहज ढंग से निर्गुण, ज्ञान, योग आदि का खण्डन किया है। गोपिकाओं की उद्धव से शिकायत है कि वे युवतियों को योग सिखाने आये हैं? 'जोग' और 'जुवती' गोपिकाओं के शब्दकोश में विपरीतार्थक शब्द हैं। गोपिकाओं की दृष्टि में तो नारी का विशेषतः या युवती का एक ही कार्य है- श्रृंगार क्ररना और प्रेम करना। गोपिकायें अनेक स्थलों पर कृष्ण को 'प्रियतम' कह उठती हैं- 'हमरे प्रीतम तुम जु लै गये' आवन कहयो रिपु जीति। वहाँ सूनी सेज की चर्चा भी है-

मधुकर प्रीति किए पछतानी

सूनीसेज सुहाई न हरि बिनु जागत रैन बिहानी

अपनी आस्था के प्रदर्शन में ब्रजवनितायें अप्रतिम हैं। गोपिकायें कृष्ण की वल्लभियाँ हैं, कृष्ण उनके प्राण प्यारे प्रेमी और पति दोनों हैं। अतः वे व्यथा के क्षणों में, वियोग में कृष्ण पर पैने से पैना आक्षेप करती हैं। कृष्ण द्वारा वे बुद्धू बनाई गई हैं और वे उद्धव को बुद्धू बनाती हैं। गोपिकायें उद्धव से पूछती हैं- ' उद्धव 'सूर' स्याम जब तुमहिं पठाये, तब नैकहुँ मुसकाने?' और क्या कहें- वह मथुरा ही काजर की कोठरी है-

वह मथुरा काजर की कोठरि जे आवै ते कारे।

तुम कारे सुफलतक सुत कारे, कारे कुटिल भँवारे

वियोगिनी गोपियाँ अपने उजड़े हुए नीरस जीवन के मेल में न होने के कारण वृन्दावन के हरे-भरे पेड़ों को कोसती हैं-

मधुवन तुम कत रहत हरे?

बिरह वियोग स्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे?

इसी प्रकार रात उन्हें साँपिन सी लग रही है-

पिया बिनु साँपिन कारी राति।

गोपियों को उद्धव एक ठग और धूर्त के रूप में दिखाई पड़ते हैं-

आयो घोष बड़ौ व्यापारी।

लादि खेप यह ज्ञान जोग की ब्रज में आय उतारी।

फाटक दै के हाटक माँगत मोरी निपट सु धारी।।

सूरदास की गोपियाँ कितनी चतुर हैं? इस पद से यह पता चल जाता है। सूर की गोपियाँ प्रेम-रस में डूबी हुई हैं। वे उद्धव को उल्टा समझाती हैं कि विरह से भी प्रेम की पुष्टि होती है, वह पक्का होता है- 'उधौ बिरहौ प्रेम करै।' कहा भी जाता है कि विरह जागरण है और सुषुप्ति मिलन। सूर की गोपियाँ निश्चित रूप से प्रेम के अनुभव से युक्त हैं। उन पर ज्ञान-योग का सन्देश प्रभाव नहीं डाल सकता है। अन्ततः गोपियाँ कह उठती हैं-

निर्गुन कौन देस को वासी

मधुकर! हँसि समझाय, सौंह दै बूझति साँच न हाँसी।

स्त्रियों के तमाम हावभाव भरे ये वचन हैं। कुछ विनोद, कुछ चपलता, कुछ भोलापन, कुछ घनिष्ठता जैसी बातें इस छोटे से वाक्य से टपकती हैं। सूर की गोपिकायें मात्र गोपिका नहीं हैं- वे नारी हैं प्रणयिनी एवं प्रणय प्रवंचिता। कृष्ण ने उन्हें धोखा दिया। जागरूक होते ही गोपिकायें चैतन्य हो उठती हैं अपने व्यक्तित्व के प्रति, कृष्ण के चरित्र के प्रति। वे प्रताड़ित, शोषित, अपमानित-प्रबन्धित मानता की प्रतिक्रिया का बहुत सुन्दरपरिचय देती हैं। गोपिकायें मध्ययुगीन हैं पर सूर का काव्य आधुनिक चेतना सम्पन्न है। जो नारी वहाँ बोल रही है, वह मध्ययुगीन न होकर आधुनिक लगती है। वह हर स्थिति को स्वीकार नहीं कर सकती। वह विशेषण द्वारा, विवेक द्वारा सत्य को तराशती है और प्रवंचक को व्यंग्य बाणों से छेद डालती है। वह यथार्थ की जिज्ञासु है, यथार्थ की शोधक है और यथार्थ को ही स्वीकार करती है।

गोपियों के प्रेम को आचार्य शुक्ल मर्यादा के उल्लंघन के कारण बहुत ठीक नहीं मानते हैं, यद्यपि वे प्रेम के स्वरूप और तन्मयता की बड़ाई करते हैं। अनेक विद्वानों के अनुसार गोपियों का प्रेम सामंती व्यवस्था के प्रति विद्रोह है। वस्तुतः सूर की गोपियाँ स्वाभिमानी हैं। जिस प्रेमी ने उनका हृदय भंजित किया, उनसे ऐसा कटु मजाक किया, उसके प्रति चुटीला हृदय मौन नहीं रहेगा। वो जितना डूबकर प्यार कर सकती हैं उतनी ही तड़पकर चोट भी कर सकती हैं।

सूरदास का गोपिका वर्णन अप्रतिम है। उसमें जो नारी चित्रित है, वह युग काल की सीमाओं को रौंदकर प्रतिष्ठित है। उस नारी ने अपने व्यक्तित्व को विभाजित किया हुआ है। उसका घर, परिवार, पति, पुत्र एक तरफ है तथा उसका प्यार एक तरफ। पहला उसका व्यावहारिक यथार्थ है तो दूसरा उसका भावात्मक यथार्थ। सूर ने गोपियों के मनोभावों का जिस प्रकार विविधतापूर्ण वर्णन किया है। वर्णन में ग्राम जीवन और कृषि जीवन से नारी सम्बन्धित जितने प्रसंग सूर ने लिये हैं, राधा और गोपियों के संयोग-वियोग दशाओं के हाव-भाव का जो वर्णन किया है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि सूरदास को केवल मातृ हृदय ही नहीं बल्कि स्त्री हृदय मिला था। अपने काव्य में एक साथ माता, पत्नी, प्रेयसी आदि के रूपों में नारी का जो सजीव वर्णन सूर ने किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। नारी की यह दीप्ति हिन्दी-साहित्य में सूर की नारी में ही चमकी और चमक कर लुप्त हो गई।

विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि सूर और तुलसी दोनों ने ही अपने काव्य में नारी को प्रतिष्ठित किया है। सूर ने नारी के विषय में सीधे-सीधे अपना विचार तो नहीं व्यक्त किया है लेकिन उनके काव्य से नारी विषयक उनके दृष्टिकोण का पता चल जाता है। सूर के काव्य में नारी के विविध रूपों- माता, पत्नी, प्रेयसी का दर्शन होता है और हमारी श्रद्धा उन नारी पात्रों के प्रति हो जाती है। तुलसी ने अपने काव्य में कहीं-कहीं सीधे-सीधे नारी विषयक दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किया है और उसे प्रतिष्ठित किया है। उन्होंने एक तरफ कैकेयी, मंथरा, शूर्पणखा के माध्यम से बुरी नारी का विरोध किया है वहीं दूसरी तरफ सीता, कौशल्या, मन्दोदरी आदि आदर्श नारी के प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित की है। सूरदास और तुलसीदास दोनों के काव्य में नारी को गरिमामय स्थान प्राप्त है और दोनों ही नारी की स्वतन्त्रता के समर्थक हैं।

सन्दर्भ

1. नैवेद्य, प्रो. यदुवंश राम त्रिपाठी, पृ. 93
2. वही, पृ0 93
3. वही, पृ0 98
4. गोस्वामी तुलसीदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ0 61
5. सूरदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ0 9

●

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में मन्नू भण्डारी के उपन्यासों की प्रासंगिकता

नेहा यादव एवम् प्रो. राधेश्याम राय* **

मन्नू भण्डारी का जन्म 3 अप्रैल सन् 1931 को मध्य प्रदेश में स्थित भानपुरा नामक छोटे से गाँव में हुआ। इन्होंने एम.ए. तक शिक्षा प्राप्त किया। इन्हें लेखन संस्कार पिता श्री सुखसम्पत राय भंडारी से पैतृक दाय में मिला। वर्षों दिल्ली विश्वविद्यालय के मिरांडा हाउस में हिन्दी प्राध्यापिका के रूप में कार्य किया। विक्रम महाविद्यालय उज्जैन में प्रेमचन्द सृजनपीठ की अध्यक्षा रहीं।

साहस और बेबाक बयानी ने मन्नू भण्डारी को हिन्दी कथा-साहित्य में एक विशिष्ट स्थान दिया गया है। वह नैतिकता-अनैतिकता से परे होकर यथार्थ को उन्होंने निभ्रांत निगाहों से देखा जाना उसे समझा तथा उन्हें हमेशा नयी और आधुनिक बताती है।

उनकी कहानी 'यही सच है' पर बनी फिल्म 'रजनीगंधा', 'एखाने आशनाई' पर 'जीना यहाँ' और 'स्वामी' ने जहाँ फिल्मों को नया धरातल दिया है वहीं उपन्यास 'महाभोज' ने नाटक के इतिहास को एक नया मोड़ दिया।

मन्नू भण्डारी का कथा संग्रह

उपन्यास- एक इंच मुस्कान, आपका बंटी, स्वामी, महाभोज।

कहानी संग्रह- मैं हार गई, तीन निगाहों की एक तस्वीर, एक प्लेट सैलाब, यही सच है, त्रिशंकु।

नाटक- बिना दीवारों का घर।

आत्मकथा-एक कहानी यह भी है।

मन्नू भण्डारी की कुल तीन औपन्यासिक कृतियों में से पहली कृति 'एक इंच मुस्कान' जो उनके पति एवं प्रसिद्ध साहित्यकार राजेन्द्र यादव के साथ एक सहयोगी रचनात्मक प्रयास है। जबकि परवर्ती दो उपन्यास 'आपका बंटी' और 'महाभोज' उनकी निजी एवं मौलिक कृतियाँ हैं। इन तीनों उपन्यासों में युग और जीवन की भिन्न-भिन्न समस्याओं को कथांकित किया गया है। **एक इंच मुस्कान** उपन्यास की अन्तर्वस्तु एवं समस्यायें जहाँ साहित्यिक एवं कलाकार जीवन के दाम्पत्य तथा पारिवारिक मूल्यों और दर्शन को पाने का एक विमर्शपूर्ण प्रयास है, वही **आपका बंटी** भी भिन्न परिवेश एवं दृष्टिकोण से आधुनिक दाम्पत्य और परिवार के स्वरूप तथा सम्बन्धों को ही, विवाह की प्राकृतिक परिणति संतान को केन्द्र में रखकर देखने का सुझावपूर्ण प्रयास करता है। तुलनात्मक रूप से देखा जाय तो **एक इंच मुस्कान** का अमर, रंजना और अमला संतानविहीन दाम्पत्य की परिस्थितियों को जीने वाले चरित्र हैं। **आपका बंटी** एक यथार्थ प्राकृतिक प्रश्न के रूप में अहं एवं स्वातंत्र्यवादी दम्पत्तियों की स्वतंत्रता की अवधारणा को सीमित और खारिज करते दीखता है। मात्र **'महाभोज'** ही एक राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं से सम्बद्ध उपन्यास है।

'एक इंच मुस्कान' सहयोगी औपन्यासिक प्रयास होने के बावजूद 'एक इंच मुस्कान' समस्यात्मक दृष्टि से अत्यंत ही रोचक एवं विचारपूर्ण उपन्यास है। यह उपन्यास अतिरेकपूर्ण कला जीविता एवं यथार्थ के धरातल पर टिके गृहस्थ-जीवन और प्रेम के बीच जीवन की सच्चाईयों को खोजने और पाने का प्रयास करता है। एक और समस्या जिसकी ओर किसी भी आलोचक या विचारक का ध्यान नहीं गया है, वह यह है कि बीसवीं शताब्दी के मध्य तक आते-आते पाश्चात्य 'माडल' का कलाकार-जीवन, पाश्चात्य साहित्यकारों एवं कलाकारों की भाँति विशिष्ट उन्मुक्तताओं की माँग करने लगा था, जिसके वास्तविक उदाहरण राहुल सांकृत्यायन तथा अज्ञेय आदि के जीवन में देखा जा सकता है। स्वयं राजेन्द्र एवं मन्नू के समकालीन मोहन राकेश के जीवन में भी कुछ ऐसा घटित हो चुका था।

'एक इंच मुस्कान' उपन्यास की सफलता यह है कि वह इन प्रवृत्तियों को कथा का व्यापक फलक एवं विन्यास देकर कुछ सामान्य एवं सर्वकालिक निष्कर्षों को पाने का प्रयास करता है। इस दृष्टि से अमला के विचार एवं दृष्टिकोण विशुद्ध कलाकार को जीवन जीने के लिये विशिष्ट जीवन-शैली एवं सामाजिक विशेषाधिकार की माँग करते हैं।

अमला का यह कथन है कि- **मैं यही सोच रही थी कि अब तुम शादी कर लोगे....फिर तुम्हारा परिवार होगा...बच्चे होंगे जिम्मेदारियाँ होंगी....सब होगा और तुम कला से दूर होते चले जाओगे, हटते जाओगे। शायद हर बाधा और मुसीबत के समय सोचेगे कि इसके समाप्त होते ही तुम अपनी कला-साधना में लगोगे...लेकिन जिम्मेदारियाँ घातक हैं- वह मुक्त प्राणी है...।** यह उद्धरण उपन्यास की इसी केन्द्रित समस्या की ओर संकेत करता है। एक समस्यात्मक चरित्र के रूप में अमला का जीवन एवं उसकी आत्महंता परिणति पाश्चात्य जीवन-शैली के अन्धानुकरण पर आधारित भारतीय नारी स्वातंत्र्य की अवधारणा में निहित है।

*शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

** हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

इस उपन्यास में रंजना के विफल दाम्पत्य की समस्या उसके 'प्लेटोनिक' (अव्यवहारिक) प्रेम का जीवन की वास्तविकताओं से टकराव के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। दाम्पत्य प्रेम में एक निष्ठावादी रंजना का असामंजस्य इसलिए भी बढ़ता जाता है कि उसके दाम्पत्य की अवधारणा में एक कलाकार के सामाजिक जीवन एवं सम्बन्धों को कोई स्थान नहीं है। रंजना की मानसिकता पर टिप्पणी करते हुए अमर का यह कथन ध्यातव्य है- **ऐक्टर हुए, नेता हुए, संगीतज्ञ या लेखक यहाँ तक कि प्रोफेसर भी, इन सबके व्यक्तित्व का सामाजिक पक्ष ही तो उन्हें विशिष्ट बनाता है न। अब यह कैसे बनाया जा सकता है कि इनके प्रशंसकों, विद्यार्थियों या अनुगामियों में केवल पुरुष ही होंगे- महिलायें होंगी ही नहीं ? या अगर महिलायें हुई भी तो उनसे सिर्फ अछूतों जैसा व्यवहार करने की आज्ञा रहेगी- कहीं पास न आ जाये? परेशानी यही तो है कि उसके अनुसार आदर्श पति दफ्तर में काम करता है और दफ्तर में लड़कियाँ होती नहीं ....?**

सामाजिक परिवर्तन और पेशों से जुड़ी सामंजस्य, स्वीकृति तथा सोच परिवर्तन की इन्हीं युगीन आवश्यकताओं की ओर संकेत करती है। इस दृष्टि से रंजना का चरित्र परम्परावादी नारी के रूप में चित्रित होकर भी अपनी विफलताओं के धरातल पर सोद्देश्य एवं समस्यात्मक है। इसी बिन्दु पर राजेन्द्र यादव का यह वक्तव्य सार्थक है कि- ''**वस्तुतः रंजना और अमला, अमर के निकट दो सम्पर्क नहीं, दो स्वतंत्र मूल्य है और इन मूल्यों की संगति का निरूपण ही अमर का आभ्यांतरिक द्वन्द्व है।**'' स्वयं राजेन्द्र यादव इस उपन्यास के अमर को 'संक्रान्ति' कालीन बुद्धिजीवी की ट्रेजडी और व्यक्तित्व का स्खलन के शिकार प्रतिनिधि साहित्य के रूप में देखते हैं। उनके अनुसार यह उपन्यास ''एक प्रबुद्ध व्यक्ति के आत्मान्वेषण की सफल या असफल प्रक्रिया थी तथा अमर की पराजय एक व्यक्ति की नहीं बल्कि एक पीढ़ी की है, जो राह खो जाने की व्याकुलता में भटक गई है।

इस उपन्यास में मन्नू भण्डारी ने निम्न समस्याओं की ओर संकेत किया है। इसमें प्रेम के तलाश की समस्या, दाम्पत्य जीवन में सामंजस्य न बिठा पाने की समस्या, दाम्पत्य के यथार्थ तलाश की समस्या, रचनात्मक व्यक्तित्व के आत्मान्वेषण की समस्या और अहंजीवी अमला के माध्यम से उच्च वर्ग की समस्याओं की ओर संकेत किया गया है।

अमला अपने पति के साथ सामंजस्य न बिठा पाने के कारण उसके द्वारा परित्यक्त होती है। अमला स्वतंत्र सिद्धान्तवादी उन्मुक्त वातावरण में पली आकर्षक नारी है परन्तु विषम परिस्थितियों के फलस्वरूप वह प्रतिक्रियावादी बन जाती है। अपनी अहम भावना के कारण वह किसी पुरुष को समर्पण नहीं करती, इस कारण वह तनावपूर्ण जीवन जीने को विवश है। लेखक ने अमला के माध्यम से परम्परागत दाम्पत्य-जीवन का अप्रत्यक्ष संकेत नये समाज को दिया है।

यद्यपि हम यह कह सकते हैं कि आधुनिक भारतीय नारी को जब इस बात का अहसास हो जाता है कि उसके पति का प्रतिरागात्मक सम्बन्ध सहज और सरल नहीं है, तब वह साहसी नारी की तरह इस सम्बन्ध का परित्याग कर देती है। इस उपन्यास में मन्नू भण्डारी ने समसामयिक सच्चाई को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया है। अतः इस उपन्यास में व्याप्त समग्र समस्यायें आज भी हमारे समाज में कहीं न कहीं उद्घाटित या व्याप्त है।

'**आपका बंटी**' एक सशक्त सामाजिक उपन्यास है। इसमें बंटी नाम के बाल पात्र के मनोविज्ञान के विश्लेषण द्वारा लेखिका ने शिशु-समाज को भी उपन्यास-साहित्य में पूर्ण रूप से जीवन्त कर दिया है।

'आपका बंटी' में मन्नू भण्डारी ने आधुनिक शिक्षित पति-पत्नी के अहं और द्वन्द्व का शिकार 'बंटी' की समस्या को उठाया है जो हमारे समाज की एक सर्वथा नवीन समस्या है। यह अपने ढंग का अकेला उपन्यास है। 'बंटी', 'शकुन' और 'अजय' की संतान है। शकुन और अजय दाम्पत्य-जीवन के तनाव के कारण सम्बन्ध-विच्छेद कर लेते हैं। 'अजय' 'मीरा' के साथ रहने लगता है। शकुन एक डॉक्टर साहब से जुड़ जाती है। बंटी को शकुन अपने साथ ले आती है। पति-पत्नी तो अपने जिन्दगी के बिरवे को नये सिरे से रोप लेते हैं, लेकिन बंटी कभी भी डॉक्टर को अपना 'पापा' नहीं समझ पाता। वह निरन्तर उपेक्षित अनुभव करता है। उसकी समस्या बेहद जटिल है। वह चिड़-चिड़ा और जिद्दी हो जाता है। मुक्ति के लिए अपने पापा के पास कलकत्ता आता है, किन्तु यहाँ भी वह अपने को अजनबी पाता है। 'मीरा' को वह अपनी मम्मी नहीं मान पाता। आज के मध्यवर्गीय समाज में तलाक की समस्या ने अनेक आनुषंगिक समस्याएँ उत्पन्न की हैं। इनमें सबसे जटिल समस्या तलाकशुदा दम्पतियों के बच्चों की है। मन्नू भण्डारी ने बंटी के मनोविज्ञान का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है। कुछ आलोचकों को बंटी की मनोवैज्ञानिकता का अंकन बहुत कुछ किताबी प्रतीत हुआ है। हो सकता है, बंटी की मानसिकता का सूक्ष्म विश्लेषण विश्वसनीयता का अतिक्रमण कर गया हो, किन्तु उसकी समस्या, उसका दर्द, उसका अकेलापन, उसका बिखराव क्या हमें झकझोर नहीं देता ?

शकुन-अजय के सम्बन्धों की टकराहट में सबसे अधिक पिसता बंटी ही है। शकुन और अजय तो आपसी तनाव की असहनीयता से मुक्त होने के लिए एक-दूसरे से मुक्त हो जाते हैं, लेकिन बंटी क्या करे ? वह तो समान रूप से दोनों से जुड़ा है। शकुन चक्की पीस-पीसकर बेटे का जीवन बनाने में अपने आपको स्वाहा कर देने वाली माँ नहीं थी, बल्कि स्वतंत्र व्यक्तित्व, आकांक्षाएँ और आजीविका के साधनों से तृप्त माँ थी। इस नारी और माँ के आपसी द्वन्द्व का अध्ययन ही शकुन को उसका वर्तमान

रूप देता है। शकुन बंटी को माध्यम बनाकर अजय से प्रतिशोध लेती हो या बंटी में तन्मय होकर अपनी सार्थकता तलाश करती हो, उसे कभी हथियार के रूप में इस्तेमाल करती हो या कभी अपने एकाकी जीवन के आधार के रूप में...। इस पूरी स्थिति की सबसे बड़ी विडम्बना ही यह है कि इन सम्बन्धों के लिए सबसे कम जिम्मेदार और सब ओर से बेगुनाह बंटी ही इस ट्रैजडी के त्रास को सबसे अधिक भोगता है।

शकुन की यातना और अकेलापन एक ऐसा अभिशाप है जो उसकी स्वाधीनता को बांझ बना देना चाहता है। शकुन अपने अकेलेपन और यातना के बीच अपनी स्वतंत्रता के बंध्या हो जाने की पीड़ा और व्याकुलता झेलती है। 'आपका बंटी' परम्परागत किस्म के सम्बन्धों की कथा होते हुए भी विद्रोही तेवर और क्रांतिकारी अन्तर्वस्तु की सम्भावनाओं से युक्त है।

'आपका बंटी' की मुख्य समस्या विभिन्न स्तरों पर अकेलेपन से निस्तार पाने और जीवन के साथ सामंजस्य स्थापित करने की अकुलाहट है। आज के मनुष्य का आन्तरिक संकट इस उपन्यास में बड़ी सशक्तता के साथ उभरा है और आज के जीवन में व्याप्त तनाव, रिक्तता, उदासी और परिस्थितिजन्य विवशता के कारण भीतर ही भीतर टूटते चले जाने की नियति व्यापक सामाजिक सन्दर्भों में व्यक्त हुई है। यद्यपि बंटी किन्हीं दो-घरों में नहीं, आज के अनेक परिवारों में सांस ले रहा है- अलग-अलग रूप में तथा भिन्न-भिन्न स्थितियों में। लेकिन एक बात मुझे इन बच्चों में समान लगी और वह यह है कि ये सभी फालतू गैर-जरूरी और अपनी जड़ों से कटे हुए हैं। हिन्दी का यह पहला उपन्यास है जिसमें एक विशेष परिस्थिति में पड़े हुए बच्चे की मनःस्थिति का इतने विस्तृत फलक पर चित्रांकन किया गया है। बंटी आधुनिक युग के लिए एक चुनौती बनकर खड़ा है।

'महाभोज' एक राजनीतिक उपन्यास माना गया है। इसका परिवेश वैयक्तिक या पारिवारिक न होकर सामाजिक है। 'बिसेसर' नामक एक पिछड़ी जाति के युवक की हत्या हो जाती है। इस 'हत्या' का राजनीतिक लाभ पदासीन मुख्यमंत्री 'दा साहब' और पदच्युत मुख्यमंत्री 'सुकुल बाबू' दोनों उठाना चाहते हैं। हत्या 'दा साहब' के समर्थक और सहयोगी जमींदार 'जोरावर' ने कराया है। इसलिए वे इस मामले को ठंढा करना चाहते हैं। इसके विपरीत सुकुल बाबू इसे उभाड़कर जनता की सहानुभूति प्राप्त करना चाहते हैं। दोनों अपनी-अपनी गोटी फिट करने में लगे हैं। इसलिए वे इस मामले को ठंढा करना चाहते हैं। लेखिका ने वर्तमान व्यवस्था की खामियों को खुलकर उजागर किया है। उपन्यास में ग्रामीण परिवेश के चित्रण और वहाँ घटित होती हुई परिवर्तन की प्रक्रियाओं के विश्लेषण में खामी हो सकती है किन्तु व्यवस्था-पोषक राजनीति और उसके चलते होने वाले सामाजिक उत्पीड़न को बेनकाब करने में लेखिका ने साहस का परिचय दिया है।

यहाँ महाभोज का आइना घूमते-घूमते भारतीय जनता की भीरूता, दयनीयता और उसके आदर्श तक जाता है कि जब तक यथार्थ से भिड़ने की हिम्मत पैदा नहीं होती, तब तक बदहाली और अन्याय का समाधान नहीं है। 'महाभोज' मन्नू भण्डारी का नवीनतम उपन्यास है जिसमें वह अपने पूर्ववर्ती उपन्यासों की कथा-संवेदना और कथन-शैली का अतिक्रमण करती हुई दिखायी देती है। यह उपन्यास सीधे राजनीति तंत्र और प्रपंच पर लिखा गया है। अतः इसमें संकेतित दोनों विधाओं राजनीतिक से प्रभावित एवं उपन्यास में राजनीति के चित्रण का सम्मिश्रण मिलता है।

महाभोज उपन्यास में राजनीति द्वारा मानव मूल्यों व नैतिकता के ह्रास की समस्या प्रमुख रूप से उभरकर सामने आयी है। महाभोज उपन्यास में सम्पूर्ण राजनीतिक पृष्ठभूमि एक भयावह वीभत्स समस्या के रूप में प्रगट होती है, जो लगातार मानव-जीवन का, उसके मूल्यों और विश्वासों का उसकी नैतिकता का क्षय करती और साथ ही मानवीयता के सम्बन्धों का गला घोटती है। हिन्दी साहित्य में बहुत कम ऐसे उपन्यास हैं जो राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में वर्तमान व्यवस्था एवं समाज का अनावृत्त चेहरा प्रस्तुत करते हैं। इस उपन्यास में राजनीतिक स्तर पर होने वाले मानवीय जीवन का खिलवाड़ मन में न केवल एक क्षोभ, आक्रोश उत्पन्न कर देता है, अपितु स्थिति की वीभत्सता को नग्न रूप में उभारकर एक प्रकार की कडुवाहट और पीड़ा पाठकों के मन में घोल देता है। इस उपन्यास के पात्रों के द्वारा हमें राजनीतिक वर्ग-चेतना का आभास हो जाता है।

अतः इस प्रकार 'महाभोज' उपन्यास आद्यन्त तत्कालीन राजनीतिक वातावरण का प्रतिरूप पाठकों के समक्ष उजागर कर देता है। इसमें वास्तविकता है, विश्वसनीयता है, और वर्णनात्मक सूक्ष्मता भी। इस उपन्यास में राजनीतिक परिप्रेक्ष्य के समक्ष वर्तमान व्यवस्था एवं समाज का नग्न ढाँचा प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि इस उपन्यास में स्वार्थलोलुपता तथा नैतिकता का पतन व मानवाधिकारों का हनन तथा मानवीय मूल्यों का ह्रास अपनी चरम सीमा पर है। अतः ऐसी समस्याएँ हमारे आज के वर्तमान समय में भी कहीं न कहीं आज भी विद्यमान है, जो मानवीयता का गला घोंटकर अपने स्वार्थों की पूर्ति करते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1- मन्नू भण्डारी का कथा साहित्य- दिवाकर सिंह, पृ0 1

2- वही, पृ0 57

3- वही, पृ0 58

4- वही, पृ0 59

5- एक इंच मुस्कान, मन्नू भण्डारी, राजपाल एण्ड सन्स प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2016, पृ0 41

6- एक इंच मुस्कान, राजेन्द्र यादव, मन्नू भण्डारी, पृ0 172

7- मन्नू भण्डारी का कथा साहित्य, दिवाकर सिंह, पृ0 60

8- वही, पृ0 61
9- वही, पृ0 44
10- वही, पृ0 61
11- हिन्दी का गद्य साहित्य- डॉ0 रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, नवम् संस्करण 2014, पृ0 262
12- वही, पृ0 263
13- आपका बंटी, मन्नू भण्डारी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, छबीसवाँ संस्करण 2016, पृ0 7
14- वही, पृ0 27
15- हिन्दी का गद्य साहित्य, डॉ0 रामचन्द्र तिवारी, पृ0 264
16- मन्नू भण्डारी का कथा साहित्य, दिवाकर सिंह, पृ0 53

●

जनकल्याण हेतु अशोक द्वारा नियुक्त दक्ष अधिकारी तन्त्र की भूमिका (एक अभिलेखीय अध्ययन)

कृष्णा सिंह एवम् प्रो. सुमन जैन* **

प्राचीन भारत के ग्रन्थकारों ने राजा के शासन को पितृवत् माना है। प्रजा का 'पिता' या अभिभावक होने के नाते राजा को बहुत भारी उत्तरदायित्त्व सौंपे गये थे। अर्थशास्त्र के प्रणेता कौटिल्य को ये शब्द बहुत अच्छे लगते थे- ''राजा को अपनी प्रजा की रक्षा अपने संतान की तरह करना चाहिए।''[1] प्रियदर्शी, मगध के राजा[2] अशोक महान ने भी अपने **प्रज्ञापनों** में कहा है- ''सभी मनुष्य मेरी प्रजा (सन्तान के समान) है। जिस प्रकार मैं संतान के लिए कामना करता हूँ कि वह सभी इहलौकिक व पारलौकिक हित व सुख को प्राप्त करे, उसी प्रकार सभी मनुष्यों के लिए भी कामना करता हूँ।''[3] लोकोपकार की इस कामना की पूर्ति राजा अकेले नहीं कर सकता था। अतः मौर्य युग में प्रशासन के अन्य कार्यों के साथ ही प्रजाहित में, सम्राट अशोक के शासनकाल में, विशेष रूप से सार्वजनिक हित के लिए अनेक राजकीय पदाधिकारियों तथा उनके अधीन कर्मचारियों की नियुक्ति की गई, जिस पर आचार्य चाणक्य की सहमति भी प्रकट होती है। चाणक्य के अनुसार 'एक पहिये की गाड़ी की भाँति राजकाज भी बिना सहायता-सहयोग के नहीं चलाया जा सकता है। इसलिए राजा को चाहिए कि वह सुयोग्य अमात्यों की नियुक्ति कर उनके परामर्शों को हृदयंगम करे।'[4] इस आदर्श भावना के अंतर्गत सम्राट अशोक ने अन्य प्रशासनिक कार्यों के साथ ही अपनी प्रजा के कल्याण व सेवा में विशेष अधिकारियों की नियुक्ति की थी जिसका स्पष्ट प्रमाण अशोक के अभिलेखों से प्राप्त होता है।

जनकल्याणकारी कार्य का सामान्य अर्थ हम उस सेवा, सुविधा, व्यवस्था, लाभ या कार्य से लगा सकते हैं, जो जनता के लिए विशेष उपयोगी या कल्याणकारी हो। दूसरे शब्दों में, जनकल्याणकारी कार्यों से तात्पर्य उन सभी प्रयत्नों से है जिनका उद्देश्य सार्वजनिक हित करना है।

अशोक के राजकीय पदाधिकारियों में 'महामात्र' तथा 'राजुक' सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। केन्द्रीय प्रशासन विशेष अधिकारियों के अधीन विभिन्न कार्यालयों द्वारा चलाया जाता था, जिसमें ये अधिकारी अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखते थे और सार्वजनिक हित के अनेक कार्यों के लिए जिम्मेदार थे। सम्राट अशोक ने प्रजा में शुद्ध नैतिक जीवन का प्रचार करने तथा उसका (प्रजा) नैतिक व भौतिक स्तर ऊँचा करने के लिए अपने शासनकाल के तेरहवें वर्ष में 'धर्ममहामात्र'[5] नामक नए पदाधिकारियों की नियुक्ति की। इनकी नियुक्ति अशोक के शासन की नवीनता थी। सम्राट अशोक ने केवल 'महामात्र' नाम के अधिकारियों का जिक्र भी कुछ प्रज्ञापनों में किया है। वस्तुतः अशोक ने इस शब्द का प्रयोग कई तरह के कर्मचारियों के लिए किया है।[6]

लेखों में धर्म-दान से सम्बन्धित विभाग के प्रमुख या इंचार्ज धर्ममहामात्र (**5वाँ शिलालेख**), स्त्रियों से सम्बन्धित कार्यों के प्रमुख स्त्री-अध्यक्ष महामात्र, (12वाँ शिलालेख) सीमांत के इंचार्ज अंत-महामात्रों (प्रथम स्तंभ लेख) का उल्लेख मिलता है। राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार जहाँ सिर्फ महामात्र शब्द का बिना किसी पूर्वपद के इस्तेमाल हुआ है, उसका तात्पर्य मंत्री से है **(धौली पृथक कलिंग लेख व प्रथम लघु शिलालेख)**।[7] 'महामत्त या महामात्र' को कई बार मंत्रिपरिषद या सलाहकारी समिति के लिए भी प्रयोग किया गया है।[8] राधाकुमुद मुकर्जी का कहना है कि महामात्र मंत्रीपरिषद् के सदस्य भी होते थे।[9] वास्तव में महामात्र पदाधिकारियों का एक बहुत अच्छा जिम्मेदार संगठन था जो ऊँचे पदों पर कार्य करता था। विभिन्न स्रोतों में कई प्रकार के अधिकारियों को महामात्र का नाम दिया गया है। अभिलेखों के अध्ययन से ऐसा लगता है कि यह शब्द किसी भी उच्च अधिकारी के लिए प्रयोग में लाया जा सकता था, चाहे उसका काम किसी भी प्रकार का हो। इनके कई तरह के काम थे। केन्द्र और वाइसराय दोनों इन्हें दौरों पर भेजते थे। ये अन्य प्रशासकीय कार्यों के अतिरिक्त जनकल्याण के बहुत से कार्यों के प्रति जिम्मेदार थे। स्ट्रैबो ने मेगस्थनीज का यह उद्धरण दिया है कि ''सातवीं जाति में राजा के पार्षद व कर निर्धारक आते हैं। सरकार के उच्चतम पदों, न्यायाधीश तथा सार्वजनिक मामलों के सामान्य प्रशासन हेतु नियुक्तियाँ इन्हीं में से की जाती है।'' एरियन ने लिखा है-''सातवीं जाति में राजा को सलाह देने वाले पार्षद और स्वशासी नगरों में सार्वजनिक मामलों का प्रबंध करने वाले अधिकारी आते हैं। यह अल्पसंख्यक जाति है परंतु बुद्धिमानी तथा न्याय के लिए प्रसिद्ध है।''[10] रोमिला थापर का कहना है कि ये कथन (उपर्युक्त) दूसरे स्रोतों से प्राप्त महामत्तों के विवरण से मेल खाते हैं और सातवीं जाति के पार्षदों से मेगस्थनीज का अभिप्राय महामत्तों से ही था।[11] यहाँ उल्लेखनीय है कि धर्ममहामात्रों की श्रेणी अशोक के शासनकाल से पहले अस्तित्व में नहीं आई थी। धर्ममहामात्रों को सरकार की ओर से अनाथों व वृद्धों के हित, वेतनभोगी नौकरों (भृत्यों), आर्यों (स्वामियों), ब्राह्मणों और गृहस्थों, निर्धनों के बीच उनके कल्याण और सुख के लिए, उनके कष्ट दूर करने के लिए

*शोध छात्र, प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

** प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

नियुक्त किया गया था।[12] कौटिल्य ने भी राजा के कर्त्तव्यों में इसे रखा है- 'राजा बालक, वृद्ध, रोगियों, विपद्ग्रस्तो और अनाथों का भरण - पोषण करेगा।'[13] धर्ममहामात्रों को अन्यायपूर्वक बंदी बनाये गये लोगों के कल्याण की अभिवृद्धि में रत बताया गया है। कौटिल्य के अनुसार वे कैदियों के कल्याण में रत थे, कैदियों की संताने, जो पीड़ित हैं, या जो वृद्ध हैं, वे उन्हें रिहा करवाने में व्यस्त थे।[14] सम्राट अशोक अपने **सातवें स्तंभ लेख** में धर्ममहामात्रों के कार्यों का उल्लेख करते हुए बताते हैं कि 'मेरे 'धम्म' (धर्म) महामात्र जनता के उपकार के अनेक कामों में व्यस्त हैं, वे संयासियों और गृहस्थियों दोनों में व्यस्त हैं। मैंने उन्हें बौद्ध संघ, ब्राह्मणों, आजीविकों, और अनेक संप्रदायों के बीच नियुक्त किया है। महामात्रों की कई श्रेणियाँ हैं और उनके अपने-अपने कर्त्तव्य हैं, लेकिन मेरे 'धम्म' महामात्र इन और दूसरे सम्प्रदायों के साथ व्यस्त है।'[15] इसी प्रज्ञापन से ज्ञात होता है कि महामात्रों की नियुक्ति राजपरिवार के सदस्यों, रानियों तथा राजकुमारों के दान वितरण का लेखा-जोखा रखने के लिए भी की गई थी। अशोक ने बताया है कि ये तथा दूसरे मुख्य अधिकारी राजा व रानियों, राजकुमारों द्वारा दिए गए दान का प्रबन्ध करते हैं तथा अंतःपुर में यह बताने में मदद करते हैं कि कौन-कौन दान के पात्र हैं।[16] **इलाहाबाद-कोसम स्तंभ लेख** में महामात्रों को आदेश दिया गया है कि वे अशोक की द्वितीय रानी कारूवाकी द्वारा दिये गये दान को दर्ज करें।[17]

ये धर्म महामात्र सम्पूर्ण मौर्य साम्राज्य में, सब जगह, धर्मानुशासन या अशोक के धर्म की सामान्य सदाचार की बातों जैसे माता-पिता की सेवा, गुरुओं की शुश्रूषा, जीवों के प्रति दया, सत्य भाषण, सगे-सम्बन्धियों के प्रति उचित बर्ताव, वयोवृद्धों का सत्कार, ब्राह्मणों, श्रमणों, दीन-दुखियों और यहाँ तक की दासों और नौकरों के साथ उचित व्यवहार के प्रचार तथा यह देखने के लिए कि लोग इनका अनुसरण करें, नियुक्ति की गई थी।[18] धर्म महामात्रों का काम 'धम्म' नीति का प्रचार करना था। इनके अधीन बहुत से कर्मचारियों को नियुक्त किया गया था। अशोक ने अपने **सातवें स्तंभ लेख** में ही मनुष्यों व पशुओं के लिए छायाप्रद वृक्ष और आम के बाग लगवाने, कुएँ खुदवाने तथा धर्मशालाएँ स्थापित कराने की बात कही है। इस प्रकार के जनकल्याणकारी कार्य संभवतः इन अधिकारियों तथा इनके अधीन कर्मचारियों की देखरेख में ही किये जाते रहे होंगे।

सम्राट अशोक ने सभी धार्मिक सम्प्रदायों के सार की वृद्धि को महत्त्वपूर्ण माना है और इसके निमित्त उन्होंने धर्ममहामात्र, स्त्री महामात्र तथा व्रजभूमिक और अन्य अनेक अधिकारियों की नियुक्ति की।[19] सोहगौरा[20] तथा महास्थान शिला फलक लेख[21] से ज्ञात होता है कि अकाल या दुर्भिक्ष आदि विपत्तियाँ पड़ने पर कोष्ठागारों से अनाज बंटवाने का काम भी महामात्रों की देखरेख में, उनके अधीन कर्मचारियों द्वारा किया जाता था।

सम्राट अशोक की इच्छा अपनी संपूर्ण प्रजा के इहलौकिक व पारलौकिक कल्याण करने की थी, फिर चाहे वे किसी भी धर्म, सम्प्रदाय या जाति के हों। लघु स्तंभ **लेख सारनाथ**[22] साँची[23] तथा कौशांबी[24] से विदित होता है कि अशोक ने इन स्थानों के महामात्रों को आदेश दिया है कि वे देखें कि (बौद्ध) संघ में कोई फूट न डालने पाए। साथ ही यह आज्ञा भी दी है कि महामात्र इस शासन का अनुमोदन करें, अपने संपूर्ण क्षेत्र में इसे प्रचारित करें। महामात्रों को आदेश दिया गया है कि वे इस आज्ञा को इसी रूप में प्रचारित करने के लिए अपने अधीन राजकर्मचारियों को विभिन्न इलाकों, किलों और जिलों में दौरो पर भेजें। महामात्रों को इसे उपासकों में भी प्रचारित करने की आज्ञा दी गई थी।

द्वितीय पृथक शिलालेख में मुख्य रूप से उन पदाधिकारियों (महामात्रों) को संबोधित किया गया है जो सीमा स्थित प्रजा के बीच कार्य करते थे। सम्राट का महामात्रों से कहना है कि उनकी प्रजा उनके (सम्राट) सम्मुख संतान के समान है, इसमें राज्य की सीमा पर स्थित प्रजा भी सम्मिलित है। अधिकारियों का कर्त्तव्य है कि वह इन लोगों के मन में शासन में विश्वास पैदा करें। उनका यह महसूस करना जरूरी है कि सम्राट को उनसे पितृतुल्य प्रेम है और वह उनकी रक्षा करेगा।[25] इनका काम सीमांतवासियों के प्रति अशोक की नीति को कार्यान्वित करना था। अन्त महामात्रों की चर्चा **प्रथम स्तम्भ लेख** में भी की गई है। लेख प्रदर्शित करते हैं कि अशोक को विभिन्न प्रकार के कार्य तथा अनेक प्रकार के लोगों से सम्पर्क रखना पड़ता था। अपनी प्रजा के कल्याण में तत्पर सम्राट अशोक को अनेक प्रकार की नीतियाँ अपनानी पड़ती थी और इन नीतियों की सफलता-विफलता राज्य के अधिकारियों व कर्मचारियों पर निर्भर थी। अभिलेख इस बात के प्रमाण हैं कि राजकर्मचारियों ने राजा व प्रजा के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन सफलतापूर्वक किया तथा इस बात की पूरी संभावना है कि अशोक के बहुत से शासनपत्रों का आधार उसकी सफल नीतियाँ थीं, जिसके संपादन व प्रचार-प्रसार के लिए मौर्यकालीन अधिकारी तंत्र जिम्मेदार था। परंतु ऐसा नहीं है कि अधिकारी तंत्र या राजकर्मचारियों में कोई दोष या बुराई ही नहीं थी। अशोक का **धौली पृथक शिलालेख** जो राजा-प्रजा के संबंधों को व्यक्त करता है, में सम्राट ने अपने पदाधिकारियों, कर्मचारियों को ईर्ष्या, क्रोध, निष्ठुरता, अकर्मण्यता, तीव्रता या जल्दबाजी, आलस्य और तंद्रा जैसे स्वभावगत दुर्गुणों से दूर रहने को कहा है जिसके कारण मनुष्य कार्य में सफल नहीं हो पाता है, तथा अपने कर्मचारियों, महामात्रों को समझाने का प्रयास किया है जिससे उनमें ऐसी प्रवृत्तियाँ या दोष न आने पायें। सम्राट ने प्रजा के साथ कर्मचारियों को कठोरतापूर्वक व्यवहार न कर मध्यम मार्ग अपनाने को कहा है, साथ ही राजा ने यह भी कहा है कि अपने कर्त्तव्यों का पालन कर वे राजा की प्रसन्नता तथा स्वर्ग, दोनों प्राप्त कर सकते हैं। लोग सम्राट के कथनानुसार आचरण (कार्य) कर रहे हैं या नहीं, यह देखने के लिए तथा अन्याय को रोकने के लिए उन्होंने राजधानी (पाटलिपुत्र) से महामात्रों को प्रति पाँचवें वर्ष दौरों पर भेजने की घोषणा की है। उज्जयिनी तथा तक्षशिला के प्रादेशिक शासकों (कुमार) को भी तीन-तीन वर्ष पर कर्मचारियों को

दौरों पर भेजने का आदेश दिया है।[26] **अर्थशास्त्र** में चाणक्य ने राजा को अपने कर्मचारियों पर कृपा दृष्टि बनाये रखने को कहा है।[27] इसी प्रज्ञापन में अशोक ने महामात्रों के साथ ही नगरव्यावहारिक (नगर मजिस्ट्रेट), नागरिक नामक कर्मचारियों का जिक्र किया है तथा आदेश दिया है कि वे हर समय यह प्रयास करें कि लोगों को अकारण कोई दुःख, यातना, कष्ट या बाधा न होने पाए। अपने पदाधिकारियों से सम्राट की सबसे पहली मांग यह है कि उनका लक्ष्य प्रजा का स्नेह प्राप्त होना चाहिए क्योंकि सम्राट के लिए सभी मनुष्य उनकी संतान की तरह हैं- 'सवे मुनिसे पजा ममा।'[28] चूंकि इन पदाधिकारियों के अधीन सभी व्यक्ति सम्राट की प्रजा हैं, इसलिए राजा चाहते हैं कि पदाधिकारी उनका स्नेह प्राप्त करें।

उस समय स्त्री की सामाजिक स्थिति दयनीय थी इसलिए यह संभव है कि अशोक ने नारी कल्याण के लिए विशेष महामात्रों की नियुक्ति को आवश्यक समझा हो। ऐसे अधिकारियों के लिए 'स्त्री-धियक्ष-महामत्र' शब्द प्रयुक्त होता था जिसका अर्थ है- स्त्री-अधीक्षक।[29] स्त्रियों से संबंधित कल्याणकारी कार्यों व अधिकारियों का उल्लेख अर्थशास्त्र भी करता है।[30]

प्रशासन के उद्देश्य से प्रांत जिलों में विभाजित थे और हर जिले का कार्यभार राजकर्मचारी संभालते थे। इसमें तीन बड़े अधिकारी 'प्रादेशिक, राजुक और युक्त' संलग्न थे। इन अधिकारियों की सहायता के लिए बहुत से दूसरे कर्मचारी होते थे।[31] ग्रामीण इलाकों का क्षेत्राधिकार 'राजुकों' के अंतर्गत था।[32] यह भूमि की व्यवस्था करने वाला उच्च अधिकारी था।[33] बूलर के मतानुसार राजुक 'रज्जुग्राहक' का संक्षिप्त रूप है, जो जातकों में आता है। इस वर्ग के अधिकारी 'प्रारम्भ में अपने साथ एक रस्सी रखते थे जिससे राजस्व निर्धारण के लिए कृषकों के खेत नापे जाते थे।'[34]

सम्राट अशोक ने युक्त, राजुक तथा प्रादेशिक नामक अधिकारियों को अन्य प्रशासनिक कार्यों के साथ ही, प्रजा को धर्म (सदाचरण की नैतिक बातें) और अन्य कार्यों की शिक्षा देने के लिए प्रति पाँचवें वर्ष अपने साम्राज्य में दौरा करने का आदेश दिया था।[35] राजुकों का उल्लेख स्तंभलेख चार तथा सात में भी हुआ है। इनकी जिम्मेदारी व हैसियत बहुत ऊँची थी। अपने प्रज्ञापनों[36] में अशोक ने बताया है कि राजुक लाखों प्राणियों पर नियुक्त थे। राजा ने 'जानपदस हित सुखाये' अर्थात् ग्राम निवासियों के कल्याण व सुख के लिए इनकी नियुक्ति की थी। सम्राट ने उन्हें पुरस्कार और दण्ड देने का अधिकार दिया था ताकि वे आश्वस्त होकर अपने कर्मों को कर सकें। लेखों के अनुशीलन से ऐसा लगता है कि अशोक को राजुकों पर बहुत भरोसा था क्योंकि सम्राट ने इनके अधीन लाखों मनुष्यों को वैसे ही कर दिया था जैसे कोई पिता विश्वास करके किसी निपुण धाय को अपने बच्चों को सौंप देता है।[37] यही कारण है कि अशोक के शासनकाल में राजुकों को अन्य कार्यों के साथ ही सार्वजनिक हित के कार्य सौंपे गये थे। प्रजा को पुत्रवत् समझने का भाव राजा तक ही सीमित न था। सम्राट ने अपने कर्मचारियों को भी, जिन्हें प्रजा के हित चिंतन के लिए उन्होंने नियुक्त किया था, ऐसा ही समझने की आज्ञा दी थी। 'राजुक' का उल्लेख अर्थशास्त्र में भी आया है।[38] मेगस्थनीज ने 'एग्रोनोमोई' (Agronomoi) नामक गाँव के उच्च अधिकारियों का वर्णन किया है, जिनके कर्त्तव्य प्रायः वही हैं, जो अभिलेखों में राजुकों के बताए गए हैं। उनके काम ब्यौरा इस प्रकार दिया गया है : 'कुछ का काम नदियों की देखरेख करना, भूमि को मापना है....वे नालियों की देखरेख करते हैं जहाँ से पानी मुख्य नहरों से शाखाओं में जोड़ा जाता है, ताकि सबको अपना उचित हिस्सा मिल सके....उन्हें पुरस्कार या दण्ड देने का अधिकार है।...वे व्यवसायों की देखरेख करते थे। वे सड़कें बनवाते थे और हर दस स्टेडिया पर छोटी सड़कें और फासला बताने के लिए स्तंभ लगवाते थे।'[39] इससे स्पष्ट होता है कि अशोक ने यह कोई नया पद नहीं चलाया था, वरन् जो पद पहले से था उसको और सुसंगठित कर दिया था। निश्चय ही राजुक ग्रामीण प्रशासन की जान थे। अशोक ने इच्छा प्रकट की थी कि ये अधिकारी प्रजा की चिंता चतुर धाय की तरह करें। अर्थशास्त्र के 2.6, 4.13 में राजुकों का उल्लेख प्राप्त होता है। सार्वजनिक हित के कार्य करने का आदेश 'प्रादेशिक' नामक उच्च अधिकारी को भी दिया गया था जो संभवतः एक प्रांत या प्रदेश का शासक होता था।[40] 150 ई0 के रूद्रदामन के **जूनागढ़ लेख**[41] से हमें ज्ञात होता है कि सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में उनके राष्ट्रीय (प्रांतीय) शासक वैश्य पुष्यगुप्त ने सुदर्शन नामक जलाशय बनवाया था। सम्राट अशोक मौर्य के शासनकाल में यवन राज तुषाष्फ को उस प्रांत का शासक नियुक्त किया गया जिसने वहाँ पर नहरों का निर्माण करा दिया था।

यह लेख इस बात की सूचना देता है कि केवल राजा अशोक के शासनकाल में ही नहीं, राजा चन्द्रगुप्त (अशोक के पितामह) के शासनकाल में भी जनकल्याणकारी कार्यों हेतु पदाधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी। यद्यपि चन्द्रगुप्त मौर्य का कोई भी अभिलेख प्राप्त नहीं होता है, किन्तु इस संदर्भ में **जूनागढ़ का लेख** इस बात को प्रमाणित करता है कि चन्द्रगुप्त के शासनकाल में भी सार्वजनिक हित हेतु अधिकारियों की नियुक्ति मौर्य साम्राज्य के हर क्षेत्र में की जाती थी। इससे सहज ही मौर्य शासकों के अधिकारी तंत्र की दक्षता का अनुमान लगाया जा सकता है।

तीसरे शिलालेख में 'युक्तों' की चर्चा की गई है।[42] जो जनकल्याणकारी कार्यों में तो नियुक्त किये गये थे। ये राजुक तथा प्रादेशिक के साथ पंचवर्षीय दौरों पर जाते थे।[43] अपने **प्रथम स्तंभ लेख**[44] में सम्राट अशोक ने ऊँचे, नीचे या मध्यम पद पर रहने वाले सभी कर्मचारियों पर भरोसा जताया है। वह कहता है कि ये कर्मचारी अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं और अपने आचरण से अस्थिर व्यक्तित्वों का मन भी जीत लेते हैं।

'पुलिसानि' (पुरुष) नामक राजकर्मचारी की चर्चा भी प्राप्त होती है।[45] ये अधिकारी सम्राट के विचारों से अवगत होते थे और सदा घूम-घूमकर प्रजा का हाल-चाल लेते रहते थे।[46] उन्हें जनमत की जानकारी थी और वे राजा को इसकी सूचना देते थे। रोमिला थापर ने संभावना जताई है कि पुलिसानि आवश्यकता पड़ने पर राजा के फरमानों को जनता के सम्मुख पढ़ते भी होंगे।[47]

सम्राट अशोक अपने एक फरमान[48] में 'प्रतिवेदकों' का जिक्र करते हैं। पुलिसानि (पुरुष) से संबद्ध 'पटिवेदका' या विशेष रिपोर्टर होते थे। उन्हें राजा ने अधिकार दिया था कि वे जब भी चाहें, जहाँ भी चाहें, राजा से सीधे मिलकर प्रजा का हाल बता सकते हैं। ऐसा लगता है कि सम्राट को लोकमत के उनके मूल्यांकन पर बहुत भरोसा था। ये जनता और प्रशासन से परिचित अधिकारी थे जो जगह-जगह जाकर निरीक्षण करते थे व राजा को हर समय प्रजा की रिपोर्ट देते थे।[49] स्पष्ट है कि ऐसी आदर्श कार्यप्रणाली उसी राज्य में संभव थी जहाँ प्रशासन बहुत से कर्मचारियों द्वारा सुचारू रूप से चलाया जाता हो।

सम्राट अशोक ने अपने ऊपर बड़े भारी कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व ले लिये थे, जिन्हें सफलतापूर्वक पूरा करने में, राजा तथा प्रजा के संबंधों को सुदृढ़ता प्रदान करने में, राजा का अपनी प्रजा से व्यक्तिगत संपर्क रखने की इच्छा पूर्ति में, मौर्य प्रशासन की जनहितकारी योजनाओं को उच्च स्तर तक पहुँचाने में तथा इसका विस्तार करने में पदाधिकारियों व राजकर्मचारियों का अभूतपूर्व योगदान था।

सम्राट अशोक को श्रेय है कि उन्होंने अपने काम में दक्ष अधिकारी तंत्र की नियुक्ति की। पितृतुल्य सम्राट की भावनाओं व कार्यों को प्रजा तक पहुँचाने का कार्य उनका अधिकारी तंत्र करता था। ज्ञात होता है कि ब्रह्मगिरि, रूपनाथ व सहसराम लघु शिला अभिलेख सम्राट ने महामात्रों को आदेश दिया था कि वे उनके धर्माचरण से संबंधित घोषणा को पूरे क्षेत्र में पर्वतों पर लिखवायें जिसका पालन उन्होंने बेहतरीन ढंग से किया। प्रजाहित की कामना रखने वाले सम्राट के लिए इस इच्छा को पूर्ण करने का सबसे अच्छा उपाय था दक्ष व निपुण कर्मचारियों की नियुक्ति। सम्राट अपने अधिकारियों को नीति-निर्देश देते थे व समय-समय पर उनके लिए आदेश जारी करते थे। जिसका पालन उन्होंने सफलतापूर्वक किया था।

अभिलेखों के सूक्ष्म अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रजा के इहलौकिक व पारलौकिक कल्याण करने में जितना सम्राट दत्तचित व उत्साहित थे उतना ही उनका अधिकारी तंत्र भी। वे अपने कार्य में माहिर थे व दत्तचित होकर अपने सम्राट के आदेशों का पालन करते थे जिसके कारण वर्षों तक मौर्य साम्राज्य की नींव सुदृढ़ बनी रही। इस प्रकार के कार्यकुशल पदाधिकारियों, कर्मचारियों से परिपूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था ने ही काफी हद तक सम्राट अशोक के 'जनहितकारी विचारों व कार्यों' को सफल बनाने में सहायता की थी। अंतिम बात यह कि जनकल्याणकारी कार्यों के प्रयोजन, क्रियान्वयन, संपादन आदि के सबसे प्रमुख केन्द्रबिन्दु 'मौर्यकालीन नरेश' स्वयं थे।

सन्दर्भ

1- गैरोला, वाचस्पति; कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, चौथा अधिकरण, तीसरा अध्याय (4.3), चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 2009

'सर्वत्र चोपहतान् पितोवानुगृह्णीयात्'

2- सरकार, डी0सी0; सेलेक्ट इंस्क्रिप्शन्स, भाग 1, अशोक का भाब्रू बैराट शिला अभिलेख, पृ0 74, वी0के0 पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1993

'पिं (प्रि) यदसि लाजा मागधे'

3- हुल्श, ई0; कॉर्पस इंस्क्रिप्शनम् इंडिकेरम्, भाग-1, प्रथम (धौली) व द्वितीय (जौगड़) पृथक शिला अभिलेख 'सवे मुनिसे पजा ममा अथा पजाये इछामि हकं', पृ0 92, इण्डोलॉजिकल बुक हाउस, वाराणसी, 1969

4- कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, 1.6

'सहायसाध्यं राजत्वं चक्रमेकं न वर्तते।

कुर्वीत सचिवांस्तस्मात्तेषा च शृणुयान्मतम् ।।'

5- हुल्श, ई; पूर्वोक्त, भाग 1, पृ0 32, अशोक का पाचवाँ शिला अभिलेख

'से अतिकंतं अंतलं नो हुतपुलुव धंममहामता नामा तेदसवासाभिसितेना ममया धंममहामाता कटा।'

6- हुल्श, ई; पूर्वोक्त, भाग 1, बारहवाँ शिला अभिलेख, धौली व जौगड़ के पृथक शिला अभिलेख, एर्रागुड़ी व ब्रह्मगिरि लघु शिला अभिलेख, प्रथम व सातवाँ स्तंभ लेख सारनाथ, साँची, कौशाम्बी के लघु स्तंभ लेख, रानी का कोसम इलाहाबाद लेख आदि ।

7- मुकर्जी, राधाकुमुद; अशोक, पृ0 47, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1985

8- छठा शिलालेख, हुल्श, ई0; पूर्वोक्त, पृ0 34-35

9- मुकर्जी, राधाकुमुद; पूर्वोक्त, पृ0 47

10- थापर, रोमिला, अशोक और मौर्य साम्राज्य का पतन, पृ0 100, ग्रन्थ शिल्पी, दिल्ली, 2010

11- वही, पृ0 99-100

12- हुल्श, ई0; पूर्वोक्त, पाँचवा शिला अभिलेख पृ0 32,

'भटमयेसु बंभनिभेसु अनथेसु बुधेसु हिदसुखाये धंमयुताये अपलिबोधाये वियपटा ते'

13- कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, 2.1

'बालवृद्धव्याधितव्यसन्यनाथांश्च राजा बिभृयात् ...'

14- थापर, रोमिला; पूर्वोक्त, पृ0 255, पाँचवा शिला अभिलेख

15- वही, पृ0 268-269, सातवाँ स्तंभ अभिलेख

16- पाँचवां शिलालेख तथा सातवाँ स्तंभ लेख

17- हुल्श, ई0; पूर्वोक्त, रानी का स्तम्भ लेख, इलाहाबाद कोसम, पृ0 158-159

18- हुल्श, ई0; पूर्वोक्त, पाँचवां शिलालेख तथा सातवाँ स्तंभ लेख पृ0 32,130-137

19- हुल्श, ई0; पूर्वोक्त, बारहवाँ शिला अभिलेख, पृ0 64

20- जायसवाल, के0पी0, एपिग्राफिया इण्डिया, खण्ड 22, पृ0 2, 1933

21- भण्डारकर, डी0आर0, एपिग्राफिया इण्डिया, खण्ड 21, पृ0 85-87, पब्लिश्ड अन्डर द अथॉरिटी ऑफ द गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया, 1931

22- सरकार, डी0सी0; पूर्वोक्त, सारनाथ लघु स्तंभ लेख, पृ0 72-73

23- वही, साँची, लघु स्तम्भ लेख, पृ0 71

24- वही, कौशांबी, लघु स्तम्भ लेख, पृ0 70

25- वही, द्वितीय पृथक शिलालेख, जौगड़ संस्करण, पृ0 44-46

26- वही, प्रथम पृथक शिलालेख, धौली संस्करण, पृ0 40-44

27- कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, 5.3
कर्मसु भृतानां पुत्रदारा भक्तवेतनं लभेरन् । बालवृद्धव्याधिताश्चैषामनुग्राह्याः। प्रेतव्याधितसूतिकाकृत्येषु चैषामर्थमानर्क कुर्यात् ।

28- सरकार, डी0सी0; पूर्वोक्त, प्रथम पृथक शिलालेख, धौली, पृ0 40

29- थापर, रोमिला; पूर्वोक्त, पृ0 111, बारहवाँ शिला अभिलेख शाहबाजगड़ी संस्करण, सरकार डी0सा, पूर्वोक्त, पृ0 33

30- कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, 2.23, 2.27

31- पाण्डेय, राजबली; तृतीय शिलालेख, अशोक के अभिलेख, पृ0 4, गिरनार, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, संवत् 2022

32- थापर, रोमिला, पूर्वोक्त, पृ0 100

33- पाण्डेय, राजबली, पूर्वोक्त, पृ0 4, भाषान्तर टिप्पणी से उद्धृत।

34- शास्त्री के0ए0 नीलकण्ठ; नंद-मौर्ययुगीन भारत, पृ0 2, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1987

35- पाण्डेय, राजबली, तृतीय शिलालेख, पृ0 4

36- हुल्श, ई0; पूर्वोक्त, चौथा व सातवाँ स्तंभ लेख, पृ0 122-125, 130-137

37- हुल्श, ई0; पूर्वोक्त, चौथा स्तंभ लेख, दिल्ली टोपरा संस्करण, पृ0 123
'अथाहि पजं वियताये धातिये निसिजितु
अस्वथे होति वियत धाति चघति मे पजं सुखं पलिहटवे
हेवं ममा लजूका कटा जानपदस हित सुखाये।'

38- कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, 2.6, 4.13

39- थापर, रोमिला, पूर्वोक्त, पृ0 104

40- पाण्डेय, राजबली; पूर्वोक्त, पृ0 4, भाषान्तर टिप्पणी से उद्धृत।

41- सरकार, डी0सी0; पूर्वोक्त, पृ0 176-77

42- थापर, रोमिला, पूर्वोक्त, पृ0 104

43- हुल्श, ई0; पूर्वोक्त, तृतीय शिलालेख, पृ0 29-30

44- वही, प्रथम स्तंभ लेख, पृ0 119-120

45- वही, चौथा स्तंभ लेख, पृ0 123

46- शास्त्री, के0ए0 नीलकण्ठ, पूर्वोक्त, पृ0 254-55

47- थापर, रोमिला, पूर्वोक्त, पृ0 106

48- हुल्श, ई0; पूर्वोक्त छठाँ शिलालेख, पृ0 34

49- थापर, रोमिला, पूर्वोक्त, पृ0 106

●

समकालीन भारतीय कला में अमूर्तन

शालिनी सिंह एवम् प्रो. अजय कुमार सिंह* **

मूर्त व अमूर्त कला की दो प्रविधियाँ है। इन्ही के जरिए कला 'दृश्य' अथवा 'घटनाओं' तथा भावों की अभिव्यक्त प्रदान करती रही है। आधुनिक भारतीय कला में अमूर्तन का प्रवेश तेजी से हुआ। भारतीय कलाकार प्राचीन भारतीय अमूर्तन की परम्परा से प्ररेणा न ग्रहण करते हुए अपनी जड़ों से उखड़कर 1910 में प्रतिपादित कान्दिस्की के सिद्धान्त को अपनाते हैं। भारतीय कला में आधुनिकता को अमूर्तता का पर्याय मान लिया गया और एक बड़े आन्दोलन के रूप में इसको अपनाया गया। जिसके परिणामस्वरूप अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ भारतीय कला में अमूर्तवाद से जुड़ गयी। ''पचास-साठ के दशक में हर एक कलाकार पश्चिम की नकल करते हुए बड़े-बड़े चित्रों की रचना करने लगा। अमूर्तन और आधुनिकता या फिर समकालीन कला एक दूसरों के समनार्थी समझे जाने लगे।''[1] चित्रों के अजीबो-गरीब शीर्षक रखे जाने लगे। साथ ही, चित्रों की विचित्र किस्म की व्याख्याएँ होने लगी। कलाकारों ने रूढ़िवादियों के खिलाफ झण्डा गाड़ दिया और अपने को 'आधुनिक कला' के वास्तविक दावेदारों के रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने इस बात की अनदेखी कर दी कि हर एक समाज की अपनी खास परिस्थितियाँ होती है और रचना उन परिस्थियों को भूलकर नहीं की जा सकती।

अमृता शेरगिल ने 1935 में जारी पुनरूत्थानवादी बंगाल शैली को देखकर उसका विरोध करते हुए कहा था कि ''आज पश्चिम में चित्रकला और मूर्तिकला के क्षोत्र में इतना प्राणवान एवं महत्वपूर्ण सृजन हो रहा है, भारतवर्ष में हम उनमें अनभिज्ञ रहें, अथवा इससे भी बुरी बात यह है कि उसकी मूर्खतापूर्वक अवहेलना करे। मैं पश्चिम की आधुनिक स्कूल की बात कर रही हूँ। एक सर्वमान्य तथ्य है कि आधुनिक चित्रकला एवं मूर्तिकला के विभिन्न कालों का पूर्वी कला से असंख्य स्थलों पर सम्मिलित हो जाता है.... आज हमारे चित्रकार पश्चिम आधुनिक कला से प्रेरणा ग्रहण करे, जिस प्रकार पाश्चात्य कलाकारों ने पूर्वी मूर्तिकला एवं चित्रकला का ज्ञान प्राप्त कर आत्माभिव्यक्ति का नया माध्यम ढूँढा।''[2] लेकिन भारतीय कलाकारों ने उनकी बातों का शायद सतही स्तर पर लिया था। जब भारतीय कला में आधुनिकता का प्रवेश हो रहा था, वह 1940 का दशक था। 20वीं सदी का चौथा दशक भारतीय चित्रकला के लिए काफी उथल-पुथल रहा। ''परतन्त्रता की पीड़ा से अकुलाती भारतीय प्रबुद्ध चेतना ने 1942 में मुक्ति के लिए भीषण विप्लव की ज्वाला जगायी, जिसके स्फुल्लिंग देश में सर्वत्र सभी क्षेत्रों में फैले।''[3] जिसके रूप में जागरूक समाज का वह अंग, जिसकी कला में अभिरूचि हो सकती थी, इस राजनीतिक संर्घष में तन-मन से संलग्न था। जीवन दूभर बनता जा रहा था। बंगाल का भीषण आकाल, 1945 में द्वितीय विश्वयुद्ध और स्वतन्त्रता के साथ-साथ देश का विभाजन, 1948 में महात्मा गाँधी की हत्या, इस दशक में घटित हो रहे सारे संकटों की परिणति थी।

वर्षों की दासता के बाद इतने घोर संर्घष और उत्सर्ग से प्राप्त हुई स्वतंत्रता ने कलाकारों को भी प्रभावित किया। कला कभी भी रिक्तता में नहीं फलती-फूलती। वह समाज में हमेशा आबद्ध रहती है। भारतीय कलाकार गुलामी की दासता झेलने के बाद अपने आप को कुछ करने के लिए तैयार हुआ। जिसके परिणामस्वरूप पचास-साठ के दशक में अपने कला रूपों का प्रवेश भारतीय कला में हुआ। इसी कारण कला आन्दोलन के रूपों में अमूर्तन भी था। ''अमूर्तन को आधुनिक पश्चिम की कला में नये कला आन्दोलन के रूप में लिया गया था जिसमें प्रभावित होते हुए कलाकार पश्चिम के तर्ज पर बड़े-बड़े कैनवासों पर रंगों का प्रयोग करने लगे और अपने को स्वतंत्र घोषित करते हुए कन्दिस्की के इस विचार से प्रभावित हुए, जिसमें कन्दिस्की ने कहा था कि ''कुछ भी किया जा सकता है। अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त प्रदान करने के लिए किसी भी स्तर तक जाया जा सकता है।''[4] अपने को तमाम परम्पराओं से अलग करते हुए आधुनिकता के नाम पर कला के ढेर सारे मूल्यों को दरकिनार कर दिया। नये मूल्यों, नये सृजन के नाम पर जब अमूर्तन का आक्रमक दौर प्रारम्भ हुआ तब अनेक नवोदित कलाकारों ने अनुकरण करना शुरू कर दिया। कलाकार पश्चिम से प्रेरित होकर विभिन्न रंग संयोजनों वाले सैकड़ों कैनवास बनने लगे। चित्रों की चित्र-विचित्र व्याख्यायें करने लगे और अपने चित्रों के अजीबो-गरीब शीर्षक देने लगे। ''हर एक छोटे-बड़े शहरों में कलाकारों की ऐसी एक टोलियाँ हो गयी जो मानती थी कि ''अमूर्तन विद्रोह का एक हाथियार है कि इन्होंने रूढ़िवादियों, परम्परा वादियों आदि के खिलाफ विद्रोह का झंडा गाड़ दिया है और आधुनिकता के वास्तविक दावेदार वही है।''[5] यह भ्रम हुआ कि कला के लिए यह आसान तरीका है। कई जगहों पर कलाकारों ने अमूर्त कला को कला की पराकाष्ठा कहकर सम्बोधित किया।

1943 में प्रदोषदास गुप्ता ने कलकत्ता 'आर्टिस्ट ग्रुप' की स्थापना की। इस ग्रुप की गतिविधियों से ई0 एम0 फोरेस्टर लेडीकैसे और प्रसिद्ध मूर्तिकार फ्रेडरिक मैक विलियम काफी प्रभावित थे। फोरेस्टर ने इस ग्रुप की गतिविधियों को बी0वी0सी0 लन्दन में भी प्रसारित किया था। इस ग्रुप की उद्घोषणा के अनुसार

*शोध छात्र, कला इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

** डाईरेक्टर, भारत कला भवन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

''व्यक्ति सर्वापरि है, उससे उपर कुछ भी नहीं है और कला अन्तर्राष्ट्रीय और स्वयं को आश्रित होना चाहिए।''[6] कलकत्ता आर्टिस्ट ग्रुप के अतिरिक्त उस समय एक और महत्वपूर्ण कला और संगठन 'पैग' ग्रुप ने 1948 में जन्म लिया, जिसके संस्थापक सुजा थे। ''पैग ग्रुप ने भी तमाम नये विचारों से ओत-प्रोत होकर अपने ढंग से नये कलाकारों को हवा दी।''[7] हालॉकि बाद में इसी ग्रुप के चित्रकारों ने भारतीय कला के ऊँचाई देने में अहम भूमिका निभाई। अमूर्तन को नयी तर से फलने फूलने के लिए सींचा।

सूजा ने पैग कलाकारों की ओर से प्रकाशित कैटलाग की भूमिका में लिखा ''मुझे अभी तक नहीं मालूम कि हम अपने ग्रुप को प्रोग्रेसिव क्यों कहते हैं। हम अन्धदेश भक्ति तथा वामपंथी विचारों को त्याग चुके हैं, जो हमारे ग्रुप की स्थापना के समय हमारे मैनीफेस्टों के अंग थे।''[8] यही मैनीफेस्टो आधुनिक भारतीय कला को आगे ले जाने में सक्षम हो सका, लेकिन कुछ कलाकार अपने आपको शीघ्रता से आधुनिक कलाकार बनने के लिए पाश्चात्य कलाकारों के विचारों को सतही तौर पर लिया और सतही फार्मूला आधारित चित्रों की रचना करने लगे। ''जिसके परिणामस्वरूप अमूर्तन जो भारतीय कला में बेहतर भूमिका निभा सकता था वह चूक गया।''[9] और 50-60 के दशक तक भारतीय कला के ऊपर निरर्भरता के अभाव का आरोप लगा। भारतीय कलाकार अपने अतीत की कला परम्परा को छोड़कर अपनी जड़ों को उखड़ते हुए सिर्फ पश्चिम की तरह कातर दृष्टि से देखने लगा।

कुछ साल पहले आधुनिक कलाकारों की कला प्रदर्शनी अमेरिका भेजी गयी थी तो डॉ0 लक्ष्मी सिहारे की टिप्पणी थी कि ''कुछ साल पहले इस तरह की कोई प्रदर्शनी भेजना हमारे लिए सम्भव नहीं था। चूकि हमारे पास सेजा, ब्राक या मातिस के टक्कर के कलाकार नहीं है।''[10] पश्चिम के सन्दर्भ में दरअसल हम सदा हीन भावना के शिकार रहे हैं लगभग सारी कलाओं में। दरअसल पश्चिम में आधुनिक कला का जब स्वर्णयुग था तब हम अपने देश में विक्टोरियाई शिक्षा-पद्धति, औपनिवेशिक दवावों से जूझ रहे थे।

कान्दिस्की, पाल क्ली, रोथकों के सिद्धान्तों पर आधुनिक कला का निर्माण किया गया, जिससे उन चित्रों से उसकी आत्मा गायब हो गयी। कलाकारों एवं कला समीक्षकों ने इस बात की अनदेखी कर दी कि हर एक समाज की अपनी खास परिस्थितियाँ होती हैं और रचना उन परिस्थितियों को झुठलाकर नहीं की जा सकती है। अमूर्तन के सवाल मात्र इतने नहीं हैं कि कान्दिस्की की कृतियों के सतही नकल और ज्यामितीय रेखाओं से निपटा जा सके। यूरोपीय कला में कई कला आन्दोलन हुए किन्तु शेष वही बचे जिनकी जड़े काफी गहरी थी, या फिर जिनकी शाखाओं पर शाखायें खुलती गयी। वही स्थिति भारतीय कला की भी रही। देर से ही सही 50-60 में अन्धदौड़ और संक्रमण काल बीत जाने के पश्चात भारतीय कला में कई खिड़कियाँ खुली। पश्चिम प्रेरित कुछ कला आन्दोलनों और कलाकारों के उदाहरण आखिर में उनके काम नहीं आये और बहुत जल्दी ही यह तथाकथित विद्रोह थम भी गया। लोगों को यह दिखायी देने लगा कि अमूर्तन का यह दौर न केवल किताबी था, वरन् फैशनेबुल भी था और अमूर्तन को आधुनिक कला का पर्याय बताने वालों ने पश्चिमी कला के मर्म को ठीक से समझा नहीं था। भारतीय कलाकारों ने उसी दौर में पेरिस और न्यूर्याक की तमाम यात्राएँ की तो उनको समझ में आया कि अपनी कला को अलग पहचान देने के लिए जरूरी नहीं है कि आधुनिक की खोज के नाम पर पश्चिम से प्रेरित होकर अमूर्तन से ही हल किया जाएगा। ''कला का शुद्ध स्वाभाव रंग रूप और अभिव्यक्ति के माध्यम से चित्रों का सृजन और अस्वादन है।''[11]

भारत उन देशों में से है जिनकी अनेक कला परम्पराएं और विचार धाराएँ तमाम विविधताएँ लिए हुए है और एक ही साथ सक्रिय भी है। अंजली इलामेनन ने 60-70 के दशक के सम्बन्ध में अपनी प्रतिक्रिया दी कि ''एब्स्ट्रैक्शन का दौर आया था लेकिन अब खत्म हो गया है। अमूर्त चीजें बहुत देर तक आपकों बॉधकर नहीं रख सकती केवल मूर्त चीत्रों का वजूद होता है।''[12] ज्योंहि भारतीय कलाकार पश्चिमी अमूर्तवाद से मुक्त हुआ और अपनी जड़ों की तलाश अपनी कला में करने लगा, प्रत्यक्षीकरण के जैसे सारे द्वार खुल गये। ''रजा, सुजा, गायतोण्डे, मोना राय, अम्बादास, रामकुमार, अर्पणाकौर, निमिषा शर्मा, शाम्भवी सिंह, एस0एन0 बेन्द्रे आदि कलाकारों ने निजी कुछ जड़े रोपी।''[13] जो स्वयं उनके काम में अच्छी तरह पल्लवित हुई।

भारतीय कलाकारों ने भी पूरब और पश्चिम के झगड़े में न पड़ते हुए अपनी प्राचीन कला-परम्पराओं का भी गहरा अन्वेषण किया। जिसमें देशज अमूर्तन की नीव पड़ सकी। आज भारतीय कलाकार अपनी कला के माध्यम से पूरे विश्व में अपनी पहचान बनाने में सफल रहे है। रजा का कहना है कि ''कहा जा सकता है। कि रंगों का रसिक हूँ, रंगों का कवि हूँ। मैंने बिन्दु सीरीज के चित्र बनाए। पहले बिन्दु ब्लैक विथ ऑफ ह्वाइट, फिर उसमें बिन्दु पंचतत्व विथ फाइव कलर्स, ह्वाइट, यलो, रेड एण्ड ब्लू।''[14]

भारतीय कलाकारों में ऐसे कई कलाकार है जो रहते तो पेरिस या फिर किसी अन्य देश में है, लेकिन अपनी कला को अपनी जमीन से जोड़े हुए है। गायतोण्डे अपने अमूर्तनवादी चित्रों के लिए सब में अलग पहचान बनाते हैं। गायतोण्डे ने अमूर्तशैली को विकसित करने में अहम् भूमिका निभाई। उनका कहना था कि ''चित्र हमारे भीतर ही मौजूद है और उसके भी पहले जब चित्र बनाना शुरू करते हैं। अब आपको स्वयं को इस मशीन में तब्दील करना होता है जो पहले से मौजूद है, उसे अभिव्यक्ति कर सके।''[15] गायतोण्डे ने अपने चित्रों में अध्यात्म के रूप का नहीं वरन् रूप के अध्यात्म के कीर्तन का प्रदर्शन किया है। गायतोण्डे की कला मार्क रोथको की कला से भिन्न प्रकार के अध्यात्म का निर्माण करती है।

जगदीश स्वामीनाथन के लिए अमूर्तन केवल ठोस रूपों का विलोपन नहीं है। उनके कार्य शुद्धता के रूप में चिन्हित है।

स्वामीनाथन कहते हैं कि अमूर्त कला अपने आप में एक भाषा है, परन्तु अपने अस्तित्व और प्रसार के लिए एक ओर भाषाई रचना की आवश्यकता है। जहॉगीर सबावाला लिखते हैं कि ''अमूर्तन ने कला को नई दिशा दी है। यह कलाकारों की आवश्यकता है जो उसके मस्तिष्क का विकास करती है। अमूर्तन को बौद्धिक एवं भावात्मक दोनों रूप में समझना चाहिए। मैं समझता हूँ कैनवास पर रंग लगाने से पहले कलाकार को बौद्धिक एवं भावात्मक दोनों रूपों में समझना चाहिए।''[16] बेन्द्रे ने अमूर्तकला के सन्दर्भ में कहा है कि अमूर्त कला में रंगों के सृजन तथा एकता को प्रस्तुत करने के लिए अनेक सम्भावनाएँ है इसमें फिगरेटिव कला कृति से शुद्ध एवं महान सुख का अनुभव होता है। रामकुमार मौन साधन अमूर्त चित्रों का निर्माण करते है और विषयों को अपने ढंग से प्रस्तुत करते है। बनारस के घाट' नामक चित्र श्रृंखला के माध्यम से अमूर्त रूपाकारों को नई दिशा देते है। इसी तरह के0सी0एस0 पन्नीकर ने अमूर्तनवाद का प्रचार-प्रसार एक स्कूल के तहत किया। पन्नीकर तांत्रिक रुपों को लेकर नये तरह के प्रयोगों पर बल देते है। उन्होनें कुछ प्रतीकों व शब्दों को अमूर्त भाषा में बदला है। प्रयाग शुक्ल अमूर्तन को कला के महत्वपूर्ण या तत्व के रूप में देखते हैं। वे कहते है अमूर्तन अपनी सांकेतिकता में मानवीय अभिव्यक्ति की ऊँचाइयों तक जा सकता है।

शमशेर बहादुर सिंह भारतीय कला में अमूर्तन की स्थिति को रेखांकित करते है कि ''कम से कम इतना तो स्पष्ट है कि अलग-अलग विभिन्न शैलियों से चाहे वे किसी रूप में यर्थाथवादी हो चाहे प्रतीकात्मक हमारा परिचय न हो, एक हद तक सहानुभूति होना आवश्यक है। ये शैलियाँ जो अक्सर एक दूसरे की विरोधी लगती है, जरूरी नहीं कि सदा एक-दूसरे के विरोध में पायी जाये। इसके अन्तर से हम रूचि, स्वभाव, संस्कार और पृष्ठभूमियों को पहचान सकेंगे और अक्सर उसके मिले-जुले प्रभावों को भी। गनेश हलोई कहते है कि मुझे इस बात से खुशी होती है कि समाचार व मत विशेष रूप से अमूर्त कला पर प्रकाश डाल रहे है। जो हमेशा से मेरा प्रिय विषय रहा है। मैंने एहसास किया है कि अमूर्तता हर जगत व्याप्त है किसी बिन्दु पर केन्द्रित नहीं है। गनेश हलोई प्रकृति को रहस्यमय मानते है जो स्वयं को अभिव्यक्त करती है।

''नवोदित कलाकारों में नरीननाथ गायतोण्डे की भाँति ही एक रंगीन चित्र रचना करते हैं। इसलिए उनके चित्रों को रंग का अमूर्तीकरण कहा जाय तो अतिश्योक्ति नहीं होगी।''[17] रंगों के क्रमिक आरोह-अवरोह एवं संगती के स्वरों की भाँति प्रयोग करते हुए नये अमूर्तन की भाषा गढ़ते नजर आते है। रंग उनके चित्रों में बहुत सीमित है। भारत भवन, भोपाल के कलाकार युसूफ कहते है कि समकालीन कला में जैसे-जैसे हम बुनियादी प्रश्नों को हल कर सकें है वैसे-वैसे प्रश्नों और दृष्टियों में बदलाव आता गया। इस बदलाव से सौन्दर्यात्मक धारणा भी अछूती नहीं रही। सौन्दर्य के जो निश्चित सूत्र थे वे बदलने लगे। अब सौन्दर्य की सार्वभौमिकता सम्बन्धी धारणाएँ टूटने लगी। वह अपने पारम्परिक सूत्रों और बन्धनों से मुक्त एक विशेष दृष्टि हो गया। मेरे विचारों से अब सार्वभौमिक सौन्दर्य की बात नहीं हो सकती। अब केवल एक विशेष दृष्टि की बात हो सकती है। यूसुफ अध्यात्मिकता को अमूर्तन के माध्यम से प्रकट करने की बात करते है।

इस तरह से हम देखते हैं कि भारतीय कला में अमूर्त चित्रण की स्थिति काफी अच्छी है। यदि मूर्त में काम हुआ है तो अमूर्त में कम नहीं। अमूर्त के अभाव में सच्चे अर्थों में देखा जाए तो समकालीन भारतीय कला अपने लक्ष्य को प्राप्त ही नहीं कर सकती है, एक स्तर तक यह भी कह सकते हैं कि अमूर्तन और मूर्तन जैसे बहस का कोई खास अर्थ नहीं रह जाता। क्योंकि दोनों एक दूसरे के पूरक है। यह भी लोग मानते रहे हैं कि शुद्ध अमूर्तन जैसे कोई चीज नहीं होती है क्योंकि, 'कुछ ना कुछ' तो रंगों और अमूर्त रूपाकारों के बहाने दिखता ही है। यानी अमूर्त के बहाने कुछ ना कुछ तो मूर्त होता ही है। यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि समकालीन भारतीय कला में साठ के दशक में उपजी भ्रान्तियों के कारण हम वास्तविक रूप से अमूर्तन की प्रतिष्ठा से चूक गये। 70-80 के दशक को आकृति की वापसी के रूप में देखा गया था। हर एक कलाकार आकृति को अपने चित्रों में डालने लगा पर कलाकारों का अमूर्तन से विश्वास उठ गया था। 90 के दशक में जगदीश स्वामीनाथन जैसे कलाकार को भी, अमूर्त कामों की एक निश्चित अपील बनाने के लिए संर्घष करना पड़ा। उनकी 1992 में आयोजित कला प्रदर्शनी इस बात का उदाहरण है कि अमूर्त उस समय भी एक विवादास्पद चीज बनी हुई थी और अमूर्त चित्र भाषा को समझने, सराहने, जाँचने की विधियाँ हमारे यहाँ पूरी तरह नहीं बन पायी थी।

अमूर्त को लेकर दुविधा होने का कारण यह भी रहा है। इसको पश्चिमी आयातित कला के रूप में देखा समझा जाता है। जिनसे कभी यहाँ अच्छी स्वीकृति नहीं हो पायी। ऐसी स्थितियों में अमूर्त अभिव्यक्ति के खतरे भी कम नहीं है। प्राचीन भारतीय कला परम्परा में अमूर्तन की जड़े काफी गहरी थी, किन्तु बीच में तमाम दूसरी कलाओं के प्रवेश से भारतीय कला अपने रास्ते से भटक गयी और कला के नाम पर सादृश्य को साधते-साधते अपने आधार को ही छोड़ दी। किसी कला को फलने-फूलने में सबसे बड़ा योगदान उनके संरक्षकों का होता है। जो इसे आशय देते है। प्रयाग शुक्ल का एक लेख जिसका शीर्षक 'अमूर्त कला की सीघ पूँछ कहाँ है' के माध्यम से प्रश्न उठते नजर आते हैं कि इसको कैसे पहचाना जा सकता है, जब कला निर्माता ही इसको समझने में अक्षम है। नियोतांत्रिक जिसे अमूर्त कला का ही एक रूप माना गया था, ने भी इस सरलीकरण और यान्त्रिकता को हवा दी। इसके संरक्षक कलाकार जी0आर0 संतोष, वीरेन डे जैसे कलाकार थे, जिन्होंने तंत्र को आधार बनाते हुए अपने चित्रों की रचना की।

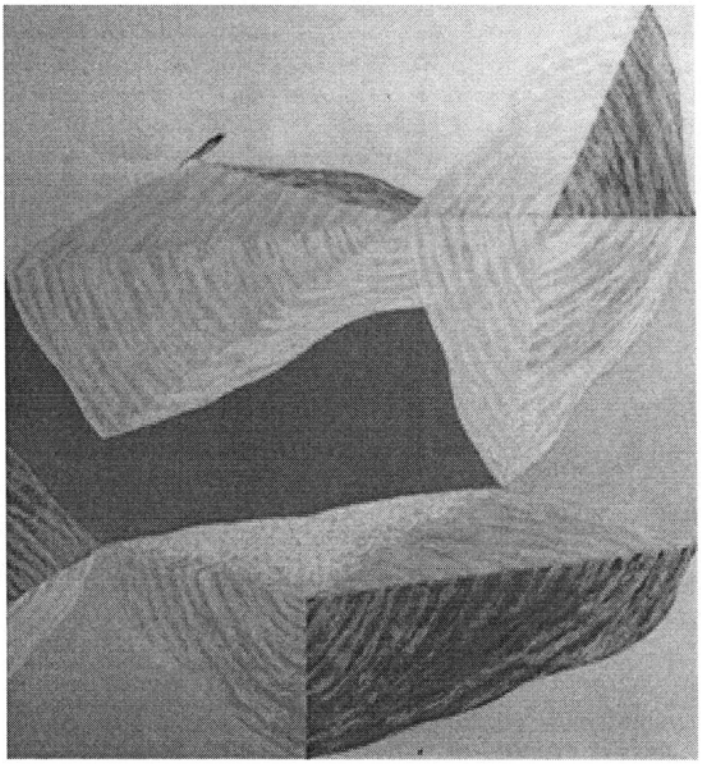

J.Swaminathan
"Bird and Rock"

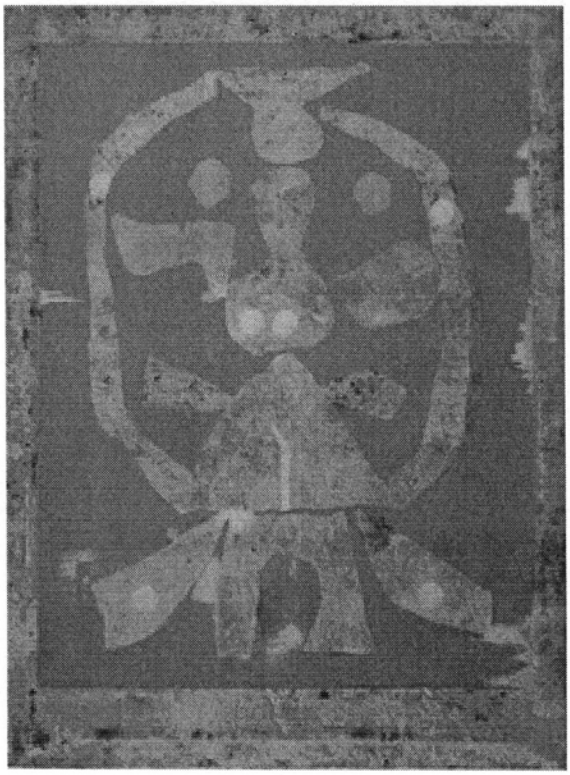

V.S. Gaitonde
Untitled, 1989

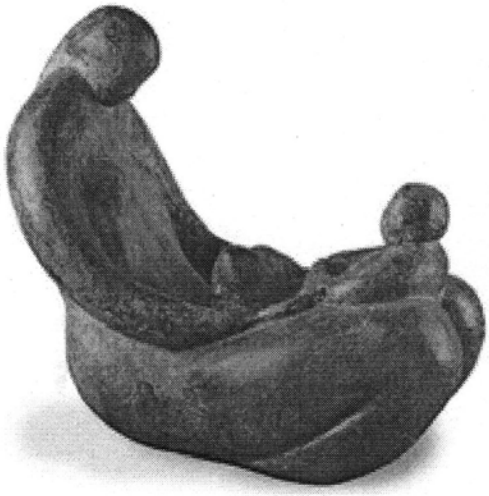

Pradosh Das Gupta
"Mother and child"

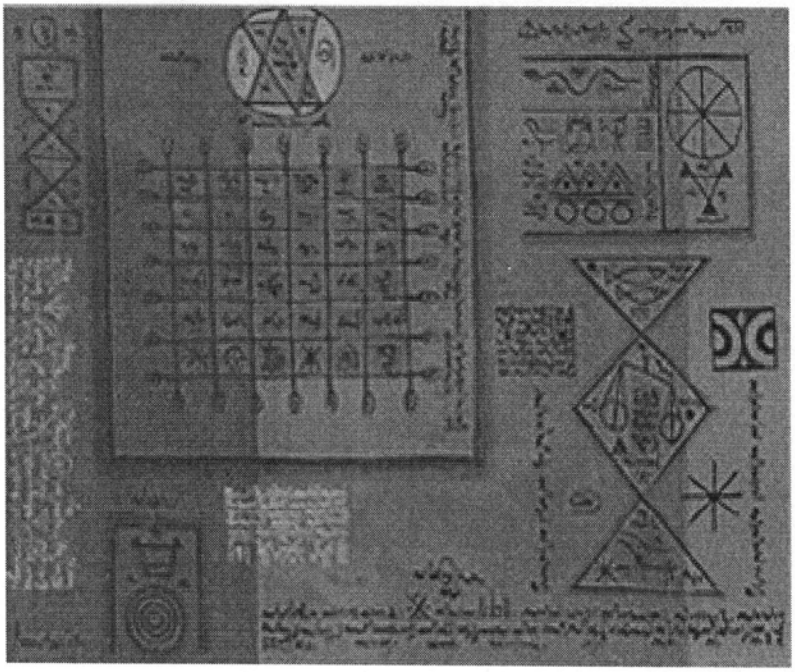

K.C.S. Paniker
"Word and Symbol"

भारत में आज युवा कलाकारों द्वारा अमूर्तन का प्रयोग सुविचारित ढंग से किया जा रहा है। गहरी अध्यात्मिकता और अपनी संस्कृति, प्रतीकों और अभिप्रायों को समझते हुए अपने स्व को रच रहे है। अमूर्तन व मूर्तन जैसे झगड़ों में न पड़ते हुए अपनी कृति में दोनों को अपना रहे है। एक दूसरे में आवाजाही इन कलाकारों की कला में देखी जा सकती है। इन कलाकारों की कृतियों में संगीत की गूँज साफ-साफ सुनाई देती है। भारतीय कला में अमूर्तन की स्थिति काफी सुदृढ़ हो गयी है। अपनी पुस्तक 'कला का रास्ता' में विनोद भारद्वाज जिन दस प्रमुख युवा कलाकरों की चर्चा करते है, अधिकतम कलाकार अमूर्तन में ही कार्य कर रहे हैं। रजा, सुजा, आरा, गायतोण्डे, अम्बादास, जगदीश स्वामीनाथन, यूसुफ जैसे कलाकारों की कला-परम्परा को उनके चरम बिन्दु पर ले जाने में सक्षम दिखते हैं। भोपाल जैसे केन्द्रों के नवयुवक कलाकारों का दल अमूर्त को पूरे मनोयोग से अपने कला-कर्म में उतार रहा हैं ये अपनी कला-शैली को सिर्फ अमूर्त नाम न देकर डिस्टार्शन के रूप में विषय को देख रहे हैं आज पूरे भारत में चाहे वह दिल्ली, कलकत्ता या बड़ौदा हर जगह ऐसा देखा जा रहा है।

प्रफुल्ल मोहंती, सीमा घुरैया, मनीष पुष्कले, किशोर शिंदे, अनवर जैसे कलाकार अपनी पहचान बनाने में सक्षम है। देश-विदेश तक 50 के दशक से ही अमूर्त शैली में कार्य करने वाले कलाकार रजा पेरिस जाकर बस गये। ये भारत में आकर सिर्फ अपने कला के लिए प्रेरणा ही नहीं थे, बल्कि स्थाई रूप में परिस से अपना घर बेचकर भारत रहने के लिए आ गये थे, जिससे कि अपने चित्रों को अमूर्त माध्यम से चर्मोत्कर्ष पर पहुँचा सके। अमूर्तन वस्तुतः यर्थाथ के भीतर की बात को प्रकट करने की एक प्रविधि है। यह एक तरह से साहित्य का 'सगुण' और 'निर्गुण' है। 'सगुण' यानी मूर्तन 'निर्गुण' यानी अमूर्तन। तुलसीदास ने कहा है 'सगुनंहि अगुनहि नहीं कछु भेदा। इस भेद-अभेद को नये ढंग से समझना उचित होता है और आज इसे समझा भी जा रहा हैं। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कलाकारों के साथ अन्य, अनेक युवा कलाकारों की कलाकृतियाँ आज के यर्थाथ को रेखाओं और रंगों के जरिए प्रकट करने में सक्षम दिखती हैं समसामयिक यर्थाथ को प्रकट करने के लिए जरूरी होता है कि उसको ठीक से पहचाना जाए।

अमूर्त एक ऐसी प्रविधि है, जिसके जरिए कलाकार भावों को, भाव-संघर्षों को, यर्थाथ के द्वंद्व को बहुत बारीक ढंग से प्रस्तुत करता हैं रेखांकन की जो पद्धति है वह भी तो अमूर्तन ही है। जटिल विषय को, किसी एक भाव को, महज रेखाओं के जरिए, संकेतों में प्रकट करना यह भी अमूर्तन का ही उदाहरण हैं सब चीजों को भारतीय कला में एक साथ घटित होते, प्रयोग होते हुए देखा जा सकता है। अमूर्त कला में भारतीय समकाल को कलाकार अमूर्त के माध्यम से साधने में सफलता हासिल कर रहा है। साथ ही सृजन की तमाम सम्भावनाएँ को भी अपने तरीके से विकसित कर रहा है।

सन्दर्भ सूची

1. समकालीन कला, ललित कला अकादमी, नयी दिल्ली, अंक 13, वर्ष नवम्बर 1989, जून 1993, पृ0 5
2. माया, भारत, विशेषांक, सम्पादक मार्कण्डेय, 1965, पृ0 153
3. वही
4. साखलकर रा0वि0, आधुनिक चित्रकला का इतिहास, पृ0 201
5. समकालीन कला, ललित कला अकादमी, नयी दिल्ली, अंक 13, वर्ष 1989, जून 1993, पृ0 5
6. भारद्वाज विनोद, वृहद आधुनिक कला कोश, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ0 388
7. वही, पृ0 388
8. कृष्णन, ए0, फिगरेटिव एवं एब्स्ट्रैक्ट आर्ट, पृ0 25
9. समकालीन कला, अंक 13, नवम्बर 1989, जून 1993, पृ0 6
10. वही, पृ0 5
11. समकालीन कला, ललित कला अकादमी, नयी दिल्ली, अंक 23, वर्ष-नवम्बर 2005-फरवरी 2006, पृ0 41
12. समकालीन कला, ललित कला अकादमी, नवम्बर, 1989, पृ0 6
13. वही
14. सम्पादक व्यास यशवन्त, आहं जिन्दगी, मार्च 2008, पृ0 7
15. मागो प्राणनाथ, भारत की समकालीन कला : एक परिप्रेक्ष्य, नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2006, पृ0 147
16. निरंजन राम, समकालीन भारतीय कला, पृ0 147
17. वही, पृ0 150

●

नज़ीर : बनारसी बनाम अकबराबादी

डॉ. राकेश कुमार राम

आज जब कोई किसी को सुनना नहीं चाहता, धार्मिक एवं सामाजिक टकराव के कारण कोई किसी को अपने से आगे बढ़ने नहीं देता, असहिष्णुता के कारण किसी को तर्क-वितर्क नहीं करने देता, तो अनायास ही दो धुरों पर खड़े नज़ीर अकबराबादी और नज़ीर बनारसी याद आ जाते हैं। दोनों ही अपने समय के मशहूर शायर और नज़्मकार थे। एक रईसों की नगरी दिल्ली तो दूसरे साधू, संतों और फ़कीरों की नगरी बनारस को सुशोभित करते थे। 25 नवम्बर 1909 ई0 को बनारस में जन्में नज़ीर बनारसी का वास्तविक नाम 'नज़ीर अहमद' था। इनके माँ का नाम कुल्सुम बीबी और पिता का नाम हकीम नूर मुहम्मद था। जैसा कि 'हकीम' नाम से ही स्पष्ट है कि इनके पिता, दादा, परदादा सबके सब हकीम थे और उसी रास्ते पर चलते हुए ''नज़ीर साहब ने भी उस्मानिया तिब्बिया कॉलेज, इलाहाबाद से हकीमी की डिग्री हासिल की थी।''[1] नज़ीर बनारसी के औपचारिक शिक्षा के सम्बन्ध में विशेष जानकारी नहीं मिलती। लेकिन औपचारिक शिक्षा के अभाव में भी इनका बौद्धिक विकास अवरूद्ध नहीं हो पाता। बारह-तेरह साल की उम्र में उनके द्वारा कहा गया यह शेर इसका प्रमाण है-

''जो हुस्न की देवी है काँटों भरे जंगल में,

नज़रे भी मिलाता चल दामन भी बचाये जा।''[2]

स्वाध्याय के बल पर नज़ीर बनारसी ने उर्दू और फ़ारसी का पर्याप्त ज्ञान अर्जित कर लिया था। ''काव्य गोष्ठियों में लगातार हिस्सेदारी, उस्ताद शायरों की सरपरस्ती और खुद के जी-तोड़ परिश्रम ने नज़ीर को वह सब-कुछ दे दिया जिसने उन्हें बेनज़ीर बना दिया।''[3] बनारस के वे थे ही और इसी बनारस के तुक ने उन्हें 'नज़ीर अहमद' से 'नज़ीर बनारसी' बना दिया। इस सम्बन्ध में वे बड़े गर्व से कहते हैं-

''मैं बनारस का निवासी काशी नगरी का फ़क़ीर

हिन्द का शायर हूँ शिव की राजधानी का सफ़ीर

लेके अपनी गोद में गंगा ने पाला है मुझे

नाम है मेरा नज़ीर और मेरी नगरी बेनज़ीर।''[4]

दूसरे धुरी पद खड़े नज़ीर अकबराबादी का जन्म 1735 ई0 में देहली (दिल्ली) में हुआ था। इनका वास्तविक नाम 'वली मुहम्मद' था। वली मुहम्मद (नज़ीर अकबराबादी) का जन्म उनके पिता के लिए किसी नियामत से कम न था। क्योंकि ''वली मुहम्मद के जन्म के पहले उनके बारह भाई-बहन गुजर चुके थे। उनके माता-पिता इस दुःख से पस्त थे। अपने जीवन की यह हताशा लिए वली मुहम्मद के पिता अपने शहर में आये एक फ़कीर के पास पहुँचे। उनका दुःख जान फ़कीर ने उन्हें पांच फूल सौंपते हुए निर्देश दिये कि इन फूलों को सूँघकर नदी में डाल देना और जैसा घटित हो मुझे सूचित करना। वली के पिता ने फ़कीर के कहेनुसार यमुना तट पर जाकर फूलों को एक-एक करके जल में फेंका, बाकी फूल डूब गये पर एक फूल तैरता रहा। वली मुहम्मद के पिता मुहम्मद फ़ारूक़ ने यह बात आकर फ़कीर को बतायी। फ़कीर ने प्रसन्नबदन भविष्यवाणी की खुश रह! तेरा लड़का जिन्दा रहेगा और तेरा नाम रोशन करेगा।''[5] नज़ीर अकबराबादी के माँ के तौर पर ''नवाब सुल्तान खाँ किलेदार आगरा की बेटी''[6] का ही जिक्र पाया जाता है। वली मुहम्मद के पिता पेशे से सिपाही पटना के किसी रईस के यहाँ नौकर थे। इनके जन्मस्थान को लेकर दिल्ली और आगरा के बीच बहस है।

'मौलाना अब्दुलबारी आसी' इन्हें दिल्ली का ही मानते हुए अपनी पुस्तक 'कुल्लियात-ए-नज़ीर' में लिखते हैं' ''नज़ीर शहर देहली में 1735 ई0 में पैदा हुए। बड़े पुरआशोब जमाने में होश सँभाला, अहमद शाह अब्दाली के तीन हमले 1748 से 1764 ई0 तक हुए। इसलिए नज़ीर अपनी माँ और नानी के साथ 22-23 साल की उम्र में तर्के वतन पर मजबूर हुए और आगरे में मिठाई के पुल के पास रहने लगे।''[7]

यानी वली मुहम्मद की औपचारिक शिक्षा-दीक्षा, शादी-व्याह और शेष जीवन आगरे में बीता। वली मुहम्मद को आगरे से इतना मुहब्बत था कि ''शाहजहाँ द्वारा आगरा को दिये गये नाम 'अकबराबाद' को अपने उपनाम 'नजीर' के साथा जोड़कर वली मुहम्मद से एक जुदा शख्सियत नजीर अकबराबादी बन गये।''[8] आगरे से अपने अस्तित्व को पूरी तरह जोड़ते हुए वे लिखते हैं-

''आशिक कहो, असीर कहो, आगरे का है,

मुल्ला कहो, दबीर कहो, आगरे का है,

मुफ़लिस कहो, फ़कीर कहो, आगरे का है,

शायर कहो, नज़ीर कहो, आगरे का है।''[9]

नज़ीर बनारसी बहुत छोटी उम्र से ही एक श्रोता के रूप में काव्य-गोष्ठियों में शिकरत करने लगे थे। शायराना मिज़ाज के चलते

*असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, डी0ए0वी0पी0जी0 कालेज, वाराणसी।

अपने अन्दर खुद ही शेर कहने की सहालियत पैद कर ली थी। इन्हें बिना देर किये शेर कहने का अभ्यास हो गया था। इस सम्बन्ध में डॉ0 अमृत लाल 'इशरत' एक संस्मरण सुनाते हैं कि एक दफा नज़ीर नैयर साहब के आवास पर गये और देखा कि 'नैयर' साहब काव्य चिंतन में लीन हैं। पूछने पर ज्ञात हुआ कि एक पद ऐसा आ गया है जिसपर अत्यन्त प्रयास के बावजूद पद नहीं लग रहा था। पद था-

''ये क्या ख़बर कि आग थी और आशियाँ में थी।''[10]

नज़ीर बनारसी ने तुरन्त पद लगाया और कहा-

''एक फूल-सा खिला था निगाहों के सामने,

ये क्या खबर कि आग थी और आशियाँ में थी।'' [11]

नज़ीर बनारसी के इस विशेष प्रतिभा की पुष्टि उनके छह काव्य-संग्रह, गंगोजमन, 'जवाहर से लाल तक', 'गुलामी से आजादी तक', 'चेतना के स्वर', 'किताबे गज़ल' और 'राष्ट्र की अमानत राष्ट्र के हवाले' से होती है। वो फिराक़ गोरखपुरी, फ़ैज़, कैफ़ी आज़मी और जिगर के सहयात्री, पं0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, सम्पूर्णानंद, सज्जाद ज़हीर के बीच बनारस की प्रतिष्ठा और समकालीन कविता के अनन्य कवि थे। 'मजरूह सुल्तानपुरी' बक़ौल खुद ''नज़ीर बनारसी उनके जिगरी दोस्त थे।''[12]

नज़ीर अकबराबादी शेर-ओ-शायरी के अतिरिक्त खेल-कूद पर भी ध्यान दिया करते थे। पच्चीसा, चौसर, शतरंज आदि में उनको विशेष रूचि थी। उन्हें बुलबुल और तीतर लड़ाने, तथा कुश्ती लड़ने का भी शौक था। नज़ीर अकबराबादी पेशे से शिक्षक मगर प्रवृत्ति से शायर थे। उन्हें अरबी, फारसी, संस्कृत, उर्दू, पंजाबी, मारवाड़ी आदि भाषाओं का ज्ञान था। हिन्दी साहित्य का 'रीतिकाल' इनका रचनाकाल है। नज़ीर अकबराबादी के काल में उर्दू के शायरों में 'मीर तक़ी मीर', 'सौदा', 'दर्द', और नज़ीर के शागिर्दों में शुमार 'मिर्जा गालिब' का जमाना था। लेकिन इनमें से कोई भी नज़ीर अकबराबादी की तरह जनसाधारण से जुड़ी शायरी का रचयिता नहीं था। उन्होंने अपने हृदय की मौज पर जनता के लिए लिखा। वे सामन्तों और राजाओं के निमंत्रण पर भी उनके दरबार का हिस्सा नहीं बने। लखनऊ के नवाब 'सआदत अली खाँ' ने इनकी आर्थिक कठिनाईयों को जानकर जब मदद भेजी तो माफ़ीनामे के साथ नज़ीर अकबराबादी ने सआदत अली खाँ को यह संदेश भेजी कि ''बादशाह से मेरा सलाम कहना मेरी तरफ़ से माफ़ी माँगना और अर्ज करना कि नज़ीर फ़कीर तो अपनी झोपड़ी में ही खुश है। शाही महलों में रहना उसकी तक़दीर में नहीं।''[13]

नज़ीर बनारसी राष्ट्रीयता और आपसी भाईचारा के प्रतिनिधि कवि-शायर थे। राष्ट्रीयता अथवा राष्ट्रवाद आज की ज्वलंत समस्या है। तथाकथित राष्ट्रवादी अपने-अपने तरीके से राष्ट्रवाद की परिभाषा गढ़ रहे हैं। ऐसे में नज़ीर बनारसी के दृष्टिकोण को देखा जा सकता है। वे राष्ट्रवाद के नाम पर बढ़ते नफ़रत की ओर इशारा करते हुए प्रेम की बात करते हैं -

''नफ़रत की आग बढ़ने न पाये बुझा के चल,
उठ और प्रेम-प्यार की गंगा बहा के चल,
फरमान वक्त का है यह हर भारती के नाम
मतभेद सारे अपने दिलों से मिटा के चल''[14]

राष्ट्रवाद के नाम पर पनप रही यह फ़िरक़ापरस्ती लोगों के जेहन में इतना ज़हर घोल रही है कि लोग एक दूसरे को मारने-काटने पर भी उतारू हो जा रहे हैं। एक पल में ही लोग जिन्दगी भर का साथ छोड़ दे रहे हैं। इस फ़िरक़ापरस्ती के सम्बन्ध में नज़ीर बनारसी लिखते हैं-

''कैसी-कैसी शख़्सियत अलगाववादी हो गई
कैसे-कैसे जेहन को फिरकापरस्ती खा गई
एक पल में उम्र भर का साथ छूटा है 'नज़ीर'
बदगुमानी ज़िन्दगी भर की कमाई खा गई।''[15]

नज़ीर बनारसी का राष्ट्र के प्रति यह जज़्बा ही है कि वे हिन्दू हो या मुस्लिम सभी फिरकापरस्तों को चैलेंज देते हैं कि -

''खून अब किसी इन्सान का पीने नहीं दूँगा,
ऐ फ़िरकापरस्ती तुझे जीने नहीं दूँगा।''[16]

क्योंकि इसी फिरकापरस्ती ने भारत के हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई सभी के मन में एक दूसरे के प्रति वैमनस्य पैदा किया है। इसलिए-

''अब तू न रहेगी न तिरा राज रहेगा,
हर सर पे मुहब्बत का हसीं ताज रहेगा।''[17]

आज हर जगह मंदिर-मस्ज़िद का झगड़ा है। कहीं गोकसी के नाम पर दंगा हो जा रहा है तो कहीं अज़ान के नाम पर बलवा हो जा रहा है। लोग मौके की तलाश में रहते हैं कि अवसर मिले तो साम्प्रदायिकता की आग भड़काकर अपना स्वार्थ साधें। यहाँ लोगों को सचेत करते हुए नज़ीर बनारसी लिखते हैं-

''वह काम करें हम क्यों जिससे उस राष्ट्रपिता का दिल टूटे
मन्दिर का कलश या मस्जिद का मीनार न टूटे ऐ साथी
हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई आपस में रहे भाई-भाई
गूँथा है जो बूढे माली ने वह हार न टूटे ऐ साथी।''[18]

इसी तरह नज़ीर अकबराबादी अपने धर्म पर पूरा अक़ीदा रखते हुए भी सभी धर्मों का सम्मान करते थे। आदमी की खूबियों में विश्वास रखने वाले नज़ीर अकबराबादी की शायरी इसी आदमी की आदमियत को प्रस्तुत करती है-

''यार आदमी ही नार है और आदमी ही नूर
यार आदमी ही पास है और आदमी ही दूर
कुल आदमी का हुस्नो कबह में है या जहूर
शैतां भी आदमी है जो कहता है मको जूहूर।''[19]

नज़ीर ने भिन्न-भिन्न विषयों पर लिखा जिसमें धर्म का प्रमुख स्थान रहा है। लेकिन उन्होंने आदमी को कभी धर्म के कटघरे में नहीं बाँधा। नज़ीर की नज़र में इन्सान से प्यार करने वाले इन्सान का सच्चा दीन और धर्म केवल प्यार है।

''झगड़ा न करे मिल्लतो मज़हब का कोई यां
जिस राह में आन पड़े खुश रहे हर आं
जुन्नार गले या कि बगल बीच हो कुरआं
आशिक तो कलन्दर है न हिन्दू न मुसलमां।''[20]

नज़ीर अक़बराबादी के समय में भी हिन्दू-मुसलमान के कट्टर धार्मिक वसूलों के बीच एक दूसरे के ईश्वर-अल्लाह का नाम ले लेने मात्र से धर्म के खतरे का वहम हो जाता था। लेकिन उस समय भी नज़ीर को हिन्दू देवी-देवताओं पर कलम उठाने में कोई परेशानी नहीं हुई। वे हिन्दुओं के देवता गणेश पर लिखते हैं-

''पहले नॉव गणेश का लीजे सीस नवाय
जासे कारज सिद्ध हो, सदा महूरत लाय
खुशी रहे दिन-रात वह, कभी न हो दिलगीर
महिमा उसकी भी रहे, जिसका नाम नज़ीर।''[21]

इतना ही नहीं हिन्दुओं ने इस विधर्मी कवि द्वारा लिखी गयी कविताओं को अपने मन्दिरों में आारती के रूप में गाया। इसका कारण था कि वे सभी धर्मों को समान मानते थे।

'गंगा' प्रदूषण आज भारत की ज्वलंत समस्या है, जिसे लोग अपने-अपने तरीके से गंगा को इससे मुक्ति दिलाना चाहते हैं, लेकिन प्रदूषण है कि खत्म होने का नाम ही नहीं लेता। होगा भी क्यूँ? कोई गंगा के नाम पर राजनीति कर रहा है तो कोई 'गंगा सेवा निधि' अथवा 'गंगा-बचाओ समिति' के नाम पर होने वाले कार्यक्रमों के माध्यम से गंगा को और भी प्रदूषित कर रहा है। धार्मिक कर्मकांड गंगा प्रदूषण जैसे कोढ़ में खाज का काम कर रहा है और तो और किसी को गंगा माँ ने अपनी मुक्ति के लिए स्वतः बुलाया है, लेकिन प्रदूषण खत्म ही नहीं हो रहा है। इसपर नज़ीर बनारसी का दृष्टिकोण बिल्कुल स्पष्ट है। वे सीधे-सीधे कहते हैं कि गंगा इसलिए प्रदूषित हैं, क्योंकि -

''कब्जा है आज इस पर भैंसों की गन्दगी का
स्नान करने वालों जिस पर है हक़ तुम्हारा
किस आईने में देखे मुँह अपना चाँद तारे
गंगा का सारा जल हो जब गन्दगी का मारा।''....[22]

नज़ीर बनारसी गंगा की इस दशा को देखकर चिंतित हैं कि हिन्दू धर्म की उन श्रद्धाओं का क्या होगा, जहाँ यह माना गया है कि गंगा में स्नान से मुक्ति मिल जाती है। मरने के बाद अस्थियों के तर्पण से पुरखों को मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। यह गंगा जो परलोक का सहारा है, इस विश्वास का क्या होगा? नज़ीर बनारसी इसीलिए कहते हैं-

'डरता हूँ रूक न जाये कविता की बहती धारा
मैली है जब से गंगा, मैला है मन हमारा।[23]

नज़ीर बनारसी की दृष्टि में गंगा सिर्फ मुक्ति दायिनी ही नहीं है यह सामाजिक समरसा का प्रतीक भी है, क्योंकि गंगा के शरण में आने वाले सभी जनों चाहे वह जिस जाति, धर्म अथवा सम्प्रदाय का हो, सबको मुक्ति देती है। उनके यहाँ कोई विभेद नहीं है-

''वो छूत हों या अछूत सबका उठा के चलती है भार गंगा
यहाँ नहीं ऊँच-नींच कोई, उतारे हैं सबको पार गंगा।''[24]

उत्तर आधुनिक समय में नज़ीर बनारसी की ये कवितायें लोगों को चौकाते हैं। साथ-ही-साथ तथाकथित हिन्दुत्ववादियों की पोल भी खोलते हैं।

इसी तरह गणेश जी की स्तुति, हरि जी का सुमिरन, श्री कृष्ण जी की तारीफ, दुर्गा जी के दर्शन और तारीफ़ भैरो की जैसे शीर्षक गीत किसी इस्लाम के अनुयायी शायर की कलम से निकले होने की सम्भावना को नकारते हैं। लेकिन नज़ीर अकबरावादी ने ही इसे लिखा है। शिव-विवाह का गीत देखते ही बनता है जब नज़ीर अकबराबादी लिखते हैं-

'बोल बचन आनंद के, प्रेम, प्रीत और चाह
सुन लो, यारो, ध्यान धर, महादेव का ब्याह
जोगी-जंगी से सुना, वह भी किया बयान
और कथा में जो सुना, उसका भी परमान।'[25]

नज़ीर अकबराबादी के बोध का दूसरा हिस्सा लोगों को आश्चर्य-चकित करता है। अपने धर्म का पक्का एक मुस्लिम कवि कृष्ण से जुड़ी विभिन्न कथाओं जैसे 'जनम कन्हैया जी', 'बालपन बाँसुरी बजैया का', 'ब्याह कन्हैया का', 'कन्हैया जी की रास',

'श्री कृष्ण व नरसी मेहता' एवं 'बलदेव जी की स्तुति' करता है। नज़ीर अकबराबादी द्वारा किया गया श्रीकृष्ण के बालपन का चित्रण देखते ही बनता है-

''ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालपन
क्या-क्या कहूँ मैं किशन-कन्हैया का बालपन
इक रोज मुँह में कान्हा ने माखन झुका दिया
पूछा जसोदा ने तो वहीं मुँह बना दिय
मुँह खोल तीन लोक का आलम दिखा दिया
इक आन में दिखा दिया और फिर भुला दिया।''[26]

आज हिन्दू अथवा मुसलमान कवि एक दूसरे के मामले में कलम उठाने से डरते हैं। दोनों लोग अपने-अपने साहित्य में मज़हबी किलेबंदी किये हुए हैं लेकिन नज़ीर अकबराबादी अपने समय में ऐसी ही किलेबंदी के बावजूद अपनी धार्मिक पहचान के साथ ईश्वर वंदना करते हैं-

''क्या मची है बहार, जय बलदेव
ऐश के कारोबार, जय बलदेव
धूम लैलो निहार, जय बलदेव
हर कहीं आशकार, जय बलदेव
कह नज़ीर अब पुकार, जय बलदेव
सब कहो एक बार, जय बलदेव।'' [27]

नज़ीर बनारसी में सामाजिक चेतना कूट-कूट कर भरी हुई थी। इनके साहित्य में आपसी भाईचारे का संदेश कदम-कदम पर मिलता है। हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई सबमें समरसता बढ़े यहीं उनकी चिंता और चिंतन थी-

''ये सिक्ख हैं, वो हिन्दू, ये इसाई, ओ मुसलमान
पहचान के आते नहीं आँधी हो के तूफान
पहुँचाते हैं राहत कभी पहुँचाते हैं नुकसान
कुफ्र इनके लिए है कोई शै और न ईमान।''[28]

नज़ीर बनारसी वो हर काम करने से मना करते हैं, जिससे लोगों की भावनाओं को ठेंस पहुँचे। वे धर्म और ईमान पर चलते हुए भी सबको साथ लेकर चलने की बात करते हैं। वे आपसी व्यवहार को बनाये रखने का आह्वाहन करते हुए लिखते हैं -

''परलोक की बातें तो चलकर परलोक में समझी जाएँगी
हम सबकी मुहब्बत का बंधन इस पार न टूटे ऐ साथी
जीना हो कि मरना ऐ साथी सब साथ का अच्छा होता है
दम टूटे तो टूटे आपस का व्यवहार न टूटे ऐ साथी।''[29]

नज़ीर बनारसी की गज़लों और नज़्मों को पढ़ते हुए पाठक सामाजिक समरसता के इसी भाव-बोध का अनुभव करेगा। धर्म और संस्कार से परे नज़ीर का वास्तविक चेहरा यही हैं। वे तो हमेशा से ही लोगों से यहीं कहते आये हैं-

''नफ़रत की आग बढ़ने न पाये बुझा के चल
उठ और प्रेम-प्यार की गंगा बहा के चल।''[30]

नज़ीर अकबराबादी की कविताएँ भी जनसरोकारों से जुड़कर चलती हैं। वे हृदय की मौज पर जनता के लिए कविताएँ लिखते थे। लोग उनसे फरमाइशे कर-कर के लिखवाते थे। फेरी वालों, जोगियों और हिजड़ों तक के लिए आवश्यकतानुसार कवितायें रच देते थे। ककड़ी बेचने वाले के लिए लिखा गया उनका यह नज़्म देखिए -

'छूने में बर्गे-गुल है खाने में कुरकुरी है
गर्मी को मारने की इक तीर की सरी है
आँखों में सुख, कलेजे ठण्डक हरी भरी है
ककड़ी न कहिये इसको, ककड़ी नहीं परी है।''[31]

जनकवि के रूप में उनकी प्रसिद्धि असन्दिग्ध है। आम आदमी के सम्बन्ध में उनकी शायरी का आज भी गाया जाना इसका प्रमाण है। नज़ीर अकबराबादी द्वारा लिखा गया 'आदमीनामा' उनके इसी खाशियत को दिखलाता है। आदमीनामा में वे लिखते हैं -

''यॉ आदमी पर जान को वारे है आदमी
और आदमी ही तेग से मारे है आदमी
पगड़ी भी आदमी की उतारे है आदमी
चिल्लाके आदमी को पुकारे है आदमी
और सुनके दौड़ता है, सो है वह भी आदमी।''[32]

नज़ीर अकबराबादी के नज़्मों की सहज भाषा, लय-ताल और सबसे बड़ी बात कि आम आदमी के मुद्दों से सीधे-सीधे जुड़ जाने की कला अद्भुत है। उनकी कविता की गेयता और आम जीवन से सम्बद्धता देखते ही बनता है - मुफ़लिसी (तंगहाली) के शिकार आम आदमी की क्या दशा होती है, उसका जीवंत चित्रण देखिये -

''मुफ़लिस की कुछ नज़र नहीं रहती है आन पर
देता है वह अपनी जान एक-एक नान पर
हर आन टूट पड़ता है रोटी के ख्वान पर
जिस तरह कुत्ते लड़ते हैं एक उस्तख्वान पर।''[33]

तत्कालीन हिन्दी-उर्दू कविता के मानदण्डों की बात करें तो नज़ीर अकबराबादी इस पर खरे नहीं उतरते लेकिन जीवन सम्बद्धता के मामले में वे निर्विववाद रूप से श्रेष्ठ नज़र आते हैं।

भाषा की जन-सम्प्रेषणीयता नज़ीर बनारसी की गज़लों की सबसे बड़ी विशेषता है। इस सम्बन्ध में इनका कहना था - ''शायर होने के नाते गज़ल मेरा मिज़ाज है, गज़ल को मैं दीगर असनाफ़े सुखन (रचना-विधान) के मुकाबले में मुश्किल समझता हूँ। मेरा विचार है कि गज़ल में इस बात की सम्पूर्ण योग्यताएँ विद्यमान है कि वह सम्पूर्ण विचार और तसव्वुरात को अच्छी तरह से आसानी से पेश कर सके क्योंकि इसका दामन काफ़ी फैला हुआ है।''[34]

अफ़सोस की इसी भाषा को लेकर उर्दू अदब की दुनियाँ में उनकी आलोचना की गई। इस सम्बन्ध में 1935 में मुस्लिम हास्टल, इलाहाबाद में आयोजित मुशायरे आयोजन का सन्दर्भ देना चाहूँगा। मुशायरे में जोश इलाहाबादी मुख्य अतिथि थे और अध्यक्षता सफ़ी लखनवी कर रहे थे। जिगर मुरादाबादी, साग़ज़र निजामी, साकिब कानपुरी जैसे पचासों शायर थे, जिसका संचालन तेजबादुर सप्रू के हाथों में था। इस मुशायरे में नज़ीर इलाहाबादी के गज़ल को कामयाब गज़ल की सनद दी गयी और इनकी गज़ल को दोबारा पढ़ने की फ़रमाइश की गई। इस पर संचालन कर रहे तेज बहादुर सप्रू ने सफ़ी लखनवी को मुखातिब करके कहा ''सफ़ी साहब कोई कह सकता है कि नज़ीर बनारसी की गज़ल की भाषा उर्दू नहीं है, मेरा खयाल है कि उर्दू जबान जिसमें नज़ीर बनारसी की गज़ल है, अगर यहीं उर्दू होती तो आज उर्दू को यह दिन न देखने पड़ते।''[35] इसके बावजूद भी उर्दू अदब़ की दुनिया में जनसंप्रेषणीय उर्दू भाषा में कही गई उस नज़्म को जगह नहीं दी गई जिसने श्रोता को रूलाने पर मजबूरर कर दिया था। वह नज़्म थी -

''तेरा अरमान पूरा होगा ऐ अम्नो अमाँ वाले
तेरे झंडे के नीचे आयेंगे सारे जहाँ वाले
मेरे गाँधी ज़मीं वालों ने तेरी कद्र जब कम की
उठाकर ले गये तुझको जमीं.से आसमाँ वाले।''[36]

नज़ीर अकबराबादी भी फारसी की बँधी-बँधाई लीक पर नहीं चले। हम सब जानते हैं कि ''अठारहवीं शताब्दी में 'उर्दू' गढ़ने के चक्कर में सबसे पहले उसे प्रचलित हिन्दी से दूर किया गया।''[37] नज़ीर अकबराबादी ने उर्दू की प्रवृत्ति खड़ी बोली, अवधी तथा ब्रजभाषा के प्रचलित शब्द भंडार को छोड़ नये एवं अनजाने अप्रचलित फारसी शब्दों के प्रयोग का अनुसरण नहीं किया। जिसका खामियाजा उन्हें भुगतना पड़ा। उन्हें उर्दू के पाठ्यक्रमों में शामिल नहीं किया गया। तत्कालीन उर्दू साहित्य उनसे बचकर चलती रही। लेकिन उन्हें आम जनता की बेपनाह मुहब्बत मिली। वे कबीर की तरह लोक में जीवित रहे। अपने इसी जनभाषा के कारण नज़ीर अकबराबादी अपने समकालीन उर्दू शायरों की अपेक्षा ज्यादे पढ़े एवं सुने जाते हैं।

नज़ीर बनारसी को काशी, बनारस की गलियों से विशेष प्रेम था। काशी की संस्कृति और परम्परा से उन्हें विशेष लगाव था। इसीलिए वह लिखते हैं -

''काशी नगरी 'नज़ीर' अपनी नगरी
बुत के हम और हर बुत हमारा।''[38] बनारस की गली-कूचे उन्हें विशेष आकर्षित करते थे। चोर, उचक्कों गठमारों, जहाँ हुशियार न रहने पर लुट जाने का खतरा रहता है। लेकिन इसी गली में -

''मिलता है निगाहों को सुकूँ हृदय को आराम
क्या प्रेम है क्या प्यार बनारस की गली में।''[39]

नज़ीर बनारसी बड़े गर्व से कहते हैं कि बनारस मेरा नगर है। श्मसान की नगरी, मुक्ति का धाम, गंगा की लहरों को देखकर जहाँ प्रेम उपजता है, जहाँ एक ही साथ अजान और घंटे बजते हैं। उन्हें ऐसे शहर से बेपनाह मुहब्बत है। इसी मुहब्बत में वे सबसे कहते हैं-

''मेरा दरवाजा खुला रहता है सबकी खातिर
शहर भर जिसका है हक़दार, वह घर मेरा है
जिसके पैर आठ पहर धोती है गंगा की लहर
जिसको कहते हैं बनारस वह नगर मेरा है।''[40]

कुछ इसी तरह नज़ीर अकबराबादी को भी आगरा शहर से विशेष लगाव था। इसीलिए इन्होंने आगरे के जनजीवन का जैसा चित्रण किया है वह उर्दू के किसी शायर या कवि ने नहीं किया है। संसार की जितनी खुबियाँ हैं उन्हें आगरे में दिख पड़ती है। वे लिखते हैं -

''आशिक कहो, असीर कहो आगरे का है
मुल्ला कहो, दबीर कहो आगरे का है
मुफलिस कहो, फकीर कहो आगरे का है
शायर कहो, नज़ीर कहो आगरे का है।''[41]

आगरे के प्रति उनका प्रेम ही है कि उस शहर की जनता उन्हें आज भी उतना ही लोकप्रिय बनाये हुए है जितना वे अपने समय में थे। आगरे में धड़कते हर जीवन को उन्होंने बड़े प्यार से देखा था, उसे हर कोण से निहारा था। इसीलिए वे आगरे की सलामती के लिए दुआ करते हुए लिखते हैं -

''है मेरी हक़ से अब ये दुआ शाम और शहर

हो आगरे की खल्क पर अब मेहर की नज़र

सब खावें, पीवें शाद रहे अपने-अपने घर

इस टूटे शहर पर भी इलाही तू फ़ज्ल कर।''[42]

23 मार्च 1991 ई0 में लगभग 87 वर्ष की उम्र में नज़ीर बनारसी और 1 अगस्त 1830 ई0 को नज़ीर अकबराबादी की मृत्यु हुई। नज़ीर बनारसी की मृत्यु पर हिन्दू भी जनाजे की चादर ले गये तो नज़ीर अकबराबादी के जनाजे की नमाज शिया-सुन्नियों ने अपने-अपने तरीके से पढ़ी। इन दोनों नज़ीरों की मृत्यु भी संसार की निःसारता को दर्शाती है। जहाँ नज़ीर बनारसी कहते हैं -

''क़फन आता है चन्दे से यहाँ के मरने वालों का

यही है आख़िरी ईनाम सब कुछ करने वालों का।''[43]

तो वहीं नज़ीर अकबराबादी कहते हैं-

''क्या लौंडी, बाँदी, दाई, ददा, क्या बंदा, चेला, नेक चलन

क्या मंदिर, मस्जिद, ताल, कुएँ, क्या घाट, सरा क्या बाग-चमन

सब ठाठ पड़ा रह जायेगा जब लाद चलेगा बंजारा।''[44]

आज जब हिन्दी और उर्दू, हिन्दू और मुस्लिम, जाति एवं सम्प्रदाय अपने-अपने कठघरों में घिरीं खड़ी हैं तो ये दोनों कवि-शायर अनायास ही याद आ जाते हैं और ऐसा लगता है कि आज क्या इनके जैसे कवि और शायर पैदा नहीं हो सकते जो जाति और मज़हब से परे मानवता का संदेश दे सके। साम्प्रदायिक वैमनस्य में जी रहे लोगों के दिलों को जोड़ सके। और तो और पूरे विश्वास के साथ यह भी कह सके,

''मुहब्बत को बरूस कार ला सकते हैं हम दोनों

ज़माने भर को सीने से लगा सकते हैं हम दोनों।

संदर्भ

1. मूलचंद सोनकर, नज़ीर बनारसी की शायरी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2010, पृ0-05
2. वही, पृ0-05
3. वही, पृ0-06
4. वही, पृ0-144
5. संवेद, अंक-72, जनवरी-2014, पृ.-260
6. वही, पृ.-261
7. उद्धृत, वही, पृ.-261
8. वही, पृ. 261
9. हबीब तनवीर : आगरा बाजार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2010, पृ.-48
10. मूलचंद सोनकर, नज़ीर बनारसी की शायरी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2010, पृ.-6
11. वही, पृ. 06
12. वही, पृ. 07
13. संवेद, अंक-72, जनवरी-2014, पृ. 262
14. मूलचंद सोनकर, नज़ीर बनारसी की शायरी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2010, पृ. 74
15. वही, पृ. 75
16. वही, पृ. 78
17. वही, पृ. 78
18. वही, पृ. 86
19. संवेद, अंक-72, जनवरी-2014, पृ.-267
20. वही, पृ. 267
21. हबीब तनवरी, आगरा बाजार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2010, पृ. 93
22. मूलचंद सोनकर, नज़ीर बनारसी की शायरी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2010, पृ.-104
23. वही, पृ. 104
24. वही, पृ. 108
25. हबीब तनवीर, आगरा बाजार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली संस्करण-2014, पृ. 93
26. वही, पृ. 73
27. वही, पृ. 67
28. मूलचंद सोनकर : नज़ीर बनारसी की शायरी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2010, पृ.-90
29. वही, पृ. 86
30. वही, पृ. 74
31. हबीब तनवीर, आगरा बाजार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली संस्करण-2010, पृ. 106
32. वही, पृ. 109
33. वही, पृ. 55
34. मूलचंद सोनकर : नज़ीर बनारसी की शायरी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2010, पृ.-7
35. वही, पृ. 8
36. वही, पृ. 8
37. संवेद, अंक-72, जनवरी-2014, पृ. 279
38. मूलचंद सोनकर : नज़ीर बनारसी की शायरी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2010, पृ.-98

39. वही, पृ. 99

40. वही, पृ. 101

41. हबीब तनवीर, आगरा बाजार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली संस्करण-2010, पृ. 48

42. संवेद, अंक 17, जनवरी 2017, पृ. 281

43. मूलचंद सोनकर : नज़ीर बनारसी की शायरी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2010, पृ.-138

44. हबीब तनवीर, आगरा बाजार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली संस्करण-2010, पृ. 84

●

बलात्कार : देवी स्वरूपा नारी के साथ घृणित अपराध के निवारण हेतु संवैधानिक एवं मानवाधिकार तथा दण्डात्मक विधियों का समीक्षात्मक अध्ययन

*डॉ. अशोक तिवारी**

'यत्र नार्यस्तु पूज्यते रमन्ते तत्र देवता' भारतीय संस्कृति में नारी को देवी की तरह पूजा जाता है उसे पुरुष की प्रेरणा शक्ति के रूप में दर्शाया गया है उसे अर्धान्गिनी, सहचरी, प्रिये प्राण कहकर पुकारा जाता है तथा स्त्रीय समस्ता शक्ला जगत्सु कहकर उसके देवी स्वरूप को चिन्हित किया गया है परन्तु वर्तमान समय में महिलाओं के प्रति बढ़ती हुई बलात्कार की घटनाएँ उन्हें असुरक्षित कर दिया। यह समस्या दिन प्रतिदिन जोरो से बढ़ता जा रहा है जिसके कारण यह न केवल विधिक है बल्कि सामाजिक, आर्थिक तथा मानवीय एवं मनोवैज्ञानिक होने के साथ-साथ स्त्री अधिकारों का जो हमारे संविधान के अन्तर्गत स्त्रियों के गरिमापूर्ण जीवन जीने तथा सामाजिक सुरक्षा एवं समानता का उपबंध किया गया है उसका भी अतिक्रमण है बलात्कार की घटनाएँ मानवीय आदर्शों, सामाजिक मूल्यों, नैतिक सिद्धांतो, धार्मिक आस्था तथा विश्वास को पेड़ में लगे दीमक की भाँति चाट डाला है यह अक्षम्य अपराध है।

महिलाओं की सुरक्षा हेतु बहुत लम्बे समय के बाद स्त्रीवादी आंदोलन तथा मानवाधिकार आंदोलननों के प्रभाव के फलस्वरूप बलात्कार जैसे घृणित अपराध तथा हिंसाओं को 1993 के वियना घोषणा पत्र[1] में मानवाधिकार के उल्लंघन के रूप में स्वीकार किया गया है। उसी वर्ष संयुक्त राष्ट्र की महासभा द्वारा पारित महिलाओं के विरूद्ध हिंसा के उन्मूलन से संबंधित 1993 के घोषणा पत्र में बलात्कार समेत अनेक हिंसाओं को रोकने के संबंध में अंतर्राष्ट्रीय मानकों को निर्धारित करने के साथ-साथ इसको रोकने तथा इसमें संलग्न व्यक्तियों को दण्ड दिलाने के लिए न्यायालयीय प्रक्रिया को सरल बनाने हेतु राज्यों को आहवान किया गया कैरो घोषणा पत्र, बीजिंग घोषणा पत्र तथा अन्य महत्त्वपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय घोषणा पत्र में भी महिलाओं की समस्या को प्रमुखता दिये जाने के परिणाम स्वरूप बलात्कार की समस्या न केवल कानून एवं व्यवस्था तथा अपराध शास्त्र एवं दण्डशास्त्र का विषय रह गयी है अपितु इनके मानवाधिकार सम्बन्धी आयामों को भी राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर निरन्तर मान्यता मिल रही है।

भारतीय सर्वोच्च न्यायालय ने भी 'बोधिसत्व'[2] गौतम बनाम शुभ्रा चक्रवर्ती तथा विशाका जैसे महत्त्वपूर्ण वादों में बलात्कार तथा कामकाजी महिलाओं के साथ यौन शोषण जैसे महत्वपूर्ण वादों में बलात्कार के मानवाधिकार सम्बधी पहलुओं को स्वीकार करते हुए इसे संविधान प्रदत्त जीवन एवं स्वतंत्रता के अधिकार का गम्भीरतम उल्लेखन कहा है।

मानवीय न्यायमूर्ति सगीर अहमद ने कहा है कि स्त्रियों के व्यक्तित्व के अनेक पहलू है। वह माँ, पुत्री, बहन और पत्नी है वह पुरुष की हाथ की पठपुतली नहीं है, जैसा कि पत्र पत्रिकाओं में आजकल दिखाया जाता है। बलात्कार केवल एक स्त्री के विरूद्ध ही नहीं पूरे समाज के विरूद्ध अपराध है।

आज बलात्कार जैसी समस्या राष्ट्रव्यापी स्तरर पर न होकर विश्वव्यापी समस्या का रूप धारण कर लिया है।

औरत ने जन्म दिया मर्दों को

मर्दों ने उसे बाजार दिया

जब जी चाहा मसला-कुचला

जब जी चाहा दुत्कार दिया

साहित्य लुधियानवी के इस गीत में ये न जाने कितनी औरतों एवं बच्चियों का दर्द छिपा है। गीत के शब्द नारी शोषण की विभीषिका को दर्शाता है।

ब्राऊनमिलर ने अपनी प्रसिद्ध 'अगेस्ट ऑवर विल-मेन वीमने एंड रेप' (हमारी इच्छा के विरुद्ध मर्द-औरत एवं बलात्कार) में इस विषय के इतिहास की खोज की है। उनका मानना है कि निश्चित रूप से आदिम युग की किसी स्त्री ने अपनी शारीरिक स्वतंत्रता के प्रति सचेत होकर किसी अनियंत्रित व्यक्ति से संभोग करने से इनकार किया होगा और पूरे जी जान से अंत तक इसका प्रतिरोध किया होगा। इसलिए पहला बलात्कार एक अप्रत्याशित युद्ध था लेकिन दूसरा बलात्कार निश्चित रूप से योजनाबद्ध था, जिसमें पुरुषों ने एक स्त्री से बलात संभोग किया था। स्त्रियों को अपने कब्जे में रखने के लिए पुरुषों द्वारा यौन हथियारों का प्रयोग सभ्यता का 'आदिम सत्य' है।

वास्तविकता चाहे जो भी हो, बलात्कार की घटनाओं के मूल में समाज का पितृसत्तात्मक होना, स्त्रियों की दयनीय सामाजिक अवस्था, उनका आशक्त होना, पुरुष का दंभ, परम्परा, संस्कृति

* प्राचार्य, आर0एस0बनारस लॉ कालेज, वाराणसी

तथा धर्म के नाम पर उनको दबाये रखने की प्रवृत्ति तथा अन्य सामाजिक एवं आर्थिक कारणों की भूमिका से इन्कार नहीं किया जा सकता। विधि की बलात्कारियों को दंडित करने में अक्षमता, न्याय प्रशासन की मूलभूत दुर्बलताएँ, न्याय मिलने में अत्यधिक विलम्ब का होना तथा बलात्कार की शिकार स्त्रियों के प्रति समाज का तिरस्कार एवं उसके पुनर्वासन तथा समुचित चिकित्सा की व्यवस्था अभाव इस समस्या को और अधिक जटिल बनाने के लिए उत्तरदायी है। बलात्कार की शिकार औरतों पर सामाजिक कलंक लगता है उसे ही दोषी ठहराया जाता है, वह अपने को शर्मिन्दा, पतिता और अकेली महसूस करती है बलात्कार से औरत का आत्मविश्वास नष्ट हो जाता है।

बाल बलात्कार की घटनाओं में वृद्धि इस समस्या का अन्य दुःखद पहलू है। जब वयस्क औरतें बलात्कारजनित शारीरिक एवं मानसिक पीड़ा को नहीं झेल पाती तो पाँच-छः साल की बच्चियों पर क्या गुजरती होगी इसकी कल्पना मात्र से ही आत्मा सिहर जाती है।

बलात्कार के विरुद्ध स्वातंत्र्योंतर भारत में पहली सशक्त आवाज मथुरा नामक किशोरी पर बलात्कार के मुकदमें में सर्वोच्च न्यायालय के फैसले की प्रतिक्रिया स्वरूप उठी थी। महाराष्ट्र के देसाईगंज की मथुरा 1970 में 14-16 वर्ष की थी। उस पर बलात्कार का जुर्म जजों ने इसलिए साबित होना नहीं माना कि उसके यथेष्ट प्रतिरोध के प्रमाण उन्हें नहीं मिले। मथुरा कांड के फैसले के बाद देश में बलात्कार के खिलाफ जागृति बड़ी एवं कुछ साहसी महिलाओं जैसे लेतिका सरकार, वसुधा धागमवार, सुभद्रा बुटालिया, प्रोमिला कपूर, लीला दामोदरन मेनन, देविका जैन, कमला देवी चट्टोपाध्याय आदि ने बलात्कार एवं भारतीय स्त्रियों की दुर्दशा के विभिन्न पहलुओं को उजागर किया। इंदिरा गांधी ने भी उस समय बड़ी सक्रिय भूमिका निभायी थी।

भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 114 क[3]

बलात्संग के लिए कुछ अभियोजन में सम्मति न होने की अवधारणा- भारतीय दण्ड संहिहता (1860) का 45 की धारा 376 की उपधारा (2) के खण्ड (क) या खण्ड (ग) या खण्ड (घ) खण्ड (ङ) या खण्ड (छ) के अधीन बलात्संग के किसी अभियोजन में जहाँ अभियुक्त द्वारा मैथुन करना साबित हो जाता है और प्रश्न यह है कि क्या उस स्त्री की सम्मति के बिना किया गया है जिसमें बलात्संग किया जाना अथिकथित है और वह स्त्री न्यायालय के समक्ष अपने साक्ष्य में यह कथन करती है कि सम्मति नहीं दी थी, वहाँ न्यायालय यह उपाधारित करेगा कि उसने सम्मति नहीं दी थी।

धारा 114क, तुकाराम बनाम स्टेट ऑफ महाराष्ट्र[4] के मामले में मथुरा नाम की लड़की से दो पुलिस सिपाहियों को बलात्कार के मामले के अभियोजन हुआ था, जिसमें बलात्संग के प्रत्येक तत्व को साबित करने का भार अभियोजन पक्ष पर था। उन्हें यह साबित करना था कि उसकी सम्मति मृत्यु या क्षति के भय में डालकर ली गई थी। वे यह साबित नहीं कर पाये थे और उच्चतम न्यायालय द्वारा दोनों अभियुक्तों का बाइज्जत बरी हो जाना जनता के लिए आश्चर्य बन गया। ऐसे निर्णय को लेकर जो हल्ला हुआ उसके फलस्वरूप संसद को यह संशोधन करना पड़ा।

आज हम 21वीं सदी में प्रवेश कर चुके हैं। लेकिन हमारी मानसिकता आज भी रुढ़िवादी विचारधारा को परिवर्तन कर पाने में अक्षम साबित हुई है और पुरुषों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चलने वाली नारी का शोषण अधिक पैमाने पर करते जा रहे हैं। नारी के प्रति शोषण की भावना विकासशील देशों में ही नहीं अपितु ये विकसित देशों में तो बड़े पैमाने पर विद्यमान है। आज के दौर में नारी का शोषण का कोई तरीका नहीं है, बल्कि उन्हें विभिन्न रूपों में प्रताड़ित किया जाता है, जैसे महिला के साथ छेड़छाड़ करना तो आज आम बात हो गयी है, बल्कि उसके साथ लैंगिक हिंसा जैसे- राड और बोतल से गुप्तागों पर प्रहार करना यही नहीं उसके साथ सामूहिक बलात्कार और बलात्कार के बाद उसकी नृसंश हत्या सामने खड़ी है, जिसके निदान की आवश्यकता है।

बाल-बलात्कार की हिंसा का स्वरूप तो और भयावह है, बचपन से होने वाले बलात्कार के कई कारण हो सकते हैं जैसे बच्चियों के साथ बलात्कार के अधिकांश मामलों में माँ-बाप बदनामी के डर से रिपोर्ट लिखवाने या उसके बारे में किसी को बताने से हिचकते हैं। चिंता की बात तो यह है कि जो मामले प्रकाश में आते भी हैं, तो इनमें से अधिकांश मामलों में न तो सजा दी जाती है और न सुनवाई होती है। दूसरा बच्चियों के साथ हुए बलात्कार के मामलों को कैसे सुलझाया जाये, इसका पुलिस को न तो कोई प्रशिक्षण मिला है न ही पुलिस अधिकारियों द्वारा चलायी जा रही बहुप्रचारित संस्थाएँ इस दिशा में सक्रिय है। तीसरा माता-पिता लम्बी अदालती उलझनों से बचना चाहते हैं और कौन जाने न्याय उनके पक्ष में ही जाये, यही विचार मन लेकर वे बच्ची के साथ हुए बलात्काार की घटना को दबाने का प्रयास करते हैं। ऐसी ही मानसिकता बलात्कार जैसे जघन्य अपराध को बढ़ाने में आग में घी के समान काम करती है। बलात्कार की जितनी भी घटनाएँ प्रकाश में आती हैं; वास्तव में उससे कई गुना अधिक घटित हैं। शर्म, बदनामी तथा 'क्या होगा' की शंकापूर्ण वृत्ति के कारण अधिकतर मामले पुलिस में दर्ज नहीं कराये जाते। बलात्कार के अभिशापप का एक शर्मनाक पहलू यह सामने आ रहा है कि परिवार के लोगों, यहाँ तक कि पिता के भी इनमें शामिल होने की खबरें मिलने लगी है। कुछ दिन पहले एक महिला की शिकायत पर उसके पति को गिरफ्तार किया गया जो अपनी पदोन्नति के लिए अपने अधिकारी को अपनी पत्नी से बलात्कार करने को कहा था। बलात्कार के कलंक को मिलने वाले नये आयाम हमारी रुग्ण मानसिकता तथा 'औरत को भोग्या' वस्तु मानने की प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हैं।

बलात्कार मानव शरीर के विरुद्ध एक गम्भीर प्रकृति का अपराध है। ब्रिटिश शासन के अंतर्गत अधिनियमित भारतीय दंड संहिता 1860 के अध्याय में XVI को 375 के बलात्संग की परिभाषा दी गई है तथा धारा 376, धारा 376क, 376ख, 376ग और 376घ में दंड का प्राविधान किया गया है। धारा 375 में बलात्संग की परिभाषा दी गई है। जो पुरुष एतस्मिन पश्चात अपवादित दशा के सिवाय किसी स्त्री के साथ निम्नलिखित भांवि की परिस्थितियों में किसी परिस्थिति में से किसी परिस्थितियों में मैथुन करता है तो वह पुरुष बलात्संग करता है, यह कहा जाता है-

धारा 375 के अवलोकन से स्पष्ट है कि पुरुष द्वारा किसी स्त्री के साथ इस धारा में वर्णित परिस्थितियों में मैथुन करना बलात्संग कहलाता है। अब हम इन परिस्थितियों का निर्णयज विधि की सहायता से विवेचना करेंगे।

375[5] बलात्संग-यदि कोई पुरुष-

क. किसी स्त्री की योनि, उसके मुँह, मूत्रमार्ग या गुदा में अपना में अपना लिंग किसी भी सीमा तक प्रवेश करता है या उससे ऐसा अपने या किसी अन्य व्यक्ति के साथ कराता है; या

ख. किसी स्त्री की योनि, मूत्रमार्ग या गुदा में ऐसी कोई वस्तु या शरीर का कोई भाग, जो लिंग न हो, किसी भी सीमा तक अनुप्रविष्ट करता है या उससे ऐसा अपने या किसी अन्य व्यक्ति के साथ कराता है; या

ग. किसी स्त्री के शरीर के किसी भाग का इस प्रकार हस्तसाधन कराता है जिससे कि उस स्त्री की योनि, गुदा, मूत्रमार्ग या शरीर के किसी भाग में प्रवेशन कारित किया जा सके या उससे ऐसा अपने या किसी अन्य व्यक्ति के साथ कराता है; या

घ. किसी स्त्री की योनि, गुदा, मूत्रमार्ग पर अपना मुँह लगाता है या उससे ऐसा अपने या किसी अन्य व्यक्ति के साथ कराता है, तो उसके बारे में यही कहा जायेगा कि उसने बलात्संग किया है, जहाँ ऐसा निम्नलिखित सात भाँति की परिस्थितियों में से किसी के अधीन किया जाता है :

पहला- उस स्त्री की इच्छा के विरुद्ध।

दूसरा- उस स्त्री की सम्मति के बिना।

तीसरा- उस स्त्री के सम्मति से, जबकि उसकी सम्मति, उसे या ऐसे किसी व्यक्ति को, जिससे वह हितबद्ध है, मृत्यु या उपहति के भय में डालकर अभिप्राप्त की गई है।

चौथा- उस स्त्री की सम्मति से, जबकि वह पुरुष यह जानता है कि वह उसका पति नहीं है और उसने सम्मति इस कारण दी है कि वह विश्वास करती है कि ऐसा अन्य पुरुष है जिससे वह विधिकपूर्वक विवाहित है या विवाहित होने का विश्वास करती है।

पाँचवा- उस स्त्री की सम्मति से, जब ऐसी सम्मति देने के समय, वह विकृचित्तता या मत्तता के कारण या उस पुरुष द्वारा व्यक्तिगत रूप से या किसी अन्य के माध्यम से कोई संज्ञाशून्यकारी या अस्वस्थ्यकर पदार्थ दिये जाने के कारण, उस बात को, जिसके बारे में वह सम्मति देती है, प्रकृति और परिणामों को समझने में असमर्थ है।

छठवाँ- उस स्त्री की सम्मति से या उसके बिना, जब वह अठारह वर्ष से कम आयु की है।

सातवाँ- जब वह स्त्री सम्मति संसूचित करने में असमर्थ है।

स्पष्टीकरण 1. इस धारा के प्रयोजनों के लिए, ''योनि'' के अन्तर्गत वृहत्त भगोष्ठ भी है।

स्पष्टीकरण 2. सम्मति से कोई स्पष्ट स्वैच्छिक सहमति अभिप्रेत है, जब स्त्री शब्दों, संकेतों या किसी प्रकार की मौखिक या अमौखिक संसूचना द्वारा विनिर्दिष्ट लैंगिक कृत्य में शामिल होने की इच्छा व्यक्त करती है।

परन्तु ऐसी स्त्री के बारे में, जो प्रवेशन के कृत्य का भौतिक रूप से विरोध नहीं करती है, मात्र इस तथ्य के कारण यह नहीं समझा जाएगा कि उसने विर्निर्दिष्ट लैंगिक क्रियाकलाप के प्रति सहमति प्रदान की है।

अपवाद – 1. किसी चिकित्सकीय प्रक्रिया या अंतः प्रवेशन से बलात्संग गठित नहीं होगा।

अपवाद – 2. किसी पुरुष का अपनी स्वयं की पत्नी के साथ, मैथुन या यौन क्रिया, यदि पत्नी पन्द्रह वर्ष से कम आयु की न हो, बलात्संग नहीं है।

पूर्व के अध्ययन से ज्ञाता होता है कि अगर बलात्कार के दोषों को दंड के पैमाने में तौला जाये तो ऐसा लगता है कि बलात्कार के लिए बने सामान्य और कठोर दंड का प्रावधान के बाद भी बलात्काारी अदालतों से बाइज्जत बरी हो जाते हैं और भुक्तभोगी महिला पहले शारीरिक इज्जत गवाने बाद सामाजिक प्रताड़ना सहने और तिल-तिलकर मरने को बाध्य हो जाती है।

यदि न्यायाधीशों के विचारों की समीक्षा की जाय तो यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि भारतीय दंड व्यवस्था में लैंगिक हिंसा के कुठ ही मामलों में महिलाओं को उचित न्याय मिलता है।

कर्नाटक राज्य वनाम पुत्तराजा[6] 2004 कि लॉ ज0 579 (सु0को0) वाले मामले में अभियुक्त को विचारणन्यालय द्वारा एक महिला के साथ जो गर्भधारण की अग्रिम अवस्था में थी, बलात्कार करने के लिए दोष सिद्ध किया गया और उसे 5 वर्ष के कारावास से दण्डित किया गया। अपील में उच्च न्यायालय में दण्ड घटाकर कारावास में बिताई अवधि तक कर दिया जो 96 दिन थी।

उच्चतम न्यायाल ने 5 वर्ष के कारावास को पुर्नस्थापित कर दिया। उच्चतम न्यायलय ने कहा कि इस प्रकार के अपराघों में कठोरतापूर्वक विचार करना चाहिए और कड़ाई बरतनी चाहिए। ऐसे मामलों में हमदर्दी दिखाना वस्तुतः हमदर्दी का दुरूपयोग करना है। यह अपराध लोकहित के विरूद्ध भी है।

कार्थी उर्फ कार्थिक वनाम तमिलनाडु राज्य[7] (2013) क्रि0लॉ0ज0 3765 (एस0सी0) के बाद में यह अभिनिर्धारित किया गया कि धोखा देकर बलात्कार करना किसी अपराधी को दोषमुक्त करने के लिए वैध बचाव या प्रतिरक्षा नहीं होगा। किन्तु इस निर्णय की भर्त्सना पूरे समाज द्वारा की गयी थी जिससे **रफीक वनाम उत्तर प्रदेश राज्य**[8] (1990) 4 एस0सी0सी0 262 के बाद में उच्चतम न्यायालय ने एक नई दिशा प्रस्तुत किया। इस वाद में अपीलकर्ता ने एक अधेड़ उम्र की बाल सेविका के संग बलात्संग किया। बलात्संग के समय वह एक बालिका विद्यालय में सो रही थी। इस मामले में अभियुक्त को दोषसिद्धि प्रदान की गयी, यद्यपि बाल सेविका के शरीर पर किसी प्रकार के चोट के निशान नहीं थे।

न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यन ने कहा है कि ''कोई भी संवेदनशील न्यायाधीश जो सम्पूर्ण परिस्थितियों को देखता है, बलात्कार के शिकार द्वारा दिये गये साक्ष्य को अस्वीकार नहीं कर सकेगा जब तब तक कि साक्ष्य की सत्यता के विरूद्ध बहुत ठोस प्रमाण न हो।

भंवरी देवी[9] जो कि महिलाओं की एक संस्था साथिन की सदस्य थी के माामले में 22 सितम्बर 1992 को उसके गाँव भटेरी या जलगाँव राजस्थान में उसके साथ सामूहिक बलात्कार हुआ। उस समय उसका पति भी मौजूद था। गुज्जर लोग उस पर यह दबाव बढ़ा रहे थे कि वह अपनी नाबालिग बच्ची की शादी करे, लेकिन मामला पुलिस स्टेशन तक गया पुलिस ने आकर शादी रुकवा दिया तथा सुलह करवा दिया।

गुज्जर लोगों ने अपनी तौहीन महसूस की और भंवरी देवी को इसका कठोर दण्ड देने का निर्णय किया और इसी एवज में उसके साथ सामूहिक बलात्कार की घटना सामने आये। 15 नवम्बर 1995 को सत्र एवं जिजला न्यायालय ने पाँचों अभियुक्तों को बलात्कार के जुर्म से रिहा कर दिया और उसके पति के साथ मारपीट कररने के जुर्म में छः माह की साधारण कैद की सजा सुनाई। इस वाद में न्यायालय ने निम्नलिखित तथ्य प्रस्तुत किया।

1. बलात्कार साधारण नवयुवतियों के साथ किया जाता है जबकि अभियोक्त्री अधेड़ आयु की महिला है और अभियुक्त गाँव के सम्मानित व्यक्ति हैं जो इस प्रकार का कार्य नहीं कर सकते।

न्यायालय का यह तर्क विवादास्पद है कि बलात्कार की घटनाएँ केवल कम आयु की महिलाओं के साथ होती है। अभियुक्तों को अधेड़ उम्र के आधार पर सम्मानित व्यक्त करार देना न्यायालय का पुरुष वर्ग के प्रति पक्षपातपूर्ण रवैया दर्शाता है।

2. अभियुक्त उच्च जाति से सम्बन्ध रखते हैं और वे निम्न जाति की महिला के साथ बलात्कार नहीं कर सकते।

न्यायालय का यह दृष्टिकोण सामाजिक संकीर्णता एवं रुद्धिवादी दृष्टिकोण का द्योतक है। यदि जाति को अपराध निर्धारण का आधार माना जायेगा तो निम्न वर्ग की महिलाओं पर बलात्कार एवं हिंसा की घटनाएँ आम हो जायेंगी जो कि महिलाओं की व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर कुठाराघात साबित होगी। इस प्रकार समाज में आने वाले दिनों में तमाम फूलनदेवी पैदा हो जायेगी। जिसके साथ उच्च जाति के ठाकुर जाति के लोगों द्वारा सामूहिक बलात्कार किया गया था।

3. न्यायालय में महिला के पति के साक्ष्य को जिसके साथ बलात्काार हुआ कोई तवज्जों नहीं दिया। उसके साथ मारपीठ की घटना भी हुई, जिससे वह शारीरिक व मानसिक प्रताड़ना का शिकार भी बना।

यहाँ न्यायालय का यह कहना है कि निकट सम्बन्धी के बयान ज्यादे मायने नहीं रखते एकदम पक्षपातपूर्ण रवैया की ओर इशारा करते हैं जबकि न्यायालय भी जानता है कि बलात्काार जैसे जघन्य अपराध बीच चौराहे या आम लोगों के सामने घटित नहीं होते तो गवाह का होना कैसे संभव किया जा सकता है।

4. विचारणीय न्यायालय ने भंवरी देवी के बयान पर विश्वास नहीं किया, साथ ही दुश्चरित्र महिला करार देकर उसका उपहास भी किया।

इस प्रकार न्यायालय ने पक्षापतपूर्णा निर्णय देकर न्याय की धज्जियाँ उड़ाकर रख दिया। इस प्रकार के निर्णयों के द्वारा महिलाओं के ऊपर हिंसा व बलात्कार की घटनाओं के पंजीकरण में भी कठिनाई आयेगी औ पुलिस भी प्राथमिकी दर्जा करने में टालमटोल करेगी।

उक्त मामलों को देखते हुए यह आवश्यक हो गया है कि महिला हिंसा व बलात्कार के मौजूदा कानूनों की समीक्षा की जाये और आवश्यक संशोधन किये जाये, जिससे महिलाओं को समाज में समान अधिकार प्राप्त हो सके और उनकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता व मानवाधिकार का हनन न हो।

आज महिला जागृति की बात सभी करते हैं किन्तु इनमें नाम मात्र की महिलाएँ अपने अधिकार के प्रति सजग हैं। शिक्षित नारी भी अब तक नारी स्वरूपा भेद को अपने हृदय से नहीं हटा पाई है। आज भी हमारा पुरुष प्रधान समाज नारी सुलभ सहजता को कमजोरी समझ उसका नाजायज लाभ उठाने का प्रयास कर रहे हैं।

लोक सेवक द्वारा अपनी अभिरक्षा के किसी स्त्री के साथ सम्भोग –

भारतीय दंड संहिता की धारा 376ख जो कोई, लोक सेवक होते हुए, अपनी शासकीय स्थिति का लाभ उठाकर किसी स्त्री को जो ऐसे लोक सेवक के रूप में उसकी अभिरक्षा में है या उसके अधीनस्थ किसी लोक सेवक की अभिरक्षा में है, अपने साथ ऐसा मैथुन करने के लिए उत्प्रेरित या विलुब्ध करेगा, जो मैथुन बलात्संग के अपराध को कोटि में नहीं आता है, वह दोनों में से किसी भांति के कारावास से जिसकी अवधि पाँच वर्ष की हो सकेगी, दण्डित किया जायेगा और जुर्माने से भी दण्डनीय होगा।

विशाखा बनाम राजस्थान[10] राज्य के मामले में उच्चतम न्यायालय के तीन न्यायाधीशों की पीठ ने श्रमजीवी महिलाओं के प्रति काम के स्थान में होने वाले यौन उत्पीड़न को रोकने के लिए जब तक इस प्रयोजन के लिए विधान नहीं बन जाता है। विस्तृत मार्गदर्शक सिद्धान्त-विहित किया है। न्यायालय ने यह कहा कि देश की वर्तमान विधियाँ या आपराधिक विधियाँ काम के स्थान पर महिलाओं के यौन शोषण से बचाने के लिए पर्याप्त संरक्षण प्रदान करती है और इसके लिए विधि बनाने में काफी समय लगेगा; अतः जब तक विधानमण्डल समुचित विधि नहीं बनता है। न्यायालय द्वारा निहित मार्गदर्शक सिद्धान्त को लागू किया जायेगा। न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि प्रत्येक नियोक्ता या अन्य व्यक्तियों का यह कर्तव्य है कि काम के स्थान या अन्य स्थानों में चाहे प्राइवेट हो या पब्लिक, श्रमजीवी महिलाओं के यौन उत्पीड़न को रोकने के लिए समुचित उपाय करे। इस मामले में महिलाओं के अनुच्छेद 14, 19 और 21 में प्रदत्त मूल अधिकारों को लागू करने के लिए विशाखा नाम की एक गैरर सरकारी संस्था ने लोक हितवाद न्यायालय में फाइल किया था। याचिका फाइल करने की तत्कालीन कारण राजस्थान में एक सामाजिक महिला कार्यकर्ता के साथ सामूहिक बलात्कार की घटना थी।

न्यायालय ने निम्नलिखित निर्देश दिये

1. सभी नियोक्ता या अन्य व्यक्ति जो काम के स्थान में प्रभारी है चाहे वह प्राइवेट क्षेत्र के हो या पब्लिक क्षेत्र में, अपपने सामान्य दायित्त्वों के होते हुए महिलाओं के प्रति यौन उत्पीड़न को रोकने के लिए समुचित कदम उठाना चाहिए।
2. यौन उत्पीड़न पर अभिव्यक्त रोक लगाना जिसमें निम्न बातें शामिल हैं- शारीरिक सम्बन्ध और प्रस्ताव उसके लिए आगे बढ़ाना, यौन सम्बन्ध के लिए माँग या प्रार्थना करना, यौन सम्बन्धी छीटाकशी करना अश्लील साहित्य या कोई अन्य शारीरिक, मौखिक या यौन सम्बन्धी मौन आचरण को दिखाना आदि।
3. सरकारी या सार्वजनिक क्षेत्र के निकायों के आचरण और अनुशासन सम्बन्धी नियम या विनियम में यौन उत्पीड़न रोकने सम्बन्धी नियम शामिल किया जाना चाहिए और ऐसे नियमों एवं दोषी व्यक्तियों के लिए समुचित दण्ड का प्रावधान किया जाना चाहिए।
4. प्राइवेट क्षेत्र के नियोक्ताओं के सम्बन्ध में औद्योगिक नियोजन (स्टैंडिंग आर्डर) अधिनियम 1946 के अधीन स्टैंडिंग आर्डर में ऐसे निषेधों को शामिल किया जाना चाहिए।
5. महिलाओं को काम, आराम, स्वास्थ्य और स्वास्थ्य विज्ञान के सम्बन्ध में समुचित परिस्थितियों का प्रावधान होना चाहिए ओर यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि महिलाओं को काम के स्थान में कोई विद्वेषपूर्ण वातावरण न हो न उनके मन में ऐसा विश्वास करने का कारण हो कि वह नियोजन आदि के मामले में अलाभकारी स्थिति में है।
6. जहाँ ऐसा आचरण भारतीय दण्ड संहिता या किसी अन्य विधि के अधीन विशिष्ट अपराध सेवा हो तो नियोक्ता को विधि के अनुसार उसके विरुद्ध समुचित प्राधिकारी को शिकायत करने अपना या उत्पीड़नकर्ता का स्थानान्तरण करवाने का विकल्प होना चाहिए।

प्राचीन समय में स्त्रियों को देवी माना जाता था धीरे-धीरे आधुनिकताा ने इस कदर परिवर्तन किया कि आज महिला अपने ही देश, राज्य एवं पड़ोस यहाँ तक कि अपने घर में भी सुरक्षित नहीं है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में महिला सुरक्षा एवं गरिमामयी जीवन रूपी कवच का दृढ़ संकल्प छुटता चला जा रहा है। इसलिए भारत जो संस्कृति एवं कर्तव्य परायण का देश कहा जाता है उसके समक्ष बलात्कार जैसे घिनौने कुकृत्य को समाप्त करने के चुनौतियों को स्वीकार कर समाप्त करने का पूर्ण प्रयास करना चाहिए।

ग्रन्थ सूची

1. डॉ0 एस0के0 कपूर : मानव अधिकार एवं अन्तर्राष्ट्रीय विधि, सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी, तीसवाँ संस्करण, 2014, पृ0 764-747
2. डॉ0 जय नारायण पाण्डेय : भारत का संविधान, सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी, 46वाँ संस्करण, पृ0 279
3. अवतार सिंह : भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872, सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन, 17वाँ संस्करण, इलाहाबाद, पृ0 437-438
4. वही, पृ0 439
5. प्रो0 सूर्यनाराण मिश्रा : भारतीय दण्ड संहिता, सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी, 25वाँ संस्करण, 2014, पृ0 603-604
6. वही, पृ0 618
7. वही, पृ0 611
8. वही, पृ0 611-612
9. सत्र एवं जिला न्यायालय, जयपुर, राजस्थान : 15 नवम्बर,1994
10. डॉ0 जय नारायण पाण्डेय : भारत का संविधान, सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी, 46वाँ संस्करण, पृ0 403-404

नरेश मेहता के काव्य में बिम्ब विधान

डॉ. प्रेम निवास सिन्हा[*]

नरेश मेहता नयी कविता के प्रयोगधर्मी और नवीनता प्रिय कवि हैं। ''वे नयी कविता के उन प्रमुख कवियों में से हैं जिन्होंने प्राकृतिक सौन्दर्य और मानवतावाद की भूमिका पर अपनी कविता को प्रस्तुत किया है। प्रकृति के दृष्टि से छायावादी-चिन्तन के संदर्भ से मानवतावादी और शिल्प की दृष्टि से अभिनव भाषा के प्रयोक्ता और प्रगत्युन्मुखी चेतना से वलयित श्री मेहता का काव्य कतिपय विशिष्ट प्रवृत्तियों से युक्त है। नयी कविता ने जिन तत्त्वों के आधार पर अपने आपको परम्परा से अलग किया वे नरेश मेहता में भी मिलते हैं। ''उनकी कविता प्रकृति की छवियों से सजी, प्रेम से सिक्त मानव अनुभूतियों की ऐसी कविता है जो एक ओर अपनी भावात्मकता के कारण सहृदयों को आह्लादित करती है तो दूसरी ओर जीवन के कतिपय मूल्यों को भी वाणी देती है।'' [1] इनके समस्त काव्य कृतियों (यथा- वनपाखी सुनो, बोलने दो चीड़ को, मेरा समर्पित एकान्त, उत्सवा, तुम मेरा मौन हो, अरण्या, आखिर समुद्र से तात्पर्य, पिछले दिनों नंगे पैरों, देखना एक दिन (सभी मुक्त काव्य) तथा संशय की एक रात, महाप्रस्थान, प्रवाद पर्व, शबरी एवं प्रार्थना पुरुष (सभी खण्डकाव्य) में एक आभिजात्य, एक सांस्कृतिक बोध और मानवतावादी दृष्टि का प्रसार दिखाई देता है। इन्होंने अपनी कविताओं के माध्यम से एक महाभाव वाले प्रजातांत्रिक काव्य की सृष्टि की है, जिसका पद-पद विरल सौन्दर्य, बिम्बात्मकता, प्रतीकात्मकता और भाषा-सौष्ठव से भरा है।

समयानुकूल नवीनता को उत्साह से अपनाने, नई प्रयोगशीलता के प्रति आस्था रखने तथा साहित्य में नये प्रयोगों की बात कहने की प्रवृत्ति उनके काव्य में प्रमुखतः मिलती है। ''इनके काव्य में प्रकाश, ताप और पवित्रता तीनों हैं। उनका सर्जना फलक, खूब खुला है- उनके पास पूरा आकाश ही नहीं, पूरा भूमण्डल है, उसकी वानस्पतिकता, पुष्पिता, उसका वन्य जीवन है। दूसरा सप्तक की 'उषस्' और 'समय देवता' से लगाकर उत्सवा, अरण्या, तुम मेरा मौन हो, पिछले दिनों नंगे पैरों, आखिर समुद्र से तात्पर्य, देखना एक दिन जैसी कृतियाँ है। एकदम क्लासिक उदातता और सौन्दर्य की बनानी जैसा परिवेश।[2]

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में जैसे विषय, वस्तु और कवि की जीवन-दृष्टि में परिवर्तन हुआ वैसे ही शिल्प के क्षेत्र में रूप-विधान के नये आयाम भी विकसित हुए। कविता की समीक्षा के मानदण्डों में एक बारगी युगान्तर आया और नये ढंग पर कविता की इमारत खड़ी की गई। कवि की अनुभूतियाँ नये अप्रस्तुतों और प्रतीकों को खोजते-खोजते बिम्ब के नये धरातलों को उद्घाटित करने में समर्थ हुई।

वस्तुतः कवि की कल्पना अधिक सक्रिय होती है। उसके मस्तिष्क में अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ पड़ी रहती हैं। अनुभूतियों को संप्रेषित करने के लिए वह कल्पना द्वारा बिम्ब-विधान करता है जिससे उसके द्वारा प्रस्तुत परिदृश्य पाठक या श्रोता पर प्रभाव डाल सके। बिम्ब द्वारा पाठक कवि की अनुभूतियों से एक रागात्मक संबंध स्थापित करता है। डॉ0 नगेन्द्र का यह कथन बिल्कुल सत्य है कि ''काव्य का उद्देश्य है अनुभूति का सम्प्रेषण अर्थात् कवि की अनुभूति को सहृदय तक संवेदित करना। कवि की अनुभूति को इस प्रकार संवेदित करना कि वह सहृदय के चित्त में उसी प्रकार की संवेदना जाग्रत कर सके। बिम्ब-योजना इसी सिद्धि की साधक प्रक्रिया है।[3]

बिम्ब-विधान में अनुभूतियों तथा कल्पना द्वारा कवि अपने भावों का शब्दचित्र प्रस्तुत करता है और अपनी सूक्ष्म भावनाओं तथा अनुभूतियों को कल्पना द्वारा बिम्ब-निर्माण कर मूर्तता प्रदान करता है।

नरेश मेहता के काव्य में प्रयुक्त बिम्बों का विवेचन के पूर्व बिम्ब विषयक पाश्चात्य एवं भारतीय दृष्टिकोण तथा उनके वर्गीकरण का उल्लेख करना आवश्यक है।

(i) बिम्ब विषयक पाश्चात्य दृष्टिकोण

'बिम्ब' अंग्रेजी-शब्द Image (इमेज) का हिन्दी रूपान्तर है। अंग्रेजी कोशों के अनुसार इसके अनेक अर्थ निकलते हैं। (i) किसी व्यक्ति अथवा चीज की छाया, अनुकृति, सादृश्य अथवा समानता[4]

(i) Websters New English Dictionary.

(ii) किसी दृश्य पदार्थ को मनश्चित्र या मानसी प्रतिकृति[5]

(ii) Shorter Oxford Dictionary.

वस्तुतः काव्य में बिम्ब का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह कवि के संवेगों का सम्प्रेषण करता है। बिम्ब का सम्बन्ध जीवन के सभी उपकरणों से होता है और प्रत्येक प्रकार का बिम्ब अपने आपमें एक परिवेश लिए होता है। वह किसी न किसी सन्दर्भ से अवश्य जुड़ा रहता है।

* अतिथि अध्यापक, आधुनिक भाषा एवं भाषा विज्ञान विभाग, सं0सं0वि0वि0, वाराणसी।

इसके सम्बन्ध में मनोविज्ञान, दर्शन और साहित्य के क्षेत्रों में पर्याप्त विवेचन हुआ है। मनोविज्ञज्ञन से सम्बद्ध बिम्ब वस्तु की प्रतिच्छवि मात्र हैं, वहीं साहित्य के क्षेत्र में अवतरित बिम्ब प्राणवान और जीवन्त होते हैं। दरअसल, बिम्ब एक प्रकार से वस्तु की प्रतिकृति मात्र है, किन्तु यही प्रतिकृति कवि-कल्पना का संस्पर्श पाकर अधिक मधुर, आकर्षक और जीवन्त बन जाती है। वास्तव में, साहित्यक बिम्ब प्राणवान होते हैं और उनका मूल्य सर्वाधिक होता है। बिम्ब सामान्यतः शब्द चित्र ही है। किन्तु प्रत्येक चित्र बिम्ब की अभिधा प्राप्त नहीं कर सकता है। अनुभूति संपृक्त गोचरत्व और संवेदना संवलित चित्र ही वास्तविक बिम्ब की समिधा ग्रहण करते हैं।[6]

पाश्चात्य काव्यशास्त्र एवं विश्वकोश में बिम्ब को काव्य का अनिवार्य उपकरण स्वीकार किया गया है तथा विस्तृत विवेचन हुआ है। बिम्ब विषयक मुख्य परिभाषाएँ निम्नलिखित है-

(i) ब्रिटिश विश्वकोश (Encyclopaedia Britanica) के अनुसार Images are conscious memories which reproduce a previous perception in whole or in part, in the absence of the original stimulus to the perception"[7]

अर्थात् बिम्ब वह सचेत स्मृति है, जो मूल उद्दीपन की अनुपस्थिति में किसी अतीत अनुभव का समग्र अथवा आंशिक पुनरुत्पादन करती है।

(ii) सी.डे. लेविस (C. Day, Lewis) के अनुसार :

"The images in a poem are like a series of mirrors. ..... But they are magic mirrors. They do not merely reflect the theme, they give it life and form. It is in their power to make a spirit visible."

इन्होंने बिम्ब को दर्पण की संज्ञा प्रदान की है। ऐसा जादुई दर्पण जिनमें काव्य वस्तु ही नहीं, कवि के व्यक्तित्व के नये-नये रूप प्रतिबिम्बित होते हैं। ये काव्यात्मा को भी गोचर बनाने की क्षमता रखते हैं।

इन्होंने बिम्ब का सम्बन्ध भाव से जोड़कर उसे एक प्रकार का शब्दचित्र माना- "Poetic Image is a world picture charged with emotion or passion".[8]

इन्होंने यह भी कहा कि प्रत्येक सफल बिम्ब यथार्थपरक वस्तु का सफल चिह्न है। "So every sucessful image is the sign of successful encounter with real." [9]

(iii) बिम्बवाद के प्रवर्तक टी0ई0 ह्यूम (T.E. Hulme) के अनुसार ''बिम्ब मन की भाषा को व्यक्त करने का एक उपादान है, जो भावनात्मक रूप को प्रस्तुत करता है।[10]

(iv) कॉलरिज के कल्पना सिद्धान्त पर विचार करते समय आई0ए0 रिचर्डस् ने बिम्ब के सम्बन्ध में जो कहा है वह भी विचारणीय है-

"An image may be, for example, a visual image, a copy of sensation or it may be an idea, any event in mind, which represents something or it may be figures of speech, a double unit involving comparison."[11] अर्थात् बिम्ब एक दृश्यचित्र, संवेदना के अनुकृति, एक विचार, एक मानसिक घटना, एक अलंकार अथवा दो वस्तुओं में सदृश्य बतलाने वाला इकाई तक हो सकता है।''

(v) एजरा पाउण्ड ने बिम्ब का महत्त्व बतलाते हुए लिखा है कि जीवन में अनेक कृतियों की रचना की अपेक्षा एक श्रेष्ठ बिम्ब का निर्माण करना उत्तम है।

It is better to present one image in a life time than to produce voluminous works. [12]

Glenn Hughes- Imagism and Imagists.

(vi) इनके अनुसार ''बिम्ब वह है जो बुद्धि और भावना विषयक पूरे जटिल तंत्र को क्षण मात्र में प्रस्तुत कर देता है, यह असदृश विचारों की अन्विति है।[13]

उपर्युक्त परिभाषाओं के अतिरिक्त स्ट्रेफेन जे0 ब्राउन, ड्राइडन, जे0आर0 क्रिंयूजर आदि ने भी बिम्ब को परिभाषित किया है।

2. बिम्ब विषयक भारतीय दृष्टिकोण

भारतीय काव्यशास्त्र में बिम्ब की परिकल्पना सादृश्यमूलक अलंकारों, लक्षणा तथा ध्वनि के प्रसंग में अधिक सार्थक रूप में हुई है। साहित्यदर्पण में दृष्टान्त और निदर्शना के लक्षणों में बिम्ब शब्द का प्रयोग हुआ है। (क) दृष्टान्त -दृष्टान्तस्तु सधर्म वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्।। (10/50)। (ख) निदर्शना- यत्र बिम्बानु बिम्बत्व बोधयेत्सा निदर्शना।। (10/51)[14]। आधुनिक हिन्दी-विद्वानों में बिम्ब पर सर्वप्रथम तात्विक विवेचन (i) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया है। ''कविता क्या है'' नामक लेख में उनका कथन है कि- ''काव्य में अर्थग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, बिम्ब ग्रहण भी अपेक्षित होता है और बिम्ब ग्रहण वहीं हो सकता है जहाँ कवि अपने सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा वस्तुओं के अंग प्रत्यंग, वर्ण, आकृति तथा उसके आस-पास की परिस्थिति का संश्लिष्ट विवरण देता है।[15]

(ii) हिन्दी साहित्यकोश के अनुसार-

साहित्यकोश में ''बिम्ब शब्द को प्रस्तुत परिवेश, संवेदनाओं और प्रत्यक्ष के अतिरिक्त व्यक्ति के मानस में घटित अतीत अथवा अस्तित्वहीन एवं अघटित तत्त्वों की असंख्य मानस प्रतिमाओं का पर्याय माना गया है।''[16]

(iii) डॉ0 नगेन्द्र के अनुसार- ''काव्य-बिम्ब शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस छवि है जिसके मूल में भाव की प्रेरणा रहती है। काव्य बिम्ब का प्रेरक तत्व है भाव। भाव के संस्पर्श के बिना काव्य-बिम्ब का अस्तित्व संभव नहीं है।[17]

(iv) डॉ0 केदारनाथ सिंह के अनुसार- ''बिम्ब वह शब्द चित्र है जो कल्पना के द्वारा ऐन्द्रिय अनुभवों के आधार पर निर्मित होता है।[18]

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में बिम्ब का महत्त्व जिस प्रकार स्थापित हुआ और जितना अधिक विवेचन हुआ, हिन्दी में उसका उतना तो नहीं हुआ, फिर भी काव्य में बिम्ब को महत्त्व दिया गया है। अंग्रेजी में बिम्ब को काव्य के प्राणतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। हिन्दी के कुछ विद्वान इसे काव्य का सहायक उपकरण मानते हैं और कुछ प्रधान तत्त्व।

बिम्बों का वर्गीकरण

सामान्यतः बिम्बों के वर्गीकरण के लिए कोई न कोई आधार अपेक्षित होता है। बिना किसी एक आधार को निश्चित किये वर्गीकरण भी नहीं किया जा सकता है। बिम्बों के वर्गीकरण के लिये ये आधार हो सकते हैं।

(i) प्रभाव के आधार पर
(ii) विषय के आधार पर
(iii) इन्द्रिय-संवेदन के आधार पर

विद्वानों द्वारा किये गये वर्गीकरण निम्नलिखित हैं-

(i) सी. डे. लेविस (C. Day, Lewis) के अनुसार : इन्होंने बिम्बों को केवल दो भागों में विभाजित किया है। 1. सजीव बिम्ब और 2. खंडित बिम्ब।[19]

(ii) डॉ0 नागेन्द्र के अनुसार- उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र और पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र को ध्यान में रखते हुए बिम्बों का एक बृहद् वर्गीकरण किया है। उन्होंने काव्यगत, सर्जक, कल्पनात्मक, प्रेरक अनुभूतिप्रेरक और काव्यार्थक दृष्टि से बिम्बों का विभाजन करते हुए उनके पाँच वर्ग माना है-[20]

बिम्ब
1. दृश्य, श्रव्य, स्पृश्य, घ्रातव्य और रस्य,
2. लक्षित और उपलक्षित,
3. सरल और संश्लिष्ट,
4. खंडित और समाकलित और
5. वस्तुपरक और स्वच्छन्द,

(iii) डॉ0 कुमार विमल ने अपने वर्गीकरण में ऐन्द्रिय बोध एवं ऐन्द्रिय प्रभावों को सबसे अधिक महत्वपूर्ण आधार माना है। इनके अनुसार बिम्ब आठ प्रकार के हो सकते हैं।[21]

(1) चाक्षुष (2) श्रवण (3) स्पर्शिक (4) घ्राणिक (5) रासनिक (6) आंगिक अथवा जैव (7) वेगोद्भेदक (8) गत्वर।

इसके अतिरिक्त उन्होंने ऐन्द्रिक प्रभावों से संबद्ध दो प्रकार के बिम्बों की भी चर्चा की है-

(ii) सहसंवेदनात्मक संश्लिष्ट बिम्ब (Synaesthetic)

(ii) समानुभूतिक बिम्ब (Impathetic)

इसके अतिरिक्त डॉ0 केदारनाथ सिंह, डॉ0 कैलाश वाजपेयी, डॉ0 शंभुनाथ चतुर्वेदी, डॉ0 सुरेश माथुर एवं डॉ0 हरिचरण शर्मा आदि ने भी बिम्बों का वर्गीकरण किया है।

इस प्रकार उपर्युक्त वर्गीकरण के आधार पर बिम्ब विधान की विशेषताओं को उद्घाटित करने हेतु बिम्बों का वर्गीकरण निम्न प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है।[22]

बिम्ब:
(1) विषयात्मक बिम्बः (i) वस्तुबिम्ब, (ii) भावात्मक बिम्ब, (iii) प्राकृतिक बिम्ब, (iv) सांस्कृतिक बिम्ब/पौराणिक बिम्ब, (v) संश्लिष्ट बिम्ब, (vi)अलंकृत बिम्ब (vii)मानस बिम्ब, (viii) विविध व्यापार विषयक बिम्ब।
(2) गुणात्मक बिम्ब (इन्द्रिय बोधकपरक) : (i) दृश्य /चाक्षुष बिम्ब, (ii) स्पृश्य बिम्ब, (iii) घ्राण बिम्ब, (iv) आस्वाद्य बिम्ब, (v) श्रावणिक बिम्ब, (vi) वर्ण बिम्ब, (vii) स्मृति/अनुभूति बिम्ब, (viii) यौन बिम्ब।

नरेश मेहता के काव्य बिम्बों का जीवित प्रतिरूप है। इनके काव्य में बिम्बों के अनेक प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं जिनके माध्यम से इन्होंने नाना प्रकार की स्वानुभूतियों को अत्यधिक कलात्मकता से व्यंजित किया है।

उपर्युक्त वर्गीकरण के आधार पर इनके काव्य में प्रयुक्त बिम्बों को निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।

1. विषयात्मक बिम्ब

(i) वस्तु बिम्ब : ''वस्तु बिम्बों से तात्पर्य उन बिम्बों से है जो वस्तु या वर्ण्य-व्यापार को शब्दबद्ध करते हैं। इन बिम्बों में कवि अनलंकृत शैली में अपने वर्णन को प्रस्तुत करता हुआ पाठकों के मानस में एक प्रतिच्छवि उकेर देता है। इनमें चाक्षुष गुण की प्रधानता होती है। एकप्रकार से ये बिम्ब किसी वर्ण्य-प्रसंग, घटना-प्रसंग अथवा व्यक्तित्व विशेष के रेखाचित्र होते हैं। ये स्थिर, गतिशील या प्रवाहशील भी हो सकते हैं। उनके प्रत्येक काव्य-संग्रह में ऐसे बिम्बों को देखा जा सकता है। इनके वस्तु बिम्बों का स्त्रोत प्रमुखतः प्रकृति का मुक्त प्रांगण है। कवि को संध्या, प्रभात, मेघाछन्न

आकाश, सूर्य, धूप और चाँदनी के बिम्ब प्रस्तुत करने में कुशलता प्राप्त है।[23]

निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है-

(1) 'नारिकेलों पर थमे हैं
भाद्रपद के मेघ कजरारे,
नील आकाशे खिंचे हैं
जलधुले नवक्षितिज उजियारे', [24]

(2) 'भाद्रपद की साँझ
यह आकाश
हवा विनयी नारियल के गाछ
धुले तट का असंगी विस्तार।'[25]

उपर्युक्त उदाहरणों में वस्तु बिम्ब की योजना दृष्टिगोचर होती है। पहले उदाहरण में नारिकेलों पर थमे भाद्रपदी कजरारे मेघ का बिम्ब अपनी स्थिरता में भी आकर्षक बन गया है। तो दूसरे उदाहरण में भाद्रपदी साँझ के आकाश का बिम्ब।

(iii) भावात्मक बिम्ब- अपने गठन और गुणों के आधार पर भाव-बिम्ब एक प्रकार से धुंधला और अनुभूति या संवेदना प्रधान होता है। इसमें सुख-दुःख, आशा-निराशा, विरह-मिलन आदि का भावात्मक चित्र उपस्थित पाया जाता है। उदाहरण-

'हम सबके
नैनों के उत्सव हैं।
अवधि हैं अयोध्या की
सीता की प्रतीक्षा हैं
महाराज रघु की ही प्रतिकृति हैं।'[26]

इस उदाहरण में राम (हम) सबके नैनों के उत्सव, अयोध्या की अवधि और सीता की प्रतीक्षा है कहकर भावात्मक बिम्ब को स्पष्ट किया गया है। इन अप्रस्तुओं का विधान मन में भीतर ही भीतर अनुभूति को जगाता है किन्तु एक चित्र उभरते भावावेग में घुल जाता है।

(iii) प्राकृतिक बिम्ब- इसके अन्तर्गत प्रकृति के विभिन्न उपकरणों का चित्र उपस्थित किया जाता है। इनके काव्य में प्राकृतिक बिम्ब पर्याप्त दृष्टिगोचर होते हैं। यथा-

'सोने की वह मेघ चील,
अपने चमकीले पंखों में ले अंधकार अब बैठ गयी दिन अंडे पर।
नदी वधू की नथ का मोती चील ले गयी।
गगन बीड़ से सूरज ग्वाला हाँक रहा है दिन की गायें।
× × ×
साँझ, दिवस की पत्नी, अपने नील महल में बैठी-
कात रही है बादल।'[27]

इस उदाहरण में प्रातः एवं संध्या का सुन्दर संश्लिष्टात्मक बिम्ब योजित किया गया है। संध्या का पूर्ण बिम्ब दूसरे भाग में दृष्टिगोचर होता है।

(iv) सांस्कृतिक/पौराणिक बिम्ब- इसमें किसी सांस्कृतिक/पौराणिक घटना का चित्र प्रस्तुत किया जाता है। यह बिम्ब सांस्कृतिक एवं पौराणिक पात्रों के नामोल्लेख द्वारा अथवा घटनाओं के संकेत द्वारा भी बनता है। निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है।

'यह मदन धनुष-सा बंकचन्द्र
है पंच कुसुम पंचमी कला
गति के गोरे रोचन तन सी
खिल रही कपूरी चन्द्र प्रभा'[28]

यहाँ चन्द्रमा का मदन, धनुष का बंक, पंचमी कला की पंच कुसुम चन्द्र और उसकी चाँदनी को रात्रि के गोरे तन की उपमा पौराणिक उपमान हैं।

नरेश मेहता के काव्य में सांस्कृतिक/पौराणिक बिम्बों का प्रयोग अधिक मिलता है। इनके काव्य में कुंकुम, अक्षत, कीर्तन, धूप, मंत्र, अभिषेक आदि चित्रों के साथ सोम, उषस्, ममी, इन्द्र, सविता, भूमा, तथा समिधा आदि शब्दों का प्रयोग और इनके चित्र तक मिलते हैं।

(v) संश्लिष्ट बिम्ब- इसमें अनेक बिम्ब को एकत्रित कर परस्पर सम्बद्ध रूप में चित्रित किया जाता है। सृजनात्मक कल्पना के माध्यम से कवि सहज सम्प्रेष्य और संश्लिष्ट बिम्बों की रचना करता है। निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं-

'नील कुहर की मच्छरदानी
सिर पर लादे चली आ रही
वह पगली बदली बनजारिन
अरे, अरे, ईशान कोण में
अंधकार काले मजूर-सा
चला आ रहा गैस उठाये।
सिर पर चाँदी की रकाबियाँ
जिन पर बादल के रूमाल पड़े हैं।'[29]

यहाँ 'पगली बदली का बनजारिन' के रूप में प्रस्तुत बिम्ब है, साथ ही अंधकार का बिम्ब भी बड़ा आकर्षक बन पड़ा है। अंधकार काले मजदूर की तरह गैस उठाये चला आ रहा है। उपमा और मानवीकरण की सम्मिलित शैली में प्रस्तुत यह बिम्ब सार्थक भी है और सजीव भी।

(vi) अलंकृत बिम्ब- अलंकृत बिम्बों से तात्पर्य उन बिम्बों से है जो वर्ण्य वस्तु या प्रसंग या किसी दृश्य खण्ड को किन्हीं अलंकारों के सहारे मूर्तित करते हैं। कवि की भावुकता जब सघन हो जाती है तथा उसकी आनुभूतिक प्रक्रिया जब तीव्र आवेग के साथ मानस को आन्दोलित करती है तब अलंकृत बिम्बों की सृष्टि होती है। नरेश मेहता को रूपक, सांगरूपक और उपमा विशेष प्रिय है। अतः उनके अलंकृत बिम्ब इन्हीं अलंकारों के सहारे निर्मित हुए हैं। इनके अलंकृत बिम्बों की विशेषता यह है कि वे कहीं बोझिल और कहीं अलंकृत होकर भी सपाट और सरस बने रह गये हैं। अलंकारों से सजी हुई उनकी अनेक कविताओं में आकर्षक, सहज सम्प्रेष्य और संश्लिष्ट बिम्बों की सृष्टि हुई है। निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है-

'ईसाई भिक्षुणी सी धूप
बादलों की संधि से झांकी
और नहाई पत्तियों पर
मोमबत्तियाँ सुलग उठीं
वह सृष्टि पर पूजा सी झुकी।'[30]

उपर्युक्त पंक्तियों में बिम्ब की पावनता अपनी अद्भूतता में अकेली है। धूप बादलों की संधि से ईसाई भिक्षुणी के वेश में झांकती है तो ओस नहाई पत्तियों पर उसकी किरणों से मोमबत्तियों जलती हुई दिखाई देती है। यह अपने आप में पूर्ण और सफल बिम्ब है।

(vii) **मानस बिम्ब-** मानस बिम्बों से तात्पर्य उन बिम्बों से है जिनमें दृश्य गुण की अपेक्षा किसी विचार या भाव के सहारे बिम्ब खड़े किये गये हैं। जहाँ पर कवि अधिक भावाकुल हो उठा है वहाँ भावाश्रित मानस बिम्ब और जहाँ अधिक विचार पृथुल है वहाँ वैचारिकतायुक्त मानस बिम्बों को देखा जा सकता है।

(i) भावाश्रित मानस बिम्ब- इस वर्ग के बिम्ब 'वनपाखी सुनो' और 'संशय की एक रात' में अधिक मिलते हैं। उदहारण-

'मैं जब उत्तरा प्यासे थे जंगल के जंगल,
चावल की घाटी सूखी थी।
फटी बिवाई सी नदियों की गोद बिछी थी।'[31]

(ii) विचाराश्रित मानस बिम्ब- इस प्रकार के बिम्बों में विचार गहनता होती है, मनःस्थितियों का तनाव भरा अंकन होता है। इससे सम्बन्धित उदाहरण, 'समय देवता' एवं 'संशय की एक रात' में दृष्टिगोचर होते हैं। यथा-

'कितनी बार
कितनी साँझ
इस सिंधु वेला तट
बितायी
काट दीं- पर व्यर्थ!!'[32]

यहाँ सांध्य बेला में सिंधु तट का बिम्ब उभरा ही था कि राम की विषादाकुल मनःस्थिति प्रमुख हो गई और काट दी पर व्यर्थ!! पंक्ति ने उस मनःस्थिति को और भी गहरा कर दिया। इसमें राम की निराशा, 'कुंठा, पीड़ा और यातना का अहसास ज्यादा गहरा है जिससे बिम्ब विचाराश्रित हो गया है। उनके मानस बिम्बों में प्रमुखतः भाव, विचार और क्रिया-व्यापारों से सम्बद्ध बिम्बों को लिया जा सकता है।

(viii) विविध व्यापार विषयक बिम्ब- इस प्रकार के बिम्ब लोक जीवन के विविध क्षेत्र एवं व्यापारों से सम्बन्धित होते हैं। कवि की व्यापक दृष्टि के फलस्वरूप ही इस प्रकार के बिम्बों का सृजन होता है। इन बिम्बों की सबसे बड़ी विशेषता यही होती है कि ये जीवन के व्यापारों को या तो सीधे-साधे ढंग से या अप्रस्तुतों के माध्यम से बिम्बित करते हैं। डॉ0 हरिचरणशर्मा ने प्रमुखतः चार कार्य व्यापारों को स्वीकार किया है- कृषि, पशुचारण, संस्कृति और दैनिक जीवन के क्रिया कलाप सम्बन्धी प्रयोग। नरेश मेहता की कविताओं में इनसे सम्बन्धित बिम्ब पर्याप्त मिलते है। उदाहरण-

(1) कृषि सम्बन्धी

'कल पुरजों के खेतों में ही
बम की फसल उगा करती है।'[33]

(2) पशुचारण सम्बन्धी

'उदयाचल से किरन-धेनुएँ,
हाँक ला रहा वह प्रभात का ग्वाला।
पूँछ उठाये चली आ रही
क्षितिज जंगलों से टोली।'[34]

यहाँ ''किरन-धेनुएँ'' कविता में प्रभात बेला का वर्णन के लिए चरवाहे का बिम्ब प्रस्तुत किया गया है जो सूर्य की किरणरूपी धेनुओं को हाँकता ला रहा है।

इस प्रकार नरेश मेहता के काव्य में सांस्कृतिक आभिजात्य, कृषि-व्यापार और पशुचारण से सम्बन्धित बिम्बों की अतिशयता दिखाई देती है।

2. गुणात्मक बिम्ब (इन्द्रियबोधपरक बिम्ब)

वस्तुतः इसके अन्तर्गत दृश्य/चाक्षुष, स्पृश्य, घ्राण, आस्वाद्य, श्रावणिक, वर्ण, स्मृति/अनुभूति तथा यौन बिम्ब आते हैं। ये बिम्ब कवि की कल्पनाशीलता, प्रतिभा और उर्वर शक्तिमत्ता के द्योतक है। चूँकि प्रत्येक बिम्ब में किसी न किसी इन्द्रिय आधार का ग्रहण किया जाता है।

नरेश मेहता के काव्य में इनसे सम्बन्धित उदाहरण द्रष्टव्य है-

(i) दृश्य/चाक्षुष बिम्ब- यह बिम्ब सर्वाधिक प्रभावशाली एवं महत्वपूर्ण होता है। इन बिम्बों का चयन जीवन और जगत् के विविध क्षेत्रों से किया जाता है। सर्वाधिक संख्या प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र से गृहीत चाक्षुष बिम्बों की होती है जिसमें प्रकृति की रंगारंग तस्वीरें उभरी हुई दृष्टिगोचर होती है। नरेश मेहता ने अनगिनत अछूते और आकर्षक चाक्षुष बिम्बों की सर्जना करके अपने काव्य का अद्भुत शृङ्गार किया है। स्थिर, गतिशील और विभिन्न व्यापार के व्यंजक-चाक्षुष बिम्बों से उनकी कविता विभूषित है।[35] निम्नलिखित उदाहरण दृष्टव्य है-

'भाद्रपद की साँझ
यह आकाश
हवा विनयी नारियल के गाछ
धुले तट का असंगी विस्तार', [36]

यहाँ भाद्रपदी साँझ के आकाश तथा हवा विनयी नारियल के गाछ में चाक्षुष बिम्ब स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

(ii) स्पर्श बिम्ब- काव्य में स्पर्श बिम्ब की स्थिति वहाँ होती है जहाँ कवि किसी ऐसे शब्द का प्रयोग करता है जिसके स्पर्श की कल्पना मात्र से वर्ण्य-विषय का बिम्ब मानस को उद्वेलित कर दे। नरेश मेहता के काव्य में इस प्रकार के बिम्ब पर्याप्त दृष्टिगोचर होते हैं। निम्न पंक्तियाँ दृष्ट्रव्य है-

'सुबह की हवा का मलमली ठंडापन
गुलाब जल के ठंडे छींटों सा
कैसा खुशगवार है।'[37]

(iii) घ्राण बिम्ब- घ्राण बिम्बों की संयोजना भिन्न-भिन्न गंध रूपों के द्वारा होती है। इससे सम्बन्धित उदाहरण द्रष्टव्य है-

(1) 'बस, ऐसे ही
खस की एक सुगन्ध सी
मेरे सामने बैठी रहो।'[38]

(2) 'तो भाषा

× × ×

इलायची की सुगन्ध सी
रविशंकर की झनझनाती सितार सी समुपस्थित हो जाती है।'[39]

(iv) आस्वाद्य बिम्ब- कवि के अनुभव को स्वादगत प्रतिक्रिया के रूप में व्यक्त करने वाला बिम्ब आस्वाद्यपरक या रस बिम्ब कहलाता है। इनके काव्य में इससे सम्बन्धित उदाहरण पर्याप्त मिलते हैं। यथा-

'वह जो पीली भूमि दिख रही है देव!
वही है पीत सूर्य की पीली वसुधा,
जिसका होता कहवा मीठा।'[40]

(v) श्रावणिक बिम्ब- किसी भी प्रकार की ध्वनि का शाब्दिक चित्रण श्रव्य बिम्बों का निर्माण करता है। इसमें कवि ध्वनि मूलक शब्दों के प्रयोग से बिम्ब खड़े करता है। नरेश मेहता के काव्य में इससे सम्बन्धित उदाहरण द्रष्टव्य है-

(1) 'बिजली बूँदनियों की
तड़-तड़-तड़-तड़
तक् तड़ाक की आतिशबजी।'[41]

(3) 'मेहराबों से
पानी की बूँदों-सी
टप्-टप् टपकती सुनायी देती है
जैसे आँसू
नहीं, उल्टे टंगे जानवर के जिस्म से
रिसता,'' खून-
टप्-टप्।'[42]

उपर्युक्त उद्धरणों में श्रव्य बिम्बों की योजना के आधार 'तड़-तड़.....' तथा टप् -टप् शब्दों का प्रसंगानुकूल विधान है। इन शब्दों के उच्चारण मात्र से ही हमारी श्रवेणन्द्रियाँ वर्ण्य विषय को ग्रहण करने के लिए सतर्क हो जाती हैं।

(vi) वर्ण बिम्ब- वस्तुतः नयी कविता के कवियों की रंग संवेदना विशेष रूप से उल्लेखनीय है। नरेश मेहता को सुनहरा रंग विशेष प्रिय है। इनके काव्य में प्रयुक्त 'सोने की मेघ चील, स्वर्ण धूप, सोनपर्वी दिन, कंचन-रथ इत्यादि जैसे बिम्ब-प्रयोग उनकी रंग संवेदना के जीते-जागते प्रमाण हैं। 'समय देवता' कविता की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य है-

(1) 'सोने की वह मेघ चील,

अपने चमकीले पंखों में ले अन्धकार अब बैठ गयी दिन अण्डे पर।'[43]

(2) 'देवकन्याओं सी हिम फिसल रही है।

चाँदनियों की पारदर्शिका मलमल में'[44]

(vii) स्मृति/अनुभूति बिम्ब- वस्तुतः स्मृति जन्य बिम्ब पूर्वगामी अनुभूति का पुनरुत्पाद मात्र होता है। यह मानसिक जगत् की स्मरण शक्ति पर बिम्बित चित्रण है। उदाहरण -

'गोमती तट,

दूर पेंसिल रेख-सा वह बाँस झुरमुट,

शरद दुपहर के कपोलों पर उड़ी वह धूप की लट,

जल के नग्न ठंडे बदन पर कुहरा झुका

लहर पीना चाहता है।'[45]

यहाँ स्मृति-बिम्बों के साहचर्य में 'चाहता मन' कविता अधिक भावमय और आकर्षक हो गई है। गोमती तट, बाँस का झुरमुट, शरद दुपहर, लहर आदि प्रकृति के उपादान हैं। 'धूप की लट' के सदृश्य पर 'जल के नग्न ठंडे बदन पर- कुहरे का झुकने और 'लहर' या 'भाव लहर'' को पीने का बिम्ब कविता में भाव को रूपान्तरित कर देता है। बाँस झुरमुट को 'दूर पेंसिल रेख-सा' विशेषण देकर अदम्य वासना भाव को प्रकट किया गया है।

(viii) यौन बिम्ब- नयी कविता के कवियों ने वासना जनित भावाभिव्यक्ति हेतु यौन बिम्ब का भी प्रयोग किया है। नरेश मेहता के काव्य में इससे सम्बन्धित उदाहरण द्रष्टव्य है-

(1) 'पिता नील का यह प्रदेश है

जिसने चलकर मृत्युरेत पर हरे चरण से-

पुष्पवती धरती को कर दी।'[46]

यहाँ 'पुष्पवती धरती' का बिम्ब सर्जनात्मक है। काम-अभिप्राय भी इसमें व्यंजित है। 'पुष्पवती' में 'गर्भवती' का भाव गर्भीत है। एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है-

(2) 'क्या किसी दिन

फिर उस असीम

उन्मुक्त आकाश के नीचे

हंस-मिथुन से नहीं खड़े होंगे?

जहाँ तुम्हारा स्पर्श

तुम्हारे नेत्रों में पीलू राग का स्पर्श लगेगा।'[47]

इस प्रकार नरेश मेहता के काव्य-संग्रहों में उपर्युक्त सभी प्रकार के बिम्ब दृष्टिगोचर होते हैं।

''एक बार बातचीत के सिलसिले में प्रभाकर श्रोत्रिय ने नरेश मेहता से कहा कि आप तो फिर कविता बोलने लगे तो उनकी बात पूरी भी नहीं हुई कि बोले, ''मैं तो अपनी बात बिम्बों में ही कह पाता हूँ।'' यानि उनके लिए बिम्ब कविता के पर्यायवाची हैं और हैं भी। नरेश मेहता में ऐसी कविताएँ बहुत कम मिलेंगी, जिनमें कोई बिम्ब न हो, और बिम्बों में ताजगी और ऐन्द्रियता कल्पना का अनूठा सौन्दर्य न हो। अकेले फाल्गुन या वसंत-संबंधी कोई दर्जन भर कविताओं में हर एक में कोई न कोई नया बिम्ब है, जो नयी भंगिमा के कारण और निखर उठता है। उदाहरण-

'जल तुम कब बनोगे नदी?

इन कान्तारी काँठों के पत्थरों पर

जो लिखी पड़ी है

क्या वह नदी है?

नहीं वह तो नदी पथ है

नदी की देह है

नदी कहाँ?'

कथन भंगिमा के कारण मात्र नदी का बिम्ब कितने अर्थान्तरों में यहाँ सजीव हुआ है। नदी-एक संज्ञा/नदी- एक जलधारा/ नदी-एक शरीर/ नदी -एक पथ। 'बोलने दो चीड़ को' में 'एक तितली' , 'एक प्रयोग', दिनान्त का राजभेंट' जैसी कविताएँ उत्कृष्ट बिम्बों से आद्यंत सजी है। 'समय देवता' में कई जगह, बहुत संयम के साथ, विभिन्न देशों के ऐसे सांद्र बिम्ब हैं कि देश की सम्पूर्ण रूपाकृति का काव्यात्मक परिचय एकमुश्त मिल जाता है। यथा, अफ्रीका का यह चित्र -

'प्रकृति दत्त अफ्रीका

ज़ेबरा

अतलांतिक औ' हिन्द महासागर में बैठा

हाँफ रहा है।'[48]

यह अफ्रीका का भौगोलिक बिम्ब ही नहीं, इसके निवासियों की व्यथा का संकेत भी है।

'मेरा समर्पित एकान्त' की एक कविता 'ताल-जल' कवि के मन में एक ऐसा अनोखा और अत्यंत काव्यमय बिम्ब उपस्थित हुआ था, जो उत्कृष्ट बिम्बों की कोटि का है :

तुम क्यों हिलाती ताल-जल?

बादल काँप जाते हैं।[49]

असल में यह 'बिम्ब' एक सम्पूर्ण कविता है। प्रेयसी तालाब के किनारे बैठी जल को हिला रही है। शायद हाथ-पैर इसमें डाल दिये होंगे। ताल जल में बादल की छाया पड़ रही है। वह एक तरह से बिम्ब का भी बिम्ब है, जो ताल-जल के हिलाने से काँप जाता है। इस तरह जो एक कम्पित बिम्ब बनता है, वह प्रेमी के मन को कँपा देता है और प्रकृति के प्रति उसके परम राग को खंडित कर देता है, परन्तु यह ताल-जल हिलाने वाली 'प्रेयसी' है उसे रोका तो नहीं जा सकता, एक खिन्न उपालंभ ही दिया जा सकता है। दोहरी पीड़ा को झेलते हुए व्यक्ति-मन का यह चित्र न केवल एक प्रभाव-बिम्ब और चाक्षुष बिम्ब रचता है, बल्कि कथा-बिम्ब की सृष्टि भी करता है- और उससे भी बढ़कर चरित्र बिम्ब की। प्रेमी को बादल के काँप जाने में एक तन्मय राग के काँप जाने-जैसा झटका लगता है। दो पंक्तियों में इतना अर्थव्यंजक, सांद्र, समृद्ध और विलक्षण रूप उपस्थित कर देना सचमुच अद्भुत है।[50]

नरेश मेहता के काव्य में प्रयुक्त बिम्ब संबंधी उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि इनका समग्र काव्य बिम्बात्मकता पर आधारित है। इन्होंने बिम्बों के माध्यम से अन्तर्मन की विविध सुमधुर अनुभूतियों और सुकुमार भावनाओं की सशक्त अभिव्यंजना प्रस्तुत किया है। इन्होंने अपनी काव्य भाषा को समृद्ध बनाने एवं भाषिक सौन्दर्य उद्घाटित करने हेतु लगभग सभी प्रकार के बिम्बों का प्रयोग किया है। नये कवियों की तुलना में उनका बिम्ब विधान अपना एक अलग और विशिष्ट महत्व रखता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. शर्मा, प्रभाकर : नरेश मेहता का काव्य विमर्श और मूल्यांकन (प्र0सं0 1979, पृ0 26), पंचशील प्रकाशन, जयपुर।
2. श्रोत्रिय, प्रभाकर : नरेश मेहता, (प्र0सं0 2003, पृ. 111), साहित्य अकादमी, नई दिल्ली।
3. डॉ0 नगेन्द्र : काव्य बिम्ब, (प्र0सं0 1967, पृ0 72), नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली.
4. Websters New English Dictinoary, PP. 143.
5. Shorter Oxford Dictionary, PP. 958.
6. शर्मा, प्रभाकर : नरेश मेहता का काव्य विमर्श और मूल्यांकन (प्र0स0 1979, पृ0 84), पंचशील प्रकाशन, जयपुर।
7. Encyclopaedia Britanica, Edition 1969, Vol. 12, PP. 103.
8. Lewis, C. Day : The poetic Image, PP. 22, 2008.
9. Lewis, C. Day : The poetic Image, PP. 199, 2008.
10. Hulme, T.E. : Speculations, PP. 281, उद्धृत डॉ0 नगेन्द्र-काव्य बिम्ब, पृ0 5.
11. Richards, I.A. : Coleridge on Imagination, PP. 136.
12. Glenn Hughes - Imagism and Imagists, PP. 29.
13. वेलेक रेने एवं वारेन ऑस्टिन : Theory of Literature. (1985), उद्धृत पालीवाल, बी0एस0 (अनुदित) साहित्य-सिद्धान्त (सं0 2012, पृ0 244), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
14. आचार्य विश्वनाथ : साहित्य दर्पण, पृ0 555-56, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी.
15. शुक्ल, रामचन्द्र : चिन्तामणि, भाग-1, (सं0 2012, पृ0 110-111), प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली.
16. स्नातक, डॉ0 विजयेन्द्र : हिन्दी साहित्यकोश, पृ0 558.
17. डॉ0 नगेन्द्र : काव्य बिम्ब, (प्र0सं0 1967, पृ0 5-6), नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली.
18. सिंह, डॉ0 केदारनाथ : आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्ब विधान, पृ0 23.
19. Lewis, C. Day : The Poetic Image, PP. 90.
20. डॉ0 नागेन्द्र : काव्य बिम्ब, (प्र0सं0 1967, पृ0 5-6), नेशनल पब्लिशंग हाउस, दिल्ली.
21. कुमाार, डॉ0 विमल : सौन्दर्यशास्त्र के तत्व, पृ0 219. उद्धृत सिन्हा, डॉ0 प्रेम निवास : नरेश मेहता के काव्य का शैलीवैज्ञानिक अध्ययन (अप्रकाशित शोध प्रबन्ध), 1995, पृ0 397, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी.
22. वही-नरेश मेहता के काव्य का शैलीवैज्ञानिक अध्ययन (अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, 1995, पृ0 398, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी.
23. शर्मा, प्रभाकर : नरेश मेहता का काव्य विमर्श और मूल्यांकन (प्र0सं0 1979, पृ0 90), पंचशील प्रकाशन, जयपुर.
24. मेहता, श्रीनरेश : वनपाखी! सुनो!! (द्वि0सं0 1982, पृ0 20), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
25. मेहता, श्रीनरेश : संशय की एक रात (प्र0सं0 1962, पृ0 11), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
26. मेहता, श्रीनरेश : संशय की एक रात (प्र0सं0 1962, पृ0 11-12), लोकभारती प्रकाशन, इलाहााबद.
27. मेहता, श्रीनरेश : दूसरा सप्तक (संपा0-अज्ञेय; (प्र0सं0 1951, पृ0 132), प्रगति प्रकाशन, नई दिल्ली.
28. मेहता, श्रीनरेश : दूसरा सप्तक (संपा0-अज्ञेय, (प्र0स0 1951, पृ0 133), प्रगति प्रकाशन, नई दिल्ली.
29. मेहता, श्रीनरेश : बोलने दो चीड़ को (प्र0सं0 2010 पृ0 15), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
30. मेहता, श्रीनरेश : मेरा समर्पित एकान्त (प्र0सं0 1967, पृ0 46), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
31. मेहता, श्रीनरेश : वनपाखी! सुनो!! (द्वि0सं0 1982, पृ0 28), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
32. मेहता, श्रीनरेश, संशय की एक रात (प्र0सं0 1962, पृ0 3), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.

33. मेहता, श्रीनरेश, दूसरा सप्तक (संपा0 अज्ञेय; (प्र0सं0 1951, पृ0 141), प्रगति प्रकाशन, नई दिल्ली।

34. मेहता, श्रीनरेश, दूसरा सप्तक (संपा0 अज्ञेय; (प्र0सं0 1951, पृ0 141), प्रगति प्रकाशन, नई दिल्ली।

35. सिन्हा, डॉ0 प्रेम निवास : नरेश मेहता के काव्य का शैलीवैज्ञानिक अध्ययन, (अप्रकाशित शोध प्रबन्धः 1995, पृ0 410), काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी.

36. मेहता, श्रीनरेश : संशय की एक रात (सं0 1962, पृ0 9), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.

37. मेहता, श्रीनरेश : पिछले दिनों नंगे पैरों, (प्र0सं0 1989, पृ0 107), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.

38. मेहता, श्रीनरेश : तुम मेरा मौन हो, (प्र0सं0 1982, पृ0 4), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.

39. मेहता, श्रीनरेश : अरण्या (प्र0सं0 1985, पृ0 15), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.

40. मेहता, श्रीनरेश : दूसरा सप्तक- (संपा0 अज्ञेय-सं0 1951, पृ0 134) प्रगति प्रकाशन, नई दिल्ली।

41. मेहता, श्रीनरेश : बोलने दो चीड़ को (सं0 2010, पृ0 16), लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद.

42. मेहता, श्रीनरेश : पिछले दिनों नंगे पैरों (प्र0सं0 1989, पृ0 39), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.

43. मेहता, श्रीनरेश : चैत्या-(दूसरा सं0 2015, पृ0 208), भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली.

44. मेहता, श्रीनरेश : महाप्रस्थान (प्र0सं0 1977, पृ0 38), लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद.

45. मेहता, श्रीनरेश : दूसरा सप्तक (संपा0 अज्ञेय, प्र0सं0 1951, पृ0 123), प्रगति प्रकाशन, नई दिल्ली.

46. मेहता, श्रीनरेश : दूसरा सप्तक (संपा0 अज्ञेय, प्र0सं0 1951, पृ0 143), प्रगति प्रकाशन, नई दिल्ली.

47. मेहता, श्रीनरेश : देखना एक दिन (प्र0सं0 1990, पृ0 81), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.

48. मेहता, श्रीनरेश : दूसरा सप्तक (संपा0 अज्ञेय- प्र0सं0 1951, पृ0 132), प्रगति प्रकाशन, नई दिल्ली.

49. मेहता, श्रीनरेश : मेरा समर्पित एकान्त (सं0 1967), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.

50. श्रोत्रिय, प्रभाकर : नरेश मेहता (प्र0सं0 2003, पृ0 85-86), साहित्य अकादमी, नई दिल्ली-01.

●

श्रमण संस्कृति

अपर्णा पाण्डेय तिवारी[*] एवम् डॉ. सचिन कुमार तिवारी[*] [*]

'श्रमण' शब्द श्रम एवं समभाव को अभिव्यक्त करता है प्रसिद्ध जैनाचार्य श्री हरिभद्रसूरि के अनुसार-

''श्राम्यतीति श्रमण : तपस्यतीत्यर्थः''[1]

अर्थात् श्रम करने वाला अथवा तप करने वाला, अथवा वह श्रमण जिसमें श्रम का भाव और तपस्या करने का भाव है वह श्रमण है। श्रमण का व्युत्पत्तिपरक अर्थ ही इसकी परम्परा के स्वरूपगत वैशिष्ट्य को प्रकट करता है। यह परम्परा अकर्मण्य भाग्यवादी एवं भोगवादी नहीं अपितु मानव के पौरुष की परीक्षा करने वाली, कर्म में विश्वास रखने वाली तथा अपनी ही साधना एवं तपस्या के बल पर तीर्थ का निर्माण कर सकने की भावना में विश्वास रखकर तदनुरूप आचरण करने वाली साधना की परम्परा है। श्रमण शब्द श्रम्+युच प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है जिसका अर्थ साधु, संन्यासी, भक्त से है।[2] श्रमण पुलिंग शब्द पुरुष श्रमण हेतु एवं श्रमणा स्त्रीलिंग शब्द महिला श्रमणा व श्रमणी यथा मानषी, मुण्डारी आदि के रूप में जानी जाती है।[3]

श्रमण संस्कृति, वैदिक और पौराणिक संस्कृति से पृथक् अपनी पहचान बनाने वाली संस्कृति है। आर्य संस्कृति और जैन-बौद्ध संस्कृति के भेद दर्शन के लिए कहा जाने लगा कि एक आर्ष संस्कृति थी एक श्रमण संस्कृति। एक ऋषियों की थी एक मुनियों की। उदाहरणस्वरूप बौद्ध एवं जैन अपनी स्थापना एवं विकास के चरण में श्रमण संस्कृति के रूप में विकसित हुयी।

श्रमण परम्परा ईश्वर नामक किसी तत्त्व विशेष को सृष्टिकर्ता न मानकर अपने श्रम अर्थात् पुरुषार्थ द्वारा सबको ईश्वर बनने का अधिकार प्रदान करती है। 'श्रमण' शब्द प्राकृत भाषा के समण का रूपान्तर भी माना जाता है। इस सम्बन्ध में आर॰सी॰ जैन[4] का विचार ध्यातव्य है-

''श्रमण अर्थात् यथार्थ आत्मिक प्रयास करने वाला श्रमण कहलाता है।''

श्रमण परम्परा के विषय में बताने वाले स्रोतों में साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक स्रोत प्रमुख है।

साहित्यिक स्त्रोत : ऋग्वेद का केशीसूक्त, अथर्ववेद, ताण्ड्य ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण, जैमिनीय ब्राह्मण, ऐतरेय आरण्यक, तैत्तिरीय आरण्यक बृहदारण्यकोपनिषद्, नारदीय संहिता, पंचविंश ब्राह्मण, बौधायन - धर्मसूत्र, याज्ञवल्क्य स्मृति, मनुस्मृति, रामायण, महाभारत एवं अन्त में जैन एवं बौद्ध साहित्य इसके प्रमुख साहित्यिक स्रोत है।

पुरातात्त्विक स्त्रोत : योग मुद्राओं में पायी जाने वाली ऋषि, मुनियों की स्थिति, श्रमण परम्परा के मूर्त्तस्वरूप का दृश्य है जिसका अंकन मन्दिरों की दीवार एवं अन्य कलाकृतियों पर देखी जा सकती है। उदाहरणस्वरूप सिन्धु-सरस्वती नदी घाटी सभ्यता[5] के पुरास्थलों से प्राप्त खण्डित पाषाण प्रतिमायें एवं मुहरों में अंकित मानव प्रतिमायें।

श्रमण के अन्य नाम

श्रमण एवं श्रमणा परम्परा का पालन करने वाले पुरुष एवं महिला उपर्युक्त साहित्यिक स्रोतों में अन्य नामों से भी परिचित कराये गये हैं जिनका विवेचन क्रमानुसार हैं-

मुक्तिर्मोक्षोऽपवर्गोऽथ मुमुक्षु श्रमणो यतिः।

वाचंयमो व्रतो साधुनागार ऋषिर्मुनिः॥

निर्ग्रन्थो भिक्षुरस्त्वस्य तपोयोगशमादयः॥

बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के मध्य के विद्वान् एवं संस्कृतकोश के रचनाकार हेमचन्द्र ने उक्त पंक्तियों में मुक्ति, मोक्ष, अपवर्ग, मुक्ति के पर्याय के रूप में दर्शाया गया है एवं मुमुक्षु, श्रमण, यति, वाचंयम, वृत्ति, साधुनागार, ऋषि, मुनि, निर्ग्रन्थ, भिक्षु साधु के पर्याय एवं तप, योग, शम आदि उनके कर्मगुण हैं।

मुनि : एक महत्त्वपूर्ण लोगों का समुदाय जो वैदिक एवं वैदिकेतर धर्मों के मध्य खड़ा है अर्थात् एक ऐसा समुदाय जिनके विचार एवं परम्परा में न पूर्ण रूप से वैदिक परम्परा का पालन है और न ही अवैदिक परम्परा का निर्वाह। गोविन्द चन्द्र पाण्डेय[6] ने 'मुनि' शब्द का प्रयोग श्रमण परम्परा के अन्तर्गत किया है।

डॉ॰पाण्डुराव वामन काणे के अनुसार : मुनि जो आर्यों से उत्पन्न हैं परन्तु ये ध्यान करने वाले एवं भौतिक वस्तुओं का परित्याग करने वाले होते हैं।

शतपथ ब्राह्मण में तुरुकावशेय को मुनि के रूप में उल्लिखित किया गया है और ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार उसके पुत्र कावशैलुष को सरस्वती तट के यज्ञ से दासी पुत्र और अब्राह्मण कह कर निकाल दिया गया।

*शोधच्छात्रा, साहित्य विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

** सहायक आचार्य, प्रा.भा.इ.सं. एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

वातरशना : तैत्तिरीय आरण्यक में उल्लिखित यह शब्द ''वायुरूपी तगड़ी वाले ऋषि'' के संदर्भ में हुआ है। डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार-वातरशना शब्द का प्रयोग एवं अर्थ 'दिगम्बर' के सन्दर्भ में लिया जाना चाहिए। ऋग्वेदानुसार-

मुनयो वातरशनाः पिशंगा वसते मला।

वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविसत॥

उन्मदिता मौनयेन वातां आतस्थिमा वयम्।

शरीरेदस्माकं यूयं मर्तासो अभि पश्यथ॥ (ऋग्वेद 10.136, 2-3)

अर्थात् वातरशन के वंशज मुनि लोग पीले वल्कल पहनते हैं। वेस देवत्व प्राप्त करके वायु की गति के अनुगामी हुये हैं। सारे लौकिक व्यवहारों के विसर्जन से हम उन्मत हो गये हैं। तुम लोग केवल हमारा शरीर देखते हो हमारी प्रकृत आत्मा तो वायुरूपी हो गयी है।[8]

उक्त ऋचाओं के साथ केसी की स्तुति की गयी-

केश्यग्निं केशी विषं केशी विभर्ति रोदसी।

केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते॥

अर्थात् केशी (सूर्य) अग्नि, जल और द्यावापृथिवी को धारण करते हैं। केशी ही संसार को प्रकाश के द्वारा दर्शनीय बनाते हैं। इस ज्योति को ही केशी कहा जाता है। सम्भवतः केशी वातरशना मुनियों का प्रधान हो।[9]

अर्हन् : इस शब्द का अर्थ एक ऐसे व्यक्ति विशेष के सन्दर्भ में किया गया है जिन्हें 'पूजनीय पात्र' माना जाता है।[10]

व्रात्य : अथर्ववेद में प्रयुक्त यह शब्द श्रमण परम्परा की प्राचीनता को दर्शाता है। व्रात्य शब्द का अर्थ ''मानवों, पशुओं, चर-अचर तत्त्वों में जो विश्व का मूल मानें'' है।[11]

यति : पंचविंश एवं ऐतरेय ब्राह्मण में इस शब्द का प्रयोग हुआ है जिसकी व्याख्या डॉ॰ पाण्डुरंग वामन के अनुसार-ऐसे अनार्यों का समूह जो मुनियों के साथ या और जो उनके विचारों से सहमत थे, वे यति कहलायें।[12]

डॉ॰ डी॰आर॰ भण्डारकर के अनुसार-यति असुर समुदाय से सम्बन्धित है जिन्हें अनार्यों की श्रेणी में रखा जाता है। अधिकांश विद्वान् इनको इन्द्रविरोधी वेदेतर तापसों के रूप में स्वीकार करते हैं।[13]

श्रावक : अतिचार रहित सम्यकत्व को पालने वाला, संसार, शरीर और भोगों से विरक्त, पंच परमेष्ठियों की चरण-शरण को प्राप्त तथा व्रतों के मर्णरूप अष्टमूलगुणों को पालने वाला श्रावक कहलाता है। सप्तव्यसनों यथा-द्यूत, मदिरा, मांस, वेश्या, आखेट, चोरी एवं परदारा सेवन को त्यागने वाला भी श्रावक कहा गया है।[14]

वृत्तिक : 'भावसंग्रह' ग्रन्थ के अनुसार जो शल्य और अतिचार रहित पंचअणुव्रत और सप्तशील रूप, द्वादश व्रतों को धारण करता है वह वृत्तिक कहलाता है। तत्त्वार्थसूत्र में व्रती को शल्यरहित होना चाहिए इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है।[15]

निर्गन्थ : जो ग्रन्थ रहित है, परिग्रहादिरहित एकाकी है, एक बिन्दु है, केवल आत्मा का ही ज्ञाता है, पूजा सत्कार का अर्थी नहीं है वह निर्ग्रन्थ कहलाता है।

भिक्षु : जो अभिमान रहित, विनयसम्पन्न, परिषः एवं उपसर्गों पर विजय प्राप्त करने वाला, आध्यात्मिक वृत्ति युक्त एवं परदत्त भोजी है, वह भिक्षु कहलाता है।

श्रमण-ब्राह्मण : जो समस्त पापकर्मों से विरक्त, राग-द्वेष-कलह-अभ्याख्यान-पैशुन्य-परनिन्दा-अरति-रति-मायामृषावाद-मिथ्या-दर्शन शल्य से रहित, समिति युक्त, ज्ञानादि गुण सहित, सर्वदा प्रयत्नशील क्रोध एवं अहंकारविहीन हो, वह ब्राह्मण श्रमण-ब्राह्मण कहलाता है।

इन सभी पर्यायों के अतिरिक्त अन्य पर्याय भी हैं यथा-तापस, तपी, तपस्वी, संन्यासी, वानप्रस्थी, पणि, वनी, यायावर, परिव्राजक इत्यादि।

श्रमण परम्परा की प्राचीनता

श्रमण-संस्कृति की उत्पत्ति कब और कैसे हुयी? किस भू-भाग में हुयी एवं किन परिस्थितियों में हुयी तथा किन-किन प्रभावों के परिणामस्वरूप हुयी यह कहना अत्यन्त कठिन कार्य है वैसे तो जैनधर्म एवं बौद्धधर्मावलम्बी अपने आप को अनादि एवं अनन्तकाल से भी प्राचीन मानते हैं किन्तु इनके उपलब्ध साहित्यों में उस साहित्य का रचनाकाल इनके विकास का चरण हो सकता है जो स्वाभाविक आंकलन माना जा सकता है। कुछ विद्वानों के अनुसार सैन्धव सभ्यता से प्राप्त खण्डित पाषाण प्रतिमायें जैन धर्म की श्रमण परम्परा के प्राचीनतम मूर्त प्रमाण माने जा सकते हैं।[16] यह बात भी उचित है कि वेदों में श्रमण के पर्याय शब्द श्रमण परम्परा की प्राचीनता को वैदिक काल से जोड़ते हैं। ऐसा सम्भव है कि पूर्ववैदिककाल से ही ये अवैदिक परम्परा का निर्वाह करने वाले श्रमण उपस्थित रहे हों। कठोपनिषद् का अधोलिखित मन्त्र इसी ओर इंगित करता है-

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽ

स्तीत्येके नायमस्तीत्य चैके।

इस प्रेत (मृत मनुष्य, परलोक, आत्मा, पुनर्जन्म) के विषय में जो लोग संशय करते हैं एक धारा 'अस्ति' और दूसरी धारा 'नास्ति' कहलाती है।[17]

यह तो निर्विवाद है कि वैदिक और श्रमण दोनों सांस्कृतिक धाराओं का परस्पर समन्वय या आदान-प्रदान अवश्य रहा होगा जो आज भी कतिपय हमारे आचार-विचार, परम्पराओं एवं व्यवहार में अतिसूक्ष्म निरीक्षण के पश्चात् खोजे जा सकते हैं। सम्भव है कि कुछ सनातन परम्पराओं में श्रमण परम्पराओं का परोक्ष व अपरोक्ष प्रभाव पड़ा हो। उदाहरणस्वरूप-वीणा बजाते हुये देवर्षि नारद जिन्हें नारायण-नारायण शब्द मात्र के उच्चारण से देवलोक से भूलोक तक प्रकट होने की क्षमता ग्रन्थों में दर्शायी गयी है। एक अन्य उदहारण में-चार मुनियों[18] यथा-सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार जो श्वेतवस्त्रधारी थे एवं सदैव पंचवर्षीय बालक के रूप में किसी भी लोक में किसी भी देवता के समक्ष बिना किसी बाधा के उपस्थित होने का सर्वोच्च सम्मान प्राप्त था इन्हें अलौकिक एवं एक अत्यन्त विशिष्ट परम्परा के प्रतीक के रूप में माना जा सकता है जो सम्भवतः श्रमण परम्परा का प्रमाण हो।

वैदिक ग्रन्थों के ज्ञाता के अनुसार-श्रमण परम्परा को मूलतः दो शाखाओं से उत्पन्न माना जाना चाहिए जिसमें प्रथम वैदिक परम्पराओं से निकले श्रमण एवं अवैदिक परम्पराओं से निकले श्रमण। विद्वानों का ऐसा मानना है कि वैदिक युग में ही दो समानान्तर संस्कृतियाँ यथा-ऐन्द्री एवं वारुणी संस्कृतियाँ विद्यमान थी जिनमें ऐन्द्री संस्कृति की व्याख्या इन्द्र को इस संस्कृति के मुख्य देवता के रूप में मानने लगी है एवं इस संस्कृति के समर्थक प्रवृत्तिमार्गीय युद्धक, मांसाहारी, स्वर्ग एवं भोग के अभिलाषी थे। इसके विपरीत वरुण, वारुणी संस्कृति के मुख्य देवता के रूप में जाने गये हैं जो अहिंसा का समर्थन करने वाले, व्रत एवं तप को महत्त्व देने वाले, निरामीष आहार करने वाले, योग, ज्ञान एवं मोक्ष के समर्थक थे।

धीरे-धीरे कालक्रमानुसार वैदिक युग की दूसरी शाखा वारुणी संस्कृति का महत्त्व कम होता गया एवं ऐन्द्री संस्कृति का महत्त्व बढ़ता गया। इन्द्र के अतिरिक्त किसी अन्य देवता की आराधना दण्डनीय मानी गयी जिसके परिणामस्वरूप वारुणी संस्कृति दो भागों में विभाजित हो गयी यथा-वैदिक संस्कृति एवं अवैदिक श्रमण संस्कृति।

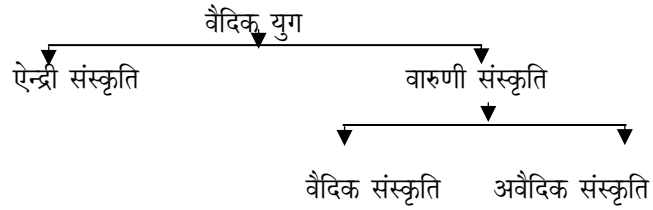

वैदिक श्रमणों की प्राचीनता बताने वाले साहित्यिक साक्ष्यों में वाल्मीकिकृत रामायण की भी अपनी एक अग्रिम भूमिका है जिसमें श्रमणों के इक्कीस सम्प्रदायों की चर्चा है। उदाहरणस्वरूप श्रीराम को उनके वनवास के समय झूठे बेर खिलाने वाली शबरी एक श्रमणी ही थी जो श्रमण परम्परा का निर्वाह वन में कर रही थी। मौर्य शासक चन्द्रगुप्त मौर्य के समय मेगस्थनीज, एक यूनानी राजदूत ने पाटलिपुत्र में निवास किया था और जिसके द्वारा 'इण्डिका' नामक पुस्तक की रचना की गयी थी। मेगस्थनीज की इस रचना में तत्कालीन राजनीति समाज, धर्म, अर्थ इत्यादि की विशद व्याख्या है इन्हीं व्याख्याओं में मेगस्थनीज ने दो प्रकार के दार्शनिकों की बात की है। (1) ब्राह्मण (2) श्रमण। मेगस्थनीज के अनुसार यद्यपि इनकी संख्या बहुत ज्यादा न थी अपितु सामाजिक जीवन में इन्हें प्रचुर प्रतिष्ठा प्राप्त हुयी थी। मेगस्थनीज की यह व्याख्या श्रमणों की प्राचीनता को मौर्यकाल तक तो स्थापित करती जो किसी विदेशी लेखन में एक महत्त्वपूर्ण व्याख्या है।

डॉ॰ आर॰सी॰ जैन के अनुसार-4000 ईसापूर्व में यह श्रमण परम्परा मेनीज नामक व्यक्ति द्वारा समुद्र यात्रा से मिस्र ले जाया गया। मेनीज को श्रमणों का पर्याय 'पणि' माना गया है जिसका आधार मेनीज के मूल देश का नाम पन्त अथवा पुन्त बताया गया है। ये पणि अहि नामक उपजाति के थे एवं अपने साहसिक समुद्र यात्रा के लिए जाने जाते थे।[19]

श्रमण परम्परा की उत्पत्ति का कारण

श्रमण परम्परा की उत्पत्ति के कारणों को मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। (1) वैदिक धर्म के समकालीन एवं वैदिक-परम्परा के विरोध की प्रक्रिया में उत्पन्न हुयी शाखा एवं (2) मुनियों की परम्परा से उत्पन्न शाखा।

सम्भवतः बौद्ध एवं जैन श्रमण धर्म की उत्पत्ति ब्राह्मणों एवं मुनि श्रमणों के परस्पर समन्वित रूप में हुयी हो।[20]

डॉ॰ गोविन्द्र चन्द्र पाण्डेय के अनुसार-वैदिक काल के अन्त में ब्राह्मण एवं मुनि श्रमण के परस्पर समन्वित दोनों विचारधाराओं को ही बौद्ध धर्म का उत्कर्ष माना जा सकता है। इस परम्परा में ब्राह्मणों के साथ ही अन्य सभी स्तर के लोग सम्मिलित थे।

मोटिन विरलाइन के अनुसार-भारत में श्रमणों के उत्पत्ति के दो कारक माने जा सकते हैं-

(1) श्रावक अर्थात् अन्य परम्पराओं का पालन करने वाले से सीखकर एवं (2) पक्के बुद्ध-स्वयं ब्रह्मचर्य अपनाकर परम्परा बनाने वाले।

इन विद्वानों के द्वारा दिये गये मतों का अध्ययन इस परिणाम की ओर संकेत देता है कि यह परम्परा वैदिक परम्परा से भी पूर्व विद्यमान थी एवं व्यवहार में भी थी जो बाद के कालों तक भी अनवरत परन्तु एक विशेष स्थान की इच्छा के बिना ही उपस्थित रहें।

श्रमणों का स्वरूप

ऋग्वेद के केशी सूक्तानुसार लम्बे केशधारी, मैले वस्त्रधारी, वायु में उड़ने वाले, विषपान करने वाले, मौनी उन्मादित एवं देवरूपी स्वरूप[21] श्रमणों की पहचान है-

उन्मादिता मौनयेन वातां आतस्थिमा वयम्।

शरीरदेस्माकं यूयं मर्तासो अभि पश्यथ॥

अन्य ग्रन्थानुसार निवृत्तिमूलक विचारधारा वाले, कायाक्लेश युक्त तपस्वी, वैदिक कर्मकाण्डों के विपरीत आचरण करने वाले यज्ञादि पर विश्वास न करने वाले, वैदिक ऋषियों के आचरण के विपरीत ब्रह्मचारी अपने इच्छानुसार लुप्त होने वाले, पापकर्मों से मुक्ति का उपदेश देने वाले, इन्द्र के शत्रु, दुःखवादी निरीश्वर जीववादी, क्रियावादी, परिभ्रामणक, भिक्षाटन करने वाले, शान्ति हेतु सत्य की खोज करने वाले, ब्रह्मविद्या के इच्छुक आत्मसाधना करने वाले इत्यादि श्रमण माने गये। मुनियों के ही परवर्ती मुण्डित भिक्षु जो मुण्डकोपनिषद् (अथर्ववेद का उपनिषद्) है के रचयिता श्रमण परम्परा को मानने वाले रहे हैं। इसके अतिरिक्त तप, दम, त्याग, श्रद्धा को मान्यता देने वाले, तृष्णा का त्याग करने वाले कर्मफल के एवं पुनर्जन्म में विश्वास रखने वाले, जिसका लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति उसी जन्म में सम्भव हो, नैतिक आचरण के ज्ञान का प्रचार करने वाले, अतिथि सत्कार, परोपकार एवं व्रत-उपवास में आस्था रखने वाले, आत्मदर्शन, मैत्री, करुणा का अनुशीलन करने वाले, जो समस्त जीवात्माओं को अपनी आत्मा समझता हो और उनके साथ आत्मवत् व्यवहार करता हो, जो लाभ एवं हानि, जीवन एवं मृत्यु, निन्दा एवं प्रशंसा, मान एवं सम्मान में सदा सम्भाव रखता हो, वैसे महापुरुष श्रमण परम्परा के अन्तर्गत आते हैं।

जैनागमों में श्रमणों के पाँच प्रकार बताये गये हैं-निर्ग्रन्थ[22], शाक्य, तापस, गेरुप एवं आजीवक विदित है कि रामायण में वैदिक श्रमणों के इक्कीस सम्प्रदायों की चर्चा है।

डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार-सम्भवतः श्रमण परम्परा के विचारों के कारण ही वैदिक-पौराणिक धर्म (ब्राह्मण धर्म) में उल्लिखित चार आश्रमों में अन्तिम दो आश्रम वानप्रस्थ एवं संन्यास को प्रश्रय मिला। जो उपर्युक्त श्रमणों के स्वरूप की व्याख्या से भी चरितार्थ होती है।

जैनग्रन्थ वसुनन्दि श्रावकाचार के अनुसार ''दिन में प्रतिमा योग धारण करना, नग्न होकर दिनभर कायोत्सर्ग करना, विश्चर्यास मुनि के समान गोचरी करना, त्रिकालयोग अर्थात् ग्रीष्म में पर्वत के शिखर पर, वर्षा में वृक्ष के नीचे एवं सर्दी में नदी के किनारे ध्यान करना, श्रावकों की पहचान[23] है जो अनासक्त, निदानरहित, काषायमुक्त, हिंसा, असत्य, बहिद्दा अर्थात् अब्रह्मचर्य परिग्रहरहित है, वह श्रमण कहलाता है।

श्रमणों के नियम एवं आचार

आगमों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ दशवैकालिक श्रमण सम्बन्धी विचारों का संग्रह है जिसमें श्रमण के नियम, आचार एवं स्वरूपों की विस्तृत व्याख्या है उदाहरणस्वरूप-

कहं चरे कहं चिट्ठे कहमासे कहं सए।

कहं भुजतो भासतो, पावं कम्म न बंधई।

कैसे चले? कैसे खड़े हो, कैसे बैठे कैसे सोये, कैसे खायें, कैसे बोलो? जिससे पापकर्म का बन्धन न हो।।

जयं चरे, जयं चिट्ठे, जय मासे जयं सए।

जयं भुजंतो मासतो, पावं कम्मं न बंधई॥

यातनापूर्वक चलने, यातनापूर्वक खड़ा होने, यातनापूर्वक बैठने यातनापूर्वक सोने यातनापूर्वक खाने और यातनापूर्वक बोलने वाला श्रमण पापकर्म का बन्धन नहीं करता।[24]

उपर्युक्त विचारों से साम्य रखने वाले अन्य और भी कई विचार दशवैकालिक नामक पुस्तक में वर्णित है जो मूलतः श्रमणों हेतु नियम, आचार एवं उनके स्वरूपों की चर्चा विशद रूप में करता है।

श्रमण की योग्यता एवं लक्षण

श्रमण परम्परा को धारण करने वाले व्यक्तियों में कुछ विशेष योग्यताओं की आवश्यकता होती है जिसके उपरान्त ही एक सामान्य व्यक्ति भी श्रमण अथवा श्रमण श्रमणी की श्रेणी में आ सकता है जो क्रमशः है-आर्य देशोत्पन्न, शुद्ध हृदयी, शुद्ध कुल, अशुभ कर्मों से विरक्त, विज्ञात संसार, कृतज्ञ, विनीत, राजसम्मत, अद्रोही, अंग-भंग से रहित, श्रद्धावान्, व्रतों का निर्वाह करने वाला एवं संयमी जीवन व्यतीत करने वाला योग्यता से युक्त व्यक्ति ही श्रमणत्व प्राप्त करने के पात्र हैं।

श्रमणों के लक्षण विशेष में क्रमशः क्षमा, मुक्ति, सरलता, मृदुलता, मोहरहित, सत्य, संयमी, तपी, त्यागी, ब्रह्मचारी, दयावान् हैं।

श्रमणों के निवास स्थल एवं स्वरूप

उपर्युक्त श्रमणों के स्वरूप की व्याख्या के तद्नुसार उनका निवास स्थल भी क्रमशः वनों में प्राकृतिक गुफा, मानवकृत गुफा, वृक्षतल, श्मशान, सामान्य भवनों एवं मानवीय समुदाय से दूरस्थ एकान्तवास करने वाले श्रमण एवं श्रमणी के निवास एवं चिन्तनस्थल होते हैं। ध्यातव्य हो कि मौर्य सम्राट अशोक के द्वारा श्रमण परम्परा के पालक आजीवक सम्प्रदाय को मानने वालों के लिये बिहार के बराबर एवं नागार्जुनी पहाड़ी श्रृंखला में अनेक गुफाओं का निर्माण एवं उनके सदृश सैकड़ों गुफाओं एवं विहारों का निर्माण श्रमण परम्परा के पालक बौद्ध-जैन एवं वैदिक-अवैदिक परम्परा के श्रमणों हेतु राजकीय एवं जनसमुदाय के आर्थिक सहयोग से उनके एकान्तवास हेतु सामान्य मानवीय परिवेश से दूरस्थ वनों एवं पहाड़ियों में किये गये।

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में श्रमण

श्रमण सम्भवतः समूह में परन्तु सामान्य सामाजिक परिवेश से दूरस्थ निवास करते थे। आधुनिक परिप्रेक्ष्य में इस प्रकार का स्वरूप अघोरियों, गोरखपन्थियों, नागाओं में देखा जा सकता है। ये आधुनिक सम्प्रदाय आज के इस आधुनिक दौड़ में भी श्रमणों की परम्परा का निर्वहन करते हुए किसी विशेष अवसर पर सामान्य जनसमुदाय के मध्य में यदा-कदा ही सही उपस्थित होते रहते हैं जैसे-कुम्भ महापर्व पर परन्तु वास्तविकता में उनमें आज भी जन समुदाय से दूर एकान्तवास की धारणा देखने को मिलती है।

श्रमणों के विकास के चरण

श्रमण परम्परा की प्राचीनता के सम्बन्ध में महाकवि रामधारी सिंह दिनकर ने अपनी पुस्तक संस्कृति के चार अध्याय में लिखा है कि-

''अनुमान यह है कि श्रमण संस्कृति आर्यों के आगमन से पूर्व ही इस देश में विद्यमान थी ये श्रमण अवैदिक होते थे, ब्राह्मण यज्ञ को मानते थे श्रमण उन्हें अनुपयोगी समझते थे।''

श्रमणों के विकास के चरणों की रूपरेखा प्राचीन काल से लेकर अर्वाचीन काल तक पाँच विभिन्न चरणों में विभाजित की जा सकती है जो निम्नवत् है-

(1) पूर्ववैदिक काल : एक ऐसा काल जब श्रमणों की स्थिति एवं उत्पत्ति अवशेष के रूप में देखी जा सकती है यह एक ऐसा चरण है जब श्रमणों की स्थिति का प्रमाण प्रस्तुत करने वाले साहित्यिक साक्ष्य नगण्य हैं एवं पुरातात्विक साक्ष्य भी मौन है। सिन्धु-सारस्वत नदी घाटी सभ्यता के पुरास्थल से प्राप्त एक मुहर में एक योगी जंगली जीव जन्तुओं के मध्य योग मुद्रा में दर्शाया गया है जिसे मार्शल महोदय के अनुसार-पशुपति यथा रुद्र शिव पहचाना गया है। ऐसा भी सम्भव है कि यह अंकन किसी श्रमण का हो क्योंकि योगी के साथ प्रदर्शित जीव-जन्तु एवं परिवेश एक श्रमण के उपयुक्त स्थल को दर्शाता है।

(2) वैदिक काल : विकास के चरण का यह द्वितीय सोपान एक संघर्ष का काल रहा है जब वैचारिक एवं आचरण में आये व्यवहारों के आधार पर वैदिक ग्रन्थों में श्रमणों की इस विशेष परम्परा को एक विशेष स्थान मिला जैसा कि ऋग्वेद के केशी सूक्त में श्रमणों के स्वरूप की व्याख्या की गयी है।

(3) उत्तरवैदिक काल : श्रमणों के विकास का यह तृतीय सोपान श्रमणों को एक विशेष सम्प्रदाय परम्परा, संस्कृति एवं वर्ग के रूप में स्थापित करता है। एक ऐसा काल जब श्रमणों के विषय में बताने वाले मूर्त एवं अमूर्त दोनों ही साक्ष्य यथा साहित्य एवं पुरातात्त्विक प्रमाण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। उत्तरवैदिक काल में रचित ग्रन्थों जैसे-उपनिषद्, स्मृति, पुराण इत्यादि प्रमुख है। साथ ही साथ स्मारकों एवं कलाकृतियों में श्रमणों का मूर्त अंकन भी विशेष है।

(4) आठवीं शताब्दी ईस्वी में श्रमणों का पुनर्गठन : यह चतुर्थ चरण विकास के चरण के रूप में अथवा विलुप्त होती श्रमण परम्परा के चरण के रूप में भी माना जाना चाहिए। यह एक शोध का विषय है यह स्पष्टतः ज्ञात तो नहीं कि श्रमण परम्परा कब विलुप्त होने लगी। परन्तु इतना तो अनुमान अवश्य ही लगाया जा सकत है कि इनका विलोप किन-किन कारणों से होता रहा होगा। जिसकी व्याख्या आगे की जायेगी। आदिशंकराचार्य द्वारा श्रमण परमपरा को आठवीं शताब्दी में पुनर्गठित करने का प्रयास किया गया। इन्होंने मुनियों, संन्यासियों के दस संगठनों को पुनर्जीवित एवं स्थापित किया। शंकराचार्य ने वैदिक ब्रह्म को श्रमणों की आत्मा के विचार से मिलाकर ब्रह्मयोग की स्थापना की।

श्रमणों के आदर्शों के पतन का कारण

श्रमण परम्परा का ह्रास कई विशेष कारणों से परिलक्षित होता है जो निम्नलिखित है-

(1) श्रमण परम्परा का अमूर्त्तस्वरूप : श्रमण परम्परावादी अपने व्यवहार में नैतिकता, आचरण इत्यादि का पाठ समय-समय पर करते रहते थे जिसका प्रभाव जन-समुदाय पर उनके नैतिक जीवन पर अवश्य ही पड़ा होगा परन्तु यह प्रभाव सम्भवतः दीर्घकालिक न रहा होगा जिसका कारण है तत्कालीन अन्य धर्म एवं सम्प्रदाय जिनमें किसी दैवी स्वरूप को मूर्तरूप दर्शाया जाता रहा होगा और वह मूर्त रूप नैतिकता, आचरण इत्यादि का उपदेश देने का माध्यम हो ऐसा सदैव ही देखा गया है कि समाज का एक बड़ा वर्ग दिखने वाले ही मूर्त रूप से प्रभावित होता है जो श्रमण परम्परा के विचारों के विपरीत है।

(2) राजकीय प्रश्रय : हालांकि श्रमण परम्परावादी राजकीय प्रश्रय को वैचारिक रूप से ग्रहण तो नहीं करते परन्तु उपस्थित प्रमाण जैसे बराबर, अजन्ता, एलोरा की गुफायें जो विभिन्न सम्प्रदायों के संवर्द्धन हेतु किया गया। यह कार्य सम्भव है कि इनमें घूम-घूमकर वन में रहना एक स्थान से दूसरे स्थान विचरण करते रहना जैसी प्रवृत्तियाँ समाप्त होने लगी।

(3) भौतिकवाद का प्रभाव : राजकीय प्रश्रय मिलने के उपरान्त एवं जनसमुदाय के आत्मीय सहयोग में यह सम्भव है कि जो श्रमण अब तक भिक्षाटन हेतु एक स्थान से दूसरे स्थान विचरण करते थे वह सुविधा अत्यन्त सुलभता से राजकीय एवं जनसमुदायिक दोनों ही रूप से उपलब्ध करायी जाती रही होगी। उदाहरणस्वरूप राजा के द्वारा बौद्ध श्रमणों या जैन श्रमणों हेतु भूमिदान किया जाना इन सम्प्रदायों के मध्य भौतिकतावाद को उत्पन्न करने का कारण बना होगा।

(4) अतिकठोर नियम : उपशीर्षक ''श्रमणों का स्वरूप'' से स्वतः ही ज्ञात होता है इनका जीवन अत्यन्त कष्टकारी एवं जन सामान्य के मध्य आकर्षक न रहा हो इनके आचरण व ज्ञान भले ही किसी का ज्ञानवर्द्धक व नैतिकता का सुधार करते हो परन्तु वास्तविकता में जनसमुदाय का आकर्षण श्रमणों के वचनों में होता रहा होगा व्यवहार में नहीं।

(5) आपसी वैचारिक मतभेद : षष्ठ शताब्दी ईसापूर्व की धार्मिक स्थिति की व्याख्या में यह ज्ञातव्य है कि किस प्रकार उत्तरवैदिक परम्पराओं का विरोध करते कई सम्प्रदाय बौद्ध, जैन, आजीवक, चार्वाक इत्यादि के रूप में उत्पन्न हुये यह वैचारिक मतभेद आपसी सम्प्रदायों के मध्य एक आन्दोलन के रूप में उठा था जो न्यूनाधिक्य आज भी हमारे बीच उपस्थित है। सम्भवतः ऐसे ही कुछ विरोधभास श्रमण परम्परा एवं तत्कालीन अन्य सम्प्रदायों के मध्य रही होगी। इस आपसी द्वन्द्व में हर एक सम्प्रदाय अपने आप को सर्वोत्तम, सर्वग्राह्य एवं सर्वसुलभ करवाने में जनसमुदाय एवं राजकीय व्यवस्था में उपस्थित रहा होगा जैसा कि मौर्यकालीन अभिलेखों में सम्राट अशोक समभाव की बात करता है एवं जैसा कि दक्षिण भारत में जैनधर्म को प्रचारित प्रसारित एवं स्थापित करने का प्रयास जनसमुदाय एवं राजकीय माध्यमों से जैनाचार्यों ने की।

(6) राजनैतिक अस्थिरता : अति प्राचीन काल से अर्वाचीन काल तक भारतीय राजनैतिक इतिहास कहीं आंशिक तो कहीं पूर्णरूप से अस्थिर देखा जा सकता है इस अस्थिरता ने न केवल राजनीतिक स्थिति बल्कि भारतीय संस्कृति, आर्थिक स्थिति एवं निश्चित ही धार्मिक स्थिति को प्रभावित किया होगा।

श्रमण परम्परा एवं तत्कालीन अन्य परम्पराओं से भिन्नता

अपनी जिस विशेष व्यवस्था से श्रमणों ने समाज में एक विशेष स्थान पाया उनमें मुख्य है तत्कालीन अन्य सम्प्रदायों से वैचारिक भिन्नता जैसे-वैदिक श्रमण अपने विचारों तथा आचारों से बौद्ध एवं जैन श्रमणों से निम्न मान्यताओं के कारण भिन्न थे जिनमें वेद प्रामाण्य है, गुरु के बिना ज्ञान प्राप्ति असम्भव, आत्मसमर्थन तथा प्रभुकृपा से ही ज्ञान उपलब्धि सम्भव, वर्णाश्रम एवं वर्ण-व्यवस्था का पालन, देवों में आस्था सूर्य तथा ओंकार की उपासना, गायत्री मन्त्र की महत्ता को स्वीकार करना। श्रमण संस्कृति जहाँ निवृत्तिमार्गीय अर्थात् गृहत्यागी, तपी, अपरिग्रही, वस्त्र इत्यादि का त्याग करने वाले, तत्कालीन वैदिक संस्कृति के प्रवृत्तिमार्गी अर्थात् परिवार वाले, भोगी, यज्ञ पर विश्वास करने वाले एवं स्वर्ग-नरक पर आस्था रखने वाले होते हैं।

वर्णाश्रम व्यवस्था जिसे प्रवृत्तिमार्गीय के अन्तर्गत रखा गया है के उत्पत्ति का कारण श्रमण परम्परा को ही माना गया है वैदिक काल के पुनर्गठन अथवा संशोधन में श्रमण परम्परा को ही मुख्य कारक के रूप में माना गया है।

जीवन-मृत्यु के बन्धन से मुक्ति के मार्ग पर विचार करते हुए जहाँ ब्राह्मणों ने वेद, यज्ञ एवं उदारता को प्रधानता दी है वहीं मुनियों ने तपस्या एवं उपवास को महत्त्व दिया है तो परिव्राजकों ने संसार का त्याग ही मुक्ति का मार्ग बताया है। ईश्वर की उपस्थिति का खण्डन करने वाले वेदों को प्रकट ग्रन्थ मानने से इन्कार करने वाले, कर्म, पुनर्जन्म, संसार में विश्वास रखने वाले, तप, अहिंसा, सरलता, त्याग व तपस्या से मोक्ष पर विश्वास करने वाले, वर्णविभाजन को न मानने वाले एवं यज्ञ व वैदिक अनुष्ठानों को न स्वीकार करने वाले श्रमण तत्कालीन वैदिक परम्पराओं की आड़ में भौतिकतावाद के विरोधी रहे हैं।

श्रमण संस्कृति की देन

श्रमण परम्परा ने भारतीय संस्कृति एवं एकता की दृष्टि में साम्प्रदायिकता जातिवाद, प्रान्तीयवाद और भाषावाद जैसे मतभेदों को त्यागकर राष्ट्रदेवता को अत्यन्त उदारता और आदर की दृष्टि से देखा है। यह किसी क्षेत्र विशेष से बँधा नहीं अपितु सम्पूर्ण राष्ट्र को अपना मानकर चला।

भाषायी ग्राह्यता की समभावता को अगर देखा जाये तो श्रमणों ने लगभग समस्त भारतीय भाषाओं को अपनाकर साहित्यों की रचना की जिनमें उनकी नैतिकता एवं आचरण के व्याख्या के साथ ही साथ तत्कालीन राजनैतिक स्वरूप सांस्कृतिक स्थिति समाज के विभिन्न वर्गों की स्थिति, कला एवं स्थापत्य में विकास को भी दर्शाया है जो तत्कालीन परिदृश्य के इतिहास लेखन हेतु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन है। ये साहित्य केवल धार्मिक नहीं अपितु समसामयिक भी हैं।

श्रमणों की रचनाओं में संरक्षण एवं संवर्द्धन का अपना एक अनूठा योगदान है। जैसे वेद, उपनिषद, स्मृति, पुराण, महाकाव्यों के पश्चात् भारतीय-साहित्य की सुरक्षा का श्रेय श्रमणों को जाना चाहिये। इन श्रमणों ने न केवल विभिन्न भाषाओं में सैकड़ों धार्मिक व समसामयिक पुस्तकों का निर्माण किया बल्कि अपने पूर्ववर्ती कृतियों का भी सृजन बिना किसी भेदभाव के अत्यन्त प्रेम एवं उत्साह के साथ किया भले ही वह कृतियाँ अन्य सम्प्रदायों से सम्बन्धित हों।

श्रमण संस्कृति की दार्शनिक देन में हम यह कह सकते हैं कि समाज के विभिन्न वर्गों के बीच नैतिकता, सद्भावना, संयम, दया इत्यादि का पाठ पढ़ाने वाले इन श्रमणों ने यह सिद्ध किया कि अस्थिमज्जा से निर्मित यह शरीर राग-द्वेष से ओत-प्रेत है जो अपरिग्रह एवं कषायों से युक्त है। इनसे मुक्ति के बिना जन्म एवं मरण के चक्र से मुक्ति अथवा मोक्ष की प्राप्ति नहीं की जा सकती। श्रमण संस्कृति त्याग प्रधान है जिसका प्रभाव अन्य तत्कालीन संस्कृतियों पर भी पड़ा जिनमें वैदिक संस्कृति एवं कालान्तर के बौद्ध जैन एवं अन्य समकक्ष संस्कृतियाँ भी सम्मिलित हैं। अहिंसा के मार्ग

की समर्थक यह संस्कृति समस्त जीवों में एकत्व, समानता एवं समरूपता को देखती है। हमारे दैनिक दिनचर्या में भी श्रमण संस्कृति का विशेष योगदान है जैसे जल छानकर पीना, जल का दुरुपयोग न करना, शारीरिक एवं मानसिक स्वच्छता इत्यादि प्रमुख है।

देवी-देवताओं की आराधना हेतु पशुबलि का विरोध करने वाली यह श्रमण संस्कृति सभी जीवों को समान रूप से जीने का अधिकार देती है। श्रमण संस्कृति की कई देनों में सर्वप्रमुख देन उसका सर्वधर्म समभाव है।

निष्कर्ष

वैदिक और अवैदिक दोनों श्रमण संस्कृतियाँ श्रमण धर्म के मूल आचार-विचार से ओत-प्रोत है। अहिंसा, संयम और तप को दोनों संस्कृतियों में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। आत्मज्ञान, आत्मदर्शन एवं आत्मा की खोज दोनों को मान्य है एवं इन संस्कृतियों का लक्ष्य एक ही है-मुक्ति, मोक्ष अथवा निर्वाण की प्राप्ति। इसका मार्ग अहिंसा, संयम और तप से युक्त सदाचरण में है। यही मूलतः श्रमण धर्म है। प्राकृत शब्द 'समण' के तीन संस्कृत रूप हैं श्रमण, समन एवं शमन ये तीनों ही तत्त्व यथा श्रम, सम एवं शम ही श्रमण संस्कृति के आधारस्तम्भ हैं। तपयुक्त आत्मा ही श्रमण है अपनी वृत्तियों को शान्त रखने वाला श्रमण और प्राणि मात्र के प्रति समता भाव रखने वाला ही श्रमण है। श्रमण कोई जन्म से नहीं होता अपितु श्रमण, जन्म के पश्चात् एक नवीन जीवन को धारण करना है। नवीन जीवन को धरण करने वाला यह श्रमण लौकिक पुरुषार्थ अर्थात् अर्थ एवं काम एवं अलौकिक पुरुषार्थ अर्थात् धर्म एवं मोक्ष के मध्य चार पुरुषार्थों को समन्वय करने हेतु है।

कृतज्ञता ज्ञापन

उक्त लेख के लेखन में हम प्रो॰ सीताराम दूबे एवं डॉ॰ अर्चना शर्मा का धन्यवाद करते हैं, जिन्होंने लेख में कमियों को दूर कर नवीन संशोधन किये। हम डॉ॰ राजेश सरकार के भी कृतज्ञ हैं जिन्होंने लेख में आमूल परिवर्तन कर लेख को पाठकयोग्य बनाया। हम डॉ॰ सिद्धदात्री भारद्वाज के भी कृतज्ञ हैं जिन्होंने कुछ श्लोक का अनुवाद कर हमारी सहायता की। इनके अतिरिक्त हम अपने विद्यार्थियों का भी धन्यवाद करना चाहेंगे जिनके निरन्तर आग्रह ने हमें इस लेख को लिखने के लिये प्रेरित किया। वैसे तो यह लेख कोई शोधपरक कार्य तो नहीं हैं, परन्तु छात्रों हेतु अवश्य ही योग्य है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. जैन, प्रेमचन्द्र, 1992, श्रमण संस्कृति की प्राचीनता, पुरातत्त्व एवं ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में, (सम्पादकीय) श्रमण संस्कृति, प्रभाकर शास्त्री, राजस्थान संस्कृत अकादमी संगम, जयपुर, पृ॰ 116
2. आप्टे, वामनशिवराम, 1890, संस्कृत हिन्दीकोश, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ 1035
3. विलियम्स, मोनियर, 1986, अ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ॰ 1096
4. गुप्त, सुधीर कुमार, 1992, वेद और श्रमण संस्कृति अथवा श्रमण संस्कृति की प्राग्वैदिकता : एक समीक्षा, (सम्पादकीय) प्रभाकर शास्त्री, उपर्युक्त, वही, पृ॰ 21
5. गोयल, एस॰आर॰, 2007, श्रमनिज्म इन अर्ली इण्डियन रिलीजन्स एण्ड रिलीजियस लाइफ, कुसुमांजलि बुक वर्ड, जोधपुर, पृ॰ 03
6. वही, पृ॰ 18-21
7. दुबे, सीताराम, 1988, बौद्ध धर्म का प्रारम्भिक विकास, पूर्वा संस्थान, गोरखपुर, पृ॰ 33-34
8. मुनि, देवेन्द्र, 1971, श्रमण संस्कृति और उसकी प्राचीनता, (सम्पादकीय) श्रमण संस्कृति : संस्कृति और साधना, कलाकुमार, सन्मति ज्ञानपीठ आगरा, पृ॰ 09
9. त्रिवेदी, रामगोविन्द, (अनुवादक), 2003, ऋग्वेद-संहिता सायणाचार्य कृत-भाष्यसंवलिता सैव हिन्दी भाषामन्त्रानुवादसमन्विता, चौखम्भाविद्याभवन, वाराणसी, भाग-8, पृ॰ 566
10. गुप्त, सुधीर कुमार, उपर्युक्त, वही, पृ॰ 17
11. गोयल, एस॰आर॰, उपर्युक्त, वही, पृ॰ 22-24
12. वही, पृ॰ 211
13. गुप्त, सुधीर कुमार, उपर्युक्त, वही, पृ॰ 181
14. पाण्डेय, गोविन्दचन्द्र, 1963, बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, हिन्दी समिति सूचना विभाग, लखनऊ, पृ॰ 1021
15. वही,
16. मुनि, देवेन्द्र, उपर्युक्त, वही, पृ॰ 071
17. गोयन्दका, हरिकृष्णदास, 2011, ईशादि नौ उपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृ॰ 63
18. शास्त्री, प्रभाकर, 1992, श्रमण संस्कृति (सम्पादकीय), राजस्थान संस्कृत अकादमी संगम, जयपुर, आमुख, पृ॰ xii
19. गोयल, एस॰आर॰, उपर्युक्त, वही, पृ॰ 211
20. निहारिका, 2003 (अक्टूबर-दिसम्बर), ओरिजिन ऑफ श्रमनिज्म : कॉजेज एण्ड कन्फ्लिक्ट, श्रमण पत्रिका, अंक 54, संख्या 10-12, पृ॰ 111-118
21. दुबे, सीतराम, उपर्युक्त, वही, पृ॰ 32
22. दोषी, बेचरदास, 1966, जैनसाहित्य का वृहद् इतिहास, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी
23. पाण्डेय गोविन्दचन्द्र, उपर्युक्त, वही, पृ॰ 103
24. रामपुरिया, श्रीचन्द्र, 2000, श्रमण सूक्त, जैन विश्वभारती संस्थान, प्रकाशन, पृ. 011

मानवीय सम्बन्धों का आदर्श और रामचरितमानस

प्रो. आर. एस. राय एवम् डॉ. अपर्णा पाण्डेय***

रामचरित मानस यूँ तो गोस्वामी तुलसी कृत एक प्रबन्ध काव्य है परन्तु भारतीय लोक परम्परा ने इसे धार्मिक ग्रन्थ माना और प्रत्येक घर के पूजा स्थली में इसे स्थान मिला। इसलिए जिज्ञासा का विषय यह है कि इस ग्रन्थ में ऐसी क्या विशेषताएँ रहीं, जिन्होंने समाज के किसी एक ही वर्ग को नहीं अपितु लोक के जन-जन के लिए इसे पूजनीय बना दिया। जिन राजनैतिक व सामाजिक परिस्थितियों में मानस की रचना हुई, वह समय हिन्दी साहित्य के इतिहास का भक्ति-काल था, जो साहित्य के इतिहास का स्वर्ण युग माना गया। राजनैतिक परिस्थितियों के विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार, ''हम्मीर के समय में चारणों का वीरगाथाकाल समाप्त होते ही हिन्दी कविता का प्रवाह राजकीय क्षेत्र से हटकर भक्तिपथ और प्रेमपथ की ओर चल पड़ा। देश में मुसलमान साम्राज्य के पूर्णतया प्रतिष्ठित हो जाने पर वीरोत्साह के सम्यक संसार के लिए वह स्वतंत्र क्षेत्र न रह गया, देश का ध्यान अपने पुरुषार्थ और बल-पराक्रम की ओर से हटकर भगवान की शक्ति और दया दक्षिणा की ओर गया।''

''भक्तों के भी दो वर्ग थे। प्रथम वर्ग के प्राचीन परम्परा वाले भक्त वेद शास्त्रज्ञ तत्वदर्शी आचार्यों द्वारा प्रवर्तित संप्रदायों के अनुयायी थे। उनकी भक्ति का आधार भगवान का लोक धर्मरक्षक और लोकरंजक स्वरूप था। इस भक्ति का स्वरूप नैराश्यमय नहीं है, इसमें उस शक्ति का बीज है जो किसी जाति को फिर उठाकर खड़ा कर सकता है।''

इस कथन से यहतो स्पष्ट है कि भक्ति का ग्रंथ मानस लोक के आत्मविश्वास व आत्म गौरव को बल प्रदान करने में सक्षम ग्रंथ था। प्रत्येक रचना के पीछे रचनाकार का अपना जीवन दर्शन होता है, जिससे प्रेरित हो वह रचना करता है या जिसकी झलक रचना में दिखायी देती है। चुंकि यहाँ हम तुलसीकृत रामचरितमानस पर ही केन्द्रित हैं, अतः अन्य ग्रन्थों की विवेचना न करते हुए, मानस के परिप्रेक्ष्य में तुलसी का जीवन दर्शन समझने का प्रयास करेंगे।

किसी भी कवि का जीवन दर्शन प्रतिभा ज्ञान, संस्कार, परंपरा अध्ययन अनुभूति एवं युगबोध पर निर्भर करता है। प्रातिभ ज्ञान और संस्कार जहाँ उसे प्रेरणा प्रदान करते हैं, वहीं अध्ययन उस प्रेरणा को व्यापकत्व प्रदान करता हैं और अनुभूति उसे गहराई प्रदान करती है। इनसे सम्पन्न होकर वह युग की स्थितियों, परिवेशों एवं प्रवृत्तियों का अध्ययन एवं चिन्तन मनन करता है, और समग्ररूप से युगबोध को रूपायित करता है। तुलसी का जीवन दर्शन इन्हीं संस्कारों, परंपराओं, अध्ययनों एवं अनुभूतियों पर निर्भर करता है। तुलसीदास ने वेदों, पुराणों, उपनिषदों आदि ग्रन्थों का अध्ययन किया था। गुरू नरहरिदास की कृपा से संस्कारगत उनके मानस में रामकथा का बीजवपन हुआ था। चूंकि वे समाज के एक-एक पक्ष से परिचित थे, अतः उन्होंने अपने जीवन दर्शन के रूपायन में इन सबका ख़याल रखा है, और सबके हित की बात सोची है। उनके जीवन दर्शन में व्यष्टिचेतना और समष्टिचेतना दोनों का योगदान है। उनके जीवन दर्शन के मूल तत्त्व हैं- जनजीवन में श्रद्धा एवं विश्वास की स्थापना, आदर्शचरित्रों का निर्माण, लोक धर्म की स्थापना, रामराज्य की स्थापना, मानव-मूल्यों का सृजन, रामत्व का प्रचार प्रसार, वर्णाश्रम धर्म की सुव्यवस्था, पुरुषार्थ चतुष्टय की अन्विति, विस्तार एवं साम्राज्यवादी नीति का विरोध कर लोकोन्मुख राजतंत्र की व्यवस्था, व्यक्ति निर्माण और मानवतावाद का पोषण। (तुलसी दलः डॉ0 रामप्रीत उपाध्याय, पृ0 15)

तुलसी के जीवन दर्शन का मुख्य आधार राम ही हैं। उन्होंने इन्हीं के माध्यम से सारे आदर्शों को प्रस्तुत किया है। तुलसी के जीवन और मोक्ष का आधार मात्र प्रभु राम हैं। जबकि उनके समय में दरबारी कवियों की कमी नहीं थी, जो स्वार्थ व लोभवश राजाओं और सामन्तों के चरितगान में लगे रहते थे, जबकि तुलसी का मानना था कि जो माँगना है, प्रभु राम से मांगों वो सभी इच्छाओं की पूर्ति करेंगे। तुलसी ने इस बात का संदेश मानस में दिया है जो कवि प्राकृत और स्वार्थी लोगों की प्रशंसा या चरितगान करते हैं, तो उनके आचरण को देखकर सरस्वती सिर धुनकर पछताने लगती हैः-

''कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना, सिर धुनि गिरा लागि पछताना।''

तुलसी ने मानस के चरित्रों के माध्यम से भिन्न-भिन्न आदर्शों को स्थापित किया है और उनके प्रयोग पर बल दिया है। चाहे वो भक्ति, अध्यात्म, सत्य, निष्ठा, प्रेम, इत्यादि कोई भी मानवीय गुण हों। जैसे दशरथ चरित के माध्यम से सत्य, और प्रेम के मूल्यों की शिक्षा दी है। जैसे सत्य की रक्षा हेतु दशरथ, राम को वनवास तो दे देते हैं, परन्तु राम के प्रति उनका प्रेम अन्ततः उनके प्राण लेता है। इस तरह उन्होंने एक ही साथ दोनों मूल्यों का सम्यक् पालन किया है-

तुलसी जान्यो दशरथहि, धरमु न सत्य समान।

रामु तजे जेहिलागि, बिनु राम परिहरे प्रान (दोहावली-14)

*आचार्य, हिन्दी विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

** यू0जी0सी0पी0डी0एफ0, हिन्दी विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

तुलसी के आदर्श लोक और लोकोत्तर दोनों के लिए प्रयोजनीय है। मानस, मानवीय सम्बन्धों के आदर्श स्थापत्य का ग्रन्थ है, जो आज भी उतना ही प्रासंगिक है, जितना तब रहा होगा। आज के युग के टूटते मूल्य, परिवार, परम्पराएँ व समाज यदि मानस के आदर्शों का शतांश भी पालन करे तो समाज में बढ़ रही वैमनस्यता का कोई स्थान ही न रहे। मानस ने मानवतावाद की बात की है, मनुष्य का सम्बन्ध मनुष्य से चाहे जिस भी रूप में है, अपने आदर्श रूप में उपस्थित है। यथा ईश्वर से भक्त का, गुरु का, पिता-पुत्र, माता, पत्नी सभी पारस्परिक सम्बन्ध अपने आदर्श स्वरूप में विद्यमान हैं।

मानस के प्रथम सोपान में ईश्वर में अगाध आस्था के साथ शुभकार्य का आरम्भ करते हुए, गुरु की महिमा का बखान है। ईश्वर से तो मानवेतर सम्बन्ध हो गए, परन्तु गुरु व शिष्य का वह मानवीय सम्बन्ध है जो शिष्य को ईश्वर की पहचान कराता है-

बंदउँ गुरु पद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा।।

अमिअ मूरिमय चूरन चारू। समन सकलभव रुज परिवारु।।

× × ×

श्री गुर पद नख मनि गन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हियँ होती

दलन मोह तम सो सप्रकासू। बड़े भाग उर आवइ जासू।।

संतो की वंदना के साथ ही खल, दुष्टों की भी वंदना की गई है अर्थात् मनुष्य में विद्यमान सभी गुणों एवं अवगुणों को स्वीकार किया गया है, और उससे संघर्ष के मार्ग भी सुझाए गए हैं।

इसीलिए समाज में व्याप्त प्रत्येक प्रकार के व्यक्तित्व का वर्णन करते हुए, कुसंगति व सुसंगति की विवेचना करते हुए, मानस के 'बालकाण्ड' में तुलसी जी कहते हैं कि प्रभु श्री राम के स्मरण मात्र से मनुष्य की तुच्छता समाप्त हो जाती है, जिस प्रकार मलय पर्वत के संग मात्र से काष्ठमात्र चन्दन बनकर वन्दनीय हो जाता है-

प्रिय लागिहि अति सबहि मम भनिति राम जस संग।

दारू बिचारू कि करइ कोउ बंदिअ मलय प्रसंग।। (१०) क

मनि मानिक मुकुता छबि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोहन तैसी

नृप किरीट तरुनी तनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई।।

तुलसी जी ने अपने मानस में आदर्श चरित्रों का निर्माण किया है, आदर्श चरित्र से ही परिवार, समाज और अन्ततोगत्वा देश का कल्याण सम्भव है। आदर्श पात्र जहाँ एक तरफ प्राचीन परम्पराओं वैदिक मतों तथा लोकधर्म का सम्यक पालन करते हैं वहीं युग के अनुकूल नवीन मान्यताओं की स्थापना भी करते हैं।

सम्पूर्ण मानस में श्रद्धा और विश्वास दो ऐसी मान्यताएँ रहीं, जो संभवतः तुलसी के जीवन दर्शन की झाँकी भी दिखा रहे थे। जीवन को सुपथ पर ले जाने के लिए तथा सुख एवं शांति की प्राप्ति के लिए जीवन में आस्था और श्रद्धा की पूर्ण अपेक्षा होती है। यह लौकिक व पारलौकिक दोनों के लिए महत्वपूर्ण हैं। यही कारण है कि तुलसीदास ने मानस के प्रारम्भ में ही पार्वती और शंकर को श्रद्धा और विश्वास का प्रतीक मानकर उसकी वन्दना की है-

''भवानी शंकरौ बन्दे श्रद्धा विश्वास रूपिणौ।

याभ्यां बिना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तः स्थमीश्वरम्।''

ये दोनों तत्त्व साधक और गृहस्थ दोनों के लिए आवश्यक है। जिस प्रकार राजा दशरथ गृहस्थ आश्रम में रहकर भी गुरु व ईश्वर के प्रति अगाध श्रद्धा रखते हैं और इसीलिए उन्होंने अपना सारा सुख, दुख, गुरु वसिष्ठ को सुनाया और तब उन्होंने धीरज देते हुए उन्हें बताया कि पुत्र कामेष्टि यज्ञ के पश्चात् तुम्हें चार पुत्र होंगे, जो तीन लोकों में प्रसिद्ध और भक्तों के भय को हरने वाले होंगे-

निज दुख सुख सब गुरहि सुनायउ। कहि बसिष्ठ बहुबिधि समुझायउ

धरहुधीर होइहहिं सुत चारी। त्रिभुवन बिदित भगत भयहारी

यह तो गुरु व राजा के सम्बन्ध व उनके बीच के विश्वास की बात थी। अब राजा दशरथ अपनी तीन रानियों के साथ थे, परन्तु उनमें सहज प्रेम का ऐसा प्रवाह था, जिसमें कहीं कोई बाधा नहीं थी, अर्थात् किसी प्रकार का स्त्रियोचित वैमनस्य नहीं दिखाई पड़ता, जैसा कि यज्ञ के प्रसार पायस काविभाजन अपने रानियों के मध्य राजा दशरथ करते हैं और वहाँ भी कोई दुर्भावना रानियों के मध्य नहीं दिखाई देती। यही आदर्श चरित्र और सम्बन्ध समाज को सही दिशा दिखाते हैं।

तबहिं रायँ प्रिय नगरि बोलाई। कौसल्यादि तहाँ चलि आई।।

अर्धभाग कौसल्यहि दीन्हा। उभय भाग आधे कर कीन्हा।।

कैकेई कहँ नृप सो दयऊ। रहयो सो उभय भाग पुनि भयऊ

कौसल्या कैकेई हाथ धरि। दीन्ह सुमित्रहि मन प्रसन्न करिं।।

इसी प्रकार यदि माता-पुत्र के सम्बन्ध देखें, तो वहाँ भी तीनों रानियों के मध्य और उनका सभी पुत्रों के प्रति वात्सल्य कहीं इस भाव का बोध नहीं कराता कि कौन किसका पुत्र है? वात्सल्य की अजस्र धारा मात्र माता-पुत्र के बीच उपस्थित प्रेम का बोध ही कराती है।

सुनिसिसु रूदन परम प्रिय बानी। संभ्रम चलि आईं सब रानी।।

हरषित जइँ तइँ धाई दासी। आनंद मगन सकल पुरबासी।।

इसी प्रकार भाइयों के मध्य आपसी श्रद्धा व प्रेम तो सर्वविदित है, नहीं तो लक्ष्मण का राम के साथ वन गमन और भरत का राम की पादुका को प्रतीक मान राज्यभार सम्भालना। इन सभी घटनाओं व आदर्शों को मानस के माध्यम से तुलसी जी सम्भवतः इसीलिए रखे जिससे मानवीय सम्बन्धों का परिष्कार हो और एक आदर्श समाज की स्थापना हो सके।

सम्बन्ध मित्र का हो, भक्त का हो, शत्रु का हो या कि राजा और प्रजा का हो, प्रत्येक सम्बन्ध अपने आदर्श स्वरूप में मानस में उपस्थित मिलता है। शत्रुता की मर्यादा का भी यथोचित पालन किया गया है। जहाँ भी मर्यादा का उल्लंघन हुआ, वहाँ दण्ड का विधान भी किया गया और मानस की यह एक विशेषता रही, भाषा ऐसी जो जन-जन तक पहुँचे ताकि इन आदर्शों का संचार जन-जन तक होसके।

रामचरित मानस का मानवतावाद धर्म, भक्ति और दर्शन के बीच से उर्जस्वित होता हुआ, लोकोन्मुखता को प्राप्त होता है, और मानव के अन्तर और बाह्य दानों को परिष्कृत करता हुआ उसे मांगलिक बनाता। जो विद्वान मानवतावाद, मानववाद और नवमानववाद का उत्स पश्चिम में मानते हैं, उन्हें एकबार भारतीय संस्कृति व सभ्यता के गौरवशाली वाङ्मय का पुनरावलोकन अवश्य करना चाहिए, जिससे यह ज्ञात हो सकता है कि मानवतावाद का मूल उत्स हमारे धर्म में हैं, हमारी भक्ति साधना व हमारे चिंतन में है। धर्म, भक्ति, दर्शन अथवा चिंतन केवल कर्मकांड के ही पर्याय नहीं है, अपितु वे ज्ञान, विज्ञान और सेवा के भी रूप है और तुलसी ने इसी रूप में मानवता की तलाश की है, उसके रूप और स्वरूप को सँवारा है और उसका संदर्भानुसार नवीनीकरण किया है। उन्होंने रामचरितमानस के माध्यम से इसी मानवतावाद की स्थापना की है।

नाना पुराणनिगमागमसम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्रचिदन्यतोऽपि
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-
भाषा निबन्धमतिम÷जुलमातनेति।।

अर्थात् मानस मात्र एक रामकथा नहीं, अपितु पुराण, वेद और तन्त्र (शास्त्र) से सम्मत तथा जो रामायण में वर्णित है और कुछ अन्यत्र से भी उपलब्ध श्रीरघुनाथ जी की कथा को तुलसीदास अपने अन्तःकरण के सुख के लिए अत्यन्त मनोहर भाषा रचना में विस्तृत करता है।

इसी सन्दर्भ में डॉ0 भगवती प्रसाद सिंह ने तुलसी के राम पर विचार करते हुए भी इसी मत को पुष्ट किया है- ''तुलसी ने रामचरित मानस में मानव जीवन की महत्त्वपूर्ण समस्याओं का अवलोकन कर आत्यन्तिक समाधान प्रस्तुत करने वाले सूत्रों को उजागर किया है। पूर्ण सुख, शान्ति व समृद्धि से सम्पन्न समाज का निर्माण अधूरे, विरुप तथा अभावग्रस्त मानव द्वारा संभव नहीं, इसलिए उन्होंने पथभ्रान्त मानवता के समक्ष पूर्ण मानव के आदर्श राम का चरित्र रखा- ऐसे महापुरुष की जीवन झाँकी प्रस्तुत की, जिसने राजपद के वैभव विलास से असम्पृक्त रहकर दानवत से पराभूत और सभ्यता के प्रकाश से वंचित समाज के उत्थान के लिए दर-दर की खाक छानी थी। विश्व मानव के प्रति इस अगाध करुणा व मैत्री भावना के कारण देशकाल की बदलती परिस्थितियों में समय-समय पर मानवता के जो भी उत्कृष्टतम प्रतिमान निर्धारित होंगे, मानस के राम उससे सदा ही कुछ ऊपर और कुछ आगे दिखायी देंगे।'' (तुलसीदासः विचार और विवेचन, पृ0 13)

मानस की रचना गंगा की तरह कल्याणकारी है, इसमें सबके मंगल की बात कही गयी है और इसमें मानवता के अन्यतम पुजारी श्रीराम का गुणगान है। तुलसी का मानस इसी प्रकार का है-

चली सुभग कविता सरिता सो। राम विकल जस जल भरितासो।
रामचरितमानस एहि नामा। सुनत श्रवन पाइउ, विज्ञाना।।
मन करि विषय अनल बघर जरई। होइ सुखी जौं रगहि सर परई।।
राम सुप्रेमहिं पोषत पानी। हरत सकल कलि कलुष गलानी।।
भव श्रम सोषक तोषक तोषा। समन दुरित दुख दारिद दोषा।
सादर मजजन पान किए ते। मिटहिं पाप परितोष हिए ते।।
कहहि सुनहि अनुमोदन करहीं। ते गोपद इव भव निधि तरहिं।।

तुलसी ने उक्त चौपाइयों में कविता के गुण और रामचरित मानस की व्यापकता पर विचार किया है।

अन्त में डॉ0 रामप्रीत उपाध्याय अपने निबन्ध संग्रह तुलसीदल में कहे गए वक्तव्य से अपनी सहमति व्यक्त करते हैं कि-

''रामराज्य की स्थापना तुलसी के जीवनदर्शन का प्रमुख पक्ष है। उन्होंने अपने सभी आदर्शों को उसमें समाहित कर दिया है। सुख, शान्ति, ऐश्वर्य एवं लोकधर्म की सुव्यवस्था के लिए रामराज्य की स्थापना अपेक्षित थी। कारण, तुलसीदास ने कलियुग को बड़े निकट से देखा था और इस युग ने उन्हें बहुत सताया था। वे इसके कटु फल को भोग चुके थे। इतना ही नहीं, उन्होंने इसके कुप्रभाव के फलस्वरूप समाज को विघटित होते देखा था, वर्ण व्यवस्था एवं धर्मव्यवस्था को टूटते हुए देखा था, उसके कुप्रभावों को चारों तरफ दिगदिगन्त में फैलते हुए देखा था तथा मानव मूल्यों, नैतिक आदर्शों और वेद सिद्धान्तों को उखड़ते हुए देखा था। अतः स्रष्टा कवि के लिए यह आवश्यक था कि वह ऐसे दर्शन की रचना करे, जिसमें सभी व्यवस्थाएँ सुधर जाएं औ मानव मूल्य पुनः स्थापित हो जाएं। इसलिए रामराज्य की उन्होंने परिकल्पना की और अपने सारे आदर्शों को उसमें अनुस्यूत किया।''

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. शुक्ल, आ0 रामचन्द्र, (सं0 2063), गोस्वामी तुलसीदास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी (सोलहवां संस्करण), पृ01
2. वही, पृ0 24
3. वही, पृ0 78

4. उपाध्याय, डा0 रामप्रीत, (सन् 1987), तुलसीदल, अपर्णा प्रकाशन, कलकत्ता पृ0 19

5. वही, पृ0 16

6. वही, पृ0 17

7. तिवारी, अजय, तुलसीदास : एक पुनमूल्यांकन (2011), द्वितीय संस्करण, आधार प्रकाशन पंचकूला (हरियाणा), पृ0 127

8. वही, पृ0 51

9. वही, पृ0 135

●

पुराणों में नारी शिक्षा-विमर्श

नागमणि त्रिपाठी एवम् प्रो. युगल किशोर मिश्र***

भारतीय संस्कृति में वेद सनातन वर्णाश्रम धर्म के मूल तथा सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ है, जो ईश्वर की वाणी भी कही गयी है। इस वेद के प्रमुख छः अङ्ग है जिसे षड् वेदाङ्ग कहा जाता है- शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द तथा ज्योतिष। इस वेदाङ्ग में सर्वप्रथम शिक्षा का उल्लेख है। आचार्य सायण ने ऋग्वेदभाष्यभूमिका में शिक्षा का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है- **''स्वरवर्णाद्युच्चारण प्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा।''** अर्थात् जिसमें स्वर, वर्ण आदि के उच्चारण की शिक्षा दी जाती है उसे शिक्षा नाम से अभिहित किया गया है।

स्वर, व्यञ्जनों की संख्या कितनी है? इनका उच्चारण स्थान क्या है? प्रयत्न कितने है? तथा उनका किस रूप में विभाजन होता है? इत्यादि शिक्षा के अन्तर्गत ही आते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् में शिक्षा से सम्बन्धित छः अंगों का उल्लेख प्राप्त होता है-

1. वर्ण, 2. स्वर, 3. मात्रा, 4. बल, 5. साम तथा 6. सन्तान।

शिक्षा शब्द की निष्पत्ति शिक्ष् धातु से अच् प्रत्यय जोड़ने पर होता है जिसका अर्थ है- सीखना अथवा सिखाना। समाज में उसी को सभ्य कहा जाता है- जहाँ प्रत्येक मानव आध्यात्मिक या व्यवहारिक शिक्षा के द्वारा स्वयं को समाज का उत्कृष्ट सदस्य स्थापित करें। इस सामाजिक कार्य में उत्तम शिक्षा को लक्ष्यपूर्ति में तृतीय नेत्र की संज्ञा दी गई है। यथा-

ज्ञानं तृतीयं मनुजस्य नेत्रं समस्ततत्त्वार्थ विलोकदक्षम् ।

तेजोऽनपेक्षं विगतान्तराय प्रवृत्तिमत्सर्व जगत्त्रयेऽपि।।[1]

अन्यत्र भी अनेकशास्त्रों में शिक्षा को संशयोच्छेदि, परोक्षार्थदर्शक तथा शिक्षा से रहित को पशु की संज्ञा प्रदान की गई है-

अनेक संशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम् ।

सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्यनास्त्यन्ध एव सः।।[2]

भारतीय परम्परा में शिक्षा का आरम्भ विद्यारम्भ एवं उपनयन संस्कार के साथ किया जाता था। उपनयन संस्कार से दीक्षित ब्रह्मचारी अपने ब्रह्मचर्य नियम एवं अखण्ड ज्ञानार्जन का पालन करते हुए तेजस्विता का सिद्धि प्राप्त किया करते थे। इस प्रकार की भूरि प्रशंसा शास्त्रों में की गई है।

वर्तमान परिवेश में कुछ लोग स्त्रियों के उपनयन संस्कार न होने के कारण उन्हें वेदाध्ययन शिक्षा का अनधिकारी घोषित करते हैं। परन्तु सम्भवतः उन्हें शास्त्रावलोकन की आवश्यकता है क्योंकि प्राचीन समय से ही स्त्रियों का भी उपनयन संस्कार एवं ब्रह्मचर्य का वर्णन प्राप्त होता रहा है।

पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते।

अध्यापनं च वेदानां सावित्री वचनं तथा।।

द्विविधाः स्त्रियो ब्रह्मवादिन्य सद्योवध्वश्च।[3]

अतः यह कथन समुचित नहीं है कि स्त्रियों को वेद शिक्षा का अधिकार नहीं है। स्त्रियाँ भी पुरुष समतुल्य शिक्षाधिकारिणी है।

भारतीय धर्म का आधारभूत धर्मशास्त्रों विशेषतः पुराणों में भी स्त्रियों के विविध शिक्षा ग्रहण का वर्णन एवं उनको शिक्षा की अधिकारिणी कहा गया है। अर्थात् पुराणों में शिक्षित नारियों की बाहूलता एवं धार्मिक, गृहकला, पाकशास्त्र, चित्रकला, राजनैतिक, सैनिक, संगीत एवं नृत्यादि शिक्षा में निष्णात उन विदुषियों के द्वारा भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के विकास को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है, यथा-

धार्मिक शिक्षा - पुराण युग का अन्यतम नाम धार्मिक युग भी है। वैदिक काल से ही यज्ञादि धार्मिक कार्यों में नारी एक अभिन्न अङ्ग के रूप में उपस्थित होती रही है।

ऋग्वेद (8/28/9) में सायण व्याख्यानुसार विश्ववारा द्वारा यज्ञकर्म का वर्णन। ऋग्वेद (8/91/9) में कन्या द्वारा इन्द्र को सोम एवं हविष् प्रदान का वर्णन। अथर्ववेद (11/1/17/27) में स्त्रियों को यज्ञकर्म के अधिकार का वर्णन है।

सपत्नीक यज्ञकर्म न करने पर यज्ञ के सम्पूर्ण फल की प्राप्ति नहीं होती है, ऐसा तैत्तिरीय ब्राह्मण में उल्लेख है- **''अयज्ञो वा एषः योऽपत्नीकः''।**[4]

भारत की नारियों में अपने कर्त्तव्य का ज्ञान वैदिक काल से ही होता चला आया है, क्यों न हो, हमारी प्राचीन माताएँ गर्भावस्था से ही अपनी सन्तान को चाहें वो पुत्र हो या पुत्री सुन्दर, सुशील, धार्मिक एवं विद्वान् बनाने की यथेष्ट प्रयत्न करती रहती थी, जब तक उनकी सन्तान पूर्णरूप से योग्य न बन जाये उनको धर्मशास्त्र,

*शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

** प्रोफेसर, भारत अध्ययन केन्द्र, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

गृहकार्य में दक्ष, पारिवारिक एवं लौकिक व्यवहार में पटु बना दिया जाता था ताकि वे अपने कर्तव्य का पालन करते हुए दोनों कुलों को उज्ज्वल कर अक्षय सुख को प्राप्त करें। राजघराने में उत्पन्न हुई सुकुमारियाँ सीता, दमयन्ती, सावित्री अथवा अरण्य में पली बढ़ी शकुन्तला आदि अपने कर्त्तव्य और ज्ञान द्वारा घोर दुःखों से पीड़ित होने पर भी अपने कर्त्तव्य पथ से विचलित नहीं हुई और संसार में नारी समाज के लिए आदर्श बनकर अमरत्व को प्राप्त हुई।

सीता जी को ससुराल जाते समय माता रानी सुनयना ने क्या शिक्षा दी थी यह रामायण पढ़ने वाली सभी माताएँ बहनें भली प्रकार जानती है। अपने माता के आदेशानुसार सीता जी ने अपने गुणों के द्वारा सारे परिवार को अपने वश में कर लिया था। इसी प्रकार सावित्री सारे सुखों और वैभव को ठुकराकर नेत्र विहीन सास, श्वसुर और पति सत्यवान् की सेवा करती हुई वन में निवास करती थी। अपने पातिव्रत्य धर्म के बल से यमराज पर भी विजय प्राप्त की थी- यह कथा लोक प्रसिद्ध है।

इस प्रकार पुराणों में गार्गी, मैत्रेयी आदि अनेक विदुषियों की कथा प्राप्त होती है, जो कि धर्मशास्त्र की ज्ञाता थी।

तपः सामर्थ्य - जीवन का भौतिक क्षेत्र हो अथवा आध्यात्मिक क्षेत्र दोनों में ही एक ही नियम समान रूप से कार्य करता है और उसी के माध्यम से अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है- वह नियम है 'तप'। भौतिक अथवा आध्यात्मिक शक्ति को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अभीष्ट श्रम करना पड़ता है। किसान, मजदूर, विद्यार्थी, कलाकार, शिल्पकार आदि सभी की सफलताएँ उनके प्रयत्न, पुरुषार्थ, श्रम और साहस पर निर्भर करती है। शास्त्रों में ऐसे अनेक दिव्य नारियों का वर्णन प्राप्त होता है जिसमें वे अपनी तपः सामर्थ्य के कारण सर्वश्रेष्ठ रही है।

वायु पुराण में एक कथानक द्रष्टव्य है- एक समय दैत्यगुरु शुक्राचार्य भगवान् शिव के पास में ''मृत्युसञ्जीवनी'' मन्त्र की शिक्षा ग्रहण करने हेतु गये थे। उसी समय देव और असुरों में युद्ध छिड़ गया। असुर पराजित हुए और वे भृगु ऋषि की पत्नी काव्यमाता के शरण में गये। शरणागत असुरों को काव्यमाता द्वारा अभय प्रदान किया गया। पुनः इन्द्र विष्णु के साथ मिलकर असुरों से युद्ध के लिए उद्यत हो गये तब काव्य माता ने कहा- तुम दोनों को इनके साथ युद्ध करने से पहले मेरे तप का सामना करना होगा। काव्यमाता के इस प्रकार की घोषणा को सुनकर इन्द्र तथा विष्णु को तत्काल युद्ध रोकना पड़ा-

एषा त्वां विष्णुना सार्द्धं दहामिमघवानिव।

मिषतां सर्वभूतानां दृश्यतां मे तपोबलम् ॥[5]

वायुपुराण के ही एक दूसरे प्रसङ्ग गया माहात्म्य में धर्म नामक एक राजा थे, उनकी एक पुत्री थी धर्मव्रता। देवताओं ने उसे तप करने के लिए अभिप्रेरित किया-

अग्निमध्ये तपः कर्तुं कस्य शक्तिः पतिव्रते।

त्वया कृतं तत्परमं सर्वलोक भयङ्करम् ॥[6]

महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान में शकुन्तला एवं उनकी दोनों सखियाँ प्रियंवदा एवं अनुसूया का तपस्विनी रूप में वर्णन है। इस प्रकार शास्त्रों में तपः सामर्थ्य का उल्लेख अनेक स्थलों पर किया गया है।

आतिथ्य शिक्षा – अथर्ववेद की तरह ऐतरेय ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण में आतिथ्य सत्कार को बहुत ही अधिक महत्व दिया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में इसके लिए 'आतिथ्य इष्टि' का विधान है। सोम का राजा के रूप में आने पर बहुत ही विस्तार से अतिथि सत्कार का वर्णन प्राप्त होता है। ऐतरेय ब्राह्मण का कथन है कि आतिथ्य सत्कार सबसे बड़ा यज्ञ है तथा शतपथ ब्राह्मण में यह उल्लेख है कि अतिथि विष्णु (परमात्मा) का रूप है। अतिथि की पूजा विष्णु की पूजा के समतुल्य है –

(क) शिरो वा एतद् यज्ञस्य यद् आतिथ्यम् । (ऐतरेय ब्रा0 17)

(ख) अथ यद् आतिथ्येन यजन्ते, विष्णु मेव देवतां यजन्ते।
(शत0 ब्रा0 12/1/3/4)[7]

अतिथि के प्रति किस प्रकार का व्यवहार एवं उसका सत्कार होना चाहिए- यह शिक्षा कन्याओं को उनके विवाह के पूर्व ही प्रदान की जाती थी यह वर्णन पुराणों में सम्यक् रूप से वर्णित है।

शिवपुराण का एक आख्यान द्रष्टव्य है- एक बार भगवान् शिव आहुक भिल्ल एवं उसकी पत्नी आहुका की परीक्षा लेने के लिए सन्यासी वेश में उसके पास पधारते है। आहुक द्वारा आतिथ्य निवास के लिए मना करने पर उसकी पत्नी आहुका अतिथि सेवा के महत्व के प्रति उसको बोध कराती है।[8] कठोपनिषद् में भी यमराज की पत्नी ने अतिथि सेवा न करने अथवा घर में अतिथि के भूखे रह जाने पर समस्त पुण्यों का नाश कहा है।

गृहस्थ आश्रम में प्रत्येक व्यक्ति को 'पञ्चमहायज्ञ' करना आवश्यक कहा गया है। इस पञ्चमहायज्ञ में (1) ब्रह्मयज्ञ (2) पितृयज्ञ (3) दैवयज्ञ (4) भूतयज्ञ तथा (5) नृयज्ञ है। नृयज्ञ का तात्पर्य अतिथि पूजन है –

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।

होमो दैव बलिर्भूतो नृयज्ञोऽतिथि पूजनम् ॥

गृहकार्य शिक्षा - गृहकार्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है, इसमें मुख्यतः कढ़ाई-बुनाई, सिलाई, शिशु लालन-पालन, पाक निर्माण, नैतिक शिक्षा, गृह व्यवस्था एवं स्वच्छता आदि है।

कुछ आलोचक गृहकार्य शिक्षा को सीमित घरेलू भूमिका में बाँधे रखना पितृ सत्ता कायम रखने, और स्त्रियों को राजनीतिक में

निष्क्रिय बनाये रखने का षड्यंत्र मानते है। परन्तु यह; वह प्रशिक्षित स्त्री होती है जिसके हाथ में सम्पूर्ण परिवार का शारीरिक मानसिक और नैतिक विकास का सम्पूर्ण दायित्व सौपा गया है।

प्राचीन अनेक शास्त्रों में स्त्रियों के गृह्यकार्य शिक्षा का वर्णन प्राप्त होता है, जैसे कि – विष्णु पुराण में शम्बर की पत्नी मायावती को सम्पूर्ण पाकशास्त्र का ज्ञान था –

तस्य मायावती नाम पत्नी स्वर्ग गृहेश्वरी।

कारयामास सूदानामधिपत्यमनिन्दिता।।[9]

भविष्य पुराण में स्वर्णवती नामक स्त्री को सभी विद्याओं में पारङ्गत होने का विवरण प्राप्त होता है –

ज्ञात्वा स्वर्णवती देवी सर्वविद्या विशारदा।[10]

इसी प्राचीन तथ्यों एवं महत्वों को देखते हुए आधुनिक समय में ''गृह विज्ञान'' का पाठयक्रम प्रारम्भ किया गया है- जिसमें प्राचीन नारी अनादि काल से ही पूर्णतया दक्ष थी।

संगीत एवं नृत्य शिक्षा – संगीत एवं नृत्य में आदि काल से ही स्त्रियाँ पूर्णतः पारङ्गत रही है। स्कन्द महापुराण में नागकन्या रत्नावली का अपने दो सखियों के साथ नृत्य-वाद्यादि से युक्त संगीत-गायन का सम्यक् उल्लेख प्राप्त होता है –

तिस्त्रोऽपि गीतं गायन्ति लसगान्धार सुन्दरम् ।

रास मण्डलभेदेन लास्यं तिस्त्रोऽपि कुर्वते।।

वीणावेणुमृदङ्गाश्च लयताल विचक्षणः।

वादयन्ति मुदायुक्तास्तिस्त्रोऽपीश्वर सन्निधौ।।[11]

संगीत-नृत्य के सम्बन्ध में स्कन्द पुराण में ही यत्र तत्र अनेक स्थलों पर अनेक उदाहरण दिखाई पड़ते है। यथा-काशी नगरी में वीरेश्वर लिङ्ग पूजन के समय में पत्नियाँ अपने पतियों के साथ नृत्य-गायन आदि के द्वारा वीरेश्वर की आराधना करती थी।

षण्मासासिद्धिमगमद् बहुनीराजनैरिह।

किन्नरी हंसपद्यत्र भर्त्रावेणु प्रियेण वै।।

गायन्ती सुस्वरं याता परौ निर्वाण भूमिकाम् ।।[12]

श्रीमद्भागवत् पुराण में भी गोपियों के गीत का वर्णन है। वाराह पुराण में काश्मीराज की पुत्री का 'चतुःषष्ठि' कलाओं में पारङ्गत होने का विवरण प्राप्त होता है –

चतुःषष्ठिकला युक्ता कोकिलेव सुखस्वरा।

कलिङ्गराजपुत्रिणा विधिना तु विवाहिता।।[13]

चित्रकला - पुराणों में इस प्रकार महिलाओं का भी उल्लेख मिलता है जो चित्रकलाओं में प्रकाण्ड विदुषी थी। पुराण कालिक स्त्रियाँ किसी भी पुरूष अथवा वस्तु का आकार प्रकार, सौंदर्य सुनकर ही उनका चित्र निर्माण कर देती थी तथा उस चित्र में किसी भी प्रकार की विकलता नहीं होती थी। इस प्रकार की कला पटुता और निपुणता आज आधुनिक परिवेश में ज्ञान-विज्ञान से युक्त होने पर भी नहीं दिखाई पड़ती है।

पद्मपुराण में श्री कृष्ण की श्रेष्ठ सुन्दरीगण कथन प्रसंङ्ग में सारङ्ग नामक गोप की पुत्री जिसका नाम रङ्गवेणी था उसका चित्रकलाओं में अतिनिपुण होने का उल्लेख प्राप्त है –

सारङ्ग नाम्नो गोपस्य कन्याऽभूच्छुभलक्षणा।

रङ्गवेणीति विख्याता निपुणा चित्रकर्मणि।।[14]

स्कन्द पुराण में वसुभूति की पुत्री रत्नावली का वर्णन है। वह अपने अभिलषित पति के चित्र सम्पादन के लिए अपने सखीजनों से कहती है। इसकी तिसरी सखी चित्रकला में अतिनिपुण थी। भारत में चित्रकला का सबसे प्राचीन स्त्रोत विष्णु धर्मोत्तर पुराण है।

राजनीति तथा सैन्यशिक्षा - पौराणिक समय में राजनीति तथा सैन्य शिक्षा में भी स्त्रियों की सहभागिता द्रष्टव्य है। राजनीति तथा सैन्य शिक्षा के सन्दर्भ में अत्यधिक विशद विवरण तो प्राप्त नहीं होता परन्तु अनेक स्थलों पर वीराङ्गनाओं द्वारा अपने पुत्र अथवा अपने पतियों को राजधर्म शिक्षा से समय-समय पर प्रबोधित किया गया है।

मार्कण्डेय पुराण में ही राजमहिषी इन्द्रसेना अपने पुत्र दम को उसके पिता का हत्यारा शत्रु वपुस्मत् से प्रतिकार लेने के लिए राजनीति विषयक उपदेश करती है तथा उसे प्रेरणा देती है। इन्द्रसेना का पुत्र दम भी इसका प्रतिशोध लेता है। यहाँ पर राजमहिषी का राजनीति एवं सैन्य शिक्षा का उपदेश तथा उसके फल की प्राप्ति का वर्णन है। कल्किपुराण के तृतीय अंश में एक स्त्री का कल्कि के साथ उत्तम युद्ध का विवरण प्राप्त होता है-

तेषां स्त्रियो रथारूढा गजारूढा विहंगमान् ।

समारूढा हयारूढा खरोष्ट्र वृष वाहनाः।।[15]

मार्कण्डेय पुराण, श्रीमद्देवीभागवत पुराण तथा दुर्गासप्तशती आदि में देवी महात्म्य का वर्णन लोक प्रसिद्ध है, जिसमें देवी का भयङ्कर राक्षसों के साथ घोर युद्ध का वर्णन प्राप्त होता है।

उपसंहार – भारत का प्राचीनतम साहित्य संस्कृत साहित्य है। इस साहित्य का अध्ययन करने से पता चलता है कि विश्व के अन्य देशों की अपेक्षा हम कही अधिक आगे थे। बात विशेष रूप से महिलाओं के परिप्रेक्ष्य में की जाये तो हम पाते है कि उस समय वे काफी उन्नत एवं सुदृढ़ स्थिति में थी। किसी भी समाज में जब महिलाओं की उन्नति हो जाती है तो उनके अन्यपक्ष अपने आप ही समृद्ध होने लगते है। आधुनिक युग भी यह मानता है कि एक पुरूष पढ़ता है तो सिर्फ एक पुरूष ही पढ़ता है, परन्तु जब एक स्त्री पढ़ती है तो

एक घर पढ़ता है, एक परिवार पढ़ता है। प्राचीन भारत इसका जीता-जागता उदाहरण रहा है।

हमारी संस्कृति मातृसत्तात्मक संस्कृति रही है। हमारे यहाँ **'मातृदेवोभव'** का आदर्श था। **'पितुः सहस्त्रगुणामाता गौरवेणातिरिच्यते'** की भावना समाज में प्रबल थीं –

नाऽस्ति मातृ समा छाया, नाऽस्ति मातृ समागतिः।

नाऽस्ति मातृ समा ऋणं नाऽस्ति मातृ समाप्रियः॥

ऋग्वेद में नववधू को **''साम्राज्ञी श्वसुरे भव''** (तुम श्वसुर के घर की साम्राज्ञी होवों) का आशीर्वाद मिलता है। इस प्रकार पुराणों में तथा अन्यान्य शास्त्रों में स्त्रियों को शिक्षित करने की प्रेरणा देते हुए कहा भी गया है- **''नाऽस्ति मातृ समोगुरुः''॥**

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. सुभाषिरत्नसन्दोहः, श्री लाल जैन काव्यतीर्थ, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थानम्, नवदेहली, वर्ष-2010, पृ0 184।
2. नीतिसङ्ग्रह, मित्रलाभ-7, सम्पादक-गौरी नाथ पाठक, शारदासंस्कृतसंस्थान, वाराणसी, पृ0 04।
3. स्मृति चन्द्रिका, प्रथम भाग, देवणभट्ट, नागप्रकाशक, वर्ष-1988, पृ0 14।
4. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, डॉ0 कपिलवेद द्विवेदी, विश्वविद्यालय पकाशन, वराणसी, वर्ष-2010, पृ0 138।
5. वायु पुराण–35/135, नागशरण सिंह, नाग प्रकाशक, पृ0 166।
6. वायु पुराण-45/36, नागशरण सिंह, नाग प्रकाशक, पृ0 200।
7. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, डॉ0 कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, वर्ष-2010, पृ0 123।
8. शिव पुराण–3/28, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना।
9. विष्णु पुराण–5/27/7, सम्पादक पं0 ज्ञानेशचन्द्र, परिमल पब्लिकेशनन्स, दिल्ली, वर्ष-1987, पृ0 271।
10. भविष्य पुराण–24/105, बाबूराम उपाध्याय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, वर्ष-1995, पृ0 309।
11. स्कन्द पुराण, काशीखण्ड-76/94-95, करुणापति त्रिपाठी सं0सं0वि0वि0 प्रकाशन, वाराणसी, वर्ष 1998।
12. स्कन्द पुराण, काशीखण्ड-17/106-107, करुणापति त्रिपाठी सं0सं0वि0वि0 प्रकाशन, वाराणसी, वर्ष 1998, पृ0 66।
13. वराह पुराण–137/79-80, आनन्दाश्रम मुद्राणालय, पूना।
14. पद्मपुराण पाताल, द्वितीय भाग, खण्ड 72/20, नागशरण सिंह, नाग प्रकाशक, वर्ष-2009, पृ0 86।
15. कल्कि पुराण, तृतीयांश 15/9, सम्पादक- अशोक चटर्जी शास्त्री, प्रकाशनन-सं0सं0वि0वि0, वाराणसी, वर्ष-2002, पृ0 82।

●

अथर्ववेद में आयुर्वेद के विभिन्न आयाम

संगीता आर्या[*] एवम् प्रो. मनुलता शर्मा[**]

मनुष्य को अपने वैयक्तिक,कौटुम्बिक और सामाजिक कर्त्तव्यों का भली भांति परिपालन करने के लिए यह आवश्यक है कि उसका शरीर स्वस्थ, सबल एवं निरोग रहे तथा यदि किसी कारणवश शरीर में किसी प्रकार की कोई दुर्बलता या कोई विकार हो जाय तो फिर यह आवश्यक है कि उसकी चिकित्सा करके उसे दूर किया जाये। इसके लिए शरीर की संरचना का ज्ञान होना आवश्यक है और विभिन्न रोगों तथा उनके दूर करने वाली औषधियों का ज्ञान होना भी आवश्यक है, जिससे व्यक्ति यदि सम्भव हो सके तो स्वयं ही अपनी चिकित्सा कर सके अथवा चिकित्सकों द्वारा उचित चिकित्सा करा सके। इन सबके लिए चिकित्सा शास्त्र या आयुर्वेद शास्त्र सम्बन्धी ज्ञान होना परमावश्यक है। वेदों में सृष्टि के आरम्भ से ही इस चिकित्सा शास्त्र विषयक आवश्यक ज्ञान का उपदेश परमात्मा ने हम मानवों के कल्याणार्थ दे दिया है; जिसके अनुसरण से मानव सौ वर्षों तक निरोगी काया सहित जीवन यापन कर सकता है। क्रमशः उनका उल्लेख पठनीय है—

शरीररचना विज्ञान

अथर्ववेद के 10वें काण्ड का दूसरा सूक्त 33 मंत्रों का विस्तृत सूक्त है। इस सूक्त में प्रश्नात्मक शैली में मनुष्य के सिर से लेकर पाँव तक शरीर के मुख्य-मुख्य समस्त अंगों एवं प्रत्यंगों का नाम लेकर पूछा गया है कि मनुष्य शरीर में ये अंग प्रत्यंग किसने बनाये हैं? इस सूक्त का प्रथम मन्त्र है—

केन पार्ष्णी आभृते पूरुषस्य केन मांसं संभृतं केन गुल्फौ।

केनाङ्गुलीः पेशनीः केन खानि केनोच्छृङ्खौ मध्यतः कः प्रतिष्ठाम्।।[1]

आगे भी—

कस्मान्नु गुल्फावधरावकृण्वन्नष्ठीवन्तावुत्तारौ पुरुषस्य।

जङ्घे निर्ऋत्य न्यदधुः क्वऽस्विज्जानुजोः संधी उक्तच्यिकेत।।[2]

चतुष्टयं युजते संहितान्तं जानुभ्यामूर्ध्वं शिथिरं कबन्धम्।

श्रोणी यदूरू क उ तज्जजान याभ्यां कुसिन्धं सुदृढं बभूव।।[3]

को अस्य बाहू समभरद्वीर्याऽकरवादिति।

अंसौ को अस्य तद्देवः कुसिन्धे अध्या दधौ।।[4]

कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्।

येषां पुरूत्रा विजयस्य मह्वनि चतुष्पादो द्विपदो यन्ति याममम्।।[5]

इस प्रकार अथर्ववेदीय इस सूक्त में शरीर के अंग प्रत्यंगों को गिनाकर संक्षिप्त रूप में शरीर रचना विज्ञान या एनाटमी का वर्णन कर दिया गया है।

इन मन्त्रों में प्रश्नों के साथ-साथ आलंकारिक ढंग से प्रश्नों में ही उत्तर भी समाहित कर दिया गया है- ''केन'' अर्थात् किसने बनाया है? एवं इसी में उत्तर छिपा है केन अर्थात् प्रजापति परमात्मा ने इसकी रचना की है। ''क'' का अर्थ वेद तथा वैदिक साहित्य में प्रजापति परमात्मा से है।

''रक्तप्रवाह-चक्र का वर्णन''– अथर्ववेद के दशम काण्ड के द्वितीय सूक्त के ग्यारहवें मन्त्र में शरीर में प्रवाहित होते रहने वाले रथ चक्र (Circulatory system of blood) का भी वर्णन किया गया है।

को अस्मिन्नापो व्यन्दधाद् विषूवृतः पुरूवृतः सिन्धुसृत्याय जाताः।

तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुष तिरश्चीः।।

अर्थात् (आपः) इस शरीर में किसने उन जलों को बनाकर रखा है; जो शरीर में सब ओर फैलते हैं, जो बहुत फैलते हैं, जो सब ओर से बहकर सिन्धु अर्थात् हृदय में आते हैं और वहाँ से बाहर जाते हैं; जिनका स्वाद तीव्र अर्थात् तीखा है, (अरुणाः) जो चमकते लाल रंग के हैं; जो लोहे से युक्त हैं, अतः लाल है लोहिनीः जो लाल-नीले रंग का है। (ताम्रधूम्रा) जो पुरुष के शरीर में ऊपर की ओर भी बहते हैं;(अवाची) नीचे की ओर भी बहते हैं। (तिरश्चीः) तथा जो शरीर में दायें-बायें भी बहते हैं।

इस मन्त्र में अतिस्पष्ट शब्दों में शरीर के रक्तप्रवाह चक्र का वर्णन है। कहा जाता है कि ईसा की 17वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड के डॉक्टर हार्वे (Harvey) ने सबसे पहले शरीर के इस रक्त, प्रवाहचक्र की खोज की थी, किन्तु अथर्ववेद में इसका वर्णन पुराकाल से ही विद्यमान है। इस मन्त्र में आपः शब्द ध्यातव्य है; जिसका सामान्य अर्थ जल होता है। आपः शब्द **''आप्लृ व्याप्तौ''** धातु से सिद्ध होता है जिसका मूल यौगिक अर्थ है ''फैला हुआ''। रक्त यतोहि सम्पूर्ण शरीर में फैला हुआ होता है; अतः उसका आपः यह नाम निश्चय ही सार्थक है।

यहाँ दूसरा शब्द ध्यातव्य है ''सिन्धु'' जो हृदय के लिए प्रयुक्त हुआ है। सिन्धु शब्द का मूल यौगिक अर्थ होता है-

*शोधछात्रा, संस्कृत विभाग, कलासंकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
** प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, कलासंकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

''जिसकी ओर बहकर आवे अथवा जिसमें से बहकर जावे। हृदय में भी शरीर के गन्दे नीले रक्त सभी अंगों से बहकर आते हैं तथा शुद्ध होकर हृदय से फिर बाहर सभी अंगों तक पहुँचते हैं। अतः मन्त्र में प्रयुक्त हृदयवाची सिन्धु शब्द सार्थक ज्ञात होता है।

जलचिकित्सा

वेद में अनेक स्थलों पर ऐसे मन्त्र एवं सूक्त प्राप्त होते हैं जिनमें ''आपः'' अर्थात् जलों के गुणों का वर्णन किया गया है। इन स्थलों पर जल को एक बड़ी गुणकारी औषधि के रूप में वर्णित किया गया है।

अथर्ववेद के प्रथम काण्ड के चौथे सूक्त में जलों में अमृत का निवास बताया गया है। इस सूक्त का देवता ही आपः है।

अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम्।

पृञ्चतीर्मधुना पयः।।[6]

अप्स्वऽन्तरमृतमप्सु भेषजम्।

अपामुत प्रशस्तिभिरश्वा भवथ वाजिनो गावो मवथ वाजिनीः।।[7]

जिस प्रकार अमृत शारीरिक और मानसिक रोगों को दूर करके निरोगिता, स्वास्थ्य, शान्ति और दीर्घ जीवन प्रदान करता है, उसी प्रकार शुद्ध जलों के सम्यक् सेवन से भी ये सब लाभ प्राप्त होते हैं तथा इन्हीं मन्त्रों में यह भी कहा गया है कि जलों में (भेषज) औषध का भी निवास है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार रोगों में औषध के सेवन से रोग दूर हो जाते हैं; उसी प्रकार जलों को भी औषध के रूप में प्रयोग करके रोगों को दूर किया जा सकता है।

आपो हि ष्ठा भयोभुवस्ता न उर्जे दधातन।

महे रणाय चक्षसे।।[8]

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः।

उशतीरिव मातरः।।[9]

तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ।

आपो जनयथा च नः।।[10]

इन मन्त्रों में कहा गया है कि जलों के उचित सेवन से शरीर में ऊर्जा उत्पन्न होती है तथा आँखों को सुन्दर ज्योति प्राप्त होती है। यह जल रोगों को दूर करके मयः अर्थात् सुख -शान्ति प्रदान करते हैं।

ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्चर्षणीनाम्।

अपो याचामि भेषजम्।।[11]

यहाँ जलों से प्रार्थना की गयी है कि हे जल! तुझमें जो औषध (भेषज) का गुण है वह मुझे भी प्रदान करो और उसके द्वारा मेरे रोगों को दूर करो।

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा।

अग्नि च विश्वंशभुवम्।।[12]

अर्थात् जलों एवं रोगशामक अग्नि के संयोग में सब प्रकार की औषधियों का निवास रहता है। मन्त्र का भाव यह रहता है कि आवश्यकतानुसार रोगों पर शीतल जल और गर्म जल का उपचार करके कुशल चिकित्सक सभी प्रकार के रोगों को दूर कर सकता है।

अथर्ववेद के 6 काण्डों में कुछ सूक्तों के नाम ही आपो भैषज्या हैं; जिनमें जल को चिकित्सकों का भी चिकित्सक कहा गया है। मन्त्र इस प्रकार है—

यन्मे अक्ष्योरादिद्योत पाष्ण्र्योः प्रपदोश्च यत्।

आपस्तत् सर्वं निष्करन्भिषजां सुभिषक्तमाः।।[13]

इस सूक्त में कहा गया है कि जलों के द्वारा हृदय के रोगों का भी निवारण होता है, आँखों के रोगों का भी निवारण होता है तथा पैर के तलवे और पंजे के रोगों का भी शमन होता है।

अथर्ववेद के **'जल चिकित्सा'** नामक सूक्त में कहा गया है कि जल वाणादि द्वारा कट जाने से बने हुए घावों को भी भरने की शक्ति रखता है।[14]

अथर्ववेद के **'विदूषण नामक'** सूक्त में कहा गया है कि शुद्ध जल और दीमकों द्वारा बनाये गये वाल्मीक की गीली मिट्टी से विष को भी दूर किया जा सकता है—

यद् वो देवा उपजीका आसिञ्चन् धन्वन्युदकम्।

तेन देवप्रसूतेनेदं दूषयता विषयम्।।[15]

'आपः' नामक सूक्त में जलों के द्वारा 'यक्ष्म' नामक रोग की चिकित्सा का भी वर्णन है—

ता अपः शिवा अपोऽयक्ष्मं करणीरपः।

यथैव तृप्यते मयस्तास्त आ दत्त भेषजीः।।[16]

सूर्य चिकित्सा

अथर्ववेद में सूर्य की किरणों से चिकित्सा करके पीलिया आदि रोगों के निवारण का उपदेश प्राप्त होता है तद्यथा यह मन्त्र द्रष्टव्य है—

अनु सूर्यमुदयतां हृद्द्योतो हरिमा च ते।

गो रोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परि दध्मसि।।[17]

इस मन्त्र में बताया गया है कि सूर्य की किरणों के सेवन से हृदय के रोग एवं उनसे जन्य हृदय की पीड़ा भी शान्त हो जाती है तथा (गो रोहितस्य) सूर्य की लाल किरणों के सेवन से पीलिया रोग भी दूर हो सकता है।

इस मन्त्र में सूर्य किरण के लिए 'गौ' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'गौ' शब्द का सामान्य अर्थ जहाँ सूर्य की किरण होता है वहीं इसका अर्थ सामान्य गौ भी होता है। तात्पर्य सूर्य की लाल किरणों के सेवन से पीलिया रोग दूर होता ही है, लाल गौ के दूध के सेवन से भी इस रोग के चिकित्सा में सहायता मिलती है।

सूर्य के किरणों से रोगों की चिकित्सा करने वाले चिकित्सक रोग के अनुसार निम्न दो रंग वाली बोतलों में शुद्ध जल भर कर उसे सूर्य की धूप में रख देते हैं। फिर रोग के अनुसार उन बोतलों का पानी रोगी को पिलाया जाता है। पीलिया रोग वाले व्यक्ति को प्रातः और सायं लाल रंग की बोतल में पानी भरकर उसे सूर्य की धूप में तपाकर चिकित्सक के परामर्शानुसार उस जल का सेवन करना चाहिए। रोगजनक कृमियों का सूर्य की किरणों तथा अग्नि के ताप द्वारा विनाश हो जाता है।

वेद में अनेक स्थानों पर चिकित्सा विषयक प्रकरणों में भांति-भांति के रोगों को उत्पन्न करने वाले क्रिमियों का भी उल्लेख आता है। सूर्य के प्रकाश और गर्मी से अनेक रोगों को उत्पन्न करने वाले ये कृमि, सूर्य के प्रकाश और गर्मी से विनष्ट हो जाते हैं, यह भी वेद में स्पष्ट रूप में बतलाया गया है।

उद्यन्नादित्यक्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः।[18]

यहाँ सूर्य को सभी क्रिमीयों का हन्ता बताया गया है।

क्रिमिहनम् नामक सूक्त में सूर्य के समान अग्नि को भी रोगजनक कृमियों का बड़ा विनाशक कहा गया है—

सर्वेषां च क्रिमीणां सर्वेषां च क्रिमीणाम्।

भिन्द्म्यश्मना शिरो दहाम्यग्निना मुखम्।।[19]

विभिन्न रोग निवारक अनेक औषधियों का वर्णन -

अथर्ववेद में अनेक औषधियों का वर्णन किया गया है जो नाना प्रकार के रोगों के निवारणार्थ प्रयुक्त हो सकती हैं। उदहारणार्थ इस सूक्त में—

अयं मे वरणो मणिः सपत्न क्षयणो वृषा।

तेना रभस्व त्वं शत्रून् प्रमृणीहि दुरस्यतः।।[20]

इत्यादि मन्त्रों में वरण नामक औषधि का वर्णन मिलता है जो यक्ष्मा रोग और नींद न आने तथा इसके कारण बुरे-बुरे स्वप्न आते रहने की चिकित्सा के रूप में प्रयुक्त की जा सकती है।

अथर्ववेद के 4/12 में 'रोहिणी' नामक औषधि का वर्णन आता है। यह औषधि तलवार आदि से कटी हुई हड्डियों को, मांसपेशियों को, त्वचा को, नसनाड़ियों को जोड़ सकती है और व्रण में बहते रुधिर का बहना बन्द कर सकती है। इसी काण्ड में 17वें सूक्त में अपामार्ग औषधि का वर्णन है। यह औषधि अत्यधिक भूख लगने वाले रोग तथा अत्यधिक प्यास लगने वाले रोग को दूर करने के काम में आती है। साथ ही यह औषधि इन्द्रियों और अन्य अंगों की दुर्बलता को दूर करने में भी फलदायी सिद्ध होती है।

भूद्रात्प्लक्षान्निस्तिष्ठस्यश्वत्थात्खदिराद्धवात्।

भद्रान्न्यग्रोधात्पर्णात्सा न एह्यरून्धति।।[21]

इस मन्त्र में 'लाक्षा' औषधि का वर्णन प्राप्त होता है। यह औषधि लाठी आदि की चोट से बने हुए घाव को भरने के लिए प्रयोग में लायी जाती है। इस मन्त्र में यह भी वर्णित है कि जो लाक्षा (लाख) प्लक्ष (पिलखन्) अश्वत्थ (पीपल), खादिर (खैर) धव (बबूल) न्यग्रोध (बड़) तथा पर्ण (ठाक) नामक वृक्षों पर बनती है वह उत्कृष्ट लाभ वाली होती है।

अयं दर्भो विमन्युकः स्वाय चारणाय च।

मन्योर्विमन्युकस्यायं मन्युशमन उच्यते।।[22]

इस मन्त्र में 'दर्भ' नामक औषधि का वर्णन है जिसके सम्बन्ध में वहाँ कहा गया है कि इसके सेवन से क्रोधशील व्यक्ति का क्रोध कम हो सकता है।

अथर्ववेद के छठे मण्डल के उन्सठवें सूक्त में 'अरुन्धती' औषधी का वर्णन आता है। जो पुरुषों के कई प्रकार के रोगों को दूर करने में प्रयुक्त होती है एवं 'गौवों के रोगों को दूर करके उनके दूध को बढ़ाने के काम में विशेष रूप से उपयोगी हो सकती है।

अथर्ववेद के 6-136-137 सूक्तों में ''नितत्नी'' नामक औषधि का वर्णन आता है। यह औषधि सिर के बालों को झड़ना रोकने, बाल न उगते हो तो उगाने, बाल बीच में से टूट जाते हों तो उन्हें टूटने से रोकने तथा बालों को लम्बा करने और श्वेत बालों को काला करने में प्रयुक्त की जा सकती है। बालों को लम्बा एवं मजबूत करना इसका विशेष गुण है।

अथर्ववेद के प्रथम काण्ड के 2-3 सूक्त में ''शर'' नामक औषधि के सेवन से 'मूत्रकृच्छ' रोग के निवारण का वर्णन है।

अथर्ववेद के प्रथम काण्ड के ग्यारहवें (11) सूक्त में गर्भस्थ शिशु के सुगमता के साथ प्रसव कराने का वर्णन है। अथर्ववेद के प्रथम काण्ड के 11वें सूक्त के पाँचवें मन्त्र में यह भी संकेत है कि यदि आवश्यकता पड़े तो प्रसव क्रिया में शल्य क्रिया का आश्रय भी लिया जा सकता है।

अथर्ववेद के 4/10 इत्यादि सूक्तों में शंख नामक औषधि का वर्णन है जिसे विभिन्न प्रकार के रोगों को मारने वाला कहा गया

है यह अमित अर्थात् बुद्धि की मन्दता को दूर करने वाला तथा दीर्घायु प्रदान करने वाला है।

पुत्रदा औषधि

शमीमश्वत्थ आरुढस्तत्र पुंसु वनं कृतम्।

तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वा भरामसि।।[23]

इस मन्त्र में एक ऐसी औषधि का वर्णन है जिसके सेवन से उस स्त्री को पुत्र प्राप्त हो सकता है। जिसके केवल पुत्रियाँ ही होती हैं। इस मन्त्र में वर्णित है कि ''शमी'' अर्थात् जड़ (जाड़ी) नामक वृक्ष के ऊपर उगे हुए पीपल को औषधि रूप में स्त्री को सेवन करने से उसे पुत्र हो सकता है। सामान्यतः औषधियों के फूल-पत्ते छाल और जड़े छाया में सुखाकर उनका बारीक चूर्ण बनाकर पानी या गौ के दूध के साथ सेवन कराया जाता है। शमी वृक्ष पर उठे हुए पीपल का सेवन भी इसी प्रकार कराना चाहिए।

शुद्ध वायुसेवन एवं प्राणायाम के लाभ

ऋग्वेद के 10-137 तथा अथर्ववेद के 4.13 सूक्तों में शुद्ध वायु के सेवन के लाभों का वर्णन है। इन मन्त्रों में कहा गया है कि शुद्ध वायु अपने आप में भेषज रूप अर्थात् रोग निवारक औषधि रूप है। जब हम श्वास के द्वारा शुद्ध वायु को अन्दर लेते हैं तो वह ''दक्ष'' अर्थात् बल तथा शक्ति प्रदान करती है और जब अन्दर से दूषित वायु को प्रश्वास द्वारा बाहर फेंकते है तो वह अपने साथ ''रपः'' अर्थात् रोगों को बहाकर बाहर जाती है। अर्थात् प्रश्वास के द्वारा शरीर के मल दूषित वायु के रूप में बाहर फेंकते (फेंक दिये जाते) हैं।

यदि ये मल शरीर में ही रह जाते हैं तो हमें कई प्रकार के रोग लग जाते है। अतः मन्त्र ने दूषित वायु को प्रश्वास द्वारा बाहर निकालने की प्रेरणा दी है।

प्राणायाम द्वारा शुद्ध वायु अधिक मात्रा में शरीर के अन्दर जाता है और उस अवस्था में शरीर के रक्त के मल और भी अधिक मात्रा में बाहर फेंके जाते हैं। इस प्रकार शुद्ध वायु को औषधिरूप बताकर और उसके सेवन के लाभों और प्राणायाम की विधि की ओर संकेत करके वेद ने स्वास्थ्य रक्षा के एक बहुमूल्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्पूर्ण अथर्ववेद में आयुर्वेद का स्वरूप अत्यन्त स्पष्टतः एवं सर्वोपयोगी है जिसके अनुसरण से मनुष्य निरोगी काया के साथ-साथ निश्चय ही इस मन्त्र को सार्थक कर सकता है।

ओम्! तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शत शृणुयामशरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतं।। भूयश्च शरदः शतात्।।

सन्दर्भ- ग्रन्थसूची

1- अथर्व0 10/2/1।
2- अथर्व0 10/2/2।
3- अथर्व0 10/2/3।
4- अथर्व0 10/2/5।
5- अथर्व0 10/2/6।
6- अथर्व0 1/4/1
7- अथर्व0 1/4/4।
8- अथर्व0 1/5/1।
9- अथर्व0 1/5/2।
10- अथर्व0 1/5/3।
11- अथर्व0 1/5/4।
12- अथर्व0 1/6/2।
13- अथर्व0 6/24/2।
14- अथर्व0 6/5/7
15- अथर्व0 6/100/2
16- अथर्व0 19/2/5।
17- अथर्व0 1/22/1।
18- अथर्व0 2/32/1।
19- अथर्व0 5/23/13।
20- अथर्व0 10/3/1।
21- अथर्व0 5/5/5।
22- अथर्व0 6/43/1।
23- अथर्व0 6/11/1।

नैषधीयचरितम् के आलोक में श्रीहर्ष का वेदविषयक-पाण्डित्य

*डॉ0 शिल्पा सिंह**

नैषधीयचरितम् महाकाव्य बृहत्त्रयी के अन्तर्गत परिगणित है। द्वादश-सर्गात्मक यह विशाल महाकाव्य निषधदेश के अधिपति राजा नल के उत्तम-पावन-चरित्र वर्णना से युक्त है। श्रीहर्ष ने इस महाकाव्य में सम्पूर्ण रूप से अपनी काव्य-प्रतिभा एक पात्र नल के चरित्रवर्णन में प्रयुक्त की है। नैषध का प्रारम्भ राजा नल के वर्णन से होता है, मृगया-विहार, हंस का ग्रहण तथा मुक्ति वर्णन है। राजा नल, हंस को दमयन्ती के समीप प्रेषित करते हैं एक ओर जहाँ नल अत्यन्त उत्तम चरित्र एवं सौन्दर्य से युक्त हैं वहीं दूसरी ओर उनकी प्रेयसी दमयन्ती भी अपूर्व सुन्दरी है। हंस दमयन्ती के समक्ष राजा नल के अपूर्व सौन्दर्य एवं गुण, समृद्धि, बल, वैभव, प्रभाव, श्री, शोभा, कान्ति, उदारता, वीरता, दानशीलता आदि की प्रशंसा करता है। नल एक धीरोदात्त नायक रूप में नैषध के मुख्य पात्र हैं। दमयन्ती का नल के प्रति अनुराग उत्तरोत्तर वृद्धि प्राप्त करता है। राजा भीम अपनी पुत्री दमयन्ती के पाणिग्रहण हेतु स्वयंवर का आयोजन करते हैं, जिसमें इन्द्र, वरुण, अग्नि और यम ये चारों देवता नल का रूप धारण कर स्वयंवर में पहुँचते हैं। सरस्वती देवी स्वयं आकर सभी राजाओं का परिचय देती हैं व स्वयंवर में नल की प्रकृतिवाले पाँच पुरुषों का अवलोकन कर दमयन्ती असमंजस में पड़ जाती है। अन्त में देवतागण उसकी पतिभक्ति से प्रसन्न होकर स्व-स्व विशिष्ट चिह्नों को प्रकट करते हैं, जिनमें दमयन्ती राजा नल का सहज रूप में अभिज्ञान कर लेती है। दोनों का विवाह सम्पन्न होता है। जिस प्रकार 'खण्डनखण्डखाद्य' श्रीहर्ष के दार्शनिक-ग्रन्थों में मुकुटमणि है, उसी प्रकार यह नैषध उनके साहित्य संसार का अलङ्कार है।

उपलब्ध अन्तः बाह्य साक्ष्यों के आधार पर ज्ञात होता है कि श्रीहर्ष के पिता का नाम 'श्रीहीर' तथा माता का नाम 'मामल्लदेवी' था। हीरपण्डित काशी के गहड़वालवंशीय राजा विजयचन्द्र की सभा के प्रधान-पण्डित थे। श्रीहीर का सभा के किसी विशिष्ट पण्डित के साथ शास्त्रार्थ हुआ। यह विशिष्ट पण्डित कोई और नहीं बल्कि मिथिला के प्रसिद्ध नैयायिक उदयनाचार्य थें। शास्त्रार्थ में हीर पराजित हुये। मरणावसर पर उन्होंने श्रीहर्ष से कहा कि मुझे अपनी पराजय से अत्यन्त कष्ट हुआ है। तुम उस पण्डित को शास्त्रार्थ में पराजित कर अवश्य विजय प्राप्त करना। श्रीहर्ष ने जाह्नवी तट पर 'चिन्तामणि' मन्त्र का वर्षपर्यन्त जप करते रहे तब भगवती त्रिपुरा प्रत्यक्ष हुयीं और उन्हें अप्रतिम पाण्डित्य का वरदान दिया। श्रीहर्ष राजा जयन्तचण्ड की सभा में रहते हुये राजा की अनुज्ञा पर नैषधीयचरितम् की रचना की।

श्रीहर्ष को हुये आज लगभग आठ सौ वर्ष व्यतीत हो गये, परन्तु इस दीर्घकालावधि में केवल पण्डितराज जगन्नाथ को छोड़ इनके साम्यता का कोई कवि हुआ प्रतीत नहीं होता है। श्रीहर्ष का आविर्भाव-काल विजयचन्द्र तथा जयन्तचण्ड के सभापण्डित होने के कारण से द्वादश-शताब्दी का उत्तरार्ध स्वीकार किया जाता है।

श्रीहर्ष की शैली प्रखर विद्वतापूर्ण रही है। उनके विषय में यह उक्ति लोकविश्रुत है-**'नैषध विद्वदौषधम्।'**[1] अर्थात् नैषध विद्वता से ओतप्रोत है। 'साहित्यविद्याधरी' टीका के कर्ता विद्याधर ने श्रीहर्ष को विविध शास्त्रज्ञाता, सुधी कोविद सम्बोधित किया-

अष्टौ व्याकरणानि तर्कनिवहः साहित्यसारो नयो
वेदार्थावगतिः पुराणपठितिर्यस्यान्यशास्त्राण्यपि।
नित्यं स्युः स्फुरितार्थदीपविहताज्ञानान्धकाराण्यसौ
व्याख्यातुं प्रभवत्यमुं सुविषमं सर्गं सुधीः कोविदः।।[2]

विद्वत्समाज में नैषध की अनेक प्रकार से कीर्ति वर्णना की गयी है-

तावत् भा भाखेर्भाति यावन्माद्यस्य नोदयः।
उदिते नैषधे काव्ये क्व माद्यः क्व भारविः।।
काव्ये नैषधनाम्नि धाम्नि सुबृहत्यर्थस्य मुक्ताऽवधे-
र्भावान् दूरनिगूहितान् कथमहं सर्वान् प्रमातुं क्षमः।
एतस्मिन् द्युतिमन्ति सन्ति सुबहून्येतानि मध्ये भुवः
साकल्येन लभेत कोऽपि खनिता वज्राणि वज्राकरे।।
कविकुलपतेः श्रीहर्षस्य प्रबन्धरसायनं पिबत श्रोत्रैरन्तर्विभाव्य सचेतसः।
अचतुरपरग्रन्थावधै प्रकोपमुपेयुषः
प्रकृतिविषमांश्चेतोरोगान्वेतदपोहतु।।[3]

(टीकाकार विश्वेश्वरभट्टाचार्य)

श्रीहर्ष का नैषधीयचरित् विद्वदौषध ही है, क्योंकि इसका अवबोध करने हेतु व्याकरण, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदान्त, मीमांसा (षड्दर्शन) और चार्वाक, बौद्ध, जैन आदि दार्शनिक-सिद्धान्तों का ज्ञान आवश्यक है।

* असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृतविभाग, कलासंकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

इसी क्रम में पदे-पदे लालित्य से युक्त श्रीहर्ष के इस अनुपम महाकाव्य में उनका वेदविषयक-पाण्डित्य प्रकर्ष स्पष्टतया परिलक्षित होता है। इस सन्दर्भ में क्रमानुसार नैषध की वक्षमाण पंक्तियाँ ध्यातव्य हैं जिनसे श्रीहर्ष के प्रकाण्ड वैदिक-ज्ञान का अवबोध होता है-

पयोधिलक्ष्मीमुषि केलिपल्वले रिरंसुहंसीकलनादसादरम्।

स तत्र चित्रं विचरन्तमन्तिके हिरण्मयं हंसमबोधि नैषधः॥[4]

यहाँ राजा नल के कामसमुत्पन्न अनुराग-रूप वृक्ष के अंकुर को धारण किये हुये निकट विचरण करते हुये विचित्र स्वर्णमय हंस को देखा। महाकवि ने यहाँ स्वर्णमय हंस के लिये 'हिरण्मय' पद का प्रयोग किया जो वेद में श्रुति रूप में दृष्टगत होते हैं-

'हिरण्यवर्णां हरिणीं ....।'[5]

'हिरण्यपाणिम् ऊतये....।'[6]

'हिरण्यपाणिः प्रतिदोषम् अस्थात्।'[7]

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।

तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥[8]

हिरण्यवर्णा का अर्थ सायणभाष्य में इस प्रकार दिया गया है- **हे अग्ने त्वं हिरण्यवर्णां हिरण्यस्य सुवर्णस्य वर्णः कान्तिस्तद्वद्वर्णो यस्यास्ताम्।**[9]

हिरण्य का अर्थ सुवर्ण कहा है। यहाँ हिरण्य का तात्पर्य सुवर्णमय पात्र, अग्नि, सूर्यमण्डल की आभा से लिया गया है। महाकवि ने इन श्रुति के आधार पर हंस के लिये विशेषण 'हिरण्य' पद दिया है।

महाकवि ने एक श्लोक के अर्थ में परमानन्द अथवा ब्रह्मानन्द का वर्णन किया है। जो उनके वेदज्ञान का परिचायक है-

अधिगत्य जगत्यधीश्वरादथ मुक्तिं पुरुषोत्तमात्ततः।

वचसामपि गोचरो न यः स तमानन्दमविन्दत द्विजः॥[10]

जिस प्रकार द्विज उस संसार स्वामी पुरुषोत्तम हरि विष्णु से मोक्ष को प्राप्त कर परमानन्द को प्राप्त करता है जो वाणी द्वारा अवर्णनीय है। उसी प्रकार द्विज अर्थात् हंस ने भी राजा नल से मुक्त होकर उस आनन्द को प्राप्त किया जो वाणी द्वारा अवर्णनीय है। महाकवि ने जिस परमानन्द अथवा ब्रह्मानन्द का वर्णन अपने महाकाव्य में किया उसका स्रोत उपनिषद् में स्पष्ट दृष्टगत होता है, यथा-

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।

ततो भूय इव ते तमो ये उ सम्भूत्यांरताः॥[11]

यहाँ 'सम्भूति' का तात्पर्य अविनाशी परमेश्वर या परब्रह्म है। वैदिक-श्रुतियों के ज्ञान से मण्डित महाकवि श्रीहर्ष ने ब्रह्मानन्द के लिये 'आनन्द' पद का वर्णन किया। एक अन्य श्लोक में पुनः महाकवि ने आनन्दरूप ब्रह्म का उल्लेख किया है-

स व्यतीत्य वियदन्तरगाधं नाकनायकनिकेतनमाप।

सम्प्रतीर्य भवसिन्धुमनादि ब्रह्म शर्मभरचारु यतीव॥[12]

श्रीहर्ष ने वेद शब्द एवं वेदवाक्य को प्रामाणिक माना है। इससे यह ज्ञात होता है कि महाकवि वेद सम्बद्ध ज्ञान से परिचित हैं। उन्होंने अपने श्लोकों में यह वर्णित किया है कि वेद-मन्त्र के उच्चारण के पूर्व ओंकार (ऊँ) शब्द उच्चारित किया जाता है-

मदन्यदानं प्रति कल्पना वा वेदस्त्यवदीये हृदि तावदेषा।

निशोऽपि सोमेतरकान्तशङ्कामोङ्कारमग्रेसरमस्य कुर्याः।

इति स्तुवन् हूङ्कृतिवर्गणाभिर्गन्धर्ववर्गेण स गायतैव।

ओङ्कारभूम्ना पठतैव वेदान् महर्षिवृन्देन तथाऽन्वमानि॥[13]

इन दोनों श्लोकों में ओङ्कार (ऊँ) शब्द का वर्णन है। द्वितीय श्लोक में वर्णित है कि गन्धर्वों ने हुंकार युक्त गान गाया तथा महर्षियों ने ओङ्कार अर्थात् ओम्, ओम शब्द से युक्त वेदपाठ किया। वेदमन्त्रों में ओङ्कार से युक्त अनेक मन्त्र हैं-

ओंकार चतुर्भुजं लोकनाथं नारायणम्।

सर्वस्थितं सर्वगतं सर्वव्याप्तं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥[14]

ऊँ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥[15]

श्रीहर्ष वेदरूपी वृक्ष एवं उनकी शाखाओं अर्थात् ऋग्वेदीय शाखा, शाकल, बाष्कल, आश्वलायन, शांखायन, माण्डूकायन, यजुर्वेदीय शाखा – शुक्ल यजुर्वेद, कृष्ण यजुर्वेद सम्बन्धित शाखाओं, सामवेदीय-कौथुम, जैमिनि, राणायनीय शाखा, अथर्ववेद की नौ शाखाओं-शौनक, पिप्पलाद, स्तौद, मौद, जाजल, जलद, ब्रह्मवद, देवदर्श, चारणवैद्य से पूर्ण परिचित रहें हैं। आपने नैषध में वर्णन करते हुये कहा-

श्रुतिमयतरोर्भानोर्जानेऽवनेरधराध्वना

विहरणकृतः शाखा साक्षाच्छतानि दश त्विषाम्।

निशि निशि सहस्राभ्यां दृग्भिः शृणोति सहस्वराः

पृथगहिपतिः पश्यत्यस्याक्रमेण च भास्वराः॥[1]

महाकवि ने यहाँ 'सहस्वराः' पद उद्धृत किया है। निश्चित रूप से श्रीहर्ष, वेदमन्त्रों का जिन स्वरत्रय उदात्त, अनुदात्त, स्वरित

से उच्चारण किया जाता था उनसे भी अवगत थे। ये तीन स्वर व्याकरण-शास्त्र में सूत्र रूप में इस प्रकार परिभाषित हैं-

उच्चैरुदात्तः, नीचैरनुदात्तः, समाहारः स्वरितः।[17]

वेद के विषय में छान्दोग्योपनिषद् में यह श्रुति है-

अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते सैवर्क्तत्साम तदुक्थं

तद्यजुस्तद्ब्रह्म। तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम्॥[18]

तात्पर्य यह है कि यह जो नेत्रों के मध्य में पुरुष दृष्टिगोचर होता है वही ऋक् है, वहीं साम है, वही उक्थ है, वही यजुः है और वही ब्रह्म (वेद) है। उस इस पुरुष का वही रूप है जो उस का रूप है। जो उसके पक्ष हैं वही इसके पक्ष हैं, जो उसका नाम है वही इसका नाम है।

नैषध-महाकाव्य के श्लोकों का विहंगावलोकन करने से यह देखने को मिलता है कि महाकवि श्रवण, मनन, निदिध्यासन के ज्ञान से सम्पन्न थे। एक श्लोक में-यदि हंस कुछ करना चाहता है तो दमयन्ती को नल की प्राप्ति करा दे या फिर उसके प्राण निकल जाने दे। नल के अभाव में मृत्यु ही वरेण्य है।

श्रुतश्च दृष्टश्च हरित्सु मोहाद् ध्यातश्च नीरन्ध्रितबुद्धिधारम्।

ममाद्य तत्प्राप्तिरसुव्ययो वा हस्ते तवास्ते द्वयमेव शेषः॥[19]

महाकवि ने नैषध में दमयन्ती के स्वयंवर में देवताओं के आगमन का भी वर्णन किया है। इन्हीं देवताओं में अग्नि देवता को 'अनल' पद से सम्बोधित किया है-

तेषां तथा लब्धुमनीश्वराणां श्रियं निजास्येन नलाननस्य।

नालं तरीतुं पुनरुक्तिदोषं बर्हिर्मुखानामनलाननत्वम्॥[20]

अग्नि ने नल का स्वरूप धारण किया परन्तु नल के मुख के समान उनका मुख न हो सका। अग्नि को ऋग्वेद के मन्त्रों में देवताओं का पुरोहित कहा गया है क्योंकि अग्नि ही यज्ञाहुति को देवताओं तक पहुँचाता है। यही कारण है कि, अग्नि का एक पर्याय 'हुतवह' भी है-

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।

होतारं रत्नधातमम्॥[21]

नैषध में दिक्पालों द्वारा तीन सुन्दर व्यक्तियों का सार लेने की संभावना व्यक्त की गयी है-प्रथम-उर्वशी के प्रिय पुरूरवा का सौन्दर्य सार, द्वितीय-चन्द्र का सार, तृतीय-शिवजी द्वारा भस्मीभूत काम का सार-

प्रियावियोगक्वथितात् किमैलाच्चन्द्राद्गृहीतैर्ग्रहपीडितात्ते।

ध्माताद्भवेन स्मरतोऽपि सारैः स्वङ्कल्पयन्ति स्म नलानुकल्पम्॥[22]

यहाँ पर महाकवि ने पुरूरवा का नामोल्लेख किया है। निश्चय ही श्रीहर्ष ऋग्वेद के पुरूरवा उर्वशी संवाद सूक्त[23] से परिचित थे। इसी क्रम में पाठकों के दृष्टिपथ में यह विवरण प्राप्त होता है कि महाकवि ने नैषध में अनेक वैदिक-कर्मकाण्ड तथा वैदिक-विधियों का उल्लेख किया है। यहाँ गया-श्राद्ध से सम्बन्धित श्लोक इस प्रकार है-

तत्तज्जनकृतावेशान् गयाश्राद्धादियाचिनः।

भूताननुभवन्तोऽपि कथं श्रद्धत्थ न श्रुतीः?॥[24]

इसी क्रम में पुत्रेष्टि याग, (पुत्र प्राप्ति निमित्त यज्ञ), श्येन याग (जिससे शत्रुओं का नाश हो), 'श्येनेनाभिचरन् यजेत'। वर्षा की इच्छा हो वह 'कारीरी' यज्ञ करें-'कारीरीं निर्वपेद् वृष्टिकामः।' इस संदर्भ में नैषध का यह श्लोक विचारणीय है-

पुत्रेष्टिश्येनकारीरी-मुखा दृष्टफला मखाः।

न वः किं धर्मसन्देह-मन्देहजयभानवः॥[25]

नैषध के सप्तदशम सर्ग में यज्ञ के विधि विधान में यज्ञीय स्तम्भ का **'यज्ञयूपघनां....'**[26] गोमेधयज्ञ के लिये **'हिंसागवीं मखे...**[27], यज्ञ में आहुत हवि सामग्री इत्यादि के लिये **तस्य होमाज्यगन्धेन, क्रतुधूम....**[28] पद का, यज्ञ-हविष्य, जो पिंडरूप में निर्मित होता है उस पुरोडाश के लिये- **पुरोडाशमासीत्....,** होमादि पात्रों के लिये-**स्रुचः**[27] पद का वर्णन श्लोक में है। नैषध में एक स्थान पर सौत्रामणि याग के विषय में एक प्रसङ्ग उद्धृत है-एक ब्राह्मण इन्द्र देवता को समर्पित यज्ञ 'सौत्रामणि' सम्पन्न कर रहा था। इस यज्ञ में सुरा का उपयोग होता है-'सौत्रामण्यां सोमग्रहान् सुराग्रहांश्च गृह्णन्ति। श्रुति के अनुसार भी इस यज्ञ में मदिरा का दान-'सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्। यज्ञकर्ता सुरादान करता है। यह विषय जब कलि को ज्ञात होता है कि यज्ञकर्ता सुरादान नहीं अपितु 'सौत्रामणि' यज्ञ विधान कर रहा है तब वह दुःखी हो जाता है-

आनन्दन्मदिरादानं विन्दन्नेष द्विजन्मनः।

दृष्ट्वा सौत्रामणीमिष्टिं तं कुर्वन्तमदूयत॥[30]

सौत्रामणि-याग के पश्चात् नैषध में सर्वमेध-याग का भी वर्णन महाकवि ने किया है। श्रीहर्ष कहते हैं कि सर्वमेध-याग एक ऐसा यज्ञ है जिसमें प्रत्येक जाति के एक-एक व्यक्ति की बलि दी जाती है-

तत्र ब्रह्महणं पश्यन्नतिसन्तोषमानशे।

निर्वर्ण्य सर्वमेधस्य यज्वानं ज्वलति स्म सः॥[31]

नैषध के अग्रिम श्लोक में 'सर्वस्वार' यज्ञ जिसमें आत्माहुति दी जाती है, इसका दर्शन भी कलि करता है। पूर्व में तो कलि इस आत्माहुति पापकर्म को देख आनन्दित होता है परन्तु जब उसे ज्ञात होता है कि यह सर्वस्वार नामक यज्ञ है तब वह व्यथित हो जाता है-

आननन्द निरीक्ष्यायं पुरे तत्रात्मघातिनम्।

सर्वस्वारस्य यज्ञानमेनं दृष्ट्वाऽथ विव्यथे॥[32]

नैषध में 'महाव्रत' नामक यज्ञ का भी उल्लेख किया गया है-

क्रतौ महाव्रते पश्यन् ब्रह्मचारीत्वरीरतम्।

जज्ञौ यज्ञक्रियामज्ञः स भाण्डाकाण्डताण्डवम्।।[33]

महाकवि ने अग्निहोत्र से अश्वमेधपर्यन्त श्रौतयज्ञों के विधि-विधानों का अपने महाकाव्य में उल्लेख किया है। श्रीहर्ष वेद शब्द, यज्ञ सम्बन्धी विधि-विधानों, यज्ञीय-कर्मकाण्ड के गूढ़ ज्ञान से सम्पन्न थे। वेद में देवताओं का निवास-स्थान पृथिवीलोक, द्युलोक, अन्तरिक्षलोक यह बतलाया गया है। निरुक्तकार ने इन वैदिक देवताओं का वर्गीकरण इन्हीं तीन निवास-स्थानों के आधार पर किया है-

तिस्रः एव देवताः-इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानः वायुर्वा इन्द्रो वा अन्तरिक्षस्थानः, सूर्यो द्युस्थानः। तासां महाभाग्यात् एकैस्याः अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति॥[34]

नैषधकार ने द्युलोक में निवास करने वाले दिक्पालों का वर्णन एक श्लोक में करते हुये कहा है कि-दमयन्ती के स्वयंवर सभा में यम, अग्नि, वरुण, इन्द्र नल का रूप धारण कर दिव्य रत्नों से युक्त विराजमान थें, किन्तु नल अनुपस्थित थे। इन चारों देवताओं से युक्त वह सभा ऐसी प्रतीत हो रही थी, यथा चार देववृक्षों-मंदार, संतान, कल्पवृक्ष और हरिचन्दन से युक्त किन्तु परिजात से रहित हों अर्थात् चार देवताओं को चार देववृक्ष कहा तथा परिजात को नल कहा। स्वयंवर सभा को स्वर्गलोक के सदृश कहा है-

सभा नलश्रीयमकैर्यमाद्यैर्नलं विनाऽभूद्धृतदिव्यरत्नैः।

भामाङ्गणप्राघुणिके चतुर्भिर्देवद्रुमैद्यौरिव पारिजाते॥[35]

इस श्लोक में 'द्यौ' पद आया है। महाकवि ने इस 'द्यौ' का अर्थ स्वर्गलोक से लगाया है। निश्चय ही वैदिक-देवताओं के वर्गीकरण से भी श्रीहर्ष भली प्रकार परिचित थे। स्वयंवर-सभा में स्वर्ग के देव, पृथ्वी के राजा ही नहीं अपितु पाताल के नागराज वासुकि तथा कर्कोटकादि भी पहुँचे थे-

तत्रागमद्वासुकिरोशभूषाभस्मोपलेहस्फुटगौरदेहः।

फणीन्द्रवृन्दप्रणिगद्यमानप्रसीदजीवाद्यनुजीविवादः॥[36]

यहाँ श्रीहर्ष ने जिन वासुकि और कर्कोटक सर्पों का वर्णन किया है। उनका परिचय ऋग्वेद के खिल-भाग के सर्पसूक्त में उपलब्ध होता है। सर्पों के विषय में वर्णन है कि-कश्यप मुनि से विनता (सुपर्णा) से अरुण और गरुड (सुपर्ण) पक्षी उत्पन्न हुये और द्वितीय पत्नी कद्रू से सर्पों की उत्पत्ति हुयी। सर्वप्रथम शेषनाग, अनन्तर वासुकि, ऐरावत, तक्षक, कर्कोटक, धनंजय का जन्म हुआ। कर्कोटक सम्बन्धित मन्त्र उद्धृत है-

कर्कोटको नाम सर्पो यो दृष्टीविष उच्यते।

तस्य सर्पस्य सर्पत्वं तस्मै सर्प नमोऽस्तु ते॥[37]

महाभारत के आस्तीक जरत्कारु आख्यान में सर्पों का उल्लेख प्राप्त होता है। सर्पों की उत्पत्ति में कर्कोटक सर्प, वासुकि सर्प का वर्णन है-

शेषः प्रथमतो जातो वासुकिस्तदनन्तरम्।

ऐरावतस्तक्षकश्च कर्कोटकधनंजयौ॥[38]

अनुपम ग्रन्थ नैषध के रचनाकार महाकवि श्रीहर्ष इन विभिन्न सर्पों की प्रजातियों से भी परिचित थे क्योंकि उन्होंने अपने श्लोक में इन सर्पों का नामशः उल्लेख किया है यहाँ भी उनका वेदविषयक-पाण्डित्य स्पष्ट परिलक्षित होता है।

श्रीहर्ष वेद एवं शाखा, प्रशाखा, वैदिक, यज्ञ, कर्मकाण्ड, विधि-विधान के ज्ञाता होने के साथ-साथ वेदाङ्ग से भी पूर्णतया परिचित थे। पाणिनिशिक्षा में षड्वेदाङ्गों का परिचय इस प्रकार प्राप्त होता है-

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।

ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥

शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।

तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥[39]

छन्द को वेदपुरुष का पाद, कल्प को हस्त, ज्योतिष को नेत्र, निरुक्त को श्रोत्र, शिक्षा को घ्राण, व्याकरण को मुख कहा गया है। शिक्षा का वर्णन श्रीहर्ष पातिव्रत धर्म द्वारा एक स्थान पर उद्धृत करते हैं-कुण्डिनपुरी के आवास उच्च होने पर चन्द्रोदय के अवसर पर उनकी अट्टालिका पर लगी चन्द्रकान्त मणियाँ द्रवित होकर अपने प्रचुर जल से आकाशगंगा में जलवृद्धि कर देती थीं। नदियों का पति समुद्र है, पूर्णिमा में समुद्र में ज्वार आता है, समुद्रपत्नी गंगा है, समुद्र में ज्वार आने से गंगा पति के हर्ष में हर्षित होकर पातिव्रत का आचरण करती है। परन्तु आकाशगंगा क्या करें उनमें किस प्रकार से ज्वार उत्पन्न हो? ऐसे में कुण्डिनपुरी-प्रासादों की अट्टारियों की चन्द्रकान्तमणियाँ द्रवित होकर इसमें सहायिका बन जाती हैं और आकाशगंगा का पातिव्रत रह जाता है-

यदगारघटाट्टकुट्टिमस्त्रवदिन्दूपलतुन्दिलापया।

मुमुचे न पतिव्रतौचिती प्रतिचन्द्रोदयमभ्रगङ्गया॥[40]

इसी क्रम में महाकवि ने नैषध के श्लोको में शब्दों की निरुक्ति भी बतलायी है। दमयन्ती की निरुक्ति करते हुये कहते हैं-

भुवनत्रयसुभ्रुवामसौ दमयन्ती कमनीयतामदम्।

उदियाय यतस्तनुश्रिया दमयन्तीति ततोऽभिधां दधौ।।[41]

अर्थात् तीनों भुवनों की सुनयनाओं के सौन्दर्य-दर्प को तन की शोभा से दमन करती उत्पन्न हुयी, इससे इसका नाम दमयन्ती रखा गया।

अग्रिम श्लोक में महाकवि ने 'न्यग्रोध' की निरुक्ति की है-

न्यग्रोधनादिव दिवः पतदातपादेर्न्यग्रोधमात्मभरधारमिवावरोहैः।

तं तस्य पाकिफलनीलदलद्युतिभ्यां द्वीपस्य पश्य शिखिपत्रजमातपत्रम्।।[42]

आकाश से अधोभाग को आने वाले धूप आदि का नीचे स्थित होकर निवारण करने से ही 'न्यग्रोध' कहलाता है। आगे एक श्लोक में महाकवि 'पञ्चशर' नामक कामदेव के पुष्पबाण की निरुक्ति कर रहे हैं-

मोहाय देवाप्सरसां विमुक्तास्तारः शराः पुष्पशरेण शङ्के।

पञ्चास्यवत्पञ्चशरस्य नाम्नि प्रपञ्चवाची खलु पञ्चशब्दः।।[43]

उस काम के 'पञ्चशर' नाम में 'पञ्च' शब्द 'पञ्चास्य' (पंचमुख सिंह) के सदृश विस्तार अर्थ बोधक है, संख्यावाचक नहीं।

नैषध में ज्योतिष-चर्चा भी दृष्टिगत होती है। ज्योतिःशास्त्र में कथित है-

मध्यमरूपः प्रियवाग् दूर्वाश्यामः शिराततो निपुणः।

त्वक्सारस्त्रिस्थूणः सततं हृष्टस्तु चन्द्रसुतः।।[44]

मित्रे सूर्यसितौ बुधस्य हिमगुः शत्रुः समाश्चापरे।।[45]

बुध ग्रह मध्यमवर्ण वाला, प्रियभाषी, दूर्वासदृश श्यामवर्ण, विस्तृत शिरा वाला, चतुर, स्थूल त्वचा वाला, कफ-वात-पित्त प्राकृतिक और सदैव प्रसन्न रहने वाला हैं। बुध के रवि-शुक्र मित्र, चन्द्र शत्रु तथा मंगल, गुरु, शनि सम हैं। महाकवि श्रीहर्ष ज्योतिष ज्ञान से पूर्णतया परिचित थे। एक प्रसङ्ग में वे कहते हैं-सूर्य की शोभा धारण करते हुये बुद्धिमान राजा नल निरन्तर काव्याभ्यास करते हुये कवि शुक्राचार्य और विद्वान् वैयाकरण बुध के साथ सानन्द समय व्यतीत करते हुये उसी प्रकार प्रतिदिन अभ्युदय प्राप्त कर रहा है, जिस प्रकार दिनेश्वर श्री सूर्य कवि शुक्र ग्रह और बुध ग्रह के साथ प्रभात, मध्याह्न, संध्या आदि का विधान करता हुआ प्रतिदिन उदित होता है-

अजस्त्रमभ्याससमुपेयुषा समं मुदैव देवः कविना बुधेन च।

दधौ पटीयान् समयं नयन्नयं दिनेश्वरश्रीरुदयं दिने दिने।।[46]

महाकवि ने नैषध-महाकाव्य में-वंशस्थ, वसन्ततिलका, वैतालीय, वियोगिनी, शार्दूलविक्रीडित, पुष्पिताग्रा, स्रग्धरा, मालिनी, उपजाति, द्रुतविलम्बित, शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता, अचलधृति (सर्वलघु), अनुष्टुप् आदि छन्दों से युक्त श्लोक रचना की है। महाकवि छन्दःशास्त्र के पूर्ण ज्ञाता थे।

शृङ्गारामृतशीतगुः के विशेषण से विभूषित श्रीहर्ष के अनुपम महाकाव्य नैषधीयचरितम् में स्थान-स्थान पर उनकी वेद विषयक-पाण्डित्य की प्रभा स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होती है जो यह प्रामाणित करता है कि श्रीहर्ष के वेदविषयक-पाण्डित्य ने उनके महनीय काव्य नैषध को व्यापक रूप से प्रभावित किया है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. नैषधीयचरितम्, (प्रथम-भाग), पृ0 59, डॉ0 देवर्षि सनाढ्य शास्त्री, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, सन् 2002।
2. नैषधीयचरितम्, (प्रथम-भाग), पृ0 59, डॉ0 देवर्षि सनाढ्य शास्त्री, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, सन् 2002।
3. नैषधीयचरितम्, (प्रथम-भाग), पृ0 66, डॉ0 देवर्षि सनाढ्य शास्त्री, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, सन् 2002।
4. नैषधीयचरितम्, (प्रथम-भाग), 1/117, डॉ0 देवर्षि सनाढ्य शास्त्री, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, सन् 2002।
5. ऋग्वेद, खिल 2/6/1, सी.जी. काशीकर, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना-प्रकाशन।
6. ऋग्वेद $1/22/5^1$, वाजसनेयी-संहिता $22/10^1$, तैत्तिरीय-संहिता $1/4/25/1^1$ $2/2/12/2^1$, मैत्रायणी-संहिता $4/12/2^1$, ऐतरेय-ब्राह्मण 5/19/9, कौषीतकि-ब्राह्मण 22/9, 26/13, आश्वलायन-श्रौतसूत्र 8/10/2, शांखायन-श्रौतसूत्र 3/13/12, 10/10/7।
7. ऋग्वेद $6/71/4^2$, मैक्समूलर-संस्करण, चौखम्भा साहित्य सीरीज, वाराणसी।
8. ईशावास्योपनिषद् 15, गीताप्रेस, गोरखपुर।
9. ऋग्वेद, खिल 2/6/1, पृ0 227, सी.जी. काशीकर, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना-प्रकाशन।
10. नैषधीयचरितम् 2/1, डॉ0 देवर्षि सनाढ्य शास्त्री, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, सन् 2002।
11. ईशावास्योपनिषद् 12, गीताप्रेस, गोरखपुर।
12- नैषधीयचरितम् 5/8, डॉ0 देवर्षि सनाढ्य शास्त्री, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, सन् 2002।
13. नैषधीयचरितम् 3/75, 10/66, डॉ0 देवर्षि सनाढ्य शास्त्री, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, सन् 2002।

14. ऋग्वेद, खिल (अतिरिक्त-मन्त्र) 4/11/22, सी.जी. काशीकर, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना-प्रकाशन।

15. ईशावास्योपनिषद् 1, गीताप्रेस, गोरखपुर।

16. नैषधीयचरितम् 19/52, डॉ0 देवर्षि सनाढ्य शास्त्री, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, सन् 2002।

17. लघुसिद्धान्तकौमुदी 1/2/29,30,31 (प्रथम-भाग), भीमसेन शास्त्री, भैमी प्रकाशन, दिल्ली, षष्ठ संस्करण 2008।

18. छान्दोग्योपनिषद् 1/7/5, गीताप्रेस, गोरखपुर।

19. नैषधीयचरितम् 3/82, डॉ0 देवर्षि सनाढ्य शास्त्री, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, सन् 2002।

20. नैषधीयचरितम् 10/21, डॉ0 देवर्षि सनाढ्य शास्त्री, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, सन् 2002।

21. ऋग्वेद 1/1/1, मैक्समूलर-संस्करण, चौखम्भा साहित्य सीरीज, वाराणसी।

22. नैषधीयचरितम् 10/22, डॉ0 देवर्षि सनाढ्य शास्त्री, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, सन् 2002।

23. ऋग्वेद 10/85, मैक्समूलर-संस्करण, चौखम्भा साहित्य सीरीज, वाराणसी।

24. नैषधीयचरितम् 17/104, डॉ0 देवर्षि सनाढ्य शास्त्री, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, सन् 2002।

25. नैषधीयचरितम् 17/93, डॉ0 देवर्षि सनाढ्य शास्त्री, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, सन् 2002।

26. नैषधीयचरितम् 17/169, डॉ0 देवर्षि सनाढ्य शास्त्री, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, सन् 2002।

27. नैषधीयचरितम् 17/173, डॉ0 देवर्षि सनाढ्य शास्त्री, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, सन् 2002।

28. नैषधीयचरितम् 17/163, डॉ0 देवर्षि सनाढ्य शास्त्री, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, सन् 2002।

29. नैषधीयचरितम् 17/178, डॉ0 देवर्षि सनाढ्य शास्त्री, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, सन् 2002।

30. नैषधीयचरितम् 17/179, डॉ0 देवर्षि सनाढ्य शास्त्री, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, सन् 2002।

31. नैषधीयचरितम् 17/183, डॉ0 देवर्षि सनाढ्य शास्त्री, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, सन् 2002।

32. नैषधीयचरितम् 17/199, डॉ0 देवर्षि सनाढ्य शास्त्री, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, सन् 2002।

33. नैषधीयचरितम् 17/200, डॉ0 देवर्षि सनाढ्य शास्त्री, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, सन् 2002।

34. निरुक्तम् 7/2/5, पृ0 229, डॉ0 उमाशंकर शर्मा, 'ऋषि' चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2008।

35. नैषधीयचरितम् 10/24, डॉ0 देवर्षि सनाढ्य शास्त्री, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, सन् 2002।

36. नैषधीयचरितम् 10/25, डॉ0 देवर्षि सनाढ्य शास्त्री, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, सन् 2002।

37. ऋग्वेद-संहिता, खिलानि (अतिरिक्त-मन्त्र) 2/14/8, सी.जी. काशीकर, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना।

38. महाभारत आदिपर्व 32/5, BORI, पूना प्रकाशन।

39. पाणिनीय शिक्षा 41, 42, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।

40. नैषधीयचरितम् 2/89, डॉ0 देवर्षि सनाढ्य शास्त्री, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, सन् 2002।

41. नैषधीयचरितम् 2/18, डॉ0 देवर्षि सनाढ्य शास्त्री, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, सन् 2002।

42. नैषधीयचरितम् 11/30, डॉ0 देवर्षि सनाढ्य शास्त्री, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, सन् 2002।

43. नैषधीयचरितम् 22/18, डॉ0 देवर्षि सनाढ्य शास्त्री, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, सन् 2002।

44. लघुजातकम् (ग्रहस्वरूपाध्यायः) 5, आचार्य श्री पं0 लषणलाल झा, चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, सन् 2009।

45. लघुजातकम् (ग्रहमैत्रीविवेकाध्यायः)2, आचार्य श्री पं0 लषणलाल झा, चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, सन् 2009।

46. नैषधीयचरितम्.... 1/17, , डॉ0 देवर्षि सनाढ्य शास्त्री, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, सन् 2002।

●

मृच्छकटिकम् के आलोक में निर्धनता एक अभिशाप

किरन प्रकाश[*] एवम् डॉ0 प्रदीप कुमार[**]

एक अतिसम्पन्न परिवार में जन्म लेने पर भी अनवरत दान करने के कारण चारूदत्त बहुत अधिक निर्धन हो चुका है। अपनी निर्धनता से उसे कभी-कभी बहुत अधिक मानसिक क्लेश होता है। उसने अपनी निर्धनता में जो अनुभव किये हैं उन्हें सभी को बताना चाहता है।

वैसे प्रायः सभी लोग अपने जीवन में निर्धनता का अनुभव किये रहते हैं, कुछ ही लोग इससे वंचित रह जाते हैं, जो बहुत भाग्यशाली होते हैं। निर्धनता एक अभिशाप जैसा प्रतीत होता है क्योंकि कितनी बार निर्धनों को समाज में (सभा में) जलील होना पड़ता है। उन्हें समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता है। उनके साथ ऊँच-नीच की भावना रखी जाती है। निर्धनता से समाज और शिक्षा दोनों प्रभावित होते है। व्यक्ति का धैर्य खोने लगता है और मानसिक रोगों का शिकार हो जाता है और कुछ लोग जिनकी निर्धनता चरम सीमा तक पहुँच जाती है वो जीवन से ज्यादा मरण को पसन्द करते हैं। चारुदत्त के साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ, वो भी निर्धनता को कोसता है और जीवन से उत्तम मरण को मानता है। मृच्छकटिकम् के प्रथम अंङ्क में सूत्रधार निर्धनता (दरिद्रता) की निन्दा करते हुये कहता है-

शून्यमपुत्रस्य गृहं, चिरशून्यं नास्ति यस्य सन्मित्रम् ।

मूर्खस्य दिशः शून्याः सर्वं शून्यं दरिद्रस्य॥8॥[1]

पुत्रहीन का घर सूना होता है, जिसका कोई भी अच्छा मित्र नहीं होता है, उसका चिरकाल शून्य रहता है, मूर्ख की सभी दिशायें शून्य रहती हैं और दरिद्र का सब संसार सूना होता है। यद्यपि संसार में सब कुछ रहता है तथापि मूर्ख उसका उपभोग नहीं कर पाता है। अतः उसके लिए सभी ओर रिक्तता ही रहती है, इन सबकी अपेक्षा निर्धन की स्थिति और दयनीय होती है, क्योंकि सारा संसार उसके लिए नहीं के समान हैं, कोई भी उसका साथ नहीं देता है, न बात सुनता है न करता है, और न कुछ देता है अतः दरिद्र होना महाअभिशाप है।

चारुदत्त अपने घर की देहलियों की दुर्दशा को देखकर अपनी निर्धनता के विषय में सोचकर किंकर्तव्यविमूढ़ होकर बैठ जाता है और कहता है-

यासां बलिः सपदि मद्गृहदेहलीनां

हंसैश्च सारसगणैश्च विलुप्तपूर्वः।

तास्वेव सम्प्रति विरुढतृणाङ्कुरासु

बीजाञ्जलिः पतति कीटमुखावलीढः॥9॥[2]

मेरे घर की जिन देहलियों पर रखी गयी पूजनभोगसामग्री पहले हंसों और सारसों द्वारा शीघ्र ही समाप्त कर दी जाती थी, इस समय उगी हुयी घास आदि के अंकुरों से युक्त उन्हीं देहलियों पर कीड़ों के मुख द्वारा खाये हुये बीजों की अञ्जलि गिर रही है।

यहाँ चारुदत्त अपनी वर्तमान दरिद्रता को सोंचकर मरणतुल्य कष्ट का अनुभव करता है-

सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम्।

सुखात्तु यो याति नरो दरिद्रतां धृतः शरीरेण मृतः स जीवति॥10॥[3]

घने अन्धेरे में दीपक के प्रकाश के समान दुःखों के अनुभव के बाद सुख शोभित होता है अच्छा रहता है, किन्तु जो पुरुष सुख से निर्धनता को प्राप्त करता है वह शरीर द्वारा धारण किया गया भी मरा हुआ जीवित रहता है।

वास्तव में प्राण शरीर को धारण करते हैं किन्तु निर्धन के विषय में विपरीत स्थिति होती है, यहाँ शरीर प्राणों को धारण करती है, निर्धन व्यक्ति और मृत व्यक्ति में कोई अन्तर नहीं होता है।

पहले अपने सुखी जीवन के बाद दुःख का अनुभव करने वाला चारुदत्त निर्धनता को मृत्यु से भी निकृष्ट मानता है। मरते समय जो कष्ट होता है वह अन्तिम कष्ट होता है किन्तु दरिद्रता के कारण तो जीवन भर कष्ट भोगना पड़ता है।

दारिद्र्यान्मरणाद्वा मरणं मम रोचते न दारिद्र्यम्।

अल्पक्लेशं मरणं दारिद्र्यमनन्तकं दुःखम्॥11।[4]

दरिद्रता अथवा मृत्यु में से मुझे मरना अच्छा लगता है न कि दरिद्र होना। क्योंकि मरना कम समय कष्ट देने वाला है अर्थात् कुछ समय ही मृत्यु कष्ट का अनुभव होता है। किन्तु दरिद्रता कभी न समाप्त होने वाला कष्ट है।

जैसे हाथी के सूखी मदजलधारा से रहित कपोल को भौंरे छोड़ कर अन्यत्र चले जाते हैं वैसे ही अतिथि जो पहले मेरे घर सदा आया करते थे आज धनहीन ऐसा सोचकर मेरे घर को छोड़कर चले

*शोधच्छात्रा, संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

** असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

जाते है- यह अतिथियों द्वारा उपेक्षा करना ही मेरे लिए सन्तापकारक है।

चारुदत्त- न मामार्थान् प्रति दैन्यम्-

एतत्तु मां दहति यद् गृहमस्मदीयं

क्षीणार्थमित्यतिथयः परिवर्जयन्ति।

संशुष्क सान्द्रमदलेखमिव भ्रमन्तः

कालात्यये मधुकराः करिणः कपोलम् ॥12॥[5]

जब तक आपके पास धन है तब तक आपके सगे-सम्बन्धि आपकी स्थिति पूछते रहेंगे, आपके घर आते रहेंगे किन्तु किसी कारणवश आप निर्धन हो गये तो आपको पहचानने से भी इन्कार करेंगे और छोड़कर वैसे ही चले जायेंगे जैसे हाथी के कपोलों को भौरा छोड़कर चला जाता है। जब-तक आपके पास धन है तब तक समाज में आपकी इज्जत (सम्मान) होगी अन्यथा निर्धनों को तो कोई देखना भी नहीं पसन्द करता कि कही कुछ मांग ना ले।

कुछ लोग अपने जीवन के छोटे-छोटे परिणामों को भाग्यफल मानने लगते है चारुदत्त भी ऐसा ही है वह भाग्य पर भरोसा ज्यादा करता है, वह कहता है कि- धननाश के कारण मेरी चिन्ता नहीं है क्योंकि धनी होना या निर्धन हो जाना सब तो भाग्य का खेल है-

सत्यं न में विभवनाशकृताऽस्ति चिन्ता

भाग्यक्रमेण हि धनानि भवन्ति यान्ति।

एतत्तु मां दहति नष्टधनाश्रयस्य

यत् सौहृदादपि जनाः शिथिलीभवन्ति॥13॥[6]

चारुदत्त की चिन्ता का कारण यह है कि जो लोग धन रहने पर मित्र बनकर साथ-साथ रहते थे, वे धन नष्ट हो जाने पर मित्रता से भी मुँह मोड़ लेते है। दरिद्रता के कारण चारुदत्त लज्जा को प्राप्त कर रहा है-

दारिद्र्यादध्रियमेति, ह्रीपरिगतः प्रभ्रश्यते तेजसो

निस्तेजाः परिभूयते, परिभवान्निर्वेदमापद्यते।

निर्विण्णः शुचमेति, शोकपिहितो बुध्या परित्यज्यते

निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो निधनता सर्वापदामास्पदम्॥14॥[7]

निर्धन व्यक्ति सर्वत्र लज्जित होता है, निस्तेज हो जाता है, अपमानित होता है अपमान से ग्लानि और ग्लानि से शोक प्राप्त करता है। शोकाकुल व्यक्ति विवेकहीन हो जाता है और बुद्धिहीन विनाश को प्राप्त करता है अतः सभी विपत्तियों का मूल कारण निर्धनता ही है।

श्रीमद्भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय में कहा गया है कि-

'स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥63॥[8]

अर्थात् स्मृति में भ्रम हो जाने से बुद्धि (ज्ञानशक्ति) नाश हो जाता है और बुद्धिनाश होने से व्यक्ति अपनी स्थिति से गिर जाता है।

चारुदत्त दरिद्रता के विभिन्न रूपों को स्मरण कर कहता है-

निवासश्चिन्तायाः परपरिभवो वैरमपरं

जुगुप्सा मित्राणां स्वजनजनविद्वेषकरणम्।

वनं गन्तुं बुद्धिर्भवति च कलत्रात् परिभवो

हृदिस्थः शोकाग्निर्न च दहति सन्तापयति च॥15॥[9]

दरिद्रता (निर्धनता) व्यक्ति की चिन्ता का घर है, दूसरों के द्वारा किया जाने वाला अनादर (अपमान) है, शत्रुता है, पत्नी से तिरस्कार है, वन जाने की इच्छा होती है तथा शोकाग्नि दरिद्रता को काष्ठ आदि के तुल्य जलाकर भस्म् नहीं करती है, अपितु पानी आदि की तरह उसे सन्तप्त करके धीरे-धीरे घुटन के साथ मारती रहती है।

चारुदत्त रदनिका से कहता है-

यदा तु भाग्यक्षयपीडितां दशां नरः कृतान्तोपहितां प्रपद्यते।

तदाऽस्य मित्राण्यपियान्त्यमित्रतां चिरानुरक्तोऽपिविरज्यतेजनः॥53॥[10]

जब मनुष्य दुर्दैव द्वारा उपस्थापित भाग्यनाश के कारण दलित दुर्दशा को प्राप्त हो जाता है, तब निर्धन व्यक्ति के मित्र भी शत्रुता को प्राप्त हो जाते है और दीर्घकाल से अनुराग रखने वाला व्यक्ति भी अनुरागहीन हो जाता है।

पञ्चम अङ्क में भी चारुदत्त कहता है-

धनैर्वियुक्तस्य नरस्य लोके किं जीवितेनादित एव तावत्।

यस्य प्रतीकारनिरर्थकत्वात् कोपप्रसादा विफलीभवन्ति॥40॥[11]

संसार में धनहीन व्यक्ति के जन्म से ही लेकर जीवित रहने का क्या लाभ? जिसकी प्रसन्नता और अप्रन्नता दोनों ही बदला चुकाने में असमर्थ होने के कारण व्यर्थ हो जाती है, अर्थात धनहीन व्यक्ति खुश होकर कुछ दे नहीं सकता और नाराज होकर कुछ बिगाड़ नहीं सकता।

पक्षविकलश्च पक्षी, शुष्कश्च तरूः सरश्च जलहीनम्।

सर्पश्चोद्धृतदंष्ट्रस्तुल्यं लोके दरिद्रश्च॥41॥[12]

चारुदत्त कहता है- संसार में बिना पंखें का पक्षी, बिना पानी का तालाब, विष निकाला गया साँप और दरिद्र पुरूष – ये सभी बराबर होते हैं। (अर्थात ये सभी व्यर्थ हैं।)

शून्यैर्गृहैः खलु समाः पुरूषा दरिद्राः

कूपैश्च तोयरहितैस्तरूभिश्च शीर्णैः।

यद् दृष्टपूर्व-जल-सङ्गम-विस्मृताना-

मेवं भवन्ति विफलाः परितोषकालाः ॥42॥[13]

गरीब लोग सूने घरो, पानीरहित कुओं और सुखे वृक्षों के समान हैं, क्योकिं पूर्वकाल के परिचित लोगों के मिलने पर आतुरता के कारण अपनी वर्तमान दरिद्रता को भूल जाने वाले दरिद्र लोगों के परितोषकाल (पुरस्कार प्रदान करने के अवसर) इसी प्रकार व्यर्थ होते हैं। (जैसे मैं पुरस्कार के समय भी पुरस्कार नहीं दे पा रहा हूँ क्योंकि निर्धन हूँ)।

पहले धनी होकर बाद में जो निर्धन हो जाता है उसे जब अपने पूर्वपरिचित व्यक्ति मिलते हैं तो हर्षातिरेक में अपनी वर्तमान दरिद्रता का ध्यान न रखकर परितोष आदि देने की इच्छा करने लगता है। परन्तु धनाभाव के कारण दे नहीं पाता है। इस प्रकार उस समय की विफलता (असमर्थता) हो जाती है।

निष्कर्ष

आधुनिक युग में निर्धनता को अनन्त दुःखों का प्रतीक माना जाता है। निर्धनता केवल एक इंसान की या एक घर की समस्या नहीं है बल्कि ये पूरे राष्ट्र की समस्या है।

आज के इस भौतिक युग में जहाँ एक ओर लोगों के पास धन भण्डार भरे पड़े हैं, वहीं निर्धनों के पास इसका नितान्त अभाव है। चारुदत्त की इतनी दीन-हीन दशा, उसकी विवशता और उसकी उदारता से हृदय उद्विग्न हो जाता है, आज भी ना जाने कितने चारुदत्त हैं जो प्रतिदिन निर्धनता के कारण तिल-तिल मरते हैं इसलिए निर्धनता को त्वरित आधार पर कुछ प्रभावी तरीकों को लागु करके सुलझाने का प्रयास करना चाहिए। अर्थव्यवस्था, समाज और देश के चिरस्थायी और समावेशी वृद्धि के लिए निर्धनता का उन्मूलन अत्यावश्यक है। और प्रत्येक व्यक्ति में एकता की आवश्यकता है।

सन्दर्भ-सूची

1. मृच्छकटिकम् 1/8
2. मृच्छकटिकम् 1/9
3. मृच्छकटिकम् 1/10
4. मृच्छकटिकम् 1/11
5. मृच्छकटिकम् 1/12
6. मृच्छकटिकम् 1/13
7. मृच्छकटिकम् 1/14
8. श्रीमद्भगवदगीता 2/63
9. मृच्छकटिकम् 1/15
10. मृच्छकटिकम् 1/53
11. मृच्छकटिकम् 5/40
12. मृच्छकटिकम् 5/41
13. मृच्छकटिकम् 5/42

●

संस्कृत रूपकों में वर्णित ''कञ्चुकी'' का अध्ययन

डॉ प्रदीप कुमार[*]

संस्कृत रूपकों में नायक, नायिका, विदूषक और प्रतिनायक की भूमिका महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। इसके अतिरिक्त अन्तःपुर में विचरण करने वाले कञ्चुकी की भूमिका भी एक अलग प्रकार का स्थान रखती है। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, स्वप्नवासवदत्तम्, प्रतिमानाटकम्, वेणीसंहारम् आदि ऐसे रूपक हैं, जिनमें कञ्चुकी जैसे पात्र का अभिधान किया गया है।

अब कञ्चुकी का वर्णन करने से पहले मैं यह स्पष्ट कर लेना चाहता हूँ कि कञ्चुकी का अर्थ क्या है?

कञ्चुक अर्थात् घुटनों तक लटकता हुआ कुर्ता।

कञ्चुक से ''अत इनिठनौ'' सूत्र से-कञ्चुकिन्

फिर प्रथमा एकवचन में 'सु' विभक्ति

लाने पर 'सौ च' सूत्र से उपधादीर्घ से-कञ्चुकीन्

तथा 'हल्ङ्याब्भ्योदीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्'

और 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' सूत्र से नकार लोप होकर 'कञ्चुकी'

शब्द बनता है, जिसका अर्थ है- लम्बा कुर्ता धारण करने वाला।[1]

नाट्याचार्य भरत ने 'कञ्चुकी' का लक्षण करते हुए कहा-

अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः।

सर्वकार्यार्थ कुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते।[2]

इसका भाव यह है कि- जो अन्तःपुर में विचरण करता है, ऐसे वृद्ध, गुणवान् ब्राह्मण को जो सभी कार्यों में कुशल होता है, उसे कञ्चुकी कहते हैं।

इसके अतिरिक्त भी कञ्चुकी का लक्षण इस प्रकार है-

ये विद्यासत्यसम्पन्नाः कामदोषविवर्जिताः।

ज्ञानविज्ञानकुशलाः कञ्चुकीयास्तु ते स्मृताः।[3]

जो विद्या और सत्य से सम्पन्न, कामदोष से परे है, लेकिन विद्वत्ता से परिपूर्ण है, उसे कञ्चुकी कहते हैं।

इसमें कञ्चुकी का दोनों ही लक्षण नाट्यशास्त्र से प्राप्त होते हैं, लेकिन यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो 'अन्तःपुरचरो वृद्धो' से जो बात कही गयी है, कि वृद्ध अन्तःपुर में विचरण करे, क्योंकि वृद्ध है तो स्वाभाविक है, कि शिथिल इन्द्री वाला हो गया होगा। इसीलिए नाट्यशास्त्र-काव्यमाला में 'कामदोषविवर्जिताः' कहा गया होगा। पुनः नाट्याचार्य ने कहा कि 'विप्रो गुणगणान्वितः' अर्थात् वह ब्राह्मण हो तथा सभी गुणों का ज्ञाता हो। दूसरी तरफ नाट्यशास्त्र काव्यमाला में कहा गया कि 'ज्ञानविज्ञानकुशलाः' अर्थात् ज्ञानी तथा विद्वत्ता से परिपूर्ण होना चाहिए और नाट्याचार्य ने अगले पाद में कहा 'सर्वकायार्थ कुशलः' अर्थात् सभी कार्यों को करने में कुशल, ठीक इसी प्राकर नाट्यशास्त्र-काव्यमाला में कहा गया 'विद्यासत्यसम्पन्नाः' विद्या और सत्य से सम्पन्न। इस प्रकार मैं यह कह सकता हूँ कि नाट्याचार्य द्वारा दिया गया कञ्चुकीलक्षण 'अन्तःपुरचरो.... अभिधीयते।' तथा नाट्यशास्त्र काव्यमाला में किया गया कञ्चुकीलक्षण 'ये विद्या...ते स्मृताः'। में पूर्णतया साम्य है, केवल शब्द चमत्कार मात्र विशेष है।

आगे के क्रम में नाट्याचार्य ने कञ्चुकी की गति का वर्णन करते हुए कहा-

कञ्चुकीयस्य कर्तव्या वयोऽवस्थाविशेशतः

अवृद्धस्य प्रयोगज्ञो गतिमेवं प्रयोजयेत्।।

अर्धतालोत्थितैः पादैर्विष्कम्भैर्ऋजुभिस्तथा।

समुद्वहन्निवाङ्गानि पङ्कलग्न इव व्रजेत्।।

अथ वृद्धस्य कर्तव्या गतिः कम्पितदेहिका।

विष्कम्भनकृतप्राणा मन्दोत्क्षिप्तपदक्रमा।।[4] अर्थात्-

कञ्चुकी की गति, उसकी आयु तथा अवस्था, स्थिति विशेष के अनुसार होनी चाहिए। नाट्यप्रयोक्ता युवक कञ्चुकी की गति का प्रयोग इस प्रकार करे। तथा अर्धताल की ऊँचाई पर उठे हुए सरल एवं लम्बे डगों से कीचड़ में सने हुए व्यक्ति के समान अपने अङ्गो को संभालते हुए गति प्रदर्शित करे। वृद्ध कञ्चुकी की गति का अभिनय शरीर को कँपाते हुए धीरे-धीरे (रुक-रुककर) लाठी या डण्डे को प्राणों का आधार बनाकर तथा मन्दगति से पैरों को उठाकर रखते हुए करना चाहिए।

यह तो रहा कञ्चुकी का नाट्यशास्त्रिय मत, इसके बाद कञ्चुकी के प्रायोगिक पक्ष की चर्चा किया जाय, तो अभिज्ञानशाकुन्लम् के आलोक में वह कहता है-

अहो नु खल्वीदृशीमवस्थां प्रतिपन्नोऽस्मि।

आचार इत्यवहितेन मया गृहीता

*असिस्टेण्ट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

या वेत्रयष्टिरवरोधगृहेषु राज्ञः।

काले गते बहुतिथे मम सैव जाता।

प्रस्थानविक्लवगतेरवलम्बनार्था।[5]

कञ्चुकी इस श्लोक के माध्यम से अपनी दुर्गति कहना चाहता है- कि, अरे मैं इस अवस्था को प्राप्त हो गया हूँ कि राजा के अन्तःपुर में यह परम्परा है कि शक्तिसम्पन्न मेरे द्वारा जो बेंत की छड़ी ग्रहण की गयी थी, वही बेंत की छड़ी बहुत समय व्यतीत हो जाने पर चलने में लड़खड़ाती गति वाले मेरे लिए सहारे की वस्तु बन गयी है।

कञ्चुकी की इस उक्ति से प्रयुक्त 'आचार इति' से परम्परा की ओर संकेत किया गया है। राजा के अन्तःपुर में कञ्चुकी के पद पर नियुक्त होने वाले व्यक्ति को लगुड धारण करनी पड़ती है। नाट्याचार्य ने कञ्चुकी की गति प्रसङ्ग में लाठी धारण करने का उल्लेख किया है।

इससे यह कहा जा सकता है कि कञ्चुकी चाहे वृद्ध हो या युवा, लाठी धारण करके चलने से निकलते हुए ध्वनि से अन्तःपुर की सभी स्त्रियों को कञ्चुकी के आने की आहट मिल जाती होगी, जिससे वे सचेत हो जाती होंगी।

कञ्चुकी के द्वारा कथित दूसरा वाक्य 'प्रस्थानविक्लवगतेः समय के व्यतीत होने पर प्राप्त वार्धक्य' से यह कहा जा सकता है, कि कञ्चुकी की लाठी जो युवावस्था में अन्तःपुर की सभी स्त्रियों को आहट मिल जाने का कार्य किया करती थी, वही लाठी अब वृद्धावस्था आने पर लड़खड़ाते पैर और काँपते शरीर के लिए सहायक सिद्ध हो गयी है। जिसमें नाट्याचार्य ने पहले ही कहा था कि वृद्ध कञ्चुकी शरीर को काँपते हुए लाठी को प्राणों के आधार बनाए हुए तथा मन्दगति से पैरों को उठाकर रखते हुए चले।

नाट्याचार्य द्वारा किया गया कञ्चुकी- लक्षण में 'सर्वकार्यार्थ कुशल': से यह कहा जा सकता है कि कञ्चुकी अन्तःपुरचारी होने के साथ-साथ बाहर से आये लोगों के समाचार को राजा तक पहुँचाता भी था, क्योंकि अभिज्ञानशाकुन्तलम् के पञ्चम् अङ्क में आश्रम से आये हुए कण्व के शिष्यों का समाचार राजा से कहता है-

जयतु-जयतु देव!

एते खलु हिमगिरेरुपत्यकारण्यवासिनः काश्यपसन्देशमादाय

सस्त्रीकास्तपस्विनः सम्प्राप्ताः श्रुत्वा देवः प्रमाणम्।[6]

इसका भाव यह है कि, जय हो महाराज की जय हो। ये हिमालय की तराई के जङ्गल में निवास करने वाले तपस्वी लोग स्त्रियों के साथ कण्व का सन्देश लेकर आए हैं। आगे क्या करना है? आप ही इस आशय का आदेश देने में समर्थ हैं।

इसके अतिरिक्त भासकृत- स्वप्नवासवदत्तम् में महारानी पद्मावती के कहने पर कञ्चुकी, आश्रम में घोषणा करता है-

कस्यार्थकलशेन को मृगयते वासो यथानिश्चितम्

दीक्षां पारितवान् किमिच्छति पुनर्देयं गुरोर्यद् भवेत्।

आत्मानुग्रहमिच्छतीह नृपजा धर्माभिरामप्रिया

यद् यस्यास्ति समीप्सितं वदतु तत् कस्याद्य किं दीयताम्।।[7]

कञ्चुकी कहता है- किसे कलश का प्रयोजन है? अध्ययनार्थ व्रत को समाप्त करने वाला कौन सा स्नातक गुरु को देने योग्य वस्तु को चाहता है? इस तपोवन में धर्मिकों में प्रीति करने वाली राजकुमारी तपस्वियों की याचना से अपने ऊपर अनुग्रह चाहती हैं। अतः जिसको जो वस्तु अभीष्ट है, उसे कहे। आज किसको क्या दिया जाय?

आगे कञ्चुकी-लक्षण में प्रयुक्त पाद 'विप्रो गुणगणान्वितः 'अर्थात् वह कञ्चुकी ब्राह्मण हो तथा गुण समूह अर्थात् अनेक गुणों का ज्ञाता हो। यह पाद भासकृत-स्वप्नवासवदत्तम् व प्रतिमानाटकम् और कालिदासकृत-अभिज्ञानशाकुन्तलम् तथा भवभूतिकृत-उत्तररामचरितम् और भट्टनारायणकृत-वेणीसंहारम् आदि रूपकों में वर्णित कञ्चुकी से पुष्ट नहीं होती है। किन्तु स्वप्नवासवदत्तम् में वर्णित कञ्चुकी को भटों द्वारा और महारानी पद्मावती द्वारा 'आर्य' सम्बोधित किया गया है।

एक स्थल पर पद्मावती ने कहा-**आर्य!**

किं दृष्टो मुनिजन आत्मानमनुग्रहीतुम्?

अभिप्रेतप्रदानेन तपस्विजन उपनिमन्त्रयतां तावत् कः किमत्रेच्छतीति?[8]

आर्य (पूज्य)! अपने को अनुग्रहीत करने के लिए आपने किसी तपस्वी को देखा? अभीष्ट वस्तु के दान के लिए तपस्वी निमन्त्रण दें। यहाँ पर कौन क्या चाहता है?

अतः मेरी दृष्टि में आर्य (पूज्य) उसी को कहा जाता होगा जो श्रेष्ठ ब्राह्मण होता होगा या आर्य (श्रेष्ठ) से तात्पर्य 'गुणज्ञ' भी होता होगा। इस प्रकार नाट्याचार्य द्वारा किया गया कञ्चुकीलक्षण-

अन्तःपुरचरो वृद्धो.... कञ्चुकीत्यभिधीयते। या ये विद्यासत्यसम्पन्नाः.. तु ते स्मृताः।

सर्वथा उचित है।

उपसंहृति-

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि संस्कृत रूपकों में वर्णित कञ्चुकी की भूमिका सराहनीय है। चाहे हम नाट्याचार्य द्वारा दिये गये सैद्धान्तिक पक्ष,की चर्चा करें, या कञ्चुकीलक्षण और गति की दृष्टि से दृष्टिपात करें, या भास, कालिदास, भवभूति,

भट्नारायण आदि रूपककारों द्वारा वर्णित पात्र कञ्चुकी के प्रायोगिक पक्ष पर दृष्टिपात करें, दोनों ही दशाओं में कञ्चुकी अविष्मरणीय है।

सन्दर्भ सूची

1. लघुसिद्धन्तकौमुदी/श्री धरानन्दशास्त्रीयकृत व्याख्या/पृष्ठ-990/सूत्र-1190।
2. नाट्यशास्त्रोक्तिः, अभिज्ञानशाकुन्तले उत्तररामचरिते चोद्धृताः।
3. नाट्यशास्त्र (काव्यमाला)/पारसनाथद्विवेदिकृत व्याख्या/तृतीय भाग-पृ0-59/अध्याय 12/श्लोक 56।
4. नाट्यशास्त्र/पारसनाथद्विवेदिकृत व्याख्या/तृतीय भाग-पृ0 57/अध्याय-12/श्लोक 113-115।
5. अभिज्ञानशाकुन्तलम्/5/3।
6. अभिज्ञानशाकुन्तलम्/डाँ शिवशंकरसिंहकृत व्याख्या/5/पृष्ठ-143।
7. स्वप्नवासवदत्तम्/1/8।
8. स्वप्नवासवदत्तम्/शेषराजशर्मरिम्मीकृत व्याख्या/1/पृष्ठ-22।

●

महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय जी का संस्कृत प्रेम

डॉ. राजेश सरकार[*]

विश्वविभूति प्रातः-स्मरणीय नित्यवन्दनीय भारतरत्न महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय जी के अक्षयकीर्तिस्वरूप काशीहिन्दूविश्वविद्यालय का प्रत्येक कण उनके व्यापक व्यक्तित्व, महिमा, अप्रतिम-त्याग, राष्ट्रप्रीति, भक्ति-भावना इत्यादि दैवीय गुणों को प्रतिक्षण प्रतिबिम्बित करता है। महामना मालवीय जी सुप्रसिद्ध देशभक्त, कुशल राजनीतिज्ञ, वाग्मी, शिक्षाशास्त्री, पत्रकार, अधिवक्ता, समाज-सुधारक तथा धर्मप्रचारक इत्यादि विविध आयामों के मूर्तिमान विग्रह थे। आपके विराट् व्यक्तित्व में उपर्युक्त समस्त गुणधर्मों का मञ्जुल समन्वय पाया जाता है। महामना मालवीय जी द्वारा सम्पादित लोककल्याणकारी अनेक कार्य हैं, किन्तु काशीहिन्दूविश्वविद्यालय की स्थापना इनके जीवन का सर्वोत्कृष्ट तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अवदान है। इस विश्वविद्यालय ने शिक्षा के प्रसार में जो अवदान दिया है, वह सर्वविदित है।

इसी क्रम में परमपूज्य महामना हमारे समक्ष एक प्रखर संस्कृतज्ञ एवं संस्कृतसेवक के रूप में आते हैं। महामना मालवीय जी को काशी की पाण्डित्यपरम्परा का अनुयायी मानना सर्वथा उचित है। आपके व्यक्तित्व में संस्कृतविद्या का पूर्ण प्रकर्ष अभिव्यक्त होता है। महामना के संस्कृतविद्यागुरु महामहोपाध्याय आचार्य पण्डित आदित्यराम भट्टाचार्य थे, जिनके चरणाम्बुज के आश्रित होकर आपने मिलिन्दवत् विद्यामकरन्द का पान किया। आपके दादागुरु काशी के महान् नैयायिक आचार्य पण्डित कैलासचन्द्रशिरोमणि थे अस्तु आप काशी की वैदुष्यमण्डित संस्कृतज्ञ-विद्वत्परम्परा में परिगणित किये जाते हैं।

मालवीय जी महाराज सुन्दर संस्कृत पद्यों की भी रचना करते थे। तीर्थराज प्रयाग की तपःपूता भूमि पर 1927 ई0 में समायोजित 'सनातनधर्म महासभा' का पद्यबद्ध निमन्त्रणपत्र स्वयं आपने रचा था, जो इस प्रकार है-

प्रार्थना-निवेदनम्

नमो धर्माय महते नमः कृष्णाय वेधसे।
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य प्रार्थये धर्मवर्द्धनम् ॥1॥
श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तः वर्णाश्रमविभूषितः।
पुण्यः सत्यदमोपेतो धर्मः श्रेष्ठः सनातनः॥2॥
यस्य संस्थापनार्थाय काले काले जगद्गुरुः।
अजोऽपि सन्नव्यात्मा ह्यात्मानं सृजति स्वयम् ॥3॥
रक्षार्थं यस्य धर्मस्य ब्राह्मणाः क्षत्रियास्तथा।
वैश्याः शूद्रा महाभागा अर्थान् प्राणाँश्च तत्यजुः॥4॥
कलिना पीडितः सोऽयं दुरवस्थामवापितः।
अज्ञानेन स्वकीयानामन्येषामाक्रमेण च॥5॥
हे नाथ! हे रमानाथ विश्वनाथार्तिनाशन।
सत्यां कुरु प्रतिज्ञा स्वां पातुं पुनरिहाव्रज॥6॥
धर्मज्ञानप्रचारार्थं जातिरक्षार्थमेव च।
विश्वजन्यां मतिं यच्छ उद्धर्षय मनांसि नः॥7॥
तीर्थराजे प्रयागे वै माघे मास्यसिते दले।
विदुषां धर्मकामानां भविष्यति महासभा॥8॥
तत्रागत्य तु कर्त्तव्यो विचारः शास्त्रसम्मतः।
उपायाश्चिन्तनीयाश्च धर्मरक्षाप्रसाधकाः॥9॥
इतीयं प्रार्थना हृद्या स्वीकर्त्तव्या मनीषिभिः
धर्मरक्षाविवृद्धयर्थी ह्यनुग्राह्यो निवेदकः।

मालवीयो मदनमोहनः[1]

महामना जी की द्वितीय रचना 'हिन्दूधर्मोपदेश' है, जो काशीहिन्दूविश्वविद्यालय से प्रकाशित 'विश्वपञ्चाङ्ग' के मुखपृष्ठ पर प्रकाशित होने के कारण नितान्त प्रसिद्ध है। इस पञ्चाङ्ग के आद्यसम्पादक आप स्वयं थे। सम्पूर्ण उपदेश में बाईस अत्यन्त हृदयावर्जक एवं श्लाघनीय श्लोक है। इस सन्दर्भ में इस उपदेश की वक्ष्यमाण पक्तियाँ ध्यातव्य है-

'हिताय सर्वलोकानां निग्रहाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय प्रणम्य परमेश्वरम् ॥
ग्रामे ग्रामे सभा कार्या ग्रामे ग्रामे कथा शुभा।
पाठशाला मल्लशाला प्रतिपर्वमहोत्सवः॥
अनाथाः विधवा रक्ष्याः मन्दिराणि तथा च गौः।
धर्म्यसंघटनं कृत्वा देयं दानं च तद्धितम् ॥

*असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृतविभाग, कलासंकाय, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी।

स्त्रीणां समादरः कार्यो दुःखितेषु दया तथा।

अहिंसका न हन्तव्या आततायी वधार्हणः।।

जीवितं यः स्वयं चेच्छेत् कथं सोऽयं प्रघातयेत् ।

यद्यदात्मनि चेच्छेत् तत्परस्यापि चिन्तयेत् ।।

पारसीयैर्मुसल्मानैरीसाईयैर्यहूदिभिः।

देशभक्तैर्मिलित्वा च कार्या देशसमुन्नतिः।।

पुण्योऽयं भारतो वर्षो हिन्दुस्थानः प्रकीर्त्तितः।

वरिष्ठः सर्वदेशानां धन-धर्म-सुखप्रदः।।

उत्तमः सर्वधर्माणां हिन्दूधर्मोऽयमुच्यते।

रक्ष्यः प्रचारणीयश्च सर्वभूतहिते रतैः।। [2]

आपने संस्कृत-वाङ्मय के प्रचारार्थ संस्कृत-महाविद्यालय की स्थापना की, जो सम्प्रति 'संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय' के नाम से काशीहिन्दूविश्वविद्यालय का अंग है। आपने इसमें संस्कृत-वाङ्मय के विभिन्न विद्याओं यथा वेद, मीमांसा-धर्मशास्त्र, व्याकरण, वैदिक-दर्शन, बौद्ध-जैनदर्शन, न्याय, सांख्ययोग, आगम-साहित्य, ज्योतिष के विभागों की स्थापना करवाई। इस महाविद्यालय के प्रति आपका अनन्य अनुराग था, जिसके फलस्वरूप आप इसके संरक्षण एवं संवर्द्धन के लिये सतत सचेष्ट रहते थे। भारतवर्ष के कोने-कोने से विभिन्न विद्यानिष्णात विद्वानों को खोज कर लाते एवं उन्हें महाविद्यालय में नियुक्त करते थे। इस महाविद्यालय की अध्यक्षता महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्मा, पण्डित चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' एवं महामहोपाध्याय पण्डित प्रमथनाथ तर्कभूषण सदृश आचार्यों ने किया। संस्कृतसेवी विद्वानों के संरक्षण एवं पल्लवन में आपका महनीय अवदान है। संस्कृत-महाविद्यालय के अतिरिक्त कलासङ्काय जो उस समय 'भारती महाविद्यालय' (College of Indology) के नाम से विख्यात था, में भी आधुनिक पद्धति से संस्कृत के पठन-पाठन की व्यवस्था थी। आपके द्वारा परम्परागत भारतीय चिकित्सापद्धति के उन्नयन के लिये आयुर्वेदमहाविद्यालय की स्थापना की गयी। यह महाविद्यालय पूर्व में प्राच्यविद्या एवं धर्मसंकायविभाग का अंग था, जो 1924-1925ई0 में पृथक् हुआ। जिसकी अध्यक्षता पण्डित धर्मदास कविराज, डॉ0 बालकृष्ण अमरजी पाठक, पण्डित सत्यनारायण शास्त्री 'कविराज' सदृश गौरवशाली आयुर्वेदाचार्यों द्वारा की गयी।

महामना की अपर रचना अनुष्टुप् छन्द में निबद्ध काशीहिन्दूविश्वविद्यालय का स्थापनोद्देश्य है, मालवीय जी महाराज द्वारा विरचित एवं ताम्रपत्र पर अंकित उपर्युक्त श्लोक तपोनिधि स्वामी श्रीकृष्णाश्रम जी महाराज के करकमलों द्वारा प्रस्थापित किये गये। यह परिसरस्थ विश्वनाथ मन्दिर के प्रवेशद्वार पर शिलापट्ट रूप में अंकित है। इसका प्रारम्भ इस प्रकार है-

'प्रसादाद्विश्वनाथस्य काश्यां भागीरथीतटे।

विश्वविद्यालयः श्रेष्ठो हिन्दूनां मानवर्द्धनः।।

अनेकराज्याधिपतिभिर्धनिकैर्धार्मिकैस्तथा।

मिलित्वा स्थापितःसद्भिर्विद्याधर्मविवृद्धये।।

विश्वनाथपुरीमेत्य दर्शनात्पावयं जनान् ।

तुरङ्गगजरत्नेन्दु मितेब्दे वैक्रमे शुभे।।

चैत्रमास्यसिते पक्षे चतुर्थ्यां शनिवासरे।

प्राप्यानुज्ञां भगवतः शिलामेतां न्यवेशयत् ।।

सर्वदोषहरः शम्भुः वरदो भक्तवत्सलः

प्रीणातु कर्मणानेन कल्याणं च तनोतु नः

शिवमस्तु शुभमस्तु मङ्गलमस्तु

मालवीयो मदनमोहनः[3]

महामना द्वारा विद्यार्थिवर्ग के लिये उपदेशरूप में रचित अधोलिखित श्लोक से भला कौन परिचित नहीं है-

सत्येन ब्रह्मचर्येण व्यायामेनाथ विद्यया।

देशभक्त्याऽत्मत्यागेन सम्मानार्हः सदा भव।।[4]

इसके अतिरिक्त काशीहिन्दूविश्वविद्यालय के पञ्चाङ्गविभाग द्वारा शुद्ध एवं सटीक रूप से प्रकाशित विश्वपञ्चाङ्ग के आप तत्कालीन ज्योतिषविभागाध्यक्ष पण्डित रामयत्न ओझा के साथ आद्यसम्पादक थे।

महामना संस्कृत में धाराप्रवाह सम्भाषण करते थे किन्तु कहीं भी व्याकरणिक त्रुटि नहीं होती थी। संस्कृत-भाषा एवं साहित्य का अध्ययन उन्होंने तत्कालीन समय के स्वनामधन्य विद्वान् आचार्य पण्डित आदित्यराम भट्टाचार्य के सान्निध्य में किया था। अशुद्धोच्चारण के प्रति आपकी सदा वक्रदृष्टि रहा करती थी। इस सन्दर्भ में अनेक रोचक प्रसंग प्राप्त होते हैं।

पूज्य महामना प्रतिदिन प्रातःकाल श्रीमद्भगवद्गीता, विष्णुसहस्रनाम, गजेन्द्रमोक्ष एवं श्रीमद्भागवत सदृश सद्ग्रन्थों का सस्वर पाठ किया करते थे। आज भी उनकी स्मृति में परिसरस्थ मालवीयभवन में प्रति रविवार गीतापाठ एवं व्याख्यान तथा वर्ष में एक बार श्रीमद्भागवतमहापुराण सप्ताहकथा की अखण्ड परम्परा अनवरत चली आ रही है।

पूज्यश्री महामना का समग्र चरित्र संस्कृत-प्रेम से ओत प्रोत था। उनके द्वारा विश्वविद्यालय के घोषणापत्र में संस्कृत भाषा-साहित्य के संरक्षण एवं संवर्द्धन के उद्देश्य को अभिन्न अंग के रूप में सम्मिलित किया गया है, जो इस प्रकार है-

''अखिल जगत् की सर्वसाधारण जनता के एवं मुख्यतः हिन्दुओं के लाभार्थ हिन्द-ूशास्त्र तथा संस्कृत-साहित्य की शिक्षा का प्रसार करना, जिससे प्राचीन भारत की संस्कृति और उसके विचाररत्नों की रक्षा हो सके तथा प्राचीन भारत की सभ्यता में जो कुछ महान् तथा गौरवपूर्ण था, उसका निदर्शन हो।''[5]

To promote the study of Hindu Shastras and literature generally as a means of preserving and popularizing for the benefit of the Hindus in particular and of the world at large in general, the best thought and culture of the Hindus, and all that was good and great in ancient civilization of India.

विश्वविद्यालय की उद्घाटन प्रशस्ति संस्कृत में टंकित है। जो महामना के प्रयासों का प्रतिफलन है, इस विश्वविद्यालय का आदर्शवाक्य 'विद्ययाऽमृतमश्नुते (ईशावास्योपनिषद्)' संस्कृत में है। आज भी यहाँ के दीक्षान्त-समारोह में उपदेश के रूप में तैत्तिरीयोपनिषद् की 'शीक्षावल्ली' का पाठ किया जाता है।

अपने समय में महामना स्वयं इसका पाठ करवाया करते थे-

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः।

आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः।

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। अतिथिदेवो भव

श्रद्धया देयम् अश्रद्धयाऽदेयम् । श्रिया देयम् ।

ह्रिया देयम् । भिया देयम् ।

यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।

महामना कुलपति के रूप में स्नातकों से प्रथम प्रतिज्ञा यह करवाते थे-

अपि नाम संगिरन्ते भवन्तो यदिह विश्वजनीन व्यवस्थासममवस्थयोः।

योगक्षेमधुरा यावदवकाशं यावत् शक्तिञ्च निरुह्येत भवद्भिः॥

इस प्रतिज्ञा के उत्तर स्नातक छात्रों का समूह एकस्वर में समवेत रूप से कहता था- 'प्रतिजाने'।

अर्थात् मैं प्रतिज्ञा करता हूँ। इसके बाद महामना दूसरी बार पूछते थे कि- **अपिस्विद् अपालीकं संगिरन्ते भवन्तो .... यदिह विश्वविद्यालस्यास्य समुचिता पूतेन मनसा सुनृतेन वचसा, समवदातेन कर्मणा च नितान्त निषेव्येत।** पुनः छात्र उत्तर देते थे- **प्रतिजाने प्रतिजाने।**[6]

आज भी इस विश्वविद्यालय के शैक्षणिक प्रमाणपत्र संस्कृत में होते हैं। वस्तुतः इन सभी के पीछे संस्कृतानुरागी पूज्य महामना की संस्कृतप्रेमविषयिणी परिकल्पना निहित थी।

पूज्य महामना साहित्य के अत्यन्त रसिक थे। वे साहित्यमर्मज्ञ पण्डित बटुकनाथ शर्मा से प्रायः सरस विषयों पर चर्चा करते रहते थे। आपने ही आचार्य सीताराम चतुर्वेदी सदृश मूर्धन्य साहित्याचार्य से समग्र कालिदासीय साहित्य का 'कालिदासग्रन्थावली' के रूप में भाषानुवाद करवाया। आप पं0 सीताराम चतुर्वेदी जी के सम्पादकत्व में प्रकाशित कालिदास-ग्रन्थावली की प्रकाशन समिति के अध्यक्ष थे।

संस्कृत वाङ्मय आपके व्यक्तित्व में कूट-कूट कर भरा था। आप अपने द्वारा लिखे जाने वाले प्रत्येक पत्रों में संस्कृत के श्लोकों-नीतिवचनों को उद्धृत करते थे। महामना अपने उपदेशों में संस्कृत श्लोकों को बहुलतया उद्धृत किया करते थे। श्रीभगवान् को आप धर्म-स्वरूप मानते थे और इस सन्दर्भ में 'भीष्मस्तवराज' का अधोलिखित प्रसिद्ध पद्य सुनाया करते थे-

यं पृथग्धर्मचरणाः पृथग्धर्मफलैषिणः।

पृथग्धर्मैः समर्चन्ति तस्मैः धर्मात्मने नमः॥

मृदुता के सन्दर्भ में आप वनपर्व में उल्लिखित धर्मराज युधिष्ठिर के कथन को अतिशय महत्त्व देते हुये इसकी चर्चा किया करते थे-

मृदुना सुमृदुं हन्ति मृदुना हन्ति दारुणाम् ।

नासाध्यं मृदुनः किञ्चित् तस्मात् तीक्ष्णतरं मृदु॥

विषम से विषम संकटों एवं विपरीत परिस्थितियों में आप महाभारत के उद्योगपर्व के अधोलिखित श्लोक के स्मरण से ऊर्जावान हो उठते थे-

उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूतिकर्मसु

भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा सततमव्यथैः।

उद्योगपर्व 135/30

कर्त्तव्यनिष्ठा आपके जीवन का महत्त्वपूर्ण सूत्र था इस विषय में भीष्मस्तवराज के निम्नलिखित श्लोक को अपना आदर्श मानते थे-

अकुण्ठं सर्वकार्येषु धर्मकामार्थामुद्यतम् ।

बैकुण्ठस्य च यद्रूपं तस्मै कार्यत्मने नमः॥

आत्मविश्वास के सन्दर्भ में आपका सबसे प्रिय गीता का अधोलिखित श्लोक था-

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

श्रीमद्भागवत गीता 6/5

अर्थात् व्यक्ति को आप ही अपने का उद्धार करना चाहिये और स्वयं को अवसाद में नहीं डालना चाहिये। क्योंकि व्यक्ति आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु।

महामना श्रीमद्भगवद्गीता के अधोलिखित श्लोक को अपना आदर्श बताया करते थे-

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।

सिद्धयसिद्धयोर्निर्विकारः कर्ता सात्विक उच्यते॥

श्रीमद्भगवद् गीता 18/28

अर्थात् जो कर्त्ता आसक्तिरहित, अंहकार के वचन न बोलने वाला, धैर्य और उत्साह से युक्त तथा कार्य के सिद्ध होने और न होने में हर्षशोकादि विकारो से रहित है- वह सात्विक कहा जाता है।

महामना के संस्कृतवैदुष्य के विषय में संस्कृत महाविद्यालय (सम्प्रति संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय) के व्याकरणविभाग के प्राध्यापक पण्डित अम्बिका प्रसाद उपाध्याय के विचार ध्यातव्य है-

''संस्कृत भाषा के ऊपर मालवीय जी महाराज का पूर्ण अधिकार था। पुराणों का पाठ वे सदा करते थे। महाभारत तथा श्रीमद्भागवत का तो पूरा अभ्यास था । भागवत का अनुशीलन तो उनकी पैतृक सम्पत्ति ही थी । काशी में हिन्दूमहासभा का एक अधिवेशन आयोजित किया गया था। इसके साथ संस्कृत-साहित्य का भी अधिवेशन सम्पन्न होने वाला था। मालवीय जी उसके स्वागताध्यक्ष थे, परन्तु अस्वस्थ होने के कारण भाषण तैयार नहीं कर सकें। पण्डित प्रमथनाथ जी ने भाषण लिखकर मेरे पास भेज दिया। मालवीय जी को दिखाया, तो कहने लगे कि यह तो बांग्ला हो गया। अच्छा, छपा दो। ऐसा बाँचना नहीं होगा। हम अपना बोल लेगें। समय पर बोलने के लिये उठकर खड़े गये और धीरे से बोले अशुद्धियों को गिनकर कहना। मैं ध्यान लगाये था, परन्तु कहीं भी अशुद्धि नहीं हुयी। व्याख्यान समाप्त होने पर अशुद्धियों के बारे में पूछा। मैंने कहा की हनुमान जी के व्याख्यान के बाद वाल्मीकि जी ने जो टिप्पणी लिखा है- बहुव्याहरताऽनेन न किञ्चिद् अपशब्दितम्''- वही मेरी स्मृति में आ गयी है। वाल्मीकि जी की टिप्पणी आपके व्याख्यान के लिये उपयुक्त है। इस पर मालवीय जो हँसने लगे।''[7]

महामना प्रत्येक जीवनोपयोगी प्रसङ्गों में संस्कृत के श्लोक उद्धृत करते थे। इसी विषय में अत्यन्त रोचक प्रसङ्ग प्राप्त है कि महामना परिधान के बड़े प्रेमी थे। वह जब भी सभा में आते तो सुसज्जित होकर ही आया करते थे। उनके अधिक वस्त्र पहनने की प्रवृत्ति पर महात्मा गाँधी के किसी अनुयायी ने उन्हें टोका तो उन्होंने कहा-

वस्त्रेण किं स्यादिति नैव वाच्यं, वस्त्रं सभायामुपकारहेतुः।

पीताम्बरं वीक्ष्य ददौ तनूजा, दिगम्बरं वीक्ष्य विषं समुद्रः॥

अर्थात् वस्त्र से क्या होगा, ऐसा नहीं कहना चाहिये। वस्त्र तो सभा में उपकार का कारण होता है। समुद्र ने पीताम्बरधारी विष्णु को देखकर अपनी पुत्री प्रदान की और दिगम्बर शिव को देखकर देखकर उन्हें विष प्रदान किया।

महात्मा गाँधी के अनुयायी महामना जी के उत्तर से निरुत्तर हो गये।[8]

उपर्युक्त विमर्श से पूज्य महामना के संस्कृतविषयक प्रेम पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है, जो हम सभी के लिये विशेष रूप से विश्वविद्यालय परिवार के लिए अनुकरणीय है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. प्रज्ञा (मालवीय जन्मशती विशेषांक), पृ. 161, भाग-6, सन् 1961 शोध पत्रिका, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
2. 'विश्वपञ्चाङ्ग' (मुख पृष्ठ), पञ्चाङ्ग विभाग, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसङ्काय, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, संवत् वि0 2074
3. काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, विश्वनाथ मन्दिर प्रवेशद्वार के शिलापट्ट पर अंकित (चैत्र कृष्ण 4 शनिवार संवत् वि0 1987)
4. काशी पत्रिका (भाग-1) – सम्पादक पं. सीताराम चतुर्वेदी पृ0 17 मुडक वर्ष-संवत् 1993वि0 पं0 रामेश्वर पाठक तारा यन्त्रालय, वाराणसी (महामना अर्काइब्स)
5. विश्वविद्यालय घोषणा-पत्र-1
6. महामना और विद्यार्थी प्रसङ्ग (अन्तेवासी अन्तर्कथा)- डॉ. उमेश दत्त तिवारी पृ0 24-25, महामना मालवीय फाउण्डेशन महामनापुरी वाराणसी (उ0प्र0), वर्ष 2015, प्रथम संस्करण
7. काशी की पाण्डित्य परम्परा-आचार्य बलदेव उपाध्याय पृ0 905, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, वर्ष 1994 (द्वितीय संस्करण)
8. महामना और विद्यार्थी प्रसङ्ग, (अन्तेवासी अन्तर्कथा), डॉ0 उमेशदत्त तिवारी, पृ0 40, महामना मालवीय फाउण्डेशन, महामनापुरी, वाराणसी (उ0प्र0) वर्ष 2015 (प्रथम संस्करण)

ऋग्वेद में संगीत

चार्वी वर्मा[*] एवम् प्रो. बिरेन्द्रनाथ मिश्र[**]

भारतीय संगीत के इतिहास की दृष्टि से वैदिक युग ही प्राचीनतम युग है। ई0पू0 700 से ई0पू0 800 तक यह युग माना जाता है।

वैदिक युग का प्रारम्भ आर्यों के आगमन पर होता है। आर्यों का संगीत इतना उत्कृष्ट था कि वे जहाँ भी गए, इन्होंने सबसे अधिक अपने संगीत की छाप उस देश पर डाली। इस काल में संगीत का उत्कृष्ट स्थान था। सुबह-शाम प्रत्येक परिवार में ईश्वर की आराधना होती थी। इस काल में जितना संगीत का विकास घरों में हुआ, उतना बाहर नहीं हो पाया। संगीत की दो धाराएँ हो चुकी थीं। पहली धारा शास्त्रीय संगीत की और दूसरी धारा लोक संगीत की थी। लोक संगीत में आर्यों के युद्ध-विजय से सम्बन्धित कथाएँ रहती थीं।

''संगीत प्रायः ब्राह्मण वर्ग में था। वे ही कला-साधना कर समाज के चरित्र को उच्च स्तर तक ले जाते थे। ब्राह्मण ही संगीत की शिक्षा सर्वसाधारण को दिया करते थे। गायन वादन और नृत्य तीनों का विकास हमें वैदिक युग में मिलता है। वीणा वाद्य का विकास इस युग में हो चुका था। गायन के साथ इसका प्रयोग भी हो चुका था। अधिकतर नारियाँ वीणा-वादन करती थीं। संगीत के विशेष आयोजन होते थे और नर्तकियाँ उनमें खुलकर भाग लेती थीं। समाज में नृत्य का प्रतिष्ठित स्थान था। पुरुष भी नृत्यों में रुचि रखते थे।''[1] नृत्य-कला काफी विकसित हो रही थी। इसका प्रमाण 'ऋग्वेद' के श्लोक (5/33/6) में आया है-

नृत्यमानों अमृता

आर्य जाति स्वभाव से ही संगीतप्रिय थी। वैदिक युग में सार्वजनिक संगीत-आयोजन और प्रतियोगिताओं का एक मनोरंजक रूप 'समन' के नाम से देखने में आता है। यह समन एक प्रकार से सांगीतिक मेला था। यह 'समन' आगे चलकर 'समज्जा' के नाम से प्रस्फुटित हुआ।

वैदिक काल में संगीत को उच्च सामाजिक मान्यता प्राप्त थी। वैदिक युग में चार वेदों तथा उनके विविध अंगों का विस्तार हुआ है। सर्वप्रथम ग्रन्थ 'ऋग्वेद' है जो प्राचीनतम् माना जाता है। इस ग्रन्थ में संगीत सम्बन्धी प्रचूर मात्रा में सामग्री उपलब्ध है।

भारतवर्ष में जो सबसे प्राचीन, नियमित और सुसम्बद्ध संगीत मिलता है वह वैदिक-काल का है। वैदिक-काल को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। पहले भाग के दो उपभाग (क) में ऋक्, अथर्व, यजुस् में प्राप्य संगीत सामग्री एवं (ख) में सामवेद सम्बन्धी संगीत-सामग्री। भाग दो में ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और सूत्रों में उपलब्ध संगीत एवं भाग तीन में शिक्षा और प्रातिशाख्य में उपलब्ध संगीत विषयक सामग्री का वर्णन हो सकता है।

''वेद मन्त्रों के संग्रह का नाम संहिता है ये संहिताएँ चार हैं- ऋक्, यजुः, साम व अथर्व। ऋक् शब्द 'ऋच' धातु से व्युत्पन्न हुआ है। ऋक्, ऋच धातु का संज्ञा रूप है। ऋक् का अर्थ है स्तुति-मन्त्र। जिस ग्रन्थ में ऋक् या स्तुति-मन्त्रों का संग्रह हुआ है। उसे ऋक्संहिता कहते हैं।'' [2] सबसे प्राचीन संहिता ऋग्वेद की है।

संगीत का मुख्य सम्बन्ध सामवेद से है, किन्तु ऋग्वेद में भी संगीत-विषयक सामग्री वर्तमान है। ऋग्वेद में स्वर के उदात्त, अनुदात्त और स्वरित भेद पाये जाते हैं। व्याकरण में 'स्वर' शब्द का अर्थ है वे अकारादि वर्ण जिनका उच्चारण दूसरे वर्ण की सहायता के बिना स्वतन्त्र रूप से होता है। महाभाष्य 1-2-11 में 'स्वर' शब्द की व्याख्या इस प्रकार मिलती है-'स्वर+र', स्व=स्वयं राजन्ते, 'स्वयं राजन्त इति स्वराः' जो स्वयं प्रकाशमान हो वे स्वर हैं। संगीत में स्वर शब्द 'नाद' अर्थात् संगीतोपयोगी ध्वनि के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसीलिए **शाङ्गर्देव ने संगीतरत्नाकर** में स्वर की व्याख्या इस प्रकार की है-**स्वतो रञ्जयंति श्रोतृचित्तं स स्वर उच्यते।** प्रतिशाख्यों और अन्य वैदिक ग्रन्थों आदि में स्वर यम के ही नाम से अभिहित हुए हैं।

''ऋग्वेद में यदि उदात्तादि स्वरों में थोड़ा सा भी हेरफेर हो, तो अर्थ ही बदल जाता है। **भानुजी दीक्षित** ने 'स्वर' की इस प्रकार व्याख्या की है-**स्वर्यन्तेऽर्था एभिः।** इसका तात्पर्य है कि जिनसे पदों के अर्थ जाने जाएँ वे 'स्वर' कहलाते हैं। इसी अर्थ में 'यम' का भी इस प्रकार निर्वाचन किया गया है। **'(नि) यमयन्तेऽर्था एभिरिति' इति 'यमाः'।** इनमें से स्वर शब्द की तीन व्याख्याएँ और यम शब्द की दो व्याख्याएँ ध्यान देने योग्य हैं-

1. 'स्वर' शब्द स वर्ण के अर्थ में-जिसका बिना किसी दूसरे वर्ण की सहायता से स्वयं उच्चारण हो सके।
2. 'स्वर' शब्द स्वर की उदात्तादि विशेष उच्चारण विधि के अर्थ में-जिससे पदों के अर्थ जाने जाते हैं।
3. 'स्वर' शब्द संगीतोपयोगी ध्वनि के अर्थ में।''[3]

स्वर या यम की संख्या

---

* शोध छात्रा, वाद्य विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
** प्रोफेसर, वाद्य विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

[1] भारतीय संगीत एक ऐतिहासिक विश्लेषण-डॉ0 स्वतंत्र शर्मा, पृ0सं0 14

[2] भारतीय संगीत का इतिहास-डॉ0 ठाकुर जयदेव सिंह, पृ0सं0 14

[3] भारतीय संगीत का इतिहास-डॉ0 ठाकुर जयदेव सिंह, पृ0सं0 16

कहा जाता है कि सामगान में पहले केवल तीन स्वरों का प्रयोग होता था उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। आगे चलकर एक-एक करके स्वर और बढ़ते गए और इस वैदिक काल में ही सामगान सप्तस्वरों में होने लगा। इसका प्रमाण ''**सप्त स्वरास्तु गीयन्ते सामिभिः सामगैबुधैः**''[4] ''**माण्डुक्य-शिक्षा**'' की इस पंक्ति से भी प्राप्त होता है।

पाणिनी शिक्षा तथा नारदीय शिक्षा में निम्नलिखित श्लोक मिलता है। इसके आधार पर सप्त स्वर, उनके उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के अन्तर्गत इस प्रकार आते थे-

उदात्तेनिषादगांधारो अनुदात्त ऋषभधैवतो,

स्वरित प्रभवा ह्येते षड्जमंध्यमपंचमा॥

अर्थात्

वैदिक काल में स्वर या यम की संख्या सात निर्धारित हो चुकी थी। यहाँ तक कि स्वर शब्द 'सात' का वाचक हो गया। 'स्वर' शब्द का प्रयोग इस अर्थ में पिंगल के छन्दः शास्त्र में मिलता है, जैसे-

स्वरा अर्धं चार्यार्धम्। 4.14

अर्थात् जहाँ (प्रस्तार में) स्वर अर्थात् सात (गण) होते हैं और आधा (अर्थात् साढ़े सात) वह आर्या छन्द का आधा भाग होता है।

वेदों में स्वर का अर्थ उदात्तादि स्वरोच्चारण विधि भी है। ये स्वर संक्षेपतः उदात्त, अनुदात्त, स्वरित-ऐसे तीन हैं, किन्तु विस्तृत रूप से इस अर्थ में भी स्वर सात हैं।'' महाभाष्य 1.2.33 में ये सात स्वर इस प्रकार हुए हैं-सप्त स्वरा भवन्ति-उदात्तः, उदात्ततरः, अनुदात्तः, अनुदात्ततरः, स्वरितः, स्वरिते य उदातज्ञः सोऽन्येन विशिष्टः एकश्रुतिः सप्तमः।''[5]

अर्थात् उदात्त, उदात्ततर, अनुदात्ततर, स्वरित, स्वरित के आरम्भ में विद्यमान उदात्त जो अन्य उदात्त से भिन्न होता है और एकश्रुति ये सात स्वर होते हैं।

संगीत में स्वरों की तो सात संख्या प्रसिद्ध ही है। वैदिक काल के आदि में इन स्वरों की संज्ञाएँ इस प्रकार थीं-क्रुष्ट प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र और अतिस्वार्य। आगे चलकर संगीत के स्वरों की संज्ञाएँ इस प्रकार हुईं-षड्ज, ऋषभ, गंधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद।

उदात्त, अनुदात्त, स्वरित

उदात्त, अनुदात्त, स्वरित वस्तुतः स्वर नहीं हैं, स्वरों की विशेष उच्चारण विधि है। इसलिए शास्त्रकारों ने इन्हें अच् अर्थात् स्वरों का वर्णधर्म कहा है। धर्म शब्द का यहाँ अर्थ है वैशिष्ट्य। पाणिनी की अष्टाध्यायी पर विद्वद्वर वामनजयादित्य विनिर्मित 'काशिकावृत्ति' उदात्त, अनुदात्त और स्वरित पर अच्छा प्रकाश डालती है। पाणिनी ने उच्चैरूदात्तः सूत्र पर काशिकावृत्ति का भावार्थ इस प्रकार है-उदात्तादि लोक और वेद में स्वर वर्ण के विशेष धर्म हैं। जो स्वर ऊँचा उपलब्ध होता है उसकी उदात्त संज्ञा होती है। ऊँचा का अर्थ है स्थानकृत उच्चत्व। तालु आदि समान स्थान में उर्ध्व भाग से जो स्वर निष्पन्न होता है, उसकी उदात्त संज्ञा होती है।

नीचैरनुदात्तः सूत्र पर काशिकावृत्ति इस प्रकार है-समान स्थान के नीचे के भाग से निकला हुआ स्वर की संज्ञा अनुदात्त होती है, जिसके उच्चारण में गात्रों में ढीलापन आता है। स्वर की मृदुता होती है और कण्ठ का विविर अधिक खुल जाता है।

समाहारः स्वरितः सूत्र पर काशिकावृत्ति इस प्रकार है-उदात्त और अनुदात्त का जिस स्वर में समाहार होता है, वह स्वरित कहलाता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि पहले संस्कृत भाषा में-चाहे वह लौकिक हो चाहे वैदिक-स्वर की एक विशेष उच्चारण विधि थी जिसे उदात्त, अनुदात्त और स्वरित कहते थे। विद्वानों का मत है कि पहले ये निरूक्त इत्यादि ग्रन्थों में भी पाए जाते थे। कई ब्राह्मण-ग्रन्थों में तो ये अभी तक मिलते हैं। धीरे-धीरे लौकिक भाषा से इनका लोप हो गया। ये केवल वेद में अवशिष्ट हैं।

मैकडॉनल ने अपने A Vedic Grammer for Students में पृ0 448 पर लिखा है-''The Vedic, like the ancient Greek, accent was a musical one, depending mainly a pitch, as is indicated both by its not affecting the rhythm of metre and by the name of chief tone udatta raised.'' अर्थात् वैदिक स्वर-धर्म, यूनानी भाषा के स्वर-धर्म की तरह संगीतमय था क्योंकि वह मुख्यतः स्वर की तारता पर अवलम्बित था। यह तथ्य दो कारणों से स्पष्ट हैं-एक तो इन स्वर-धर्मों के कारण छन्द में कोई परिवर्तन नहीं होता, दूसरे मुख्य शब्द 'उदात्त', जिसका अर्थ है 'ऊँचा या उठा हुआ' स्वर की तारता की ओर ही इंगित करता है। फॉक्स स्ट्रैंग्वेज़ ने अपने पुस्तक Music of Hindustan के पृष्ठ 46 पर लिखा है, ''The Rigveda is recited now, as it has always been, to three tones, for the accent was originally a mark of musical pitch....'' अर्थात् ऋग्वेद का तीन स्वरों में सर्वदा पाठ होता आया है। इसका उदात्त इत्यादि वर्णधर्म पहले तारता का द्योतक था।

आर्नोल्ड बाके की भी यही धारणा है-''The way of chanting the Rigvedic hymns has definite musical importance, as the three accents employed, the Udatta, the Anudatta and the Svarita, denote a distinct difference in pitch.'' अर्थात् ऋग्वेद के मन्त्रों के गुंजन का

[4] भारतीय संगीत एक ऐतिहासिक विश्लेषण-डॉ0 स्वतंत्र शर्मा, पृ0सं0 17

[5] भारतीय संगीत का इतिहास-डॉ0 ठाकुर जयदेव सिंह, पृ0सं0 14

विशिष्ट सांगीतिक महत्त्व है, क्योंकि उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ये वर्ण-धर्म तारता के विशेष भेद को व्यक्त करते हैं।

कुछ मनोवैज्ञानिकों का मत है कि भाषा और संगीत दोनों का प्रादुर्भाव एक ऐसी ध्वनि से हुआ है जो कि न पूर्णतः भाषा ही थी और न पूर्णतः संगीत ही। वह अपने में दोनों के गुणों को समेटे हुए थे। उसे भाषा-संगीत या संगीतमय भाषा कह सकते हैं। आगे चलकर इस आदि ध्वनि की दो शाखाएँ हो गयीं-एक संगीत जिसमें ध्वनि ने तारता और लय का रूप ग्रहण किया और दूसरी भाषा जिसमें ध्वनि ने स्वर और व्यंजन का रूप ग्रहण किया। सम्भवतः वैदिक मन्त्रों में इस संगीतमय भाषा का एक विकसित रूप सुरक्षित है। वैदिक मन्त्रों का सस्वर पाठ उदात्त, अनुदात्त और स्वरित वर्ण-धर्मों के कारण संगीतमय लगता है।

अथर्व प्रतिशाख्य में लिखा है-**समानयमेऽक्षरमुच्चैरनुदात्तम्, नीचैरनुदात्तम्, अक्षिप्तं स्वरितम्, स्वरितस्यादितो मात्रार्धमुदात्तम् (1, 14-17);**

एक ही स्थान में ऊँचा स्वर उदात्त होता है, नीचा अनुदात्त होता है, अक्षिप्त (गिरता हुआ) स्वर स्वरित होता है। स्वरित की पहली आधी मात्रा उदात्त होती है। स्वरित को तैत्तिरियप्रतिशाख्य ने 'द्वियम' और ऋक्तन्त्रव्याकरण ने 'उन्नीच' कहा है।

वैदिक संस्कृत के समान प्राचीन यूनानी भाषा में भी स्वरधर्म मिलता है। उदात्त के समान यूनानी भाषा में Oxyu और अनुदात्त के समान Baryu शब्द मिलते हैं। Oxyu का अर्थ होता है sharp, acute और Baryu का अर्थ होता है heavy, grave। यही अर्थ उदात्त और अनुदात्त के हैं। यूनानी भाषा में स्वरित के दो समकक्षी शब्द मिलते हैं, Oxyubaria पहला और दूसरा 'दिटोनस' जो कि तैत्तरीप्रतिशाख्य के स्वरित पर्यायवाची यिम से बिल्कुल मिलता है।

वेद पाठ में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित की उच्चारण विधि पर बहुत बल दिया जाता है। इसके उच्चारण की शुद्धता को सुरक्षित रखने के लिए इसके साथ हस्तचालन के साहचर्य का नियम वेद-पाठ में अभी तक चला आ रहा है। उदात्त, अनुदात्त, स्वरित के अतिरिक्त एकश्रुति, प्रचय, तानस्वर, प्रावचन स्वर इत्यादि भेद भी हैं। स्वरित के ही नव भेद मिलते हैं-(1) संहितज, (2) जात्य, (3) अभिनिहित (4) क्षैप्र, (5) प्रशिलष्ट (6) तैरोव्यंजन, (7) वैवृत्त अथवा पादवृत्त, (8) तैरोविराम, (9) प्रतिहित।

यद्यपि ऋग्वदे संगीत का ग्रन्थ नहीं है, तथापि उदात्त, अनुदात्त, स्वरित इत्यादि स्वरा-धर्मों से उच्चारित होने से उसका पाठ मधुर, संगीतमय लगता है। ऋग्वेद के मन्त्र संगीतमय हैं और सस्वर पाठ करने के लिए उक्त स्वर-धर्मों का प्रयोग होता है।

ऋग्वेद का स्वरांकन

वेद में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित इत्यादि स्वर-धर्मों का इतना महत्त्व था कि भ्रांति निवारण के लिए इनके चिन्ह बना लिए गए और वे मन्त्रों के वर्णों पर अंकित कर दिए गए। साथ ही उक्त स्वरों के उच्चारण के साथ हस्तचालन की प्रक्रिया भी निर्धारित कर दी गयी जिससे उनके उच्चारण में कोई अशुद्धि या भ्रान्ति न होने पाए। वेद का स्वरांकन संसार का सबसे प्राचीन स्वरांकन है।

वेद में मन्त्र दो प्रकार के हैं-निर्भुज और प्रतृण। सायण भाष्य के अनुसार-''जो उच्चारण सन्धि अर्थात् पूर्व और उत्तर के दोनों पदों के अत्यन्त सन्निकर्ष का विशेष रूप से सम्पादन करता है। वह निर्भुज का रूप है। निर्दिष्ट किए गए हैं भुजा के समान पूर्व और उत्तम शब्द जिस संहितारूप उच्चारण में वह उच्चारण निर्भुज कहलाता है। जो पहले और बाद के दोनों अक्षरों को शुद्ध अर्थात् विकार-रहित रखकर उनका स्पष्ट उच्चारण करता है, वह प्रतृण कहलाता है।'' संक्षेप में निर्भुज शब्द 'संहिता' का वाचक है और प्रतृण 'पद' का।

अनुदात्त-जिस अक्षर के नीचे पड़ी रेखा हो उसे अनुदात्त समझना चाहिए। यथा-

'अग्निमीळे पुरोहितम्

यहाँ 'अ' और 'पु' के नीचे पड़ी रेखा है। अतः इनका उच्चारण उदात्त है।

स्वरित-जिस अक्षर के ऊपर खड़ी रेखा हो उसे स्वरित समझना चाहिए। ऊपर से मन्त्र में 'मी' और 'हि' के ऊपर खड़ी रेखा है। अतः इनका उच्चारण स्वरित है।

उदात्त-जिससे पूर्व कोई स्वर न हो अथवा जिसके पूर्व में अनुदात्त हो ऐसा चिन्हरहित अक्षर उदात्त होता है। यथा-

अग्रे यं यज्ञमध्वरम्

इस मन्त्र में 'अग्रे' में जो 'अ' है उससे पूर्व कोई स्वर नहीं है। अतः इस 'अ' का उच्चारण उदात्त है। 'य' के पूर्व में 'ने' अनुदात्त है, अतः 'यं' का उच्चारण उदात्त है। 'ज्ञ' और 'र' भी चिन्हरहित है, अतः इनका भी उच्चारण उदात्त है।

वेद में इन स्वरों का दो प्रकार से महत्त्व हैं एक तो मन्त्रोच्चारण में, दूसरे अर्थ के निश्चिय में। हमारे ऋषियों का विश्वास रहा है कि शब्द या ब्रह्म है और यदि हम ऋचाओं या मन्त्रों का विशेष प्रक्रिया से उच्चारण करें तो हमारा मन शब्द ब्रह्म के सम्पर्क में शीघ्र आ सकता है। इस विशेष उच्चारण-विधि में उदात्त, अनुदात्त स्वरित इत्यादि स्वरों का बहुत महत्त्व है। इन स्वरों का नियत स्थान पर और विधिवत् उच्चारणन करने से मन्त्र के वर्णों के स्पन्दन में अन्तर हो जाता है। अतः उच्चतर शक्तियों के सम्पर्क में आने में भङ्ग उपस्थित होता है। साथ ही अर्थ में भी भ्रान्ति उत्पन्न होती है। इन स्वरों में भेद होने से अर्थ का अनर्थ हो जाता है।

पाणिनीयशिक्षा में **'दुष्टो मन्त्रः'** पाठ है, नारदीयशिक्षा में **'मन्त्रो हीनः'**। अर्थ में कोई भेद नहीं है। इसका अर्थ है कि स्वर अथवा वर्ण से अशुद्ध उच्चारित अतः दूषित मन्त्र उस अर्थ को नहीं

कहता (जिसके लिए उसका उच्चारण किया जाता है)। इसका कारण यह है कि एक तो स्वर के शुद्ध प्रयोग न होने से वर्ण का वह अपेक्षित स्पन्दन नहीं हो पाता। दूसरे, अर्थ की हानि हो जाने से विपरीत परिणाम होता है। ये स्वर केवल उच्चारण के लिए नहीं हैं, इनका अर्थ पर भी प्रभाव पड़ता है। वेद में बिना इन स्वरों पर ध्यान दिए हुए सच्चे अर्थ का निर्णय हो ही नहीं सकता।

ऋग्वेद में संगीत-विषयक सामग्री

ऋग्वेद में जो संगीत-विषयक सामग्री मिलती है, उससे यह पता चलता है कि इतने पुरातनकाल में भी संगीत के सम्बन्ध में बहुत-सी जानकारी प्राप्त हो चुकी थी और पर्याप्त वाद्य बन चुके थे।

स्वर

ऐसा जान पड़ता है कि ऋग्वेद काल में सात स्वरों की पहचान हो चुकी थी। स्वरों के सम्बन्ध में सायण भाष्य इस प्रकार है-**वाणस्य वाद्यस्य सप्तधातुर्निषादादिसप्तस्वरोपेतो।** सायण ने वाण का अर्थ वाद्य लिया है और 'सप्तधातु' का अर्थ निषादादि सात स्वर माने हैं। सामवेद में तो धीरे-धीरे सातों स्वरों का प्रयोग हो ही गया था।

तत् वाद्य

तत्, तन्तु, तन्त्री इत्यादि शब्द तन् धातु से बने हैं जिसका अर्थ होता है 'फैलाना', 'तानना'। जिस वाद्य में काठ इत्यादि पर तार फैलाकर रखे जाते थे, वे सब तत् वाद्य कहलाते थे। ये आवश्यक नहीं था कि वे तार लोहे, पीतल अथवा ताँबे के ही हों। पहले 'मूँज' अथवा कुश को भी बटकर तार बनाते थे। अतः तारवाले सभी वाद्य 'तत्' कहलाते थे चाहे वे तार किसी भी द्रव्य के बने हों।

ऋग्वेद के काल में सबसे प्रसिद्ध तार का वाद्य 'बाण' अथवा 'वाण' था। ऋग्वेद भर में 'वीणा' शब्द नहीं मिलता, किन्तु इसी अर्थ में बाण अथवा वाण शब्द कई स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है।

'वाण' शब्द का अर्थ सायण ने बतलाया है कि 'सौ तारों से युक्त वीणाविशेष'। 'वण्' धातु का अर्थ है-'शब्द करना'। जो शब्द करता है वह है 'वाण'। इस वाद्य को 'वाण' इसलिए भी कहते थे कि इसमें से ध्वनि निकलती थी। तीर को भी इसीलिए 'वाण या बाण' कहते थे कि उसके छोड़ने पर 'सन्' जैसा शब्द होता है।

उस समय तन्त्रीयुक्त वाद्य का सामान्य नाम 'वाण' था। ठीक इसी प्रकार आगे चलकर सभी तन्त्रीवाद्यों को सामान्य रूप से 'वीणा' कहा जाने लगा। केवल प्रत्येक वीणा की विशेषता बतलाने के लिए उसके पूर्व 'एकतन्त्री', 'सप्ततन्त्री', 'विपञ्ची', 'शततन्त्री' इत्यादि विशेषण लगा दिया करते थे। वाण या बाण धुनुषाकार होता था।

अवनद्ध

अवनद्ध (चमड़े से मढ़े हुए) वाद्यों में निम्नलिखित का ऋग्वेद में उल्लेख हुआ है-

(1) दुन्दुभि-जो आकाश को शब्द से भर दे वह है, 'दुन्दुभि'। इसमें सन्देह नहीं कि वह अवनद्ध ही था। साहित्य में भी इस शब्द का बहुत प्रयोग हुआ है। यह वाद्य अति प्राचीन काल से प्रचलित है।

दुन्दुभि कभी मिट्टी, कभी काँसे की और कभी ताँबे की बनी होती थी। वह सदा चमड़े से मढ़ी हुई होती थी। हरिन की सींग या लकड़ी से बजायी जाती थी। वेदों में जो इसके उल्लेख आए हैं, उनसे यह पता चलता है कि यह संग्राम में, उत्सव में मंगल के लिए अथवा जयघोष के लिए बजाई जाती थी। इसे बोलचाल की भाषा में नगाड़ा या नगारा कहते हैं।

दुन्दुभि का एक प्रकार होता था जिसको 'भूमि-दुन्दुभि' कहते थे। यज्ञ-मण्डप में एक ओर भूमि में गड्ढा खोदकर उसपर चमड़ा मढ़कर उसे चारों ओर से खूँटियों से कस देते थे, इसे भूमि-दुन्दुभि कहते थे। छोटे बैल की पूँछ की हड्डी से इसे बजाते थे।

(2) गर्गर-ऋग्वेद में गर्गर नामक एक और अवनद्ध वाद्य का उल्लेख है-'गर्गर' का सायणभाष्य इस प्रकार है-गर्गरध्वनियुक्तो वाद्यविशेषः। गर्गर का अर्थ है 'गर्गर ध्वनि करने वाला वाद्यविशेष।' यह एक प्रकार का चमड़े का वाद्य था जिसे 'गर-गर' ध्वनि गूँजती थी।

घनवाद्य-धातु या लकड़ी का वाद्य जो आघात से बजता है, 'घनवाद्य' कहलाता है, जैसे-झाँझ, घण्टा, मँजीरा इत्यादि। वैदिक काल में आघाटि नामक घनवाद्य का विशेष प्रयोग था।

सुषिरवाद्य-छेदवाले वाद्य सुषिरवाद्य कहलाते हैं। ऋग्वेद में दो सुषिर वाद्यों का उल्लेख आया है-बाकुर और नाड़ी।

सायण ने बताया है कि 'बाकुर कोई फूँकर बजाने वाला वाद्य था।' मोनियर विलियम्स ने 'संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी' में **'बाकुरं दृतिम्'** का अर्थ दिया है A kind of bagpipe। 'दृति' चमड़े के थैले को कहते हैं। 'बाकुर-दृति' सम्भवतः कोई बैगपाइप जैसा फँकने का वाद्य रहा होगा। दूसरा सुषिर वाद्य जो ऋग्वेद में मिलता है वह है नाड़ी। यह नली होती थी जिसमें छेद बने रहते थे। सम्भवतः नाड़ी में नरकट (रीड) होती थी। सायण ने 'नाळी' का अर्थ लिया है 'वेणु' (बाँसुरी) जैसा वाद्यविशेष।

इन सभी तथ्यों से हमें यह ज्ञात होता है कि वैदिककालीन ग्रन्थों में संगीत के सम्बन्ध में 'ऋग्वेद' को अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। ऋग्वेद में प्राप्त समस्त संगीत विषयक सामग्रियाँ विद्यार्थियों एवं जिज्ञासुओं के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-ग्रन्थकार सूची

1. भारतीय संगीत का इतिहास, सिंह, ठाकुर जयेदव, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी (2010)।
2. भारतीय संस्कृति एक ऐतिहासिक विश्लेषण, शर्मा, डॉ0 स्वतंत्र, टी0एन0 भार्गव एण्ड सन्स, इलाहाबाद 1995।
3. भारतीय संगीत, वीर राम अवतार, प्रकाशन श्रीमती राजरानी जौहर, दिल्ली (1986)
4. शास्त्रीय संगीत का विकास, शर्मा, डॉ0 अमिता, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली (2002)।
5. संगीतायन, शर्मा, अमल दास, आर्य प्रकाशन मण्डल, दिल्ली (1984)।
6. भारतीय कंठ संगीत और वाद्य संगीत (गायन-वादन सुमेल, मिश्रा, डॉ0 अरुण, कनिष्का पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली (2008)।

●

पाणिनिकृतसूत्रेषु सूक्तिविमर्शः

डॉ. भूपेन्द्रकुमार ओझा[*] एवं प्रो. भगवतशरणशुक्लः[**]

संसारेऽस्मिन् शिष्टाचारस्य महत्युपयोगिता वर्तते, प्रायशः देशेषु विदेशेषु च सर्वे मानवाः आतंकवादेन भ्रष्टाचारेण स्वार्थपरतया च पीडिताः सन्लिप्ताश्च सन्ति। अनुशासनविहीनमानवाः आचरणविहीनमानवाः स्वार्थवशीभूतमानवाश्च स्वकल्याणं स्वपरिवारस्य कल्याणं देशस्य कल्याणं च न कर्तुं शक्नुवन्ति। भ्रष्टाचारातंकवादस्वार्थपरतानां नियन्त्रणे वेदवेदाङ्गधर्मशास्त्रपुराणेषु वर्णितसूक्तीनाम् अतीव महत्वपूर्णं स्थानं विद्यते। यथा''आचारः परमो धर्मः''[1]''पापाय परपीडनमिति''[2]।

अत्रेदं ध्येयं विद्यते, यत् सर्वेषु वेदवेदाङ्गधर्मशास्त्रपुराणेषु च सूक्तयो वर्तन्ते तासां सूक्तीनां संग्रहोऽपि वर्तते।

व्याकरणशास्त्रेऽपि लोकोपकारिकाः सूक्तयो विद्यन्ते, परन्तु व्याकरणशास्त्रीयसूक्तीनां संग्रहो न अद्यावधि अवाप्यते।

लोकेऽस्मिन् शब्दार्थावबोधदृष्ट्या व्याकरणस्य महती प्रतिष्ठा उपयोगिता च विद्येते। देशेऽस्मिन् विदेशेषु च व्याकरणशास्त्रप्रवर्तकानाम् आचार्यप्रवराणां पाणिनिकात्यायनपतञ्जलीनां महती प्रतिष्ठा विद्यते। सर्वे विद्वत्तल्लजाः पाणिनिकात्यायनपतञ्जलीन् भगवदिति पदेन व्यवहरन्ति। एवञ्च वैदेशिकाः जनाः आचार्यपाणिनिं वैज्ञानिक इति मन्यन्ते। तथा च सर्वेषु शास्त्रेषु व्याकरणस्य प्राधान्यं प्रतिपादितं शास्त्रकारैः, यथा निरुक्तकारेण यास्केनोक्तं ''तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कात्स्न्र्यम्''[3]। मुखं 'व्याकरणं स्मृतमिति[4] शिक्षाकारेणोक्तम्। ''एकः शब्दः सम्यक्ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुक् भवति[5], इति श्रुतिवचनात् तथा च ''प्रधानं च षडङ्गेषु व्याकरणमिति[6] भाष्यवचनात् च व्याकरणस्य प्रधानत्वं लोकोपकारत्वं च दरीदृश्येते। यदि व्याकरणशास्त्रप्रवर्तकाचार्याणां कृतानां व्याकरणशास्त्रीयसूक्तीनां संग्रहो स्यात् तदा जनाः आदरेण पठिष्यन्ति, तथा च तदनुसारम् आचरणमपि करिष्यन्ति। इति मनसि निधाय अस्मिन् शोधनिबन्धे। पाणिनिकृतानां केषांश्चित् सूक्तिपरकसूत्राणां लोकोपकारकत्वं दर्शयामि।

सूक्तिपरकसूत्राणां सूची

1. ''दाणश्च सा चेत्चतुर्थ्यर्थे''[7]
2. ''पारायणतुरायणचान्द्रायणं वर्तयति''[8]
3. ''धारेरुत्तमर्णः''[9]
4. ''पराजेरसोढः[10]
5. ''सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः[11]
6. ''कन्यायाः कनीन च''[12]
7. ''वन्दिते भ्रातुः[13]

भगवता पाणिनिना षड्विधानि सूत्राणि विरचितानि ''संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च। अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम् इति षड्विधसूत्रेषु मध्ये ''दाणश्च सा चेत्चतुर्थ्यर्थे''[14] आत्मनेपदविधायकविधिशास्त्रमिदम् । समस्तृतीयायुक्तात् इदं सूत्रमनुवर्तते। तदा सूत्रार्थो भवति, यदि सम्पूर्वकदाण्धातुतृतीयान्तेनयुक्तं स्यात् तर्हिधातोः लकारे आत्मनेपदं भवति। एवं च सा तृतीयाविभक्तिः यदि चतुर्थ्यर्थे स्यात् तर्हि धातोः आत्मनेपदं भवति।

अस्मिन् स्थले हेतुद्वयं वर्तते, प्रथमस्तावत् तृतीयान्तेन युक्तः सम्पूर्वकदाण्धातुःस्यात्। द्वितीयः हेतुः वर्तते, यत् सा तृतीया विभक्तिः चतुर्थ्यर्थे स्यात् । तदा सम्पूर्वकदाण्धातोः प्रयोगे आत्मनेपदं भवति। तदा जिज्ञासा भविष्यति,यत् कुत्र चतुर्थ्यर्थे तृतीया भवति, इति विषये भगवता भाष्यकारेण पतञ्जलिना पातञ्जलमहाभाष्ये समाधानात्मकं वार्तिकम् उक्तम् ''अशिष्टव्यवहारे तु तृतीया च विधीयते''[15] अनेन वार्तिकेन ''अशिष्टव्यवहारे तृतीया वा विधीयत आत्मनेदं च'' अत अशिष्टव्यवहारे सम्पूर्वकदाण्धातुप्रयोगे चतुर्थ्यर्थे तृतीया आत्मनेपदं च विधीयेते। कः अशिष्टव्यवहारः इति जिज्ञासायां बालमनोरमाकारेणोक्तम् – ''वैदिकमार्गानुयायिनः शिष्टाः[16] इति शिष्टानां लक्षणमस्ति। तद्भिन्नः वेदमार्गादपेता अशिष्टाः। अशिष्टानां व्यवहारः अशिष्टव्यवहारः तस्मिन् अशिष्टव्यवहारे –अशिष्टाचारे गम्यमाने दाण्धातोः प्रयोगे सति चतुर्थ्यर्थे संप्रदाने तृतीया भवति। ''दास्यै कामुकः प्रयच्छतीत्यर्थः कामुकः इत्यनेन रत्यर्थति गम्यते। दास्यां रतिः धर्मशास्त्रनिषिद्धत्वादशिष्टव्यवहारो विद्यते।

वस्तुतः सम्प्रदानमित्यस्याभिप्रायो विद्यते। कर्मणा यं सम्बन्धुमिष्यते तस्यसम्प्रदानसंज्ञा भवति। यथा- ''विप्राय गां ददाति'' इति कर्मसंज्ञकेन गवादिद्रव्येण यमभिप्रैति शेषित्वेनाध्यवस्यति स प्रदानमित्यर्थ अतःदेयद्रव्योदेश्यं संप्रदानमिति फलितं भवति। तदा ''चतुर्थी संप्रदाने''[17] इत्यनेन सूत्रेण चतुर्थी भवति। परन्तु दाण्धातुप्रयोगे शिष्टता स्यात् तत्रैव चतुर्थी परस्मैपदं च स्यातां तथा च यत्र दानविषये शिष्टता न स्यात्, अशिष्टव्यवहारः स्यात्, तत्र चतुर्थ्यर्थेतृतीया तथा च आत्मनेपदं स्याताम्। अतः ''दास्या संयच्छते

*पी.डी.एफ., अनुसन्धाता व्याकरणविभागः

** आचार्योऽध्यक्षश्च, व्याकरणविभागः, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकायः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः

कामुकः ''इति अशिष्टव्यवहारो विद्यते शिष्टव्यवहारे तु चतुर्थी भवति, यथा ''भार्यायै संयच्छति''। अत्र भगवता पाणिनिना शिष्टव्यवहारे चतुर्थी स्वीकृता। तथा च अशिष्टव्यवहारे दाण्प्रयोगेऽपि चतुर्थ्यर्थे तृतीया स्वीकृता। अतः अशिष्टव्यवहारो न कर्तव्यः इति ''दाणश्च सा चेत्चतुर्थ्यर्थे''[18] सूत्रस्याशयः। वस्तुतः चतुर्थीविभक्तिस्तु शिष्टार्थे स्यात्, पूज्यार्थे च स्यात्, इति सूत्रकारस्याशयःवर्तते। अतः अत्र दाण्धातोः प्रयोगेऽपि ''दास्या संयच्छते कामुकः'' इत्यत्र चतुर्थी न भवति। ''स्वध्यायान् मा प्रमदः''[19] स्वाध्याये मा प्रमदितव्यः इति विषयकं सूत्रंविरचितं पाणिनिना ''पारायणतुरायणचान्द्रायणं वर्तयति[20] ''प्राग्वतेष्ठञ्''[21] इति सूत्रात् ठञ् अनुवर्तते। पारायणश्च तुरायणश्च चान्द्रायणश्च इत्येतेषां समाहारः पारायणतुरायणचान्द्रायणं, तं वर्तयति इति पारायणतुरायणचान्द्रायणं वर्तयति। इत्यत्र द्वितीयान्तप्रातिपदिकपारायणतुरायणचान्द्रायणे उपपदे वर्तयति इति अर्थे ठञ् प्रत्ययो भवति अनेन सूत्रेण। यः पारायणमधीते सः पारायणिक इत्युच्यते'' तुरायणेनयत् पुण्यं मिलति तत्पुण्यं पारायणेन मिलति। अतः अनेन सूत्रेण पारायणं प्रति पुण्यजनकता दर्शयति। पारायणं वेदाध्ययनं तद्वर्तयति आवर्तयतीत्यर्थः, पारायणिकःछात्रः इदं सूत्रं पारायणस्वाध्यायं प्रति प्रेरको विद्यते। अतः स्वाध्यायो परमं तपः इति वत् इदं सूत्रं वर्तते। भक्तिं प्रति प्रेरकं सूत्र विद्यते ''धारेरुत्तमर्णः''[22] इदं सूत्रम्। ''धृङ्''[23] अवस्थाने- धातोःण्यन्तरूपमस्ति धारि, धारीत्यस्य षष्ठ्यन्तरूपमस्ति धारेः, उत्तमर्णः उत्तम ऋणः उत्तमर्णः इति प्रथमान्तं पदम्।

ऋणम् अन्यस्वामिकं द्रव्यं नियतकाले पुनरर्पणबुद्ध्या गृहीतम् ऋणमित्युच्यते। अत्र ऋणस्य गृहीता अधमर्णः हरिः विद्यते। उत्तमर्णज्ञानात्पूर्वम् अधर्मस्य ज्ञानमावश्यकम् अतः अधमर्णशब्दःपरिभाषितः अर्धमर्णः अधमं स्वत्वरहितं गृहीतं ऋणं येन सः अधमर्णः।

उत्तमर्णः स्वत्वाधिकारसहितं देयम् ऋणं यस्य सः उत्तमर्णः। भक्ताय मोक्षं धारयति हरिः इति भक्तः उत्तमर्णः विद्यते, तथा च हरिः अधमर्णः विद्यते। कः मोक्ष इति अपरिमितनित्यसुखविशेषो मोक्षो विद्यते। केन प्रकारेण भक्ताय मोक्षं धारयति हरिः, इति विषये पौराणिकैरुक्तं ''तोयं वा पत्रं वा यदा किञ्चित् समर्पितं भक्त्या। तदृणं देवो निःश्रेयसमेव निष्क्रयं मनुते।।[24] मोक्षः ध्रियते इत्यत्र धृङ्धातु अकर्मको विद्यते। हरिः प्रेरयति इत्याकारकवाग्विवक्षायां अकर्मकधातुभिः योगे अण्यन्तावस्थायाः कर्ता, ण्यन्तावस्थायां कर्म संज्ञको भवति। गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणिकर्ता स णौ''[25] इत्यनेन सूत्रेण, तदा ''कर्मणि द्वितीया''[26] इत्यनेन सूत्रेण द्वितीया भवति अण्यन्तावस्थायां कर्तरि मोक्षे, ण्यन्तावस्थायां कर्मसंज्ञत्वेन द्वितीया भवति। तदा भक्ताय मोक्षं धारयति हरिः अर्थात् भक्तसम्बन्धि यो मोक्षं अपरिमितनित्यसुखविशेषं तं मोक्षं हरिः धारयति। इतिवाग्विवक्षायां ''षष्ठी शेषे''[27] इत्यनेन षष्ठी विभक्तिः प्राप्ता तां षष्ठीं प्रबाध्य ''धारेरुत्तमर्णः'' इत्यनेन चतुर्थी कृता भक्तशब्दे भक्तप्रशंसाविषयं सूत्रमिदम् । ''पराजेरसोढ़ः''[28] भगवता पाणिनिना सूत्रमिदम् अध्ययनस्य प्रोत्साहनविषयकं विरचितम्, ''परापूर्वकजि''[29] धातुना योगे असह्यार्थस्य अपादानसंज्ञा भवति तदा-अध्यनात् पराजयते'' प्रयोगः सिद्ध्यति। असोढशब्दस्य ज्ञाने सोढशब्दस्य ज्ञानमावश्यकं विद्यते। ''सह''[30] मर्षणे इत्यस्मात्धातोः ''निष्ठा''[31] सूत्रेण क्तप्रत्यये कृते सह्+क्त इति जाते। तदा ''झषस्तथोऽर्धोधः''[32] इत्यनेन सूत्रेण झषः परे प्रत्ययतकारस्य धकारे कृते ''हो ढः[33] इत्यनेन ढत्वे ''ष्टुना ष्टुः''[34] इत्यनेन ष्टुत्वे ''ढो ढे लोपः''[35] इत्यनेन धातोः ढकारस्य लोपे सढ इति जाते। ''सहिवहोरोदवर्णस्य[36] इत्यनेन सकारोत्तरवर्त्ती अकारस्य ओत्वे कृते सोढः इति जाते,सोढः इत्यस्यार्थोऽस्ति सह्यः न सोढः असोढः असह्यः इत्यर्थः।

पराजयते-इत्यत्र-परा उपसर्गपूर्वकजिजये इत्यस्मात्धातोः ''विपराभ्यां जेः''[37] इत्यनेनात्मनेपदे कृते वर्तमानविवक्षायां पराजयते इति सिद्ध्यति। परापूर्वकजिधातुनायोगे असह्यार्थस्य आपादानसंज्ञा भवति। प्रकृतस्थले अध्ययनात् पराजयते ग्लायतीत्यर्थः ''विद्यार्थीनाम् अध्ययनं तपः''[38] अध्ययनं ब्रह्मयज्ञश्च''[39] विद्याधनं सर्वधनं प्रधानम्''[40] इत्यादिभिः वाक्यैः विद्याध्ययनं सर्वोत्कृष्टं कर्म स्वीकृतम् ग्रन्थकारैः श्रुतिस्मृतिग्रन्थेषु विद्याध्ययनं ज्ञानं चं सर्वोत्कृष्टं कर्मस्वीकृतं महर्षिभिः।''ऋते ज्ञानं न मुक्तिः''[41] ''विद्ययाऽमृतमश्नुते''[42] सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म''[43] इत्यादिभिः उपनिषद्वाक्यैः ज्ञानस्य महत्वं प्रतिपादितम्। मोक्षोऽपि विना ज्ञानं न सम्भवति। इत्याशयेन भर्तृहरिणोक्तं यत् ''इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धसोपानपर्वणाम्। इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः।[44] मोक्षमाणानां कृते इयम् अजिह्मा (अवक्रा) राजमार्गः व्याकरणशास्त्रंविद्यते,इत्याशयेन अध्ययनात् यदा पराजयते ग्लायति तदा असोढः असह्यो भवति। अतः भगवता पाणिनिना अध्ययने प्रोत्साहनार्थं सूत्रं विरचितं ''पराजेरसोढः।

सत्कर्मणि प्रोत्साहनार्थसूत्रं विरचितं पाणिनिना ''सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः''[45] सत् च महत् च परमश्च उत्तमश्च उत्कृष्टश्च इत्येतेषामितरेतरयोगः सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः सूत्रार्थोऽस्तियत् सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः इति सुबन्तप्रकृतयः पूज्यमानत्वप्रकृतसुबन्तैः सह समस्यते सः समानाधिकरणतत्पुरुषः यदा पूज्यमानत्वं स्यात् तदा समासः स्यात्। यदि पूज्यमानत्वं न स्यात् तदा समासो न स्यात्। किं नाम पूज्यमानत्वमिति-उदाहरणे परिलक्षितो भवति। सन्वैद्यः सन् चासौ वैद्यः इत्यस्मिन् विग्रहे सत् शब्दो सम्मानार्थको विद्यते तथा च वैद्यशब्दोऽपि पूज्यमानस्य वाचको विद्यते। अतः वैद्ये पूज्यमानत्वं विद्यते यत् चिकित्साशास्त्रकूलङ्कषज्ञानवत्वं सत्त्वम् इत्यनेन वैद्यस्य पूजा गम्यते। पूर्वनिपातनियमार्थं सूत्रं विद्यते। यदि पूज्यमानत्वं स्यात् तर्हि समासो भवति। यदि पूज्यमानत्वं न स्यात्, तर्हि समासो न भवति, इति सूत्रकारस्याशयः अतः उत्कृष्टो गौः इत्यत्र समासो न भवति, पूज्यमानत्वाभावात्। अत्र उत्कृष्टशब्दस्यार्थो विद्यते- उत् उपसर्गपूर्वकं ''कृष्''[46] धातुरिहोद्धारणार्थक इति। अतः उत्कृष्टशब्दस्यार्थो विद्यते, उद्धृतः उत्कृष्टो गौः पङ्कादुद्धृतः इत्यर्थः। अत्र गो शब्दे पूज्यमानत्वं नास्ति। अतः अत्र समासो न भवति पूज्यमानत्वाभावात् ।

''कन्यायाः कनीन च''[47] भगवता पाणिनिना इदं विधिसूत्रं विरचितम्, अनेन सूत्रेण कन्याशब्दस्य कनीनादेशो अण् प्रत्ययश्च भवतः। वस्तुतः कन्याशब्दः पूज्यमानार्थे प्रयुक्तो वर्तते लोके। परन्तु यदि कन्याशब्दात् अण्प्रत्ययोऽपत्यर्थे भवति, तथा च कन्या शब्दस्य स्थाने कनीनादेशो भवति। परन्तु विरोधो दृश्यतेऽत्र कन्यायाः विवाहात्पूर्वं यदि अपत्यः स्यात् तदा शास्त्रविरोधो भवति। अतः भगवता भाष्यकारेणोक्तम्, ''इदं विप्रतिसिद्धं को विप्रतिषेधः? अपत्यमिति वर्तते, यदि च कन्या नाऽपत्यम् अथाऽपत्यं न कन्या, कन्या चाऽपत्यं चेति विप्रतिषेधः''[48] अतः यदि कन्या स्यात्, तर्हि अपत्यं न स्यात्, अथवा अपत्यं स्यात् तदा कन्यत्वं न स्यात् अतः कन्याशब्दस्य स्थाने कनीनादेशोऽण् प्रत्ययश्च स्याताम् । कन्यावस्थायां कुन्त्या ऋषिदत्तदेवावाहनमन्त्रेण सूर्यदेवः आहूतः । तदा सूर्येण कुन्तीगर्भात् पुत्रकर्णः संजातः। तथा च मत्स्यगन्धयायाः कन्यावस्थायामेव पुत्रः व्यासो जातः। अतः एतादृशस्थलेषु यदि अपत्यार्थे अण्प्रत्ययः स्यात् । तदा कन्याशब्दस्य स्थानेऽपि कनीनादेशः स्यात् । कन्याशब्दस्य प्रसिद्धत्वात् तस्यापत्यं दुर्लभो भवति, लोके निन्दाविषयत्वात् अतः महर्षिपाणिनिना कन्याशब्दस्य स्थाने कनीनादेशोऽण्प्रत्ययौ कृतौ। कानीनोव्यासः कर्णश्च इत्यादौ सिद्ध्यतः ।

''वन्दिते भ्रातुः''[49] भगवता पाणिनिना इदं सूत्रं भातृप्रशंसाविषयकं विरचितं, भातीयसंस्कृतौ भातृणां महत्वपूर्णस्थानं विद्यते। मर्यादापुरुषोत्तमस्य श्रीरामचन्द्रस्य त्रयः अनुजाः भ्रातरः सन्ति। लक्ष्मणभरतशत्रुघ्नाः। ते च भ्रातरः रामं प्रति स्वसुखं समर्पितवन्तः। भरतः प्राप्तराज्यं त्यक्तवान् । लक्ष्मणः स्वसुखं भातृसेवाकृते त्यक्त्वा भार्तृसेवायां संलग्नः आसीत्। लोके भातरौ द्विविधौ भवतः सुभ्राता कुभ्राता चेति। यो प्रशंसार्थेसमासान्तात् भातृशब्दात् कप्प्रत्ययो न भवति, इति सूत्रकारस्य आशयः विद्यते। प्रशस्तः भ्राता यस्य-अस्मिन् विग्रहे ''नद्यृतश्च''[50] इत्यनेन सूत्रेण कप् प्रत्ययः प्राप्तः, परन्तु 'वन्दिते भ्रातुः' अनेन सूत्रेण कप्प्रत्ययस्य बाधो भवति।

सु भ्रातृ + सु इत्यस्मिन् अलौकिकविग्रहे ''अनेकमन्यपदार्थे''[51] इत्यनेन समासः, समासत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां अन्तर्वर्तिनीविभक्त्याः लोपे कृते प्रशस्तभ्राता सुभ्राता इत्यत्र कप्प्रत्ययस्यनिषेधो भवति, इति भातृप्रशंसाविषयकं सूत्रविरचितम्। ''वन्दिते भ्रातुः'' इति सूत्रेण पूजितेऽर्थे कप्प्रत्ययो न स्यात् पूजितभिन्नार्थे कप्प्रत्ययो भवति, यथा – ''मूर्खभ्रातृकः एतादृशानि बहूनि सूक्तिपरकाणि सूत्राणि विरचितानि भगवता पाणिनिना।

सन्दर्भग्रन्थसूची

1. मनुस्मृतिः। 1/108
2. महाभारतम् ।
3. निरुक्तम् ।
4. पाणिनीयशिक्षा।
5. श्रुतिवचनं महाभाष्यम् ।
6. महाभाष्यं प्रथमाह्निकम् ।
7. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः 1/3/55
8. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः 5/1/72
9. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः 1/4/35
10. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः 1/4/26
11. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः 2/1/61
12. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः 4/1/116
13. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः 1/3/55
14. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः1/3/54
15. महाभाष्यवार्तिकम् ।
16. बालमनोरमाटीका वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी।
17. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः 5/1/72
18. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः 5/1/18
19. श्रुतिवचनम् ।
20. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः 5/1/72
21. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः 5/1/18
22. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः 1/4/35
23. पाणिनीयधातुपाठः।
24. पुराणम् ।
25. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः 2/3/2
26. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः 1/4/52
27. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः 2/3/50
28. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः
29. पाणिनीयधातुपाठः
30. पाणिनीयधातुपाठः
31. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः 3/2/102
32. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः 8/2/40
33. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः 8/2/31
34. अष्टध्यायीसूत्रपाठः 8/4/41
35. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः 8/3/13
36. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः 6/3/112
37. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः 1/3/19
38. श्रुतिवचनम् ।

39. श्रुतिवचनम् ।
40. नीतिशतकम् ।
41. ईशावास्योपनिषद् ।
42. ईशावास्योपनिषद्।
43. तैत्तिरीयोपनिषद् ।
44. वाक्यपदीयब्रह्मकाण्डम्
45. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः 4.2.116
46. पाणिनीयधातुपाठः।
47. अष्टाध्यायी सूत्रपाठ : 4.1.116
48. महाभाष्यं कन्यायाः कनीन च इति सूत्रे ।
49. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः 5/1/157
50. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः 5/1/153
51. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः 2/2/24

●

ग्रहाणां मन्दस्पष्टीकरणविमर्शः

अश्विनीयपाण्डेय एवम् प्रो. विनयकुमारपाण्डेय***

अस्माकमृषिमहर्षयः वेधविधिना वा स्वतपोबलवशाद् ग्रहाणां युगे कल्पे वा भगणाः पठिताः। तद्वशात् ग्रहाणां युगीय भगणाः समूहस्य युगीयसावनदिवसैः विभज्य ग्रहस्यैकदिनसम्बन्धिनी गतिर्ज्ञायते। सा गतिः मध्यमा एव। तया नियतया गत्या मध्यमो ग्रहः क्रान्तिवृत्ते भ्रमतीति कल्प्यते। तथा च कस्मिंश्चिन्नियतदिने वेधविधिना ग्रहस्य स्पष्टस्थितिर्ज्ञायते। एतेनागतंस्पष्टग्रहँ मध्यमः प्रकल्प्य विलोमविधिना ग्रहाणां मध्यमा स्थितिर्ज्ञातुं शक्यते – यथोक्तम-

स्फुटं ग्रहः मध्यखगं प्रकल्प्य कृत्वा फले मन्दचले यथोक्ते ।
ताभ्यां मुहुर्व्यस्तधनर्णकाभ्यां सुसंस्कृतो मध्यखगो भवेतसः।।[1]

अपि च

तन्मान्दमसकृत् वामं फलं मध्यो भवेद्रविः।।[2]

सिद्धान्तग्रंथेषु कल्पादित एतादृशीगणना तंत्रग्रन्थेषु युगादितः करणग्रन्थेषु शकसम्वत्सरस्य कंस्मिंश्चिन्नियतदिनवाशात् सा गणना क्रियते। कल्पारम्भतः सृष्टिप्रवृत्तिप्रकल्पनया सर्वेऽपि ग्रहाः कल्पारम्भे निरक्षेदेशे (लङ्कायां वा) सूर्योदयकाले मेषादावासन्निति कल्प्यते। यथाहि भास्करः

दशशिरः पुरि मध्यमभास्करे क्षितिजसन्निधिगे सति मध्यमः[3]

सौरमतानुसारं मध्यरात्रौ तादृशी स्थितिः।[4] कल्पस्य कुदिनसंख्याः पठिताः कल्पादितो वर्तमानदिनपर्यन्तं या संख्या तत् अहर्गणशब्देनोच्यते, ग्रहाणां भगणपूर्तिकालोऽपि सिद्धान्तग्रन्थेषु पठिताः वर्तते। अतः यदि कल्पकुदिनैः कल्पीयग्रहभगणाः लभ्यन्ते तथा अहर्गणैः (वर्तमानदिनपर्यन्तं) किम्? इति त्रैराशिकेन ग्रहाणां गतभगण-राशि-अंश-कला-विकला-प्रतिविकलादयः ज्ञायते। भगणानामप्रयोजकत्वात् भगणान् विहाय शेषं राश्यादिकं मध्यमग्रहो भवति। निरक्षमध्यमग्रहे देशान्तरसंस्कारं सम्पाद्य स्वनिरक्षे मध्यमसूर्योदयासन्नकाले मध्यमो ग्रह ज्ञायते। तत उदयान्तरसंस्कारेण स्वनिरक्षदेशे चरसंस्कारेण च स्वदेशीयसूर्योदयकाले मध्यमो ग्रहो भवति। ततः मन्दफल-शीघ्रफल-संस्काराभ्यां स्पष्टो ग्रहो भवति। सूर्याचन्द्रमसोः साधनं केवलेन मन्दफलेन भवत्येव। अत एवोक्तं- भास्करेण

दलीकृताभ्यां प्रथमं फलाभ्यां ततोऽखिलाभ्यामसकृत् कुजस्तु।
स्फुटौरवीन्दू मृदुनैव वैद्यौ शीघ्राख्यतुंगस्य तयोरभावात्।।[5]

मन्दफलेन साधितो स्वदेशीयसूर्योदयकाले मध्यमो ग्रहो मन्दस्पष्टो भवति। अत एव मन्दफलसंस्कारस्य परिभाषा प्रथमस्तावदुपस्थाप्यते।

मन्दफलसंस्कारः- येन फलेन संस्कृतो मध्यमग्रहो मन्दस्पष्टो भवति तन्मन्दफलम्। अतः मध्यमग्रहः ±मन्दफलः = मन्दस्पष्टो ग्रह इति वक्तुं शक्यते। मन्दफलस्योत्पत्तिः विषये भास्करेण स्वकीयसिद्धान्तशिरोमणेः गोलाध्याये उक्तम् –

यस्मिन् वृते भ्रमति खचरो नाऽस्य मध्यं कुमध्ये।''[6]

वस्तुतस्तु सिद्धान्तग्रन्थेषु भगोलस्य केन्द्रं भूरेव कल्पितम्। परमिदं ग्रहकक्षावृत्तस्य केन्द्रं नास्ति। ग्रहाः प्रतिवृते भ्रमन्ति यस्य केन्द्रं भूकेन्द्रादन्यत्र वर्तते। यस्मिन् वृत्ते मध्यमो ग्रहो भ्रमति तन्मन्दप्रतिवृत्तम् भूकेन्द्रात् दूरतरप्रदेशे यो बिन्दुः स्थितस्तस्य मन्दोच्च संज्ञा यश्च निकटतरप्रदेशे स्थितस्तस्य नीचसंज्ञा[7] सूर्यसिद्धान्तानुसारमुच्चो ह्यकर्षको अदृश्यरश्मिसूत्रेण वद्धो मध्यमो ग्रह उच्चाभिमुखमाकृष्यते। तदाकर्षेणन प्रभावेण यत्र ग्रहो भूस्थैर्जनैरवलोक्यते तत्र मन्दस्पष्टो ग्रहो भवति तथा मन्दोच्चशब्दनैव ज्ञायते। मद्रोच्चस्थाने ग्रहस्य गतिः (मन्दस्पष्टागतिः) परमाल्पा मन्दनीचे परमाधिकाः भवति। अतः मन्दोच्चस्थानज्ञानार्थं सूर्याचन्द्रमसोः प्रतिदिनं वेधेन स्फुटगतयः ज्ञायन्ते एवं यदा गतेः परमाल्पत्वं दृश्यते तदा मध्यम एवं सूर्यः चन्द्रो वा स्पष्टो भवितुमर्हति तत्तुल्यमेव राश्यादिकं मन्दोच्चमिति। अन्येषां ग्रहाणां मन्दोच्चस्थानज्ञानार्थं स्फुटग्रहाद् विलोमसंस्कारेण मन्दस्पष्टो ग्रहो ज्ञातव्यः दिनद्वयान्तरं च मन्दस्पष्टागतिः। एवं प्रत्यहं गणितेनानित- मन्दस्पष्टागति यदा परमाल्पा तदा तत्तुल्यराश्यादिकं तद् तद् ग्रहसम्बन्धिनी मन्दोच्चमिति। **भारतीयज्योतिषेश्रीशङ्करबालकृष्णदीक्षितमहोदयानुसारं ग्रीकदेशीयाहीपार्कस-टालमीप्रभृतयः गणकाः मन्दोच्चस्य गतिं न जानन्ति स्म मन्दोच्चगतिज्ञानं भारतीयगणकानां सूक्ष्मवेधत्वं प्रकटयति।**[8]

मन्दकेन्द्रम्- मध्यमग्रहमन्दोच्चयोरन्तरं मन्दकेन्द्रं भवति।

मन्दोच्चं ग्रहवर्जितं निगदितं केन्द्रं तदाख्यं बुधैः।।[9]

---

*लब्धस्वर्णपदकद्वयम्, शोधच्छात्रः, ज्योतिषविभागः, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

** आचार्य, ज्योतिषविभागः, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

मन्दोच्चस्यावस्यकता- वस्तुतस्तु ग्रहाणां गति हेतव: पूर्वप्रतिपादितस्य मन्दोच्चस्य परिभाषया मन्दोच्चस्याकर्षणवशान्मध्यमग्रहो मन्दोच्चाभिमुखमाकृष्यते। तेन मन्दस्पष्टो ग्रहो मध्यमग्रहापेक्षयोच्चदिशि दृश्यते। यदा मध्यमग्रहो मन्दोच्चादग्रतो तदा स्पष्टग्रह: पृष्ठतोऽवलोक्यते। अत एव मन्दोच्चान्नीचं यावद् राशिषट्काभ्यन्तरे मन्दफलमृणं भवति। यत: मन्दस्पष्टग्रह: = मध्यमग्रह:-मन्दफलम्[10]। पुनर्नीचस्थाने मध्यममन्दस्पष्टौ ग्रहौ तुल्याकर्षणवशदेकत्रैव दृश्येते। नीचाद् राशिषट्काभ्यन्तरे मन्दोच्चस्याकर्षणवशाद् मन्दस्पष्टो ग्रहो मध्यमग्रहादग्रतस्तिष्ठति। अत एव नीचादुच्चं यावद्राशिषट्काभ्यन्तरे मन्दफलं धनं भवति। यत: मन्दस्पष्टग्रह: = मध्यमग्रह: + मन्दफलम्[11]।

मन्दान्त्यफलज्या- मन्दस्पष्ट-मध्यमग्रहयोरन्तरं प्रतिदिनं ज्ञायते। तन्मान्दफलमिति। उच्चाद्रशित्रयासन्ने फलस्य परमाधिक्यं तज्ज्या समन्दान्त्यफलज्या तत्तु भूकेन्द्रस्य मन्दप्रतिवृतस्य च केन्द्रमन्त्यफलज्यातुल्यान्तरितं तिष्ठति।

मन्दपरिधि:- मन्दान्त्यफलज्यया (त्रिज्या) निर्मितं वृत्तं मन्दप्रतिवृत्तम्। तस्य परिध्यंशा: मन्दपरिध्यंशा: वा मन्दपरिधिरिति। ततु भिन्नं भिन्नमनुपातात् सिद्धयति। यदि त्रिज्यातुल्यव्यासार्द्धेन ३६०° परिध्यंशा: तदा मन्दान्त्यफलज्यातुल्यव्यासार्द्धेन किमिति नियमेन मन्दपरिधे: न्यूनाधिक्यं दृश्यते।

रवेर्मन्दपरिध्यंशा: मनव: शीतगो: रदा।

युग्मान्ते विषमान्ते च नखलिप्तोनितास्तयो:।।

युमान्तेऽर्थाद्रय: खाग्निसुरा:सूर्या नवार्णवा:।

ओजे द्वयगा: वसुयमा रदा रुद्रा गजाब्धय:।।[12]

एवं प्रकारेण भगवता सूर्येण ग्रहाणां मन्दपरिध्यंशा: समविषमपदान्तभेदेन पठित्वा पुनश्च स्पष्टपरिधेरानयनार्थमपि सूत्रं प्रदत्तम् –

ओजयुग्मान्तरगुणा भुजज्यात्रिज्ययोद्धृता:।

युग्मवृत्ते धनर्णं स्यात् ओजादूनेऽधिके स्फुटम्।।[13]

ग्राहा:	समपरिधय:	विषमपरिधय:
सूर्य:	१४°	१३°४०'
चन्द्रमा:	३२°	३९°४०'
मंगल:	७५°	७२°
बुध:	३०°	२८°
गुरु:	३३°	३२°
शुक्र:	१२°	११°
शनि:	४७°	४८°

उपर्युक्त सारण्यां ग्रहाणां मन्दपरिध्यंशा: समविषमपदविभेदेन स्पष्टं दृश्यते। अथ च प्रतिपादितेषु समविषमपदान्तयो: ये मन्दपरिध्यंशा: तेषां स्पष्टीकरणाय समविषमपरिधयोरन्तरं विज्ञाय ग्रहाणां भुजज्यया (यस्य ग्रहस्य परिधय: सन्ति तस्यैव भुजज्या) गुणिता त्रिज्यया भाजिता यल्लब्धं फलम् ततु ओजपरिध्याद् न्यूने सति धनमधिके सति ऋणं समपदान्तीय परिधौ कृते तदा स्पष्टमन्दपरिध्यंशा: भवन्त्येव। अत एव स्पष्टतया वक्तुं शक्यते यद् विषमपदान्तपरिधे: संख्यापठनस्यावश्यकतामन्दफलीयस्पष्टपरिधे: ज्ञानार्थमेव। यदि त्रिज्यातुल्यभुजज्यया (ग्रहभुजज्या) समविषमपदान्तपरिध्योरन्तरं लभ्यन्ते तदा इष्टभुजज्यया किमिति-

$$\frac{(\text{समपरिधि:-विषमपरिधि:}) \times \text{भुजज्या}}{\text{त्रिज्या}} = \text{फलम्}$$

समपरिधि: + फलम् = स्पष्टमन्दपरिधि: (ओजाद् न्यूने)।

समपरिधि: - फलम् = स्पष्टमन्दपरिधि:, (ओजादधिके)।

पुनश्च मन्दोच्चम् - मध्यमग्रह: = मन्दकेन्द्रम्।

आचार्यभास्करमतानुसारं-

मध्यमग्रह:-मन्दोच्चम् = मन्दकेन्द्रम्[14]।

मन्दकेन्द्रस्य राश्यादिस्थितिवशाद् भुजज्या साधनं क्रियते। अर्थात् मन्दकेन्द्रं यदि राशित्रयान्न्यूनं वर्तते तदा तज्ज्या भुजज्या। चेद् राशित्रयादधिकं षड्राशित: न्यूनं तदा षड्राशित: शोधिते सति भुज: तज्ज्या भुजज्या। राशिषट्कादधिकं नवराशित: न्यूनं तदा षड्राशिशोधनेन भुज: तज्ज्या भुजज्या। नवराश्यादधिको तदा द्वादशभिर्शोधनेन भुज: तज्ज्या भुजज्या इति। त्रिराशित: भुजस्य शोधनेन कोटि: तज्ज्या कोटिज्या। यथोक्तम् ग्रहलाघवे-

दो:स्त्रिभोनं त्रिभोर्ध्वं विशेष्यं रसै: चक्रतोऽङ्काऽधिकं स्यात् भुजोनं त्रिभम्।

कोटिरेकैकं त्रित्रिभिर्स्यात् पदं सूर्यमन्दोच्चमष्टाद्रयोऽंशाभवेत् ।।[15]

अथ भुजज्यां संसाध्य स्पष्टमन्दपरिधिभिर्गुणयित्वा भांशैर्भाजिते सति यद् फलं लभते तच्चापीकृते सति मान्दफलम्। कोटिज्या मन्दपरिधिना गुणिते भांशैर्भाजिते तच्चापं कोटिफलमिति। यथोक्तं भगवता सूर्येण –

तद्गुणे भुजकोटिज्ये भगणांश विभाजिते।

तद्भुजज्याफलधनुर्मान्दं लिप्तादिकं फलम्।।[16]

अत्रोपपत्तिः- यदि त्रिज्यातुल्यभुजज्यया (ग्रहसम्बन्धिनी) मन्दान्त्यफलज्या; लभ्यन्ते तदा इष्टग्रहसम्बन्धिनीभुजज्यया किमिति?

$$\frac{\text{मन्दान्त्यफलज्या} \times \text{भुजज्या}}{\text{त्रिज्या}} = \text{इष्टान्त्यफलज्या}$$

इष्टान्त्यफलज्यायाः चापं मान्दफलम्।

पुनश्च यदि त्रिज्यातुल्यग्रहकोटिज्यया मन्दान्त्यकोटिफलज्या लभ्यन्ते तदा इष्टग्रहसम्बन्धिनीकोटिज्यया किमिति?

$$\frac{\text{मन्दान्त्यफलज्या} \times \text{कोटिज्या}}{\text{त्रिज्या}} = \text{इष्टान्त्यफलज्या कोटिज्या}$$

इष्टान्त्यफलकोटिज्यायाः चापं मान्दकोटिफलम्। अत्र त्रिज्यापरिधयोः या निष्पत्तिः सैवान्त्यफलज्यास्पष्टमन्दपरिधयोः। अत एव त्रिज्या स्थाने ३६०° अंशाः मन्दान्त्यफलज्यास्थाने मन्दपरिधेः स्वीकृते न कश्चन दोष आयाति।

$$\frac{\text{मन्दान्त्यफलज्या} \times \text{कोटिज्या/ भुजज्या}}{३६०} = \text{इष्टकोज्या/इष्टज्या}$$

अस्याश्चापं मान्दकोटिफलं/मान्दफलं भवतीति ।

क्षेत्रमाध्ययेन मन्दफलस्वरूपदर्शनम्- अग्रिमे क्षेत्रे 'भू' केन्द्रादभीष्टत्रिज्यया कृतं वृत्तं कक्षावृतम् (भवृत्तम्)। भूकेन्द्रादन्त्यफलज्यातुल्यान्तरात् 'के' केन्द्रात् कृतं मन्दप्रतिवृत्तम्। अस्मिन्नेव मन्दप्रतिवृत्ते वास्तविकग्रहो भ्रमति। कक्षा मन्दप्रतिवृत्तयोः केन्द्रगता रेखा नीचोच्चरेखा प्रतिवृत्ते यत्र लगति तत्र उ स्थले मन्दोच्चस्थानम्। ग्र = प्रतिमण्डले ग्रहस्थानम्।भारतीयज्योतिषपरम्परायां भूकेन्द्रात् मन्दप्रतिवृत्तस्थदृष्ट्युपलब्धग्रहोपरिगतं मन्दकर्णसूत्रम् कक्षावृत्ते यत्र लगाति तत्र 'स' स्थले मन्दस्पष्टग्रहः।प्रतिवृत्तस्थग्रहबिन्दोर्नीचोच्चरेखासमानान्तरा कक्षावृत्तीयतिर्यग्रेखोपरि या लम्बरेखा सा कक्षावृत्ते यत्र लगति तत्र 'म' बिन्दौ गणितागतो मध्यमग्रहो भवति। एतयोरेव कक्षावृत्तयोः मध्यम-मन्दस्पष्टग्रहयोरन्तरं 'मस' चापतुल्यं मान्दफलं भवति।

वस्तुतस्तु आचार्यभास्करेण, भगवता सूर्येण च लोकव्यवहार सम्पादनाय अथ च गणितक्रियायाः लाघवाय सौकर्याय च एतद् रीत्यैव उररीकृत्य मान्दफलं स्थूलं व्यवहारयोग्यं च प्रतिपादितवन्तः अग्रे क्षेत्रापलोकनेन सर्वं ज्ञातुं शक्यते।

क्षेत्रद्वारा साधनं प्रदर्श्यते-

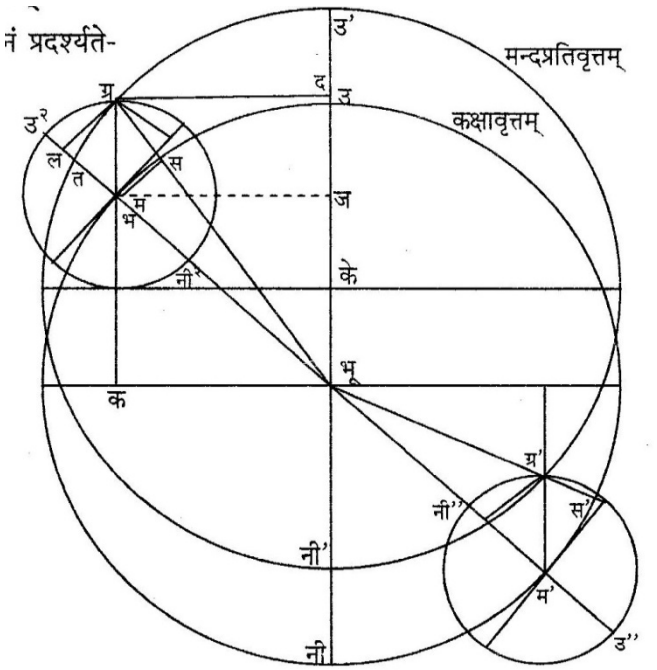

क्षेत्रेऽस्मिन् कक्षावृत्तस्थं मध्यमग्रहस्थानम् 'म', तस्मात् स्थानात् मन्दान्त्यफलज्या त्रिज्यया कृतं उ ग्र नी मन्दनीचोच्चवृत्तम्। अस्य मन्दनीचोच्चवृत्तस्य परिधेरंशाः मन्दपरिध्यंशाः भवन्ति। मन्दफलानयनार्थं विषमसमपदान्तीया परिधिः सर्वेषामपि सिद्धान्तग्रन्थेषु पठितास्सन्ति। अस्मिन् मन्दप्रतिवृत्तापेक्षया प्रतिलोमदिशि ग्रहो भ्रमति।

के भू = उ' उ = नी नी' = ग्र म = मन्दान्त्यफलज्या।

मन्दप्रतिवृत्ते उ' = मन्दोच्चम्, नी' = मन्दनीचम्।

मन्दनीचोच्चवृत्ते $उ^२$ उच्चम्, $नी^२$= नीचम् भू ग = मन्दकर्णः।

म ज = भू क = मन्दकेन्द्रज्या। (मध्यमग्रह मन्दोच्चयोरन्तरं मन्दकेन्दं भवति)

म क = भू ज = केन्द्रकोटिज्या। उ' ग्र = मन्दनीचोच्चवृत्ते केन्द्रम्।

ग्र ल = मन्दभुजफलम्। भूम = त्रिज्या।

स भ = मन्दफलज्या। म स = मन्दफलम्।

क्षेत्रेऽस्मिन् 'भू म क' 'ग्र म ल' त्रिभुजयोः साजात्यादनुपातः-

यदा 'भू म' कर्णे 'भू क' भुजो लभ्यते तदा 'ग्र म' कर्णे किमिति जातः 'ग्र ल' भुजः।

अर्थात्

$$\frac{\text{भू क} \times \text{ग्र म}}{\text{भू म}} = \text{ग्र ल} = \text{केन्द्रज्या} \times \frac{\text{मन्दान्त्यफलज्या}}{\text{त्रिज्या}} \quad \text{मन्दभुजफलम्।}$$

त्रिज्ययोर्निष्पत्ति: परिधिनिष्पत्तिसमा भवति।

अर्थात्-

$$\frac{\text{मन्दान्त्यफलज्या}}{\text{त्रिज्या}} = \frac{\text{मन्दपरिधि}}{३६०^\circ}$$

$$\frac{\text{मन्दकेन्द्रज्या} \times \text{मन्दपरिधि}}{३६०^\circ} = \text{मन्दभुजफलम्।}$$

एतस्यैव मन्दभुजफलस्य चापं सूर्यसिद्धान्तादिग्रन्थेषु स्वल्पान्तरात् मन्दफलरूपेण पठितं वर्तते। तद्यथा-

तद्गुणे भुजकोटिज्ये भगणांशविभाजिते।

तद्भुजज्या फलधनुर्मान्दं लिप्तादिकं फलम्।[17]

परन्तुप्राचीनानां क्षेत्रभङ्गितो मन्दकर्णानुपातेनैव वास्तविकं मन्दफलं 'मस' तुल्यं भवति। अत एव तन्मन्दभुजफलं साधयित्वा पुनश्च 'भूसभ' 'भूग्रल' त्रिभुजयो: सजात्याद् यदा 'भूग्र' भुजायां 'ग्रल' भुजा तदा 'भूस' भुजायां किमित्यनुपातेन वास्तविकमन्दफलचापस्य ज्या 'सभ' भुज आयाति।

$$\frac{\text{ग्र ल} \times \text{भू स}}{\text{भू ग्र}} = \text{सभ} = \frac{\text{भुजफलम्} \times \text{त्रिज्या}}{\text{मन्दकर्ण:}} = \text{मन्दफलज्या।}$$

सूत्रेऽस्मिन् पूर्वागतं भुजफलमानमुत्थापनेन-

$$\frac{\text{मन्दकेन्द्रज्या} \times \text{मन्दपरिधि:} \times \text{त्रिज्या}}{३६०^\circ \times \text{मन्दकर्ण:}}$$

= मन्दफलज्या। एतस्य चापं मन्दफलं सिद्ध्यति।

अत एव एतस्यानयनप्रसङ्गे-

त्रिज्यागुणान् कर्णहृतान् कृत्वा पूर्वोक्तवत् स्फुटान्।

युग्मौजान्तपरिध्यंशान् ततोऽनुपतनात् स्फुट:।।

स्वेष्टमध्यपरिध्यंशै: फलं कार्यं विचक्षणै:।।[18]

इति कमलाकरोक्तया यदा पाठपठितान् परिधीन् त्रिज्यागुणान् कर्णहृतान् कृत्वा पुन: तद्वशात् स्फुटयुग्मौजान्तरपरिधिभ्य: भुजफलानयनं क्रियते तदा भुजफलमेव वास्तविकं मन्दफलं सिद्ध्यति। यतो हि कमलाकरस्य मतानुसारेण स्पष्टमन्दपरिधि:

$$= \frac{\text{पठितमन्दपरिधि:} \times \text{त्रिज्या}}{\text{मन्दकर्ण:}} \text{ ।अत एव } \frac{\text{मन्दकेन्द्रज्या} \times \text{मन्दपरिधि:} \times \text{त्रिज्या}}{३६०^\circ \times \text{मन्दकर्ण:}}$$

$$\text{त्रिज्यावृत्तीयमन्दपरिधि:} \frac{\text{मन्दपरिधि:} \times \text{त्रिज्या}}{\text{।मन्दकर्ण}} = \text{स्प.मन्दपरिधि: गृह्यते}$$

सूर्यसिद्धान्तोक्तं मन्दफलमेव स्फुटं मन्दफलं सिद्ध्यति। भास्करेण प्रसङ्गेऽस्मिन् प्रतिपादितं यत् ग्रहफलवासनातीव विचित्राऽस्ति अतो नियमभेदेन सर्वत्र फलानयनं कृतमस्ति।

अथ च शीघ्रफलसाधने कोटिज्या भुजज्या धनर्णवशाद् शीघ्रकर्णानयनार्थं कोटिज्यायारावश्यकता दृश्यते अत्रापि मन्दकर्णवशादस्माभिर्मन्दफलस्य साधनं क्रियते तदा सूक्ष्ममानमायाति किन्तु मन्दपरिधेरल्पत्वादाचार्यभास्करेण अस्योपयोगिता न दत्तम्। यतो हि श्रूयते सौरसिद्धान्तोक्त मन्दफलसाधने दोष: वर्तते किन्तु यदि गणितेन दृश्यते तदा दोषस्य शमनं स्वत एव जायते। अत एव भास्करेण प्रतिपादितम् –

स्वल्पान्तरत्वान्मृदुकर्मणीह कर्ण: कृतो नेति वदन्ति केचित्।

त्रिज्योद्धृत: कर्ण गुण: कृतेऽपि कर्णस्स्फुटस्स्यात् परिधिर्यतोऽत्र।।

तेनाऽद्यतुल्यं फलमेति तस्मात् कर्ण: कृतो नेति च केचिदुचू:।

नाऽशंकनीयं न चले किमित्थं यतो विचित्राफलवासनाऽत्र।।[19]

अर्थात् मन्दपरिधय: ये अंशा: पठिता: वर्तते ते वृत्तीया: सन्ति तत् कर्णवृत्तीया करणार्थे यदि त्रिज्यावृत्ते इयं मन्दपरिधि: तदा कर्णवृत्ते किमिति।

$$\frac{\text{मन्दपरिधि:} \times \text{मन्दकर्ण:}}{\text{त्रिज्या}} = \text{कर्णवृत्तीयपरिधि:।}$$

अथ च प्रसङ्गात् कपिलेश्वरशास्त्रिणा विशेषता प्रतिपादिता मन्दफलस्योपपत्तये[२०]

मन्दफलस्य साधने अर्वाचीनानां मतम्- यद्यपि ग्रहभ्रमणमार्गो वृत्तात्मक एव स्वीकृत:, तथापि युग्मायुग्मपदान्ते मन्दपरिधिमानं विभिन्नमेव पठितमस्ति सिद्धान्तज्यौतिषग्रन्थेषु। तेन तेषामन्त्यफलज्या अपि नैकरूपा:। अतो मन्दप्रतिवृत्तकेन्द्राद् ग्रहं प्रति नीतं सूत्रं सर्वत्र न त्रिज्यासमम्।यतो हि तेषां भ्रमणमार्गो सिद्धान्ततो दीर्घवृत्तात्मक एव।परन्तु गणितसौकर्याय भारतीयैर्गणकैर्ग्रहाणां कक्षा वृत्तरूपा एव स्वीकृता: स्वल्पान्तरात्।

भारतीयैर्गणकैर्मन्दोच्चस्य राश्यादिज्ञानार्थे मन्दस्पष्टग्रहस्य गतौ यत्र परमाल्पता दृष्टा तत्रैव तत् कल्पितम्। परं नवीनपाश्चात्यमतस्य विवेचनादेतत् स्थानं ग्रहाणां

वास्तविककक्षायामुच्चस्थानम्। मन्दस्पष्टश्च ग्रह उच्चादुच्चं यावद् भ्रमति। अतो यद्यप्युपपत्तिप्रदर्शनस्थले भूकेन्द्रिका भङ्ग्यो गृहीताः सन्ति, तथापि मन्दस्पष्ट ग्रहाः स्ववास्तवकक्षासु (सूर्यकेन्द्रिकासु) समायान्ति। सूर्यस्यदृश्यकक्षा तु भुव एव वास्तविककक्षा, चन्द्रश्च भुव उपग्रह इति भुवं परितः भ्रमति। अतो मन्दस्पष्टौ द्वाविमौ दृश्येते भूस्थैर्जनैः स्पष्टौ। अन्ये मन्दस्पष्टग्रहास्तु सूर्यकेन्द्रस्थैरेव द्रष्टुं शक्याः। ग्रहाः सूर्यकेन्द्रिकाः समायान्ति, द्रष्टा च भूस्थ इति द्रष्टुः स्थानभेदात् शीघ्रफलसंस्कारेण ते भूस्थैर्जनैर्दृश्याः, अर्थात् स्पष्टा भवन्ति।

एवं मन्दस्पष्टीकरणस्य भारतीयविधिविवेचनया इमे फलितार्थाः-

१. मन्दस्पष्टौ रविचन्द्रौ भूकेन्द्रिककक्षयोर्भ्रमतः। अत एव मन्दस्पष्टावेव तौ स्पष्टौ भवतः, अर्थात् भूस्थैर्जनैर्मन्दस्पष्टराश्यादौ भवतः।

२. मन्दस्पष्टा इतरे ग्रहाः सूर्याभिप्रायिकस्वकक्षासु समागच्छन्ति।

३. यद्यपि ग्रहाणां कक्षा वृत्तरूपा एव स्वीकृता, युग्मायुग्मपदान्तयोर्मन्दपरिधीनां भिन्नत्वात्, तथापि तेषामाकृतिः प्रायशो दीर्घवृत्ताकारा समायाति।

४. भारतीयानां मन्दफलसमीकरणं तस्य संस्कारविधिश्च प्रायशोऽभिनवगणितागतेन मन्दफलेन संस्कारविधिना च तुल्यतां भजते।

५. भारतीयं मन्दगतिफलसमीकरणं तस्य संस्कारविधिरपि प्रायशः पाश्चात्यपद्धतिसदृशी वर्तते।

अतो यद्यपि सिद्धान्तज्यौतिषशास्त्रे मन्दस्पष्टग्रहाणां तादृश्या गतेः कारणादिषु विचारो न कृतस्तथापि गणितदृष्ट्या तेषां पद्धतिरविकला। तया पद्धत्या च स्पष्टीकृता ग्रहाः स्वल्पान्तरेण वास्तवासन्ना एव भवन्तीति।

चन्द्रे विशेषः- केवलं मन्दफलेन संस्कृतश्चन्दः स्पष्टो न भवति। तत्र बहवः संस्काराः क्रियन्ते, तेष्वेकतरः **'इक्वेशन'** नामकः। ग्रीकदेशीयः **'टालमी'** नामको गणक इदं जानाति स्म। अत एव आधुनिकैः पाश्चात्त्यैर्विद्वद्भिस्तस्यातीव प्रशंसा कृता। एषु संस्कारेषु चत्वारो मुख्याः सन्ति। **'भारतीय ज्योतिष'** नामकस्य ग्रन्थस्य कर्त्रा श्रीशङ्करबालकृष्णदीक्षितमहोदयेन प्रतिपादितं यद् यद्यपि भारतीयैर्गणकैः केवलं मन्दफलस्य संस्कारः क्रियते चन्द्रे,तेषां मन्दफल संस्कारे मुख्याः संस्काराः अन्तर्निहिताः सन्ति। अतस्तस्याशयः **'भारतीय ज्योतिष'** ग्रन्थस्य हिन्दीरूपान्तरस्य ४८४ पृष्ठादुद्धियते-

''चन्द्रस्याधुनिकंमन्दफलं ६ अंशाः २७ कलाश्चास्ति। परं मध्यमस्पष्टचन्द्रयोरन्तरकारका अन्येऽपि हेतवः सन्ति। तेषां कारणविशेषात् कदाचिद् मध्यमस्पष्टचन्द्रयोरन्तरं ८°, ८°$\frac{1}{2}$ वान्तरं दृश्यते। अतः स्पष्टचन्द्रं साधयितुं प्रायश्चत्वारिंशत्संस्काराणामावश्यकता। एषु मन्दफलसंस्कारो महत्तमः। चत्वारोऽन्येऽपि संस्कारा महत्त्वपूर्णाः। तेष्वेको **वैरियेशन-** (पाक्षिकं तैथिकं वा) नामकःसंस्कारो वर्तते। तस्योपकरणं **'चन्द्रः-स्पष्टरविः'।** पूर्णिमाया(मन्ते चेदमुपकरणं शून्यं षड्राशितुल्यं वा वर्तते, अतः संस्कारे फलं शून्यम्। **(केरोपनांवग्र ख० को० पृ० ११०)** एषु चतुर्षु**'इक्वेशन'**(च्युति) नामकः। अस्योपकरणं[२१] (संस्कृतचन्द्रस्पष्टरविः) चन्द्रकेन्द्रम्। अस्य प्रथमं पदं पूर्णिमाया(मन्ते च शून्यं वर्तते। अर्थात्तदोपकरणस्य **'चन्द्रकेन्द्रम्'** अंश एवावशिष्यते। इदमुपकरणं राशित्रये राशिनवके वा महत्तमं भवति। तदैतस्य मानं १ अंशः २०.२ कलाश्च वर्तते। अतः पूर्णिमान्तेऽमान्ते च चन्द्रकेन्द्रस्य माने ३ राशिमिते ९ राशिमिते वा **'इक्वेशन'** संस्कारस्योपकरणमेतत्।

०-३ राशि = ९ राशयः **'इक्वेशन'** संस्कारश्च +१ अं, २० कलाः

०+३ रा = ३ राशियः **'इक्वेशन'** संस्कारश्च -१ अं, २० कलाः

९ राशिकेन्द्रे मन्दफलसंस्कारः = ६ अंशाः १७ कलाः।

३ राशिकेन्द्रे मन्दफलसंस्कारः = -६ अंशाः १७ कलाः।

अतः पूर्णिमान्तकालेऽमान्तकाले वा मन्दफलस्य **'इक्वेशन'** फलस्य च योगः

१ अंशः २० कला-६ अंशाः १७ कलाः= -४ अं० ५७ कलाः

१ अंशः २० कला+६ अंशाः १७ कलाः=+४ अं० ५७ कलाः, मानादधिको नास्ति।

अथ संस्कारेष्वेको यस्य मानं ११ कलाः, सूर्ये पूर्वमेव सम्पादितः। चतुर्थसंस्कारफलस्य मानं ७ कला वर्तते **(केरोपन्तीय ग्र० सा० को० पृ० १०५, १११ च)।** अस्य योजनेन ४°५७'+७'=५°०४' समायाति। एतदेषां चतुर्णां संस्काराणां मिश्रफलम्। चत्वारिंशत्संस्कारेष्वितराः ३५ संस्कारा अतीव स्वल्पाः सन्ति। अस्माकं सिद्धान्तग्रन्थेषु चन्द्रस्य परमं फलं ४°५६' तः ५°६'पर्यन्तं वर्तते। अत इदमतीव सूक्ष्मम्''[21] इति। अत एव वस्तुं शक्यते भारतीयमन्दस्पष्टग्रहा अधुनातनीयाः सूक्ष्मा इति।

सन्दर्भ

1. सिद्धान्तशिरोमणौ स्पष्टाधिकारे श्लोकः-४५ ३६।
2. सूर्यसिद्धान्ते त्रिप्रश्नाधिकारे श्लोकः २०।
3. सिद्धान्तशिरोमणौ अहर्गणानयने श्लोकः ४।
4. **'लङ्कायामर्धरात्रिकः'** सूर्यसिद्धान्तस्य मध्यमाधिकारे श्लोकः ५०।
5. सिद्धान्तशिरोमणौ स्पष्टाधिकारे श्लोकः ३५-३६।
6. सिद्धान्तशिरोमणौ गोले छेद्यकाधिकारे श्लोकः ७।
7. सिद्धान्तशिरोमणौ छेद्यकाधिकारे श्लोकः २०।
8. 'भारतीय ज्योतिष' हिन्दी रूपान्तरे, पृ० ४७४।
9. ग्रहलाघवे रविचन्द्रस्पष्टाधिकारे श्लोकः २।
10. सूर्यसिद्धान्ते स्पष्टाधिकारे श्लोकः ५।
11. तत्रैव
12. सूर्यसिद्धान्ते स्पष्टाधिकारे श्लोकः ३४-३५।
13. सूर्यसिद्धान्ते स्पष्टाधिकारे श्लोकः ३६।
14. सिद्धान्तशिरोमणौ स्पष्टाधिकारे श्लोकः १८।
15. ग्रहलाघवे रविचन्द्रस्पष्टाधिकारे श्लोकः १।
16. सूर्यसिद्धान्ते स्पष्टाधिकारे श्लोकः ३९।
17. सू०सि०, स्प०, श्लोक सं० ३९।
18. सिद्धान्ततत्वविवेके, स्पष्टाधिकारे, स्प०, श्लोक सं० २१७-२१८।
19. सिद्धान्तशिरोमणौ गोलाध्याये छेद्यकाधिकारे ३६-३७।
20. सूर्यसिद्धान्तस्य तत्वामृतटीकायां श्लोकः ३९।
21. अर्थान्मुख्यसंस्कारचतुष्टयजनितफलासन्नमेव मन्दफलम्। इयमुपपत्तिर्ग्रन्थकर्त्रा श्रीव्यंकटेशबापूजीकेतकरनिर्दिष्टसरण्यां लिखिता।

विश्वरूपतया भाति विश्वोत्तीर्णमहेश्वरः

*डॉ. सिद्धिदात्री भारद्वाज**

स्वात्ममहेश्वरो न निष्क्रियः निर्गुणः शान्तो मुकुरवद् जडकल्पः प्रत्युत संविद्रूपः उच्छलच्चैतन्यस्वभावः निखिलप्रमातृप्रमाणप्रमेयस्वरूपश्चकास्ति। तथोक्तं दर्शनकान्तारचारिणा श्रीमदभिनवगुप्तगुरुणा—

''अस्थास्यदेकरूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः।

महेश्वरत्वं संवित्त्वं तदत्यक्ष्यद् घटादिवत्॥ इति[1]

मायातः नियतिपर्यन्तं तत्त्वव्रातन्तु महेश्वराद् भेदाभेदभावमाकलयति। अथ भोक्तृतापन्नाय अणवे भोग्यतामाविष्कुर्वन्ती प्रकृतिः महदादिकं पृथिवीपर्यन्तं यत् साक्षात्परम्परया वा सृजति तदेतत्सर्वं भगवतो भेदभावमाश्रयते। शिवः शक्तिः सदाशिवः ईश्वरः शुद्धविद्या माया कला विद्या रागः कालः नियतिः पुरुषः प्रकृतिः बुद्धिः अहंकारः मनः श्रोत्रं त्वक् चक्षुः जिह्वा घ्राणं वाक् पाणिः पादः पायुः, उपस्थः, शब्दतन्मात्रम्, स्पर्शतन्मात्रम्, रूपतन्मात्रम्, रसतन्मात्रम् गन्धतन्मात्रम्, आकाशः वायुः वह्निः सलिलं भूमिश्चेति षट्त्रिंशत्तत्त्वमयतां प्रतिपद्यमानः शिवः विश्वमयतामपि आकलयति। तदेवं स्वातन्त्र्यशक्त्या चिद्घनो भगवान् सर्वथा अक्रमो विलसति तथापि भगवति क्रमो नास्त्येवेति वक्तुं न शक्यते। सदा सृष्ट्यादिकमप्येष स्वात्मनि संबिभर्ति। यदुक्तम्-

सर्वथैवाक्रमेऽप्यस्मिन् क्रमो नास्त्येव नो यतः।

ऋते क्रमावभासन्तु सिध्येदक्रमताऽपि नो।इति

सदा सृष्टिविनोदाय सदा स्थितिसुखात्मने।

सदा त्रिभुवनाहारतृप्ताय स्वामिने नमः।इति च।[2]

तदेवं पञ्चकृत्यपरायणो महेश्वरः स्वच्छः स्वच्छन्दश्च स्वातन्त्र्यादेव मायां शक्तिरूपां गृह्णाति, तदुद्भावितं कञ्चुकपञ्चकमावरणतया यत् स्वीकरोति तदसौ सर्वकर्तृत्वम्, सर्वज्ञत्वम्, निरभिलाषित्वम्, पूर्णत्वम्, नित्यत्वं च संकोचयति ततश्च अल्पकर्तृत्वादिविशिष्टान् जीवान् उद्भासयति यत्र सृष्टिस्थितिप्रलयतिरोधानानि कृत्यानि घटन्ते। परमसौ स्वातन्त्र्येणैव अणूनेनान् अनुगृह्णाति सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वादिसंकोचमपनयति पूर्णप्रमातृतां जनयित्वा तं तमणुं बन्धान्मोचयतीति क्रीडापरायणः लीलारसिकश्चासौ जयति।

षट्त्रिंशत्तत्त्वमयं चैतद् विश्वं प्रतिबिम्बभूतं शक्तेः, बोधभैरवः स्वानधिकमपि अधिकमिवावभासयति यतस्ततोऽसौ विश्वरूपः सन्नपि विश्वोत्तीर्णो विलसति। परामर्शनशीलतया महेश्वरदर्पणस्य मुकुरवैलक्षण्यमवभासते। यदुक्तम्-

''अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीह,

यद्वद् विचित्ररचना मुकुरान्तराले।

बोधः पुनर्निजविमर्शनसारयुक्त्या,

विश्वं परामृशति नो मुकुरस्तथा तु॥[3]

सोऽयं स्वातन्त्र्यवादः ईश्वराद्वयवादापरपर्यायः समुन्मीलितो विभाति। यदुक्तं भगवता अभिनवगुप्तपादेन-

''संवित्स्वभावः परमशिवो भगवान् स्वातन्त्र्यादेव रुद्रादिस्थावरान्तप्रमातृरूपतया नीलसुखादिप्रमेयरूपतया चानतिरिक्तयापि अतिरिक्तयेव स्वरूपानाच्छादिकया संविद्रूपनान्तरीयक-स्वातन्त्र्यमहिम्ना प्रकाशते इत्ययं स्वातन्त्र्यवादः प्रोन्मीलितः। इति।[4]

यत्र यत्स्वच्छं भवति तत्र तस्य प्रतिबिम्बनं भवति। रूपस्वच्छे चक्षुषि, आदर्शे, खड्गे, स्फटिके वा रूपमेव प्रतिबिम्बति न गन्धादिकम्। तद्वद् रसस्वच्छे रसनेन्द्रिये रसप्रतिबिम्बनम्, गन्धस्वच्छे घ्राणे गन्धप्रतिबिम्बनम्, स्पर्शस्वच्छे त्वगिन्द्रिये स्पर्शप्रतिबिम्बनम्, शब्दस्वच्छे श्रोत्रेन्द्रिये तु शब्दप्रतिबिम्बनं जायते। यदुक्तम्-

स्वरूपानपहानेन पररूपसदृक्षताम्।

प्रतिबिम्बात्मतामाहुः खड्गादर्शतलादिवत्॥ इति[5]

सर्वस्वच्छे चिन्नाथे भैरवे सर्वमपि दृश्यं जगत् प्रतिबिम्बितं भवतीति किन्नामाश्चर्यम्?

न चात्र बाह्यं बिम्बमपेक्षितं भवति। बिम्बं विना प्रतिबिम्बं न सम्भवतीति नैष नियमः। बिम्बं हि दर्पणप्रतिबिम्बादौ निमित्तकारणमेव न तु समवायिकारणम् असमवायिकारणं वेति निमित्तस्य नैयत्यानपेक्षणं यतः ततः बिम्बस्थानीयं निमित्तकारणं शक्तिः जगतः ततो न प्रतिबिम्बत्वानुपपत्तिः।

बिम्बं तदेवोच्यते यत् स्वतन्त्रमवभासतेऽथ नान्यत् किमपि अपेक्षते। यत्तु अन्यव्यामिश्रणं विना न भाति तत् प्रतिबिम्बमित्युच्यते। सेयं पारमेश्वरी प्रतिबिम्बभङ्गिर्विलक्षणैवास्ते। यदुक्तम्-

नन्वित्थं प्रतिबिम्बस्य लक्षणं किं तदुच्यते।

अन्यव्यामिश्रणायोगात् तद्भेदाशक्यशासनम्।

*असिस्टेन्ट प्रोफेसर, संस्कृतविभागः, कलासंकायः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः

प्रतिबिम्बमिति प्राहुर्दर्पणे वदनं यथा।इति[6]

कामं जडे जडस्य भाने बाह्यं बिम्बमपेक्ष्यतां किन्तु अजडे बोधभैरवै अजडशक्त्यात्मनो जगतः प्रबोधे बिम्बं नैवापेक्ष्यते। यदुक्तम् अभिनवगुप्तगुरुणा-

तत्र सर्वं विभात्येतत् परमेशितरि ध्रुवे।

प्रतिबिम्बस्वरूपेण न तु बाह्यतया यतः। इति[7]

इत्थं विश्वमिदं नाथे भैरवीयचिदम्बरे।

प्रतिबिम्बमलं स्वच्छे न खल्वन्यप्रसादतः।।इति[8]

नन्वत्र बिम्बं किं स्यात्। मा भूत् किञ्चित्। ननु किमकारणकं तत्? हन्त तर्हि हेतुप्रश्नः। तत् किं बिम्बवाचो युक्त्या, हेतुश्च परमेश्वरशक्तिरेव स्वातन्त्र्यापरपर्याया भविष्यति। विश्वप्रतिबिम्बधारित्वाच्च विश्वात्मकत्वं भगवतः। इतिच[9] **।**

एवञ्च विलक्षणं प्रतिबिम्बनमेतज्जगतः संविन्महेश्वरे यत् तत्स्वातन्त्र्यमेव समाश्रयते। स्वातन्त्र्यं च प्रभोरन्यनिरपेक्षता। प्रभुः स्वतन्त्रोऽभेदे भेदनम्, भेदिते अभेदनं वा कुरुते। न चास्य इच्छाप्रसरः कदाचिद् विहन्यते। यदुक्तम्-

''एक एवास्य धर्मोऽसौ सर्वाक्षेपेण वर्तते।

तेन स्वातन्त्र्यशक्त्यैव युक्त इत्याञ्जसो विधिः।।इति[10]

तृतीये श्रीतन्त्रालोकाह्निके न्यायमतमुपन्यस्य बिम्बप्रतिबिम्बयोरनन्यत्वं तत्सम्मतं विखण्डितम्। श्रीभाष्यकृता समाश्रिता तत्प्रक्रिया तु यथार्थख्यातिपोषणाय केवलमुपयोजिता। तद्यथा-

श्रीभाष्यकृता यथार्थख्यातिसमर्थनाय सुस्पष्टमुच्यते- 'दर्पणादिषु निजमुखप्रतीतिरपि यथार्था दर्पणादिप्रतिहतगतयो हि नायनरश्मयो दर्पणादिग्रहणपूर्वकं निजमुखादि गृह्णन्ति। तत्राप्यतिशैघ्र्यादन्तरालाग्रहणात् तथा प्रतीतिः।' इति।

उपर्युक्तायाः पङ्क्तेः आशयः बिम्बग्रहणाद् अतिरिक्तं किमपि न भवति प्रतिबिम्बग्रहणमिति। योऽयं बिम्बप्रतिबिम्बग्रहणयोः अन्यत्वप्रतिषेधः सुतरामसौ बिम्बप्रतिबिम्बयोरपि अन्यत्वं प्रतिषेधति। दृष्टान्ततया वाक्यमिदं शक्यते समुद्धर्तुम्- **'तमोग्रहणं नाम तेजोऽभावग्रहणमेव'** इति। अनेन वाक्येन ग्रहणयोरुभयोः अनन्यत्वे तद्विषययोः तमसः तेजोऽभावस्य चानन्यत्वमेवावगम्यते न्यायशास्त्रविचक्षणैः। तदेवं दर्पणे प्रतिबिम्बग्रहणस्य बिम्बग्रहणात्मता सुतरामुपपद्यते। एतस्य चोपपादनस्य अन्यथाऽनुपपत्त्या प्रतिबिम्बं न बिम्बादन्यदिति सुतरां प्रमितं भवति। सोऽयमाशयः न शक्यते ग्रहीतुम्। प्रत्युत श्रीभाष्यवचनस्य उपर्युक्तस्यायमभिप्रायः शक्यतेऽवधारयितुम्-

नेत्ररश्मयः एव नेत्ररन्ध्रेण बहिः प्रसृताः दर्पणदेशं गच्छन्ति अथ तं गृहीत्वा सीसकद्रव्यसंयोजनेन ततः प्रतिहता भवन्ति। तदेवं प्रतिस्रोतोरूपेण पुनः मुखदेशं प्रतियान्ति अथ मुखं गृह्णन्ति एवं च उभयोः तयोः देशयोः शैघ्र्यातिशयरूपदोषवशात् अन्तरालाग्रहणेन 'दर्पणे मम मुखं पश्यामीति पुरुषबुद्धिरुदेति। एवं च यद् दर्पणग्रहणं यद् वा मुखग्रहणं तदिदं द्वयमपि यथार्थमेव। तृतीयो योंऽशः स तु न गृहीत इति अनुगृहीतत्वादेव न विवादपदम्। इति।

श्रीमानभिनवगुप्तपादः निरुपादानसम्भारं स्वतन्त्रं महेश्वरमेव सर्वजगन्निर्भासकं समुपपादयति। यथोक्तम्—

'निरुपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते।

जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने।।इति।

संविदेव अभ्युपगतस्वातन्त्र्या अप्रतीघातलक्षणाद् इच्छाविशेषात् संविदोऽनधिकात्मताया अनपायात् अन्तःस्थितमेव सद् भावजातम् इदमित्येवं प्राणबुद्धिदेहादेः वितीर्णकियन्मात्रसंविद्रूपाद् बाह्यत्वेन आभासयतीति तदिह विश्वरूपाभासवैचित्र्ये चिदात्मन एवं स्वातन्त्र्यं किन्नाभ्युपगम्यते स्वसंवेदनसिद्धमिति।[11]

एतदुक्तं भवति– प्रकाशस्वातन्त्र्यमिह बोधसंवेदनादिशब्दवाच्यम्। स्वातन्त्र्यं च नाम यथेच्छं तत्र इच्छाप्रसरस्य अविघातः तेन स्वयं प्रकाशते परात्मना प्रकाशते इति अनवच्छेदकतया प्रकाशमानता, तदेव स्वातन्त्र्यं परात्मना प्रकाशते इति-इति च[12]

गुरुतः शास्त्रतः स्वतश्च प्रत्यभिज्ञोपायम् अवलम्ब्य देहादिप्रमातृताविलापनद्वारा शिवप्रमातृता- सम्प्रकाशनेन साधकस्य कृतार्थता संजायते। तत्र च श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिना ज्ञातस्यापि मोहवशाद् अज्ञातस्य इवाभिमुख्येन हृदयङ्गमीभावेन स्वरूपज्ञानमेव प्रत्यभिज्ञा-इत्युच्यते। सेयं प्रत्यभिज्ञा नितान्तमभ्यर्हिततमा भाति। यदुक्तम् आचार्यरामेश्वरज्ञागुरुणा-

''प्राधीतास्ताश्च विद्या ऋषिमुनिगुरुभी रक्षिता याः प्रयत्नैः

प्राप्तं पीतञ्च पूर्णं गुरुमुखसुलभं ब्रह्म विद्यामृतं यत्।

किन्त्वेषा कापि रम्या समरसरसिका मोक्षयन्ती च भोगान्

शक्तिः स्वीया स्वतन्त्रा विलसति हृदये पूर्णताप्रत्यभिज्ञा।।

एतादृशप्रत्यभिज्ञाप्राणः स्वातन्त्र्यवादः स्वस्मिन् समुद्रात्मनि सर्वागमनदीसंघस्यापो विलापयतीति स्वातन्त्र्यवादो विजयते।

मङ्गलाय पवित्राय निधये भूषणात्मने।

प्रियाय परमार्थाय सर्वोत्कृष्टाय ते नमः॥

प्रभुणा भवता यस्य जातं हृदयमेलनम्।

प्राभवीणां विभूतीनां परमेकः स भाजनम्॥

भक्त्युद्रेकाद् विरक्तस्य जायते यादृशी मतिः।

सा शक्तिः शाङ्करी नित्यं भावयेत् तां ततः शिवः॥

कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते कालकूटमपि मे महामृतम्।

अप्युपात्तममृतं भवद्वपुर्भेदवृत्ति यदि रोचते न मे॥

सर्वाभासावभासो यो विमर्शवलितोऽखिलम्।

अहमेतदिति स्तौमि तां क्रियां शक्तिमीश ते॥

रागद्वेषान्धकारोऽपि येषां भक्तित्विषा जितः।

तेषां महीयसामग्रे कतमे ज्ञानशालिनः॥

इतीदृशमाहात्म्यसंवलितो हि महेश्वरो विश्वोत्तीर्णःविश्वमयश्च स्वातन्त्र्यशक्त्या स्वभावभूतया विलसति। एतदीया शक्तिः विमर्शनाम्नी स्वयमसौ तु प्रकाशनामा अथ प्रकाशविमर्शयोः सामरस्यं संविन्महेश्वर इत्याख्यायते। शक्तिः शिवादव्यतिरिक्तैव तत्स्वभावत्वाद् वह्नेर्दाहिकेव। एका अप्येषा कार्यभेदात् संज्ञाभेदमादधाना पञ्चधा प्रोच्यते- चिदानन्दैषणाज्ञानक्रियाशक्तिसुनिर्भरा। विश्वोत्तीर्णे महेश्वरे चिदानन्दशक्तिविश्रान्तता समुल्लसति।सोऽयं महेश्वरः संविद्रूपतया सृष्टिधर्मा स्वविमर्शशक्त्या विश्वमयो भवन् स्वरूपादप्रच्युतः सन्नेव चिदाद्येकैकशक्तिप्राधान्येन शिव-शक्ति-सदाशिव-ईश्वर-विद्यारूपतां व्रजति। एतेषां पञ्चानां तत्त्वानां शिवाभेदेनैव स्थितिर्भवतीति शुद्धाध्वरूपता प्रथतेतमामेषाम्। अथ स्वातन्त्र्यशक्तिरेकैवेयं यदभेदेऽपि भेदमप्यवभासयति निषेधव्यापारमातन्वती सा मायातत्त्वव्यपदेश्या। मीयते परिच्छिद्यते धरान्तः प्रमातृप्रमेयप्रपंचः यया सा माया, मोहयति विश्वमिति वा माया प्रोच्यते। यदुक्तम् अभिनवगुप्तगुरुणा-

परमं यत्स्वातन्त्र्यं दुर्घटसम्पादनं महेशस्य।

देवी मायाशक्तिः स्वात्मावरणं शिवस्यैतत्।इति[13]

शैवागमदर्शने कलादिधरणीप्रान्तं यज्जगत् तत् प्रति उपादानकारणभूता माया स्वीक्रियते सत्कार्यवादपोषिका। तत्र च क्षोभकृद् ईश्वरोऽधिष्ठातृतयानुमन्यते। ये अनादिभूताः नानाविधाः पुमांसोऽणवः किल भोक्तारः तेषां भोग्यसमर्पणार्थं मायायां क्रियमाणः क्षोभः, मायायाः कलादेःप्रसूतिश्च सार्थकत्वं भजेते। मायातः कला जन्यते, कलातस्तु तत्त्वविस्तरो जायते। महेश्वरस्य संकुचिता ज्ञानशक्तिः विद्या इत्युच्यते क्रियाशक्तिस्तु कला इत्युच्यते। किञ्चिदेव- इत्येवम् अवच्छिन्नमेव करोति- घटं कर्तुं प्रभवति चेद् न पटादिकमित्येतद् अणोः कलातत्त्वमित्युच्यते। यदुक्तं-

तत्सर्वकर्तृता सा संकुचितकतिपयार्थमात्रपरा।

किञ्चित्कर्तारममुं कलयन्ती कीर्त्यते कला नाम।इति[14]

यत्तु किञ्चिदेव घटादिकं जानामि पुरोवर्ति, न तु दूरव्यवहितं वस्तु तदेतदुच्यते विद्यातत्त्वम्। यदुक्तम्-

सर्वज्ञतास्य शक्तिः परिमिततनुरल्पवेद्यमात्रपरा।

ज्ञानमुद्भावयन्ती विद्येति निगद्यते बुधैराद्यैः।इति[15]

सर्वात्मना या किल अपूर्णम्मन्यता, सर्वं मम इदम् उपयुज्यते भूयासम्, मा कदाचिन्न भूवम् - तदेतद् रागतत्त्वमित्युदीर्यते। यदुक्तम्-

''रागोऽपि रञ्जयत्येनं स्वभोगेष्वशुचिष्वपि।' इति

माययावृतशक्तिः अधुनैव जानामि, अधुनैव करोमि- इत्येवं ज्ञानक्रियास्वरूपेण भावान् आकलयन् यद् अवच्छिनत्ति तदेतत् कालतत्त्वम्-इत्याख्यायते। यदुक्तम्-

मायीयं यच्च कर्तृत्वं क्रियया रूषितं पशोः।

भावाभावावभासात्मक्रमरूपाच्च कालतः।

करोम्यहं करिष्यामीत्याद्यात्मन्यवभासते।

ततः कालपरिच्छिन्नकर्तृत्वप्रविभासकम्॥

कालतत्त्वमिदं प्रोक्तं कञ्चुकान्तर्गतं पुनः। इति[17]

यच्चासौ नियतात् कारणात् नियतं कार्यम् अर्थयते- यथा वह्नेरेव धूमः, इत्येवम् अश्वमेधादेव स्वर्गफलम् इत्येवं वा पुण्यादिना आत्मनो नियमनं तदेतदुच्यते नियतिरिति। यथोक्तम्-

नियतिर्नियोजयत्येनं स्वके कर्मणि पुद्गलम्।इति[18]

तदेवं भेदात्मकं सांख्यसम्मतं पञ्चविंशतिसंख्याकं तत्त्वजातं शैवागमदर्शनेऽपि समादृतं विद्यते। तदतिरिक्तम् भेदाभेदात्मकं मायादिनियत्यन्तं कञ्चुकषट्कमिव अभेदात्मकं शिवादिशुद्धविद्यान्तं शुद्धाध्वसंज्ञकं तत्त्वपञ्चकमपीह समाद्रियते। ततश्च षट्त्रिंशत् तत्त्वस्वरूपविश्वरूपताऽपि प्रभोः विश्वोत्तीर्णस्य सुतरां संघटते सृष्ट्यादिपञ्चकृत्यपरायणस्य महेश्वरस्येति तमेव स्वात्मानं शरणीकरवाणि—

अनुत्तरं परं देवं स्वतन्त्रं चिन्मयाद्वम्।

निराशंसं निजानन्दं वन्दे स्वात्ममहेश्वरम्॥

पादटिप्पणी–

1. श्रीतन्त्रालोकः,आ0- 1, पृ0 192
2. उद्धृतम् आगमसंविद्, पृ. 176
3. उद्धृ0 आगमसंविद्, पृ0 176
4. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, पृ0 9

5. श्रीतन्त्रालोकः आ0 - 3, का0 54
6. तदेव 3/56
7. मालिनीविजयवार्तिकम् 1/1037
8. श्रीतन्त्रालोकः 3/65
9. तन्त्रसारः, पृ011
10. श्रीतन्त्रालोकः 1/67
11. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिः, खण्ड-1, पृ0 184
12. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, पृ0 82
13. परमार्थसारः कारिकासं0 28
14. षट्त्रिशत्तत्त्वसन्दोहः, 08
15. तदेव, 09
16. मालिनीविजयोत्तरतन्त्रम् 1/28
17. पूर्णताप्रत्यभिज्ञाकारिका 2/534-536
18. मालिनीविजयोत्तरतन्त्रम् 1/29

●

वानप्रस्थाश्रमविमर्शः

*डॉ. सन्तोषकुमारतिवारी**

भारतीयसंस्कृतौ आश्रमस्य बहुधा महत्त्वमुपवर्णितमस्ति। एष आश्रमः सनातनसंस्कृतेः स्तम्भरूपेण राजते। एतस्याभावे तु सम्पूर्णापि वैदिकी अस्माकमार्षसंस्कृतिरुच्छेद्यतामापद्यते एतामेवाधारीकृत्य सर्वा अपि प्रवृत्तयः सञ्चालिता भवन्ति। अत एव प्रायः सर्वत्रैव आश्रमविषयश्चर्चितः। यद्यपि ऋग्वेदे चतुर्णामाश्रमाणां स्पष्टमुल्लेखो नैव प्राप्यते तथापि ब्रह्मचारी, गृहपतिः; यतिर्मुनिर्वा शब्दः प्रयोगविधया प्राप्यन्ते। ऐतरेयब्राह्मणे तैत्तिरीयसंहितायां शतपथब्राह्मणे च स्पष्टरूपेण प्राप्यन्ते। तद्यथा- **ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्। गृही भूत्वा वनी भवेद् वनी भूत्वा प्रव्रजेत्।**[1]

आश्रमशब्दार्थः- 'आङ्+श्रम+घञ्' शास्त्रोक्तधर्मविशेषः। आश्राम्यन्ति स्वं स्वं तपश्चरन्त्यत्र। एष आश्रमो ब्रह्मचर्यगृहस्थवानप्रस्थसंन्यासाख्येन चतुर्विधः। तत्र प्रथमाश्रमो ब्रह्मचर्याश्रमः, द्वितीयाश्रमो गृहस्थाश्रमः, तृतीयाश्रमो वानप्रस्थाश्रमः, चतुर्थाश्रमश्च संन्यासाख्य इति।

वानप्रस्थाश्रमशब्दार्थः- वने प्रकर्षेण नियमेन च तिष्ठति चरतीति वनप्रस्थः वनप्रस्थ एव वानप्रस्थः। संज्ञाया दैर्घ्यम्। यः वने नियमपूर्वकेन निवासं करोति सः वानप्रस्थः। किन्तु एतत् विषये क्षीरस्वामी अनेन प्रकारेण व्युत्पत्तिः कृतवान्। ''**प्रतिष्ठन्ते अस्मिन् प्रस्थः, वनप्रस्थो भावो वानप्रस्थः वैखानसाख्यः**'' बृहत्पराशरस्मृतौ वैखानसः वानप्रस्थाश्रमस्य एकं प्रकारं वर्तते। अस्यां स्मृतौ वानप्रस्थस्य चतुर्प्रकारा उद्धृतमासीत्। यथा-

वानप्रस्थश्चतुर्भेदो वैखानस उदुम्बरः।

वालखिल्यो वनेवासी तल्लक्षणमधोच्यते।।[2]

तथा च बौधायनमतानुसारेण वानप्रस्थः द्वैविध्यम्। **पचमानका अपचमानकाश्चेति।।** अपचमानकः यः स्वस्यकृते भोजनं न पचति। तत्र पचमानका पञ्चविधाः- **सर्वारण्यकाः, वैतुषिकाः, कन्दमूलभक्षाः, फलभक्षाः, शाकभक्षाश्चेति।।**[3]

सर्वारण्यकस्य भेदद्वयं वर्तते- प्रथमः- **इन्द्रावसिक्तः,** द्वितीयः- **रेतोवसिक्तः।**

1.इन्द्रावसिक्तः- वल्ली गुल्मलता वृक्षाणामानयित्वा सायं प्रातरग्निहोत्रं हुत्वा यत्यतिथिव्रतिभ्यश्च दत्त्वाऽथेतरच्छेषभक्षाः। **2.रेतोवसिक्तः-** मांसं व्याघ्रवृकश्येनादिभिरन्यतमेन वा हतमानयित्वा श्रपयित्वा सायं प्रातरग्निहोत्रं हुत्वा यत्यतिथिव्रतिभ्यश्च दत्त्वाऽथेतरच्छेषभक्षाः।

वानप्रस्थाश्रमस्य प्रवेशकालः- अयं च वनप्रवेशो जराजर्जरकलेवरस्य जातपौत्रस्य वा। आश्रमसमुच्चयपक्षाश्रितो द्विजातिः कृतसमावर्तन उक्तप्रकारेण यथा शास्त्रं गृहाश्रममनुष्ठाय नियतः कृतनिश्चयो यथाविधानं वक्ष्यमाणधर्मेण यथार्हं विशेषेण जितेन्द्रियः। यथा मनुः-

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः।

वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः।।[4]

ग्राम्यं व्रीहियवादिकं भक्ष्यं सर्वं च गवाश्वशय्यादिपरिच्छदं परित्यज्य विद्यमानभार्यश्च वनवासमनिच्छन्तीं भार्यां पुत्रेषु समर्प्य इच्छन्त्या सहैव वनं गच्छेत्। यथा च मनुः -

सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम्।

पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा।।[5]

गृहस्थो यदाऽऽत्मदेहस्य त्वक्शैथिल्यं पुत्रस्य पुत्रं च पश्यति, तथाविधवयोऽवस्थया विगतविषयरागतया वनमाश्रयेत्। यथा मनुः-

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः।

अपत्यस्यैव चापत्यं तदाऽरण्यं समाश्रयेत्।।[6]

तथा च उक्तवान् याज्ञवल्क्यः -

सुतविन्यस्तपत्नीकस्तया वाऽनुगतो वनम्।

वानप्रस्थो ब्रह्मचारी साग्निः सोपासनो व्रजेत्।।[7]

असौ गृहस्थः सुतविन्यस्तपत्नीकः 'त्वयेयं वरणीया' इत्येवं सुते विन्यस्ता निक्षिप्ता पत्नी येन स तथोक्तः। यदि सा पतिपरिचर्याभिलाषेण स्वयमपि वनं जिगमिषति तदा तयाऽनुगतो वा सहितः। तथा ब्रह्मचारी ऊर्ध्वरेताः साग्निवैतानाग्निसहितः तथा सोपासनो गृह्याग्नि सहितश्च वनं व्रजेत्। 'सुतविन्यस्तपत्नीक' इति वदता कृतगार्हस्थ्यो वनवासेऽधिक्रियत इति दर्शितम्। एतच्चाश्रमसमुच्चयपक्षमङ्गीकृत्योक्तम्। इतरथा 'अविप्लुतब्रह्मचर्यो यमिच्छेत्तु तमावसेत्' इत्यकृतगार्हस्थ्योऽपि वनवासेऽधिक्रियत एव। अयं च पुत्रेषु पत्नीनिक्षेपो विद्यमानभार्यस्य मृतभार्यस्याप्यापस्तम्बादिभिः वनवासस्मरणात्। अतो यत् -

दाहयित्वाग्निहोत्रेण स्त्रियं वृत्तवतीं पतिः।

आहरेद्विधिवद्दारानग्नींश्चैवाविलम्बयन्।।[8]

---

*अतिथिप्राध्यापकः, धर्मशास्त्रमीमांसाविभागः,संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकायः,काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः

पुनराधानविधानं- तदपरिपक्वकषायविषयम्। ''साग्निः सोपासन'' इत्यत्रापि यदार्धाधानं कृतं तदा श्रौताग्निभिर्गृह्येण च सहितो वनं व्रजेत्। सर्वाधनेतु श्रौतैरेव केवलम्। यदि कथंचिज्ज्येष्ठभ्रातुरनाहिताग्नित्वादिना श्रौताग्नयोऽनाहितास्तर्हि केवलं सोपासनो व्रजेदित्येवं विवेचनीयम्। अग्निनयनं च तन्निर्वर्त्याग्निहोत्रादिकर्मसिद्ध्यर्थम्। अत एव मनुः -

वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि।

दर्शमस्कन्दयन्पर्व पौर्णमासं च योगतः।।[9]

निन्द्यासु पूर्वोक्तासु षट्सु रात्रिषु अन्यासु च निन्द्यास्वपि यासु कासुचिदष्टासु स्त्रियो वर्जयन्द्वे रात्री अवशिष्टे पर्ववर्जिते व्रजन्नखण्डितब्रह्मचार्येव भवति। यत्र यत्राश्रमे वसन्निति वानप्रस्थापेक्षया। तस्य हि भार्यया सह गमनपक्षे ऋतुगमनं प्रसक्तम्। न च वनस्थभार्याया ऋतुर्न भवति। ''वनं पञ्चाशतो व्रजेत्''। ''वर्षैरेकगुणां भार्यामुद्वहेद्विगुणः पुमान्।'' इत्यादिशास्त्रपर्यालोचनया तत्सम्भवात्। मेधातिथिस्तु ''यत्र तत्राश्रमे वसन्नित्यनुवादमात्रम्, गृहस्थेतराश्रमत्रये जितेन्द्रियत्वविधानाद्रात्रिद्वयाभ्यनुज्ञानासम्भवात्'' इति। गोविन्दराजस्तु ''उत्पन्नविनष्टपुत्रस्याश्रमान्तरस्थस्यापीच्छया पुत्रार्थं रात्रिद्वयगमने दोषाभाव प्रतिपादनार्थमेतत्, यत्र तत्राश्रमे वसन्निति वचनात्पुत्रार्थी संविशेदिति च प्रस्तुतत्वात्पुत्रस्य च महोपकारकत्वात् इत्याह- ''हन्त गोविन्दराजेन विशेषमविवृण्वता। व्यक्तमङ्गीकृतमृतौ स्वदारसुरतं यतेः।। यथा च मनुः -

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्।

ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन्।।[10]

वानप्रस्थाश्रमस्य कर्तव्याकर्तव्यविचारः- 'वानप्रस्थो जटिलश्चीराजिनवासा न फालकृष्टमधितिष्ठेत्, आकृष्टं मूलफलं संचिन्वीत ऊर्ध्वरेताः क्ष्माशयो दद्यादेव न प्रतिगृह्णीयादूर्ध्वं पञ्चभ्यो मासेभ्यः श्रावणिकेनाग्नीनाधायाहिताग्निर्वृक्षमूलको दद्याद् देवपितृमनुष्येभ्यः स गच्छेत्स्वर्गमानन्त्यम्' इति वसिष्ठस्मरणात्। चीरं वस्त्रखण्डो वल्कलं वा। न फालकृष्टमधितिष्ठेत्कृष्टक्षेत्रस्योपरि न निवसेत्। श्रावणिकेन वैदिकेन मार्गेण न लौकिकेनेत्यर्थः। पुष्पमूलफलैरेव वा कालपक्वैः नाग्निपक्वैः स्वयंपतितैर्जीवेत्। वैखानस्य शास्त्रोक्तं धर्ममनुतिष्ठेत्। तथा च मनुः-

पुष्पमूलफलैर्वाऽपि केवलैर्वर्तयेत्सदा।

कालपक्वैः स्वयंशीर्णैर्वैखानसमते स्थितः।।[11]

साग्निः सोपासनो व्रजेत् इत्येतदग्निसाध्यश्रौतस्मार्तकर्मानुष्ठानार्थमित्युक्तं, तत्र गुणविधिमाहफलग्रहणं कर्षणसाधनोपलक्षणम्। अकृष्टक्षेत्रोद्भवेन नीवारवेणुश्यामाकादिना अग्नींस्तर्पयेदग्निसाध्यानि कर्माण्यनुतिष्ठेत्। 'च' शब्दाद्भिक्षादानमपि तेनैव कुर्यात्। तथा पितृन्देवानतिथीन् 'अपि' शब्दाद् भूतान्यपि तेनैव तर्पयेत्। तथा भृत्यान् 'च' शब्दादाश्रमप्राप्तानपि। तथा च मनुः- यद्भुञ्जीत ततो यथाशक्ति बलिं भिक्षां च दद्यात्। बलिमिति तु वैश्वदेवनित्यश्राद्धयोरुपलक्षणम् ''एतानेवमहायज्ञान्'' मुन्यन्नैर्नीवारादिभिर्नाना-प्रकारैः पवित्रैः शाकमूलफलैर्वाऽरण्योद्भवैः एतानेव गृहस्थस्य पूर्वोक्तान्महायज्ञान् यथाशास्त्रमनुतिष्ठेत्।

मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा।

एतानेव महायज्ञान्निर्वपेद्विधिपूर्वकम्।।[12]

इति विहितत्वात्। आश्रमागताञ्जलफलमूलभिक्षादानेन पूजयेत्। यथा-

यद्भक्ष्यं स्यात्ततो दद्याद्बलिं भिक्षां च शक्तितः।

अम्मूलफलभिक्षाभिरर्चयेदाश्रमागतान्।।[13]

वन्यैरेव फलमूलैरहरहः पञ्च महायज्ञान्कुर्यात्। यथा गौतमः- **''देवपितृमनुष्यभूतर्षिपूजकः''**[14] एवं पञ्चमहायज्ञान् कृत्वा स्वयमपि तच्छेषमेव भुञ्जीत। तद्वनोद्भवनीवारादिकसाधितमतिशयेन यागार्हं हविर्देवताभ्य उपकल्प्य शेषान्नमुपभुञ्जीत। आत्मना च कृतं लवणमूषरलवणाद्युपभुञ्जीत। यथा मनुः -

देवताभ्यस्तु तद्धुत्वा वन्यं मेध्यतरं हविः।

शेषमात्मनि भुञ्जीत लवणं च स्वयं कृतम्।।[15]

एवं भोजनार्थे यागाद्यर्थे च मुन्यन्ननियमाद् ग्राम्याहारपरित्यागोऽर्थसिद्धः। ननु च दर्शपूर्णमासादेर्व्रीह्यादिग्राम्यद्रव्यसाध्यत्वात्कथं तत्परित्यागः? न च वचनीयम् 'अफालकृष्टेनाग्नींश्च' इति विशेषवचनसामर्थ्याद् व्रीह्यादिबाध इति। विशेषविषयिन्यापि स्मृत्या श्रुतिबाधस्यान्याय्यत्वात्, अफालकृष्टविधेयश्च स्मार्ताग्निसाध्यकर्मविषयत्वेनाप्युपपत्तेः। सत्यमेवम्, किंत्वत्र व्रीह्यादेरप्यफालकृष्टत्वसंभवान्न विरोधः। अत एवोक्तं मनुः -

वासन्तशारदैर्मेध्यैर्मुन्यन्नैः स्वयमाहृतैः।

पुरोडाशांश्चरूंश्चैव विधिवन्निर्वपेत्पृथक्।।[16]

नीवारादीनां मुन्यन्नानां स्वयमुत्पन्नानां स्वतो मेध्यत्वे सिद्धेऽपि पुनः 'मेध्य' ग्रहणं यज्ञार्हव्रीह्यादिप्राप्त्यर्थं कृतम्। मेधो यज्ञस्तदर्हं मेध्यमिति। तथा श्मश्रूणि मुखजानि रोमाणि जटारूपांश्च शिरोरूहान्कक्षादिनि च रोमाणि बिभृयात्। 'रोम' ग्रहणं नखानामप्युल्लक्षणम्। यथा-

जटाश्च बिभृयान्नित्यं श्मश्रुलोमनखांस्तथा।।[17]

तथात्मवानात्मोपासनाभिरतः स्यात्। यथा याज्ञवल्क्यः -

अफालकृष्टेनाग्नींश्च पितॄन्देवातिथीनपि।

भृत्यांश्च तर्पयेत् श्मश्रुजटालोमभृदात्मवान्।।[18]

वैखानसो वानप्रस्थो वने वसन्मूलानि फलानि च पक्वानि वाऽश्नीयान्न पुनरोदनम्। तपः कायपरिशोषणम्। ततश्च मूलफलान्यपि स्वल्पान्ये वाश्नीयात् इति। यथा गौतमः- **''वैखानसो वने मूलफलाशी तपः शीलः''**[19] तथा श्रावणकं नाम वैखानसं शास्त्रम्। तदुक्तेन प्रकारेणाग्निमाधाय सायं प्रातर्जुहुयादिति। **''श्रावणकेनाग्निमाधाय''**[20] द्रव्यसंचयनियममाह-एकस्याह्नः संबन्धि भोजनयजनादिदृष्टादृष्टकर्मणः पर्याप्तस्यार्थस्य संचयं कुर्यात्। मासस्य वा षण्णां मासानां वा संवत्सरस्य वा संबन्धिकर्मपर्याप्तं संचयं कुर्यात् नाधिकम्। यद्येवं क्रियमाणमपि कथंचिदतिरिच्यते तर्हि तदतिरिक्तमाश्वयुजे मासि त्यजेत्।

अह्नो मासस्य षण्णां वा तथा संवत्सरस्य वा।

अर्थस्य संचयं कुर्यात्कृतमाश्वयुजे त्यजेत्।।[21]

दन्तो दर्परहितः, त्रिषु सवनेषु प्रातर्मध्यंदिनापराह्णेषु स्नानशीलः। तथा प्रतिग्रहे पराङ्मुखः। स्वाध्यायवान् वेदाभ्यासरतः। तथा फलमूलभिक्षादिदानशीलः सर्वप्राणिहिताचरणनिरतश्च भवेत्। दन्ता एवोलूखलं निस्तुषीकरणसाधनं दन्तोलूखलं, तद्यस्यास्ति स दन्तोलूखलिकः। कालेनैव पक्वं कालपक्वं नीवारवेणुश्यामाकादि बदरेङ्गुदादि फलं च तदशनशीलः कालपक्वाशी। (वा शब्दः) अग्निपक्वाशनो वा स्यात्कालपक्वभुगेव वा। यथा मनुः-

अग्निपक्वाशनो वा स्यात्कालपक्वाभुगेव वा।

अश्मकुट्टो भवेद्वापि दन्तोलूखलिकोऽपि वा।।[22]

अश्मकुट्टको वा भवेत्। अश्मना कुट्टनमवहननं यस्य स तथोक्तः। तथा श्रौत्रं स्मार्तं च कर्म दृष्टार्थाश्च भोजनाभ्यञ्जनादिक्रियाः लकुचमधूकादिमेध्यतरुफलोद्भवैः स्नेहद्रव्यैः कुर्यात्, न तु घृतादिकैः। यथा-

मेध्यवृक्षोद्भवान्यद्यात्स्नेहांश्च फलसंभवान्।[23]

एतत् विषये याज्ञवल्क्यः अपि उक्तवान् यथा-

दन्तोलूखलिकः कालपक्वाशी वाश्मकुट्टकः।

श्रौत्रं स्मार्तं फलस्नेहैः कर्म कुर्यात्तथा क्रियाः।।[24]

भोज्यविषये गौतमः अनेनप्रकारेण उक्तवान् फलमूलान्यपि ग्राम्याणि न भुञ्जीत। **''अग्राम्यभोजी''**[25] पुष्पमूलफलैरेव वा कालपक्वैः वा नाग्निपक्वैः स्वयंपतितैर्जीवेत्। वैखानसशास्त्रोक्तं धर्ममनुतिष्ठेत्। यथा मनुः -

पुष्पमूलफलैर्वाऽपि केवलैर्वर्तयेत्सदा।

कालपक्वैः स्वयंशीर्णैर्वैखानसमते स्थितः।।[26]

पुरुषार्थतया विहितद्विर्भोजननिवृत्यर्थचान्द्रायणैर्वक्ष्यमाणलक्षणैः कालं नयेत्। कृच्छ्रैर्वा प्राजापत्यादिभिः कालं वर्तयेत्। यद्वा-पक्षे पञ्चदशदिनात्मकेऽतीतेऽश्नीयात्। मासे वाऽहनि गते वा नक्तमश्नीयात्। 'अपि' शब्दाच्चतुर्थकालिकत्वादिनापि। यथा याज्ञवल्क्यः -

चान्द्रायणैर्नयेत्कालं कृच्छ्रैर्वा वर्तयेत्सदा।

पक्षे गते वाप्यश्नीयान्मासे वाऽहनि वा गते।।[27]

यथा सामर्थ्यमन्नमाहृत्य प्रदोषे भुञ्जीत। अहन्येव वा चतुर्थकालाशनो वा स्यात्। ''सायं प्रातर्मनुष्याणामशनं देवनिर्मितम्'' इति विहितं तत्रैकास्मिन्नहन्युपोष्यापरेद्युः सायं भुञ्जीत। अष्टमकालिको वा भवेत्। त्रिरात्रमुपोष्य चतुर्थस्याह्नो रात्रौ भुञ्जीत। तद्यथा-

नक्तं चान्नं समश्नीयाद्दिवा वाऽऽहृत्य शक्तितः।

चतुर्थकालिको वा स्यात्स्याद्वाष्टमकालिकः।।[28]

आहारविहारावसरवर्ज्यं रात्रौ शुचिः प्रयतः स्वप्यात् नोपविशेन्नापि तिष्ठेत्। दिवास्वप्नस्य पुरुषमात्रार्थतया प्रतिषिद्धत्वान्न तन्निवृत्तिपरम्। तथाभूमावेव स्वप्यात्। तच्च भूमावेव, न शय्यान्तरितायां मञ्चकादौ वा। दिनं तु संप्रपदैरटनैर्नयेत्। स्थानासनरूपैर्वा विहारैः संचारैः कंचित्कालं स्थानं कंचिच्चोपवेशनमित्येवं वा दिनं नयेत्। योगाभ्यासने वा। तथा च याज्ञवल्क्यः-

स्वप्याद्भूमौ शुची रात्रौ दिवा संप्रपदैर्नयेत्।

स्थानासनविहारैर्वा योगाभ्यासेन वा तथा।।[29]

वानप्रस्थ एता दीक्षा एतान्नियमानन्याश्च वानप्रस्थशास्त्रोक्तानभ्यसेत्। औपनीषदीश्च श्रुतीरुपनिषत्पठितब्रह्मप्रतिपादकवाक्यानि विविधान्यस्यात्मनो ब्रह्मसिद्धये ग्रन्थतोऽर्थतश्चाभ्यसेत्। यथा मनुः -

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन्।

विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः।।[30]

आत्मनः संसिद्धये ब्रह्मत्वप्राप्ते। 'तथा' शब्दात्क्षितिपरिलोडनाद्वा नयेत्। केवलायां भूमौ लुण्ठन्नातागतानि कुर्यात्। स्थानासनादावुपविशेत्। उत्तिष्ठेत्पर्यटेदित्यर्थः। आवश्यकं स्नानभोजनादिकालं विहाय चायं नियमः, एवमुत्तरत्रापि। पदाग्राभ्यां वा दिनं तिष्ठेत्कञ्चित्कालं स्थित एव स्यात् कञ्चिच्चोपविष्ट एव न त्वन्तरा पर्यटेत्। सवनेषु सायंप्रातर्मध्याह्नेषु स्नायात्। सायं प्रगे तथोत्मुक्तं तेन सहास्य नियमातिशयापेक्षो विकल्पः। यथा -

भूमौ विपरिवर्तेत तिष्ठेद्वा प्रपदैर्दिनम्।

स्थानासनाभ्यां विहरेत्सवनेषूपयन्नपः।।[31]

त्र्यर्तुः संवत्सरो ग्रीष्मो वर्षा हेमन्तः इति दर्शनात् ग्रीष्मे चैत्रादिमासचतुष्टये चतसृषु दिक्षु चत्वारोऽग्नयः उपरिष्टादादित्य इत्येवं पञ्चानामग्नीनां मध्ये तिष्ठेत्। तथा वर्षासु श्रावणादिमासचतुष्टये स्थण्डिलेशयः वर्षाधाराविनिवारणविरहिणि भूतले निवसेत्। हेमन्ते

मार्गशीर्षादिमासचतुष्टये क्लिन्नं वासो वसीत्। एवं विधतपश्चरणे असमर्थः स्वशक्त्यनुरूपं वा तपश्चरेत्। तथा याज्ञवल्क्यः-

ग्रीष्मे पञ्चाग्निमध्यस्थो वर्षासु स्थण्डिलेशयः।

आर्द्रवासास्तु हेमन्ते शक्त्या वापि तपश्चरेत्।।[32]

विहितमपि त्रिषवणं स्नानं देवर्षिपितृतर्पणविधानार्थमनुद्यते। प्रातर्मध्यंदिनंसायंसवनेषु त्रिष्वपि देवर्षिपितृतर्पणं कुर्वन्। अन्यदपि पक्षमासोपवासादिकं तीव्रव्रतं तपोऽनुतिष्ठन्। यथा-

उपस्पृशंस्त्रिषवणं पितृन्देवांश्च तर्पयेत्।

तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद् देहमात्मनः।।[33]

तथा च यमेन -

पक्षोपवासिनः केचित्केचिन्मासोपवासिनः।[34]

इति स्वशरीरं शोषयेत्। यदा तु तदसंभवो व्याध्यभिभवो वा तदा किं कार्यमित्यत आह-ग्रामाद्वा भैक्षमाहृत्य वाग्यतो मौनी भूत्वा अष्टौ ग्रासान्भुञ्जीत। ग्राम्यभैक्षविधानान्मुन्यन्ननियमोऽर्थलुप्तः। यदा पुनरष्टभिर्ग्रासैः प्राणधारणं न संभवति तदा। 'अष्टौ ग्रासा मुनेर्भैक्ष वानप्रस्थस्य षोडशेति स्मृत्यन्तरोक्त द्रष्टव्यम्। यथा-

ग्रामादाहृत्य वा ग्रासानष्टौ भुञ्जीत वाग्यतः।[35]

सकलानुष्ठानासमर्थं प्रत्याह अथवा वायुरेव भक्षो यस्यासौ वायुभक्षः प्रागुदीचीमैशानीं दिशं गच्छेत्। आ वर्ष्मसंक्षयात् वर्ष्म वपुस्तस्य निपातपर्यन्तमकुटिलगतिर्गच्छेत्।

वायुभक्षः प्रागुदीचीं गच्छेद्वाऽऽवर्ष्मसंक्षयात्।।[36]

अचिकित्सितव्याध्याद्युद्भवेऽपराजितामैशानीं दिशमाश्रित्याकुटिलगतियुक्तो योगनिष्ठो जलानिलाशन आशरीरनिपाताद् गच्छेत्। महाप्रस्थानाख्यं शास्त्रे विहितं चेदं मरणम्। तेन ''न पुरायुषः स्वकामी प्रेयात्'' इति श्रुत्याऽपि न विरोधः। यतः स्वकामिशब्दप्रयोगादवैधमरणमनया निषिध्यते न शास्त्रीयम्। यथा मनुः-

अपराजितां वाऽऽस्थाय व्रजेद्दिशमजिह्मगः।

आनिपाताच्छरीरस्य युक्तो वार्यनिलाशनः।।[37]

महाप्रस्थानेऽप्यशक्तौ भृगुपतनादिकं वा कुर्यात्, वानप्रस्थो वीराध्वानं ज्वलनाम्बुप्रवेशनं भृगुपतनं वानुतिष्ठेत्'। स्नानाचमनादिधर्मा ब्रह्मचारिप्रकरणाद्यभिहिताश्चाविरोधिनोऽस्यापि भवन्ति, उत्तरेषां चैतदविरोधि' इति गौतमस्मरणात्। एषां पूर्वोक्तानुष्ठानानामन्यतमेनानुष्ठानेन शरीरं त्यक्त्वाऽपगतदुःखभयो ब्रह्मैव लोकस्तत्र पूजां लभते, मोक्षमाप्नोतीत्यर्थः। केवलकर्मणो वानप्रस्थस्य कथं मोक्ष इति चेत? न, विविधाश्चोपनिषदीरात्मसंशुद्धये श्रुतीः। इत्यनेनास्याप्यात्मज्ञानसम्भवात्।।[38] यथा मनुः -

आसां महर्षिचर्याणां त्यक्त्वाऽन्यतमया तनुम्।

वीतशोकभयो विप्रो ब्रह्मलोके महीयते।।[39]

ब्रह्मलोकः स्थानविशेषो नतु नित्यं ब्रह्म। तत्र लोकशब्दस्याप्रयोगात्। तुरीयाश्रममन्तरेण मुक्त्यनङ्गीकाराच्च। न च ''योगाभ्यासेन वा पुनः'' इति ब्रह्मोपासनविध्यनुपपत्या तद्भावापत्तिः परिशङ्कनीया। सालोक्यादिप्राप्त्यर्थत्वेनापि तदुपपत्तेः। अत एव श्रुतौ 'त्रयो धर्मस्कन्धा' इत्युपक्रम्य 'यज्ञोऽध्ययनं दानम् इति प्रथमः, तप एवेति द्वितीयः ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासी तृतीयः। अत्यन्तमाचार्यकुल एवमात्मानमवसादयन्निति गार्हस्थ्यवानप्रस्थनैष्ठिकत्वस्वरूपमभिधाय सर्व एते पुण्यलोका भवन्तीति त्रयाणामाश्रमिणां पुण्यलोकप्राप्तिमभिधाय ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इति पारिशेष्यात्परिव्राजकस्यैव ब्रह्मसंस्थस्य मुक्तिलक्षणामृतत्वप्राप्तिरभिहिता। यदपि 'श्राद्धकृत्सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमूच्यते' इति गृहस्थस्यापि मोक्षप्रतिपादनं तद्भवान्तरानुभूतपारिव्रज्यस्येत्यवगन्तव्यम्।

प्रव्रजति प्रकर्षेण व्रजति अपुनः प्रवेशाय वनं प्रतिष्ठितः। तथा च आपस्तम्बः- **''अत एव ब्रह्मचर्यवान् प्रव्रजति।।**[40] वने वसतोऽपि यादृच्छिकोपग्रामप्रवेशो निषिद्धः। यथा गौतमः- **''ग्रामं च न प्रविशेत्।।''**[41] श्रामणकं नाम वैखानससूत्रम्। तदुक्तेन प्रकारेण एकोऽग्निराधेयः तस्मिन् सायंप्रातरग्निकार्यमिति। एवञ्च आपस्तम्बः- **''तस्योपदिशन्त्येकाग्निरनिकेतस्स्यादशर्माऽशरणो मुनिः स्वाध्याय एवोत्सृजमनो वाचम्।।''**[42] वने प्रतिष्ठित इति वानप्रस्थः। वैखानसोऽपि वानप्रस्थ एव। संज्ञान्तरकरणं तु संव्यवहारार्थम्। विखनसा ऋषिणा प्रोक्तं वैखानसशास्त्रम्। तत्र हि बहवो धर्मा वानप्रस्थस्योक्ताः ''ग्रीष्मे पञ्चतपा' इत्यादयः। समुदाचारः समाप्ताचार इत्यर्थः। वने मूलफलान्यश्नन् प्रतिषिद्धानि परिहरेत्। तपश्शीलः तपः परः। सवनेषूदकोपस्पर्शनं त्रिषवणस्नानम्। श्रामणो नामाऽऽधानविधिरस्ति वैखानसशास्त्रे। तेनाग्निमाधाय जुहुयादिति शेषः। ग्रामे भवमन्नं ग्राम्यं व्रीह्यादिप्रभवं तन्न भवतीति अग्राम्यं श्यामाकाद्यारण्यौषधिप्रभावम्। तद्भोजी स्यात्। मूलफलैः प्राणधारणशक्तावेतद्विज्ञेयम्। देवादिपूजा च तेनैवाऽन्नेन यथासम्भवं कार्या। सर्वातिथ्यमादायाऽऽगतोऽतिथिः सर्वातिथिस्तं तेनैव पूजयेदित्यर्थः। तत्राऽपि प्रतिषिद्धवर्जं, प्रतिषिद्धः पतितादिः। व्याघ्रादिहतं मांसं कुद्दालादिनाऽनार्जितं मूलादि वा फालकृष्टप्रतिषेधादफालकृष्टाधिष्ठाने न दोषः। ग्रामो वाससमुदायः। चशब्दान्मनुष्यसमुदायश्च। जटिलः अलुप्तकेशः अप्रसाधितकेशश्च। चीरवासा अजिनवासाश्च। चीरं वृक्षादानीतं वासः फलजं वा जीर्णम्। अजिनं व्याघ्रादिचर्म। चीराजिनयोर्विधानात् समुच्चयो गम्यते। तत्र चैकमधोवासोऽपरमुत्तरीयम्। अतिसांवत्सरिकं संवत्सरमतिक्रान्तमन्नं न भुञ्जीत। अनेनैतद् गम्यते तावन्तं कालं सञ्चयो द्रव्यस्याऽस्तीति। तद्यथा बौधायनः- **''वानप्रस्थो वैखानसशास्त्रसमुदाचारः।।'' ''वैखानसो वने मूलफलाशी तपश्शीलः सवनेषूदकमुपस्पृशञ्छ्रामणकेनाऽग्निमाधायाऽग्राम्यभोजी**

देवपितृभूतमनुष्यर्षिपूजकः सर्वातिथिः प्रतिषिद्धवर्जं भैक्षमप्युपयुञ्जीत न फालकृष्टमधितिष्ठेद् ग्रामं च न प्रविशेज्जटिलश्चीराजिनवासा नाऽतिसंवत्सरं भुञ्जीत।''[43] वेदाभ्यासे नित्ययुक्तः स्यात्। शीतातपादिद्वन्द्वसहिष्णुः सर्वोपकारकः संयतमनाः सततं दाता प्रतिग्रहनिवृत्तः सर्वभूतेषु कृपावान्भवेत्। यथा मनुः-

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः।

दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः॥[44]

गार्हपत्यकुण्डस्थानामग्नीनामाहवनीयदक्षिणाग्निकुण्डयोर्विहारो वितानम्, तत्र भवं वैतानिकमग्निहोत्रं यथाशास्त्रमनुतिष्ठेत् दर्शं पौर्णमासं च पर्वेति श्रौतस्मार्तदर्शपौर्णमासौ योगतः स्वकाले अस्कन्दयन्नपरित्यजन्। भार्यानिक्षेपपक्षे च रजस्वलायामिव भार्यायामेतेषामनुष्ठनमुचितम्, विशेषाश्रवणात्। ततः कियन्तकिञ्चित्कालमब्भक्षः ततो वायुभक्षः तत आकाशमभिनिश्रयेत् न किञ्चित् भक्षयेदिति। अभिनिश्रयणं सेवनम्। **''ततोऽपो वायुमाकाशमित्यभिनिश्रयेत्।''**[45] संयुज्यते संश्रयत इति संयोगः। तेषां मूलादीनां मध्ये उत्तरमुत्तरं समाश्रयणं फलतो विशिष्टमिति द्रष्टव्यम्। यथा आपस्तम्बः- **''तेषामुत्तर उत्तरस्संयोगः फलतो विशिष्टः''।**[46]

भारतीयसंस्कृतेः प्रवर्तने, विकासने, प्रसारणे च वानप्रस्थानामवदानं सविशेषं वर्तते। समाजाय जीवनस्योदात्ततमं पक्षं ते दर्शयन्ति स्म। तेषामाचार-विचारैः समाजोऽनुवासितोऽभवत्। लोकानां जीवनवैषम्यं ते निवारयन्ति स्म। राजानोऽपि रङ्काश्च शरणं गतास्तेषां पथप्रदर्शनेन सान्त्वेन चानन्दितात्मानः संजाताः। एतेषां वानप्रस्थानां परम्परा वसिष्ठ-व्यास-जाबालिमैत्रेयादिभिः पावनीभूता। एतदेव परिलक्ष्य भासेनालोचितम् – **तपोवनानि नामातिथिजनस्य स्वगेहम्।**

1. पुरुषार्थचिन्तामणिः, पृष्ठसंख्या 24
2. बृहत्पराशरस्मृतिः 12/158
3. बौधायनधर्मसूत्रम् 3/3-4
4. मनुस्मृतिः 6/1
5. मनुस्मृतिः 6/3
6. मनुस्मृतिः 6/2
7. याज्ञवल्क्यस्मृतिः 3/45
8. याज्ञवल्क्यस्मृतिः 1/89
9. मनुस्मृतिः 6/9
10. मनुस्मृतिः 3/50
11. मनुस्मृतिः 6/21
12. मनुस्मृतिः 6/5
13. मनुस्मृतिः 6/7
14. गौतमधर्मसूत्रम् 1/3/28
15. मनुस्मृतिः 6/12
16. मनुस्मृतिः 6/11
17. मनुस्मृतिः 6/6
18. याज्ञवल्क्यस्मृतिः 3/46
19. गौतमधर्मसूत्रम् 1/3/25
20. गौतमधर्मसूम् 1/3/26
21. याज्ञवल्क्यस्मृतिः 3/47
22. मनुस्मृतिः 6/17
23. मनुस्मृतिः 6/13
24. याज्ञवल्क्यस्मृतिः 3/49
25. गौतमधर्मसूत्रम् 1/3/17
26. मनुस्मृतिः 6/21
27. याज्ञवल्क्यस्मृतिः 3/40
28. मनुस्मृतिः 6/19
29. याज्ञवल्क्यस्मृतिः 3/51
30. मनुस्मृतिः 6/29
31. मनुस्मृतिः 6/22
32. याज्ञवल्क्यस्मृतिः 3/42
33. मनुस्मृतिः 6/24
34. मन्वर्थमुक्तावली, पृष्ठसंख्या 287
35. याज्ञवल्क्यस्मृतिः 3/55
36. याज्ञवल्क्यस्मृतिः 3/55
37. मनुस्मृतिः 6/31
38. मन्वर्थमुक्तावली, पृष्ठसंख्या 289
39. मनुस्मृतिः 6/32
40. आपस्तम्बधर्मसूत्रम् 2/9/11/19
41. गौतमधर्मसूत्रम् 1/3/32
42. आपस्तम्बधर्मसूत्रम् 2/9/21/20
43. बौधायनधर्मसूत्रम् 2/6/11/17
44. मनुस्मृतिः 6/8
45. आपस्तम्बधर्मसूत्रम् 2/9/22/4
46. आपस्तम्बधर्मसूत्रम् 1/3/22/5

ROOTS OF INDIAN CULTURE AND HOLISTIC WAY OF LIFE AND LIVING IN ANCIENT INDIA: A STUDY

DR. ASHOK KUMAR SINGH*

Culture of India indicates the ideas, beliefs, customs and social behaviour of people in the society. It indicates the way people live in the society. The vital components of the Indian culture are good manners, civilized communication, rituals, beliefs, values, etc. Even after the life styles of everyone has been modernized, Indian people have not changed their traditions and values. The property of togetherness among people of various cultures and traditions has made India, a unique country. Indian word for culture is *Sanskriti* which comes from a root which means to purify, to mould and to perfect.

Indian culture has been a powerfully, all absorbing and all embracing process. In the past, it has received, adapted and digested elements of many different cultures—Indo-European, Mesopotamian, Iranian, Greek, Roman, Scythian, Turkish, Persian and Arab. With each new influence, it has somewhat changed but it has retained its continuity. India has never lost the pride of her cultural dignity. Indian culture has proved its strength and maintained her vitality throughout. As we know, culture is a continuous progress of civilization with its cumulative effects on various aspects of living. It has multifarious as well as multi - dimensional implementations. In other words culture is the shorthand version of the rules that guide the way of life of a particular people. It is a common code of conduct shared by the members of a society. Thus culture is inherent within civilization and both go together simultaneously. This is also true of Indian culture. As a matter of fact India possesses a continuous cultural history right from the dawn of its civilization. It is a unique example of a continuous process of growth and evolution of its ancient civilization. That is why Indian culture is always integral in its approach. Being the mother of one of the oldest civilizations of the world, India is the proud torch bearer of its glorious cul tural heritage. This cultural spirit permeates all walks of life in India. Hence it may be called — a culture-based society. The roots of Indian culture can very well be traced back to their remote religious traditions. The antiquity of Indian religion begins right from the Harappan culture. Religion is a system of faith and worship. It is based on the human desire to surrender himself before an all powerful supernatural force. It is a human recognition of his inner desire to obey the supreme power. Naturally this religious instinct of man got a formal shape in Harappan civilization. But the Vedas laid the foundation of Brahmanical religion which was later on named as Hinduism. Thus in a sense it is the Vedas which outlined the religious sentiment of the Indians. Indian culture began to take a concrete shape and form by the powerful Vedic tradition. After studying a Latin translation of the Vedas, a German philosopher Schopenheur of 19th century correctly says “The Vedas are the fruits of the highest human knowledge and wisdom. The Upanishads are the greatest discovery of the century. In India our religion will never take root… On the contrary, Indian philosophy will produce a fundamental change in our knowledge and thought". This remark of a foreign scholar is enough to show the strength of the Vedas and Upanishads along with their deep-rooted significance in moulding the cultural foundation of the great Indian civilization.

Indian religious traditions emphasize on Catholicism. It is flexible and adaptable to different circumstances. Due to the catholic characteristic of religious traditions, the Sakas, the Hunas, the Pahalavas and other foreign tribes got themselves absorbed into the Indian mainstream. The religious roots of Indian culture attach great importance to different traits like *Bhakti*, *Karma* and *Jnana* for spiritual attainment. When one looks at the cultural heritage of India he feels astonished about its roots and origin. He sees one aspect of Indian culture but realizes its contradictory effect. For example, Indian religious beliefs, traditions, diversity in race and language, social systems etc. puzzle him. At the same

* Asstt. Professor, Centre of Advanced Study, AIHC & Archaeology, Banaras Hindu University, Varanasi-221005

time beneath all these different aspects of Indian culture he feels one strong bond of underlying unity which binds all the diversities together in one strand.

Holistic science is one of the most innovative world views that mark the culmination of knowledge, understanding, wisdom, aspirations, contemplations, discoveries of thousand year's pursuance by human race. India, one of the oldest civilizations around the world, is the country with a long history of civilized society almost 5000 years back and extremely complex social structure. The daily life of the people of ancient India is based on the excavated sites, inscriptions and the religious books written. They provide glimpses of the life style prevalent during that time and help in constructing a near authentic picture of the daily life in ancient India. Lifestyle is the perception of a particular person or entire society towards life and it is the way people live, think and behave. In Indian lifestyle, principles of *Karma* and *dharma* are given significant value in the past and at present. In India, earlier, the life of an individual was being regulated harmoniously according to the stages (*Ashrams*) of life, *i.e.*, *Brahmcharya*, *Grihastha*, *Vanprasth*, *Sanyas* and was meant to maintain the discipline, peace and harmony in the family and society. However, revolution in the social milieu and political scenario changed the patterns of religious beliefs and lifestyle of individuals. And thus, the Indian lifestyle got coloured with shadows of cults and cultures. The *Mahabharata* describes the duties and obligations of these *Ashrams* in almost similar terms and Kautilya to summarizes them in *Arthashastra* in the same manner. The third and fourth *Ashrams* were largely neutral phase from the point of views of an individual as well as of a group (community). The functions of the individual in 3rd and 4th *Ashrams* are to deal with the super-natural and the life within.

The function of the member in the group becomes gradually thinned out and almost comes to nil till the last *Ashram*. In *Sanyas Ashram*, the individual who is now completely free from any social obligation has to achieve the ultimate goal of the life, *i.e*., *moksha* through *aatm chintan* and *aatm gyan*. In the third stage, the individual starts a preliminary journey for self-search; and gives up formerly essentially required management affairs of the group (family) life. In the fourth stage, the individual retires all together from group activities and seek to know, find and realize the self that hides within the core of his being. In the ancient time around 5000 years back, the people lived in a proper way (Mukherjee, 2007 : 44-45). The evidences have been traced from the remains of the ancient sites of Harappa, Mohen- jo- daro, Dholavira, Lothal etc. In the Sindhu-Saraswati Civilization, people built huge fortifications, planned cities, with straight streets, and brick homes with private baths etc. The cities had streets with well connected drainage system. It had a large central storage building for grain. The discovery of public swimming pool leads to infer that religious bathing was common during that time. The smaller rooms and pools were dressing rooms and private baths for the important people of the town. This civilization existed from about 3500 BC to about 2500 BC, which means it existed at about the same time as the Egyptian and Sumerian civilizations.

The buildings were made of burnt bricks, which have been preserved even to this day. Sun-dried bricks were used for the foundation of the buildings and the roofs were flat and made of wood. The special feature of the houses was that rooms were built around an open courtyard. Some houses were double storied. Some buildings had pillared halls; some of them measured 24 square meters. It is assumed that there also must have been palaces, temples or municipal halls (Allchin & Allchin, 1983 : 180-181). One of the largest buildings was the Great Bath measuring 180 feet by 108 feet. The bathing pool, 39 feet long, 28 feet wide and 8 feet deep was in the center of the quadrangle, surrounded with verandahs, rooms and galleries. A flight of steps led to the pool. The pool could be filled and emptied by means of a vaulted culvert, 6 feet and 6 inches high. The walls of the pool were made of burnt bricks laid on edge, which made the pool watertight. The pool was filled with water from a large well, situated in the same complex. Periodic cleaning of the pool was done by draining off the used water into a big drain. The Great Bath building had six entrances. The Great Bath reflected the engineering genius of those ancient days. Another large building in the city was the Great Granary which was made about 45 meters long and 15 meters wide. It was meant to store food grains. It had lines of circular brick platforms for pounding grain. There were barrack like quarters for workmen. The granary also had smaller halls and corridors.

An important feature of Mohen-jo-daro was its 24 square meters pillared hall. It had five rows of pillars, with four pillars in each row. Kiln baked bricks

were used to construct these pillars. Probably, it was the Assembly Hall or the ruler's court. It is said that it also housed the municipal office which had the charge of town planning and sanitation. During ancient times Hindus were the masters of the seaborne trade .The cities were the main places for trading. About 1000 cities were found. The popular cities of that time were Mohenjo daro, Harappa, Lothal, Banawali and Rakhigarhi. Lothal had the world's first ever artificial dockyard specifically for the purpose of loading and unloading cargo. While there are other contenders for the status of the world's oldest port, Lothal is the oldest artificially engineered dockyard. Trading of different goods helped the Indus civilization expanded its culture, coming into regular contacts with far away lands. The areas along the coastline and many rivers provided the Indus Valley people with consistent territories of water. The Harappan people were not confined to the boundaries of their own places. Foreign trades and sea ports were found in Harappan Civilization. The people of Sindhu Saraswati civilization eat vegetarian and non vegetarian food. They eat wheat, barley and vegetables. They domesticated animals.

Lifestyle of the people of this civilization gives us a moral education to live, think and behave. The day to day life of the people of this civilization such as agriculture, cooking habits, ornaments, objects of toiletry, personal make-up, games played by adults or children, folk tales, religious practices etc are the reflective of our ancient tradition. Cultural heritage of India is very rich and have its constant impact on every feature of the society including lifestyle of the present as well. From the sculptured figures it can be seen that the dress of men and women consisted of two pieces of cloth-one resembling a *dhoti*, covering the lower part, and the other worn over the left shoulder and under the right arm. Men had long hair designed differently. Women wore a fan shaped head dress covering their hair. The discovery of a large number of spindles showed that they knew weaving and spinning. Similarly it was concluded, by the discovery of needles and buttons, that the people of this age knew the art of stitching as well (Singh, 2009 : 163-164).

Cultural heritage of India is very rich and have its constant impact on every feature of the society including lifestyle. The practice of applying *sindura* (vermilion) to the *manga* (line of partition of the hair on the head) by married Hindu women goes back to 5000 year back. This evidence comes from some terracotta female figurines, found in levels dating back to 2800-2600 back at Nausharo and at Mehrgarh, both in Pakistan (Lal, 2002 : 83-84). The figures are painted with three colours. The hair is painted black which is its usual colour. But what is most exciting is the application of red colour to the medial parting, line of the hair. This clearly represents vermilion *(sindura)* which is even today applied by married Hindu women at the same location. The ladies of Mohen-jo-daro were not lagging behind in styles as used by the ladies of the present day, when it came to the use of cosmetics and the attainment of beauty. Materials made of ivory and metal for holding and applying cosmetics prove that they knew the use of face paint and collyrium. Bronze oval mirrors, ivory combs of various shapes, even small dressing tables, have been found at Mohen-jo-daro and other sites. The Indus valley people liked more of indoor games than outdoor amusements. They were fond of gambling and playing dice. Dancing and singing were considered great arts. Boys played with toys made of terracotta while girls played with dolls.

It is unbelievable that the practice had its roots in a cultural milieu nearly 5000 years ago. It has been well said that Indian tradition never dies because it is our heritage and cultural continuity. The seal with anthropomorphic form of ithyphallic Shiva is one of the most significant Indus finds attesting the prevalence of Shiva-cult, his personalized *Mahayogi* or Pashupati form as also his aniconic '*linga*' form, as early as Indus days and much before the emergence of Vedic cult. In traditional Indian society, the *linga* is seen as a symbol of the energy and potential of Shiva himself. The worship of *linga* is continued in the middle Ganga plain as well. Mention may be made of a finding of ritual terracotta object (*linga*) from Agiabir, Dist. Mirzapur, which indicates as *Linga* (Phallic) worship by the inhabitants around first millennium B.C. (Singh, 2017, Pl. XXI). It is probably worshipped as a symbol of generative power in this region. Phallic (*Linga)* worship was prevalent in India from the Chalcolithic period itself, and it was closely associated with magical rites based religion of that time.

The anthropomorphic form of ithyphallic Shiva has been engraved on a seal with chip of steatite, a soft stone, decay-resistant but soft to carve (Lal, 2002 : 116-117). The discovery of the large number of seals leads some scholars to conclude that seals-cutting was one of the major industries of Harappan settlements. The masterpieces of art these seals carry

representations of religious character and are index to the type of culture and social life the people led those days. The pictographic inscriptions on the seals are equally significant for they hold key to the language the Indus people used. Seals must have been an integral part of trade mechanisms. Religious beliefs and practices of the people can also be inferred from the seals. The proto-Siva seal found in Harappa was treated as one of the proofs that Hinduism had its roots in Indus Valley. Life exists because of the power of procreation. To celebrate the power of procreation many religions practice fertility rituals. During the fertility rituals, power of procreation is honored by worshiping Fertility Gods. Fertility symbols and fertility rituals are ingrained in the daily life of Hindus. Several evidences provide details regarding the religious beliefs and rituals performed during the early centuries of Christian era in the middle Ganga valley. It is proved by the discovery of birth giving pose of terracotta objects of the goddess from Agiabir (Singh & Singh, 2004, Pl. IX A, p. 40), Bhita , Kausambi and Jhusi (Marshall, 1915 : 24-94). They seem to represent a fertility female in the birth giving pose. In the ancient time, the people used the way of greeting to each other by *Namaste* which was a social observance or a religious practice (Lal, 2005 : 83). This form has come down to us from the Harappan times as indicated below by the terracotta figurines of that period. The ancient people are well aware of *Yoga* and they pactice yogic *asanas.* The terracotta figurines of Harappa indicate that the people of this period practised *asanas* (Lal, 2002 : 126-127). Patanjali deals with the various aspects of Yoga (*yama, niyama, asana, pranayam, pratyahara, dhyana and samadhi*). The 2,700 year old skeletal remains of an ancient yogi sitting in samadhi have been found in an Indus valley civilization at the archaeological site located at Balathal, Rajasthan. People of ancient times wear ornaments. The collection of gold and agate ornaments includes objects found from Mohen-jo-daro , Harappa and other sites. The other ornaments include bangles, chokers, long pendant necklaces, rings, ear rings, conical hair ornaments, and broaches. Such ornaments were never buried with the dead, but were passed on from one generation to the next. These ornaments were hidden under the floors in the homes of wealthy merchants or goldsmiths. The *swastika* is an important Hindu symbol. It is an ancient religious symbol originating from the Indian sub continent, being the symbol of peace and continuity (Lal, 2002 : 124). It is traced with the finger with *sindoor* on the head or body during Hindu religious rites and on doors on festival days - notably on Diwali. It is also said to represent God (the Brahman) in his universal manifestation, and energy (*Shakti*). It represents the four directions of the world (the four faces of *Brahma*). It also represents the *Purushartha*: *Dharma* (natural order), *Artha* (wealth), *Kama* (desire), and *Moksha* (liberation).

Indian culture teaches many values which are passed from one generation to other through the process of enculturation. The study of ancient history and culture shows how rich and diversified is Indian heritage. The facts about the ancient Indus Valley Civilization leave one awestruck in terms of the logical and rational thinking and scientific outlook of the people. A number of cultural elements have been taken from the ancient culture. Town planning, agricultural farming, cattle rearing and dairy farming, use of burnt bricks, building of check dams, script, paintings and terracotta figurines, dressing and ornaments etc everything could be found in the ancient culture and many of them are in continued use till today. Similarly, religious beliefs, god worship, rituals and dances find their roots in ancient Indian tradition.

References

Allchin, Bridget and Ramond Allchin, 1983. The Rise of Civilization in India and Pakistan, Select book Service Syndicate, New Delhi.

Lal, B.B., 2002. *The Saraswati Flows On – The Continuity of Indian Culture*, Aryan Books International, New Delhi.

Lal, B.B. 2005. *The Homeland of the Aryans- Evidence of Rigvedic Flora and Fauna & Archaeology*, Aryan Books International, New Delhi.

Marshall, J, 1915. Excavations at Bhita, *Archaeological Survey of India, Annual Report 1911-12* : 24-94.

Mukherjee, Radhakumud, 2007. *Hindu Sabhyata*, Rajkamal Prakashan, New Delhi.

Singh, Ashok Kumar, 2017. Excavations at Agiabir, District Mirzapur, Uttar Pradesh 2015-16: A Preliminary Report , *Bharati*, No. 40, Bulletin of the Department of AIHC & Archaeology, Banaras Hindu University.

Singh, P. & Ashok Kumar Singh, 2004. *The Archaeology of Middle Ganga Plain- New Perspectives (Excavations at Agiabir)*, Indian Institute of Advanced Study, Shimla & Aryan Books International, New Delhi.

Singh, Upinder, 2009. *A History of Ancient and Early Medieval India*, Pearson Longman, Delhi.

TRADITIONAL METHODS OF WATER RESOURCE MANAGEMENT IN ANCIENT INDIA

DR. VINAY KUMAR*

Water is life – a concept coined in the ancient Indian civilization. Indian *vedic* scriptures have described in detail the origin of water, its importance, quality and conservation. The medicinal aspect of water has been discussed in *Rigveda* and *Atharvaveda*. Varahmihir's *Vrihat Samhita* is one of the best treatises on ground water hydrology. Varahmihir has narrated the art of finding water source in *Drakarjal* which is based on the presence of trees, rocks, termite and mounds *etc*. The knowledge of ecology confirms that the presence of some of the trees in the vicinity could be an indication of a ground water source. Water harvesting practices in India are well known[1]. Various water harvesting structures and techniques like *Nadi, Khadin, Talab, Johad, Bund, Kua,* Sagar, *Samand, Kund*, Jhalra, *Baori*, Beri and Tank *etc*. were practiced to suit particular site conditions. People managed the scarce water resources optimally to survive the often occurring drought conditions. Water has been paid high esteem in our culture in as much as it is regarded as "God". At in numerous places in *Vedas* and *Upanishads* happiness, vigor, and prosperity of mankind has been prayed to water God (*Jal Devta*). In our country, the largest state – Rajasthan had a very rich traditional, social and cultural heritage of conservation and judicious use of water that helped the mankind and the cattle to survive over the centuries against all odds of the trying environment. In Rajasthan, water had even higher status in all cultural and religious customs. Construction of well or establishment of a water hut was considered as a deed of *dharma* – biggest religious practice. All these practices were to pay respect and to conserve the precious commodity, which the Mother Nature had provided to the mankind[2].

The importance of water for basic existence is a universally recognised fact – which does not, perhaps, require stressing or re-iteration. Access to water has long determined the habitats of humans. This applies to sites attributable to the prehistoric (*i.e.* Palaeolithic, or 'Old Stone Age', Neolithic, or 'New Stone Age', and Mesolithic) phases of human existence, as much as to the rural settlements, towns and cities that came up in different parts of India. As such, one of the areas in which India's traditional knowledge systems have developed and survived from prehistoric to contemporary times is that of the development and management of water resources.

In the context of South Asia, a wide variety of engineering and water-related systems were developed at different geographic locations over different periods. For instance, during the third millennium BC, farming communities in Baluchistan impounded rainwater using stone rubble dams (known in later centuries as *gabarbands*), and used it for irrigation. Archaeologists have reported similar, roughly contemporaneous, structures – variously of stone or mud and brick – from parts of Kutch, Sabarkantha and Bhavnagar (all in Gujarat) and from near Karachi.

During the circa 3rd to 2nd millennia BC period, the urban sites of the Harappan Civilisation demonstrated a high degree of hydraulic engineering skills. One of the best known examples of this is the 'Great Bath' at the site of Mohenjodaro. This has a pool or tank portion measuring 12 metres in length (north to south), 7 metres in width, and 2.5 metres in depth, within a larger building complex. It was accessed by steps, to which wooden covers were fixed by bitumen or asphalt. The bricks used in constructing this Great Bath were laid on edge, and the floor and sides of the pool were waterproofed through the addition of gypsum in the building-mortar, with a backing of a bitumen course for further damp proofing. The sides of the pool were backed by a secondary set of walls, with the intervening space between the two being filled with a bitumen coating and earth, to ensure total waterproofing. Water for filling the pool of the 'Great Bath' came from a large well situated in one of the rooms fronting the open courtyard of the building-complex, while a corbelled baked-brick drain in the south-western portion of the Bath served to carry away the used water.

* Asstt. professor, Department. of AIHC & Archaeology, Banaras Hindu University, Varanasi-221005

The 'dock-yard' (or water-reservoir), found in the excavations at well-known Harappan Culture site, namely, Lothal, is also worthy of especial note. Irrespective of the controversy about whether the structure was a dockyard or merely a reservoir, this remarkable lined structure, with evidence of channels for inlet and outlet of water, is a pointer to the hydraulic knowledge of proto-historic India. The structure – roughly trapezoidal area (western wall 218.23 m; eastern wall 215.03 m; southern wall 35.66 m and northern wall: 37.49 m), is enclosed by a 1.2m thick lining made up of a four-course wall of kiln-baked bricks, within broader mud-brick embankment walls. There are two inlets to this enclosure, one each in the northern and southernmost portions of the eastern side. Towards the southern part of the eastern wall of this 'dock-yard' there is a 7 metre wide gap. Excavations further to the east, in continuation of this opening, have yielded the bed of a channel, 7 metres in width. As such, the excavators have surmised that this 'spill-channel' connected the Lothal dockyard with the nearby Bhogavo river, and thence with the Gulf of Cambay. It has been suggested that boats could enter the Lothal dock at high tide using this channel, when the tide water swelled the channel's natural flow and pushed the extra water upstream.

In a like manner, the boats could make the return-journey back to the river when the tide ebbed. To take care of the problem of the discharge of extra water, a sizeable spill-channel was built in the southern wall of the 'dock'. The water level could be partially regulated by means of a wooden sluice gate fitted across the spill-channel. A mud-brick platform (12.8 m wide and 243.84 m long) adjoining its western embankment possibly served as a *wharf* for the loading and unloading of goods. In a like manner, the still-emerging evidence from the excavations at the Harappan Culture site of Dholavira, in Gujarat, also indicates a complex system for collecting and storing rainwater within several reservoirs, and in part within a partially encircling moat that may have doubled as a defence mechanism[3]. Dholavira lies in an area that presently receives less than 160 cm of annual rainfall, and has a history of prolonged droughts. It's climate and precipitation levels during the period that the Harappan city of Dholavira flourished is believed to have been not very significantly different either[4]. As such, water management seems to have been an issue that the Harappans were acutely aware of. This is reflected in the occurrence of several rock-cut reservoirs or cisterns – about 7m deep, noted around the inner side of the outer wall of the settlement. To fill these, the rainwater in the catchment areas of the site's two local seasonal rivulets - the Mandsar (which lay outside the walled area of Dholavira, and to its north-north-west) and the Manhar (flowing through the south-eastern part of the walled area), was collected and brought to the reservoirs. This was achieved through an ingenious system involving stone bunds or dams that were raised across the streams at suitable points. From these, the monsoon runoff was carried to a series of reservoirs, gouged out in the sloping areas between the inner and outer walls of the Harappan period city, through inlet channels. These water reservoirs were separated from each other by bund-cum-causeways, which also served to facilitate access to different divisions of the city. The Dholavira excavators claim that at least 16 water reservoirs were created within the city walls. These covered some 17 hectares, or 36 per cent, of the walled area. In the south-eastern corner of the city there was a reservoir covering about 5 hectares. The reservoirs had 4.5 to 7 m wide bunds around them, protected by brick masonry walls[5].

A network of storm-water collection drains was also laid out, crisscrossing the citadel/ 'castle-bailey' area, to collect rainwater. These brick and- stone-built drains were not used for sullage at all, but only to collect and carry rainwater to a receptacle for later use. At least one of them was large enough to permit a human standing upright, and most of them had surface apertures. The apertures served as air ducts to facilitate the easy flow of storm water. In this manner, every effort was made to preserve rainwater in an area where there is no perennial source of surface water and ground water is largely brackish. At Mohenjodaro and various other Harappan sites like Kalibangan, Lothal, Surkotda, Chanhudaro, *etc*., buildings have also yielded evidence of individual wells serving residential units. In fact, an archaeological survey suggests that, generally speaking, every third house had a well. Besides private wells, there were also public wells. Evidence from one of the smaller Harappan Culture sites – Allahdino (near Karachi), suggests the possibility that the Harappans may have used wells for agriculture too[6]. Besides this, individual houses possessed paved bathrooms with drains to carry out sullage water from the houses into the local city drainage system. This drainage system entailed well-covered street drains made of kiln-baked bricks, with covered manholes at intervals for purposes of cleaning and maintenance.

Though the decline of the Harappan urban centres marked a temporary eclipse in large-scale hydraulic works, evidence shows that during the ensuing period, attention continued to be paid to the development of water-resources. The excavators of Inamgaon – a Chalcolithic site in Maharashtra, with three successive cultures dating between c.1600 to c.700 BC – have found evidence of a stone rubble and mud embankment and channel which suggests that during the c.1400-1000 BC period artificial irrigation probably facilitated agriculture at this site[7].

Further archaeological work in other parts of South Asia (and reappraisal of old reports), may bring to light other examples and aspects of early hydraulic engineering. In this context, one major thrust of the proposed book will be to document and discuss the hydraulics of pre and proto-historic South Asia, particularly on the basis of archaeological data. The same applies to our knowledge of hydraulics in the historical period. In fact, probably as a natural corollary to the expansion of lands under cultivation in different parts of the Sub-Continent, a range of hydraulic techniques and technologies came into prominence during the early historical period. Literary references and archaeological data from about c. 6th Century BC onwards indicate the development of embankments, canals and other hydraulic works, sullage devices like soak-pits (or 'ringwells'), and protective moats outside the towns which sprang up in the wake of the 'Second Urbanisation' of South Asia. For example, during the 4th century BC Nanda dynasty kings (c 363-321 BC), built irrigation canals to carry water from river to agricultural tracts. Their successors, the Mauryan dynasty rulers (c.321-185), built many more irrigation works to facilitate agriculture (besides providing wells for public use alongside roads and accompanying traveller's rest-houses).

Details about irrigation and water harvesting systems of this period can be found in Kautilya's *'Arthashastra'*– a text believed to have been written in the 3rd century BC by the minister-mentor-cum-advisor of the founder of the Mauryan dynasty – Chandragupta Maurya. The book indicates that people knew about rainfall regimes, soil types and irrigation techniques. It also mentions that the state rendered help for the construction of irrigation works, initiated and managed by the inhabitants of a newly settled village. State officers were appointed to superintend the rivers, measure the land and inspect the sluices by which water was let out from the main canals. There are many other instances that emphasise the hydraulic knowledge and skills known in early South Asian history. For example, the Hathigumpha inscriptions, dating to the 2nd century BC, include descriptions of the major irrigation works of Kalinga (the modern Orissa area). Artificial reservoirs or tanks too were built for irrigation purposes – often through damming smaller streams. One may also note a series of tanks excavated at the site of Sringaverapura, near Allahabad, which reportedly date to the end of the 1st century BC. This remarkable example of hydraulic engineering entailed a tank – described as "…the longest of its kind discovered so far – more than 250 m long"[8]. The Sringaverapura tank-complex obtained water from the nearby river Ganga during the monsoon season, when the level of the river usually rose by about 7-8 metres. As a result, excess water used to spill over from the Ganga into an adjoining stream (*nullah*). From this stream, an 11m wide and 5m deep canal carried the water further into the Sringaverapura tanks. The water first entered a settling chamber to enable the silt and debris to settle. The relatively clean water then entered a rectangular tank made of bricks. A stepped outlet from this tank allowed only clean water to trickle through to a second tank, also rectangular in shape. This second tank apparently constituted the primary source of water supply for Sringaverapura. There was also a third tank – this time a circular one – at right-angles to the second tank, which possessed an elaborate staircase allowing access to the lower levels of the water in that tank. The excavators of the site suggest that some shrines stood along the edge of this circular tank, and that the waters of this tank were used for ritual bathing and prayers. An elaborate waste weir, provided at an end of this tank, carried water out from the tank. This consisted of seven spill-channels, a crest and a final exit channel. The excess water was returned to the river, through this final exit channel. A series of wells in the bed of the tank allowed access groundwater even during the hot summer months.

Besides canals and tanks, artificial ponds and lakes were created too during ancient times by stopping the outlets of streams and rivers. From such water-bodies, water was lifted by counterpoised 'sweeps', or other devices, and fed into smaller channels. These, in turn, carried the water into fields. (Such methods have been used in Indian agriculture up to contemporary times). Along with these and other types of water bodies attached to sacred groves,

religious centres, towns and fortified settlements, large artificial lakes came up across South Asia[9]. One of the earliest artificial lakes known from ancient India – the 'Sudarshan' lake in Gujarat's Girnar area – is datable to the early period of the reign of the Mauryan dynasty emperors. This was first excavated during the reign of Emperor Chandragupta Maurya by one of his subordinates – an officer named Pushyagupta. Supplementary channels were later added, along with other improvements to the lake, by one '*Yavanaraja*' Tushaspha during the reign of Emperor Ashoka (Chandragupta Maurya's grandson), in the 3rd Century BC. Nearly four centuries later, the lake was repaired by the *Saka* king, *Mahakshatrapa* Rudradaman of Ujjain, as is recorded in his Junagarh (or Girnar) Inscription of AD 150[10]. The lake continued to exist over the ensuing period, as is attested by an inscription of AD 455, dating to the reign of Emperor Skanda Gupta of the Gupta Empire. This records that when the embankment-dam at Girnar broke, it was rebuilt in 455 AD by the local city governor, a man named Chakrapalita, son of Emperor Skanda Gupta's Provincial Governor, Parnadatta. Much later, the great embankment, over 100 feet thick at its base, holding back the waters of the lake at Girnar finally gave way sometime in the 9th century AD. It was never again repaired. Such a tradition of creating large lakes may be noted in many other areas, particularly – but not solely in the drier zones of the Sub-Continent.

The largest known artificial lake of India was created in the middle of the 11th century by king Bhoj Parmar, the ruler of Dhar, at Bhojpur, near Bhopal, by constructing a vast embankment across two hills. The lake apparently received water from as many as 365 streams and springs. Though the lake has vanished, following the breaching of its embankment in 1434 AD, its traces indicate that the lake originally covered no less than 250 square miles, or over 65,000 hectares. Numerous other examples of artificially fabricated lakes are known from different parts of the land and it has been estimated that, over time, there have existed nearly 1.3 million human-made lakes and ponds across India. While the existence of such lakes, in a pan South Asian context is mentioned in literary, oral, historical and archaeological traditions, at present there exists no full listing, in chronological and spatial order, of such water-bodies. The lacuna needs to be filled, since analyzing the creation, maintenance and management of such water-bodies in a historical perspective could helps us in a better understanding of the hydraulic traditions of South Asia, as well as the attitude of the State and general populace towards its water-resources.

Among such lakes, those known from what now comprises the State of Rajasthan include the 12th century Ana Sagar lake at Ajmer; the Ghadsisar reservoir-lake built at Jaisalmer in 1367 AD by Bhati ruler, Rawal Ghadsi; and various lakes at Udaipur city[11]. (Among the last-named, Udaipur's famous Picchola lake is popularly believed to have been constructed not by the State, or ruler, but by a wealthy Banjara trader). Another of Rajasthan's better-known artificial lakes is the Raj Samand, built at the command of Maharana Raj Singh of Mewar, and completed in 1676 AD This is a large water-body of conserved fresh-water, created, in part, through damming the waters of a small rivulet, and augmented by excavation of a large tract in which rain-water could be collected. Scores of other examples from different geographical areas and chronological time-periods emphasize India's rich, technologically excellent and varied hydraulic tradition. This entailed, broadly speaking, a range of effective rain-water harvesting, collection, storage, and management strategies – including rotated use of ponds *etc*. – which developed, evolved and thrived in South Asia over the centuries. For example, a complex network of irrigation and water management systems were established by the Gond kingdom of central India together with the necessary social and administrative systems needed to sustain them[12].

Similarly, various Sultans of the Delhi Sultanate, including Iltutmish, Alauddin Khilji, Ghiyas-ud-din Tughlaq and Feroz Shah Tughlaq built and repaired various tanks, water-collection systems, and canals *etc*. during the c. 13th to 15th centuries. Kalhan's 12th century text, the '*Rajatarangini*' (composed around 1148- 1150 AD), which chronicles the history of Kashmir, describes a well conceived and maintained irrigation system. Not only does the '*Rajatarangini*' provide information about various canals, irrigation channels, embankments, aqueducts, circular dykes, barrages, wells and waterwheels, it also details numerous hydraulic works executed during the reign of various different rulers of Kashmir. These include a vast embankment, known as the 'Guddasetu', built by king Damodara II; and the construction of series of *arghat* or waterwheels, by the 8th century AD king Lalitaditya Muktapida of the Karkota dynasty. These waterwheels were constructed

in order to lift the waters of the river Vitasta (Jhelum), and channelise their distribution to villages near Chakradhara (now called Tsakdhar). One of the most notable names of an irrigation engineer that is recorded in the '*Rajatarangini'* is that of Suyya. Suyya worked for, and was a contemporary of, king Avantivarman of the Utpala dynasty (855-883 AD), and he is credited with 'draining the water of the Vitasta river and controlling it by constructing a stone dam, and clearing its bed'. Suyya also 'displaced the confluence of the rivers Sindhu and Vitasta', and constructed stone embankments for seven *yojans* along the Vitasta in order to dam the vast Mahapadma lake (now famous as the Wular lake). In fact, Suyya is credited with having made, "…the streams of Indus and Jhelum flow according to his will, like a snake-charmer his snakes"[13]. The system of irrigation established by Suyya was designed in such a way that everyone was supplied with a fair share of water. One must underline here that it was not just kings, queens, or rich merchants who concerned themselves with the development of water resources. Communities and collectives too did the same. Thus, in addition to the lakes, reservoirs, water-mills (*panchakki*), check-dams and other irrigation-works *etc*. usually built by the State, or from endowments by local chiefs, wealthy merchants, *etc*., various other indigenous water-harvesting / collection techniques and lifting and conveyance devices evolved in response to regional geographical realities and ecological considerations. For example, in the desert areas of the Thar region of what now constitutes the State of Rajasthan, and in its neighbouring State of Gujarat, where water is a scarce and much valued commodity, tanks, *kunds*, step-wells or *baolis*/ *baoris*, *vavs*, wells, ponds *etc*., were built. Besides these, specific indigenous water-harvesting and collection methods were developed / evolved in direct response to local geophysical conditions. This led to systems like johadhs, anicuts, checkdams, khadins, tankas, adlaz, jhalara, modhera, vapi, medhbandhi (earthen structure on fields to prevent water from flowing out), the *virdas* of the Kutch region, etc., being developed and maintained. Water-lifting devices like draw-wells, *'rahat'* (a 'Persian-wheel' like system, derived from what is described in Sanskrit terminology as the *'arghat'* waterwheel), and *'dhekli'* systems were developed too. Between them, these systems met the drinking water, irrigation, agricultural and other water related needs of the people of the area even in years of lesser than usual rainfall. Other parts of India, similarly, developed traditional mechanisms for collecting and accessing water over the ages.

The southern part of India, under the Chola, Pandya, Pallava, Chera, Vakataka, Kakatiya, *etc.* dynasties, developed a vast network of tanks and canals, famed the world over, that served to irrigate crops and enhance agrarian production. (The large tanks of Sri Lanka demonstrate a common heritage). The tradition continued into the 16^{th}-17^{th} century, as exemplified by the Vijayanagar kingdom, where a mighty reservoir was built using the labour of 20,000 men during the reign of king Krishna Deva Raya. In a similar manner, in north-eastern areas of the Sub-Continent, and the foothills and lower slopes of the Himalayas, different local communities devised indigenous methods of collecting and channeling rainwater to meet their agricultural and drinking water requirements. Here, and elsewhere, practices like contour-bunding and local-level lift-irrigation schemes have used available water-resources in ways suitable to the local terrain and economy. Most of these devices and systems remained in use, with modifications, over the ensuing centuries. These include the khadin-based cultivation, tankas, *nadis etc.* of Rajasthan, bandharas and tals of Maharashtra, the bundhis common to Madhya Pradesh and Uttar Pradesh, and Bihar's ahars and pynes. These also include the kuhls known in Himachal Pradesh and the kuhals of Jammu & Kashmir, the ponds used in the Kandi belt of Jammu, the eris of Tamil Nadu, surangams of Kerala, and the kattas of Karnataka, which are still in use today. As many of these were the result of local community action, their management and maintenance often vested locally. Water was used not just for agricultural, irrigation, occupation and industry-related and domestic needs. Since water generally held importance in ritualistic practices, structures like tanks, reservoirs, wells, step-wells, southern India's temple tanks (*kalyani* tank) *etc*. were invariable accompaniments to religious complexes, temples and sacred groves etc. Besides this, the royalty and aristocracy (alongside with endowing public reservoirs, wells and step-wells *etc*., and providing State patronage to larger irrigation works, 'bunds' and embankments, *etc*.), combined water bodies with their palaces and gardens. Thus, there developed a vast range of water-related architectural features – both religious and secular, with regional and sub-regional styles. Examples of water-related architecture include lateral steps built on the banks of rivers, reservoirs and dams – or *ghats*, which form a characteristic feature at

various pilgrimage sites and religious enclosures; wells; royal pleasure pavilions fronting or situated on islands within rivers and lakes; and ornamental pools and water gardens attached to palaces. Other types of water-related architecture include deep stepped basins; village tanks and wells which served as community areas for bathing, watering animals, and meeting places *etc*. for rural communities; and hunting pavilions used by royalty and aristocracy at water-holes frequented by animals. The often ornate step-wells of Rajasthan and Gujarat, which tapped deep aquifers, evolved in time into elaborate structures, with a series of steps leading down, past pavilions, platforms for drawing water by a rope, balconies and corridors, to lower levels, and subterranean chambers, kept cool by the very nature of the structure. These step-wells not only fulfilled the water needs, but also served the concerned populace as gathering places.

Alongside this, since the palaces and forts of the rulers and their feudatories incorporated water-bodies to meet drinking water needs as well as for aesthetic and weather-conditioning purposes, elaborate systems of transporting water within palaces and forts, and of fountains and water-channels that ran through chambers and gardens were devised. In the context of Rajasthan, for example, forts like Jalore, Siwana, Ranthambore, Jaisalmer, Bikaner, Mandore, Jodhpur, Chittorgarh, Kumbhalgarh, Amber, *etc*. all combined functional tanks, reservoirs, storage-tanks, *etc*. with architectural features and devices that served to hold and transport water, and please the eye. Within the palaces of the Mughals, Rajputs, and other ruling dynasties variations on systems of copper pipes carrying water for cooling terrace pavilions, channels flowing through royal chambers, fountains and water-gardens, and under-water collection tanks were the norm. Thus, here too, various water-storage methods were devised, as were a range of water-lifting mechanisms. The fort of Amber, near Jaipur, capital of modern Rajasthan, for instance, has an ascending chain of water-lifting buildings dating to the 16th century. These served to lift water from a reservoir at the base of the fort to its very peak, and thence to the upper-most chambers of the hilltop palace. Similar systems are known from practically all the medieval fortresses of South Asia. Interestingly, various hydraulic devices may be noted in the foreground or background of later medieval Indian miniature paintings. For instance, Andrew Topsfield has discussed a Mewar painting of c. 1740, depicting one of Udaipur's lake palaces, in which a lakeside irrigation wheel-house, which used bullock power to draw water for the gardens, is prominent in the foreground of the painting. This aspect of the depiction of India’s hydraulic history in paintings and sculpted friezes *etc.* requires fuller documentation.

Conclusion

Many of traditional and /or local systems of water-collection, storage, and development and management of water-resources, unfortunately, fell into disuse with the onset of ‘modernisation’ during the colonial period. For instance, during the 17th century AD, Bengal.s traditional system of overflow irrigation proved an efficient system that not only enriched the soil but also controlled malaria, since the fishes that automatically entered the inundated fields fed on parasites and mosquito larvae *etc.* The system came to an end after the advent of the British. Elsewhere too, the traditional methods were over-shadowed, reduced in status, or openly discouraged due to the march of ‘Western’ technology. The situation did not alter with the coming of Indian Independence, and the process has continued into the late 20th Century, with a basic reliance on big dams, inter-basin transfers and surface transport of water through canals and watercourses.

Fortunately there has been a revival of interest in traditional water systems in recent years, both for theoretical and practical purposes, especially by development activists, scientists, environmentalists and many others associated with the cause of sustainable development. Issues emerging from the debate on environmental protection and community empowerment have resulted in a strong need to have a fresh look at these older and time tested practices and utilize their benefits for meeting the present day needs of rural and urban areas.

While such work has led to the partial documentation and, in cases, modified revival, of some of the traditional water-harvesting and watershed development practices, India’s long history in the field of hydraulic engineering, water-related architecture, water resource management and traditional knowledge systems needs a fuller study, from a wider historical perspective.

References

1. Pande, B.M. 1997. 'Traditional Water Harvesting: A Multi-millennial Mission', In Agrawal & Narain (Eds.) *Dying Wisdom*. CSE, New Delhi, pp.11-23.
2. Hegewald, J.A.B. 2001. 'Water Architecture in Rajasthan', in G. Tillotson (Ed.) Stones in the Sand, *Marg*, Bombay, pp.78-89.
3. Bisht, R.S. 1991. 'Dholavira – New Horizons of the Indus Civilization', *Puratattva*, 20, pp.71-82.
4. Bisht, R.S 1996.. 'Dholavira', *Indian Archaeology – A Review* 1991- 92, pp.26-35.
5. Bisht, R.S. 1997. 'Dholavira', *Indian Archaeology – A Review* 1992-93, pp.27-31.
6. Fairservis, W.J. 1982. 'Allahdino: An excavation of a small Harappan site', In G. L. Possehl (Ed.) *Harappan Civilization: A Contemporary Perspective*. Oxford & IBH, New Delhi, pp.106- 112.
7. Dhavalikar, M.K., H.D. Sankalia & Z. Ansari. 1988. *Excavations at Inamgaon*. Deccan College, Pune.
8. Lal, B.B. 1993. *Sringaverapura Excavations* (1977-86). Vol. 1, Delhi); & 1997, p. 16.
9. Eck, D. 1981. 'India's Tirtha's: 'Crossings' in Sacred Geography', *History of Religion*, vol.20, no.4, pp.323-44.
10. Kielhorn, F. Junagarh Rock Inscription of Rudradaman, in *Epigraphia lndica*, vol. VIII, pp.36-49.
11. Topsfield, A. 2001. 'City Palace and Lake Palaces: Architecture and Court Life in Udaipur Painting', in Tillotson (Ed.) Stones in the Sand, *Marg*, Bombay, pp.54-67.
12. Agrawal & Narain, 1997. *Dying Wisdom: Rise and Fall of India's Traditional Water harvesting System*. Centre for Science and Environment. New Delhi. p. 398
13. Basham, A.L. 1967. *The Wonder that Was India*, Fontana, London, and Rupa & Co.,Calcutta.p.195

●

VISION OF SWAMI VIVEKANAND IN MUSICAL, SPIRITUAL AND PERSONALITY DEVELOPMENT

SMRITI SHUKLA*AND PROF. K. SHASHI KUMAR**

"Music of India reflects the same trend of choked activities on free thinking, as it was noticed in other disciplines of life and study."

-Swami Vivekananda.

The heights by great men reached and kept were not attained by sudden flight. Swami Vivekananda was equally a great thinker in philosophy and music. He was a votary of dhrupad music and Bengali kirtan. His musical aspect is less known to people. Whenever I analyze the life of some great spiritual persons I find that they had never bother about the slavery because they are free from all bonds, their principles are unique that is the reason their life had not been effected by any kind of pressure, politics and portfolios. We believe that Swamiji was not only a prophet and a seer, one who could see into the future, a sage, who had first hand knowledge of the past, present and future, he was also a scientific visionary, one who had made a thorough, in depth and scientific study of world history with special reference to India. His capacious and luminous mind could move at will over the entire gamut of world culture and civilizations, world religions and thought currents. But in all this, the special reference point was always India and its citizens.

"You have to grow from the inside out. None can teach you, none can make you spiritual. There is no other teacher but your own soul."

-Swami Vivekananda.

Mother India was the Goddess of his adoration and anything concerning her stirred him always to an impassioned eulogy of her past glory. India is our mother which denotes a personality and being progeny of our mother we are the representative of India therefore our personality must have dignity, decency, delicacy, dedication and determination for our nation.

When he went for speech in Chicago, there was a atmosphere which created to discriminate India, Indians and their beliefs but when he gave his speech entire world was surprised and appreciated the views and vision of Swami ji. The fitting finale would be a prophetic envisioning of India's glorious future, when his sonorous voice would animate extraordinary pictures of her rejuvenation. 'India' the word from Swami Ji, it seems to have put many things together within this into one 'India'. These are love, music, passion, confidence, longing, unity, integrity, adoration, tragedy, chivalry again 'love and affection'. His profound insight revealed to him that in the great economy of God, India had been assigned the specific and particular task of spiritualization humankind. India was and will be the world leader again. Indians now a days are very much different from their glorious past that is the reason such target has been mentioned in the constitution as 'equality of status and of opportunity' which signifies that there was inequality among us and for that our further dream is to form 'uniform civil code' which till now seems to be a dream because politicians think that it will be applicable to him also and it will make them to stand along with the poor Indians who are considered to be the vote bank only. Liberty, equality and fraternity are the base of social democracy and political democracy is located to the platform of social democracy. Despite of the fact India is still waiting to achieve these all and it is on the same position as it was earlier in the 50^{th} decade. No nation can advance far unless its citizens have the qualities of energy and enterprise, and the virtues of self reliance, honesty, industry, perseverance.

As aim to provide 'equality of thoughts, expression, belief, faith and worship' we are failed from the very beginning after being independent. The intolerance of different religious beliefs, languages, social customs and practices, etc. No one is good enough to give a message to stop such intolerable acts which diminish the name of India, world wide. '**Union is strength**' this is the vision of Swamiji which is always diverted by the media and politicians for the sake of their empowerment individually not the nation as whole. Indian prospective leaving all development thoughts we make ourselves often busy with some unnecessary debates, irrelevant discussion and media

∗Research Scholar, Deptt. of Vocal Music, Faculty of Performing Arts, Banaras Hindu University, Varanasi-221005
∗∗ Professor, Deptt. of Vocal Music, Faculty of Performing Arts, Banaras Hindu University, Varanasi-221005

hypes which results into a pause, stop or interval for development afterwards. The media diverts the main and serious issues of the nation from one parameter to another, for this they are paid more money irrespective of their actual media business. I use the word business because everyone is busy as doing so. The commercializing of the modern media is an evil. Media is a business concern and is meant to sell. To get a large sale, it must give its readers and viewers what they want. Very few of those telecast programs related with personality development. Further, where secular education is completely separated from religious education, children grow up in ignorance of their religion, and often learn to despite it. A purely secular education has a tendency to undermine religion. Our significance through media is very disgusting as our own people show India as worse of all time and the glory of India is always set a side. Therefore we should be careful about the actual facts and circumstances which will not indulge us into some kind controversy. It is well said 'If you would have peace, prepare for war.' What India needs today more even than political reform, is social reform. Optimism which means hoping for the best is much better than pessimism, which means expecting the worst. If only we could deeply share this agony that Swamiji felt, and awaken without delay to this enormous national responsibility, a rejuvenated India of Swamiji's dreams would become a reality.. The entire world is waiting with bated breath, anxiety and panic writ large in its wrinkled forehead, for peace and blessedness. It is India, and only India, that can create such an atmosphere of peace and benediction. For it is from India that noble ideas, powerful thought currents, expressive of joy and immortality, have emanated since time immemorial 'ideas after ideas have marched out from her, but every word has been spoken with a blessing behind it and peace before it'.

In art, interest must be centered on the principal theme. Drama is the most difficult of all arts. In it two things are to be satisfied -- first, the ears, and second, the eyes. To paint a scene, if one thing be painted, it is easy enough; but to paint different things and yet to keep up the central interest is very difficult. Another difficult thing is stage - management that is, combining different things in such a manner as to keep the central interest intact. The Mantra - Shastris (upholders of the Mantra theory) believe that some words have been handed down through a succession of teachers and disciples, and the mere utterance of them will lead to some form of realization. There are two different meanings of the word Mantra - chaitanya. According to some, if you practice the repetition of a certain Mantra, you will see the Ishta - devat, combining different things in such a manner as to keep the central interest intact. "one infinite pure and holy – beyond thought beyond qualities I bow down to thee. A who is the object or deity of that Mantra. But according to others, the word means that if you practice the repetition of a certain Mantra received from a Guru not competent, you will have to perform certain ceremonials by which that Mantra will become Chetana or living, and then its repetition will be successful. Different Mantras, when they are thus "living", show different signs, but the general sign is that one will be able to repeat it for a long time without feeling any strain and that his mind will very soon be concentrated. This is about the Tantrika Mantras. From the time of the Vedas, two different opinions have been held about Mantras. Yaska and others say that the Vedas have meanings, but the ancient Mantra - Shastris say that they have no meaning, and that their use consists only in uttering them in connection with certain sacrifices, when they will surely produce effect in the form of various material enjoyments or spiritual knowledge. The latter arises from the utterance of the Upanishads. There is science in Dhrupad, Kheyal, etc., but it is in Kirtana, i.e. in Mathura and Viraha and other like compositions that there is real music -- for there is feeling. Feeling is the soul, the secret of everything. There is more music in common people's songs, and they should be collected together. The science of Dhrupad etc., applied to the music of Kirtana will produce the perfect music.[1]

The invention you consider the most useful to mankind. A careless person is an enemy to himself and a nuisance to society. In general it is true that the man who knows has an advantage over the man who does not know. The educated classes have always been able to rule the ignorant. There is no end to the power a man can obtain. The best brains of the country came to be engaged in researches into the inner sciences. Various schools of thought emerged, and debates and discussions for invention description and future dependence on technology. Man and his superior intelligence and knowledge make him the master of creatures physically his superior. Swamiji understood and felt that the Indian mind was rich in scientific temper and outlook. If only this temper was brought to bear upon the physical sciences, India would make a profound advance in these outer

sciences too, as much as in the inner sciences of mind and the spirit. Indian minds leading the computer software development technology all the world over is a case in point. Swamiji discovered a remarkable characteristic of the Indian mind in its capacity to generalize that is, to draw generalized conclusions from particulars. Swamiji in fact called such a mind 'courageous and wonderfully bold' in being able to make an intuitive leap from the particular to the general, definitely and boldly.[2] Elaborating his thesis, Swamiji said in his '**Jnana Yoga**' lectures. Defining the goal of science, Swamiji said more than a hundred years ago 'The end and aim of all science is to find the unity, the One out of which the manifold is being manufactured, that One existing as many. Science is nothing but the finding of unity. As soon as science would reach perfect unity, it would stop from further progress, because it would reach the goal. Thus Chemistry could not progress further when it would discover one element out of which all others could be made. Physics would stop when it would be able to fulfill its services in discovering one energy of which all the others are but manifestations, and the science of religion becomes perfect when it would discover Him who is the one life in a universe of death, Him who is the constant basis of an ever-changing world. The other great idea that the world wants from us today, the whole world more, perhaps, the lower classes than the higher, more the masses than the cultured, more the ignorant than the educated, more the weak than the strong is that eternal grand idea of the spiritual oneness of the whole universe. There is but one Soul throughout the universe, all is but One Existence. This great idea of the real and basic solidarity of the whole universe has frightened many, even in this country. It even now finds sometimes more opponents than adherents. Nevertheless, that it is the one great life giving idea which the world wants from us today and which the mute masses of India want for their uplifting for none can regenerate this land of ours without the practical application and effective operation of this ideal of the oneness of things.

Sangeet Kalpataru (literal meaning: "Wish fulfilling tree of music".) is a **Bengali language** song anthology edited and compiled by **Swami Vivekananda** (as Narendranath Datta) and Vaishnav Charan Basak. The book was first published in August or September 1887 from Arya Pustakalaya, 118, Upper Chitpur Road, Calcutta. In 1963, in the birth centenary of Swami Vivekananda, the book was reprinted as Sangeet Sadhanay Vivekananda O Sangeet Kalpataru. Narendranath collected and arranged most of the songs of this compilation, but could not finish the work of the book for unfavorable circumstances.

The book included 12 songs written by **Rabindranath Tagore**. The book was a compilation of Bengali songs. It also discussed different aspects of vocal and instrumental music. The book was divided into different sections and songs were arranged by theme. The first sections included patriotic songs. The book included twelve Rabindra Sangeets. It contained 90-page long introduction which discussed the theory of music and 18-page long biographical notes and sketches on Bengali songwriters and poets such as Chandidas, Vidyapati, Ramprasad. The reprint was edited by Dilip Kumar. In 2000, the book was reprinted by Ramakrishna Institute for Culture, Calcutta. The book and the relationship between Swami Vivekananda and Rabindranath Tagore and Tagore family was depicted in 2013 Bengali drama Bireswar. The drama produced by Belgharia Shankhamala theatre group. The religion that Vivekananda highlights here is one of emancipation of man by means of sustained devotion to and involvement in knowledge, truth and freedom.

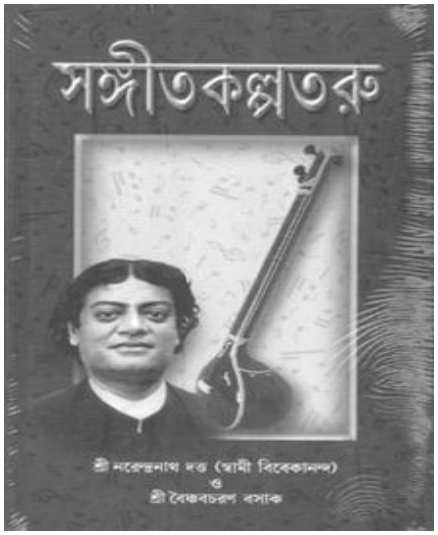

The book was compiled by Narendranath before he became an ascetic. Of the 12 songs in the book, four were written by Rabindranath Tagore of which three songs were taught by him to Vivekananda and to a few others. These songs were sung in chorus by Vivekananda and others during the marriage of Leeladevi, daughter of Rajanarain Basu that was held at Sadharan Brahmo Samaj. Narendranath had also written three songs before the publication of the book, one of which he used to sing at the Baranagore Monastery. Some of the songs of the book were—

Song	Genre	Composer	Raga	Tala
Jabe kihe amar din biphale chaliye (in Bengali)	Brahma Sangeet		Multan	Ektal
Mana chalo nijo niketane (in Bengali)	Brahma Sangeet		Surat Malhar	Ektal
Gaganer thale rabi chandra dipak jwale (in Bengali)	Devotional	Rabidranath TagoreTemplate:Geetabitan	Jayajayanti	Jhaptal
Malin pankila mone kemone dakibo tomay (in Bengali)	Devotional	Bijoy Krishna Goswami	Multan	Adhatheka
Bipada bhaya baran je kore or mon (in Bengali)	Devotional	Jadu Bhatta	Chhayanat	Jhaptal
Dekhile tomar sei atula prema anena (in Bengali)	Devotional	Gaganendranath Tagore	Bahar	Ektal
Tumi amr bondhu, ki boli tomay nath (in Bengali)	Kirtan		N.A.	
Dub dub dub, dub sagar amar mon (in Bengali)	Baul tune	—	N.A.	
Prabhu main gulam, main gulam, main gulam tera(in Hindi)	Bhajan	—	N.A.	

The Song of the Sannyasin

Verse I

Wake up the note! the song that had its birth
Far off, where worldly taint could never reach,
In mountain caves and glades of forest deep,
Whose calm no sigh for lust or wealth or fame
Could ever dare to break; where rolled the stream
Of knowledge, truth, and bliss that follows both.
Sing high that note, Sannyâsin bold! Say—
"Om Tat Sat, Om!"

Verse II

Strike off thy fetters! Bonds that bind thee down,
Of shining gold, or darker, baser ore ;
Love, hate—good, bad—and all the dual throng,
Know, slave is slave, caressed or whipped, not free ;
For fetters, though of gold, are not less strong to bind ;
Then off with them, Sannyâsin bold! Say—
"Om Tat Sat, Om!"

Verse III

Let darkness go; the will-o'-the-wisp that leads
With blinking light to pile more gloom on gloom.
This thirst for life, for ever quench ; it drags
From birth to death, and death to birth, the soul.
He conquers all who conquers self. Know this
And never yield, Sannyâsin bold! Say—
"Om Tat Sat, Om!"

The Song of the Sannyasin is a poem of thirteen verses written by Swami Vivekananda. Vivekananda composed the poem in July 1895 when he was delivering a series of lectures to a groups of selected disciples at the Thousand Island Park, New York. In the poem he defined the ideals of Sannyasa or monastic life. According to Hindu beliefs, 'Sannyasa is the best path of life one can take. In these 13 short poems, Vivekananda discusses the concept, beliefs and ideals of Sannyasa or monastic life.

Mohit Chakrabarti in his book **Swami Vivekananda: A Poetic Visionary**[3]**,** called these poems as Vivekananda's religious introspection. Chakrabarti told— "Quote apart from the utilitarian and segmentary approach to religion more often than not prone to achieving a platform of materialistic superiority.**"**

In the beginning of 1895, American disciples of Vivekananda requested him to organize a special session of lectures throughout the summer. Though Vivekananda was very tired at this time after multiple long sessions of public and private lectures, he assented. From mid-June to early August 1895, Vivekananda delivered a series of lectures to a group of selected disciples at the Thousand Island Park, New York. For centuries it has been a tradition in India to revere *Sannyasi*s and encourage people (especially the younger ones) to work for self-realization God realization. The Song of the Sannyasin is the Bible of Bengal[5]. This is also considered as a source of inspiration for Hindu monks, specially the monks of Ramakrishna Order find solace, inspiration and guidance from these poems. Satguru Sivaya Subramuniyaswami decided to renounce the world after reading this poem in his teenage.

"Where there's a will, there's a way."

The scientific rejuvenation in Swamiji's vision of a rejuvenated India therefore is twofold :

1-the revivification of the fundamental scientific principles discovered by our ancient Rhishis, and 2-the practical application of these principles to every department of human activity and every sphere of human endeavor in one word, their application in everyday life, for universal well-being. Who help himself as walk on his own feet, and so hold his head up, independent and self reliant. They are in the true sense of the terms, self made men. God helps those who help themselves.

Swamiji has identified some of these fundamental principles, like the ones mentioned above, the most fundamental, according him, being the solidarity or oneness of the universe. He called these 'life giving principles'. If we, as a nation, apply ourselves to this noble task, realizing the power of thought in bringing about individual and collective welfare, social change and uplift, India could hope, in the not too distant future, to become a superpower not for bullying other nations or for bulldozing them to accept our own ways of thinking or to dominate over them, but for establishing a reign of peace and blessedness. The great treasures in the form of 'life-giving principles' and powerful ideas that we have inherited from our forefathers in this blessed land should be spread broadcast all over the world. Swamiji's prophetic utterance in this context should fill us with fresh zeal and redoubled energy to accomplish this task.

May we endeavor tirelessly to actualize Swamiji's dream of a rejuvenated India; and may the entire world be deluged with the waves of love, peace and benediction flowing out from this rejuvenated, glorious India, as from an eternal spring. According to me in gist the vision of Swami Vivekanand elaborate that all good characteristics of so called human beings are put into the insight of the persons for being human. Human beings must try for being human. Combining the ultimate vision of Swami Vivekanand ji and mission of our Indian constituent assembly is fraternity assuring the dignity of the individual and the unity and integrity of the nation with humanity and spirituality. The highest sculpture of our nation is Indian Constitution and it begins with the preamble as- "We, The People of India, having solemnly resolved to constitute India into Sovereign Socialist Secular Democratic Republic and to secure to all its citizens…" . which are the mission and vision of our great freedom fighters and the members of constituent assembly after getting Independence. He derived even ***justice*** and right should stand on **mercy.**

Therefore it is the duty for all of us to follow the ideology of Swami Vivekanand ji to make our personality including dignity of the individual and unity and integrity of the nation.

References

1. Vivekanand Swami, The complete Works of Swami Vivekanand Volume 7,Notes of Class Talks And Lectures.
2. Hinduism Today, Himalayan Academy Publications,1999,Page No 116–118
3. Chakrabarti, Mohit Swami Vivekananda: A Poetic Visionary,1998,.- 73–75
4. Chattopadhyaya, Rajagopal Swami Vivekananda in India: A Corrective Biography. Motilal Banarsidass,1999,.Page No ,33
5. Mohapatra, Kalpana Political Philosophy of Swami Vivekananda, 1996, Page No. 10

AN INTRODUCTION TO PHOSPHOPROTEOMICS: TECHNIQUES FOR DETECTION AND IDENTIFICATION OF PHOSPHOPROTEINS

*DR. ADITYA ABHA SINGH*AND PROF. S.B. AGRAWAL***

Phosphoproteomics is a sub-discipline of proteomics that derives a comprehensive view of the extent and dynamics of protein phosphorylation. Phosphoproteomics identifies and characterizes proteins containing a phosphate group as a post translational modification. Phosphorylation of a protein is a reversible post-translational modification being a key regulator of cellular signaling pathways and is indeed one of the most prevalent mechanisms for regulation of protein function (Vu *et al.,* 2016). Phosphoprotein is any protein containing bound phosphate moiety and the mechanism of adding a phosphate group to a protein is termed 'protein phosphorylation'. Phosphorylation of a protein is a reversible process in which an amino acid residue is phosphorylated by a protein kinase by an addition of covalently bound phosphate group. During phosphorylation, a phosphate group is added to serine, threonine and tyrosine amino acid residues (Thingholm *et al.,* 2009). Kinases transfer γ-PO_3^{2-} from Adenosine Triphosphate (ATP) by the process of ATP hydrolysis to a receptive side chain of amino acid residue. Opposed to phosphorylation, dephosphorylation removes the phosphate group from proteins by phosphatases via the hydrolysis of the phosphoester bond (Thingholm *et al.,* 2009). Phosphorylation introduces a negative charge bringing about structural changes in the protein which affects its activity and function. Mechanism of addition and removal of a phosphate group has been depicted in **Fig. 1.**

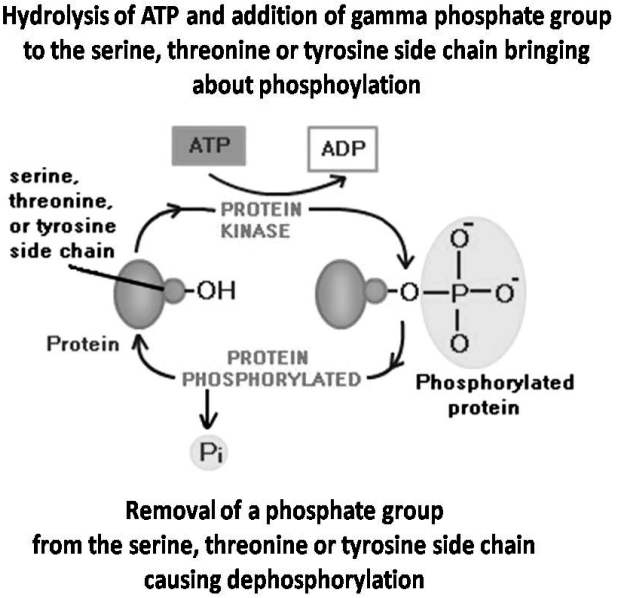

Fig. 1. Phenomenon of protein phosphorylation and dephosphorylation; protein phosphorylation is the transfer of a phosphate group to a serine, threonine and tyrosine side chain by protein kinases. The reverse reaction for phosphorylation is dephosphorylation catalyzed by phosphatases which produces a free phosphate group from the phosphoprotein

Protein phosphorylation is involved in most cellular functions in which complex interplay between protein kinases and protein phosphatases control the biological processes such as signal transduction, protein-protein interaction, differentiation, apoptosis, enzymatic activity modulation, sub-cellular localization etc (Graves and Krebs, 1999; Thingholm *et al.,* 2009) which have been depicted in Fig. 2. Protein phosphorylation plays a key role in signal transduction pathway of an external stressor which may be drought, cold, salt or pathogen attack which involves the phosphorylation of mitogen activated kinase (MAPK) which in response activates the downstream processes. The MAPK cascades are generally organized as relay pathways in which the activation of upstream MAPKKK leads to the sequential phosphorylation and subsequent activation of downstream MAPKK and MAPK (Li *et al.,* 2015).This sequential protein phosphorylation episode eventually controls the cellular responses in form of physiological and biochemical responses (Fig. 3). Therefore, MAPKs constitute one of the most important signalling mechanisms in plants and plays a decisive role in linking the perception of different stimuli with cellular adaptive responses (Li *et al.,*2015). The importance of protein phosphorylation can be imagined by the fact that approximately one-third of all the proteins in eukaryotic cells are phosphorylated at any given time.

∗National Post Doctoral Fellow, Deptt, of Plan Molecular Biology, University of Delhi South Campus
∗∗ Professor, Deptt. of Botany, Institute of Science, Banaras Hindu University

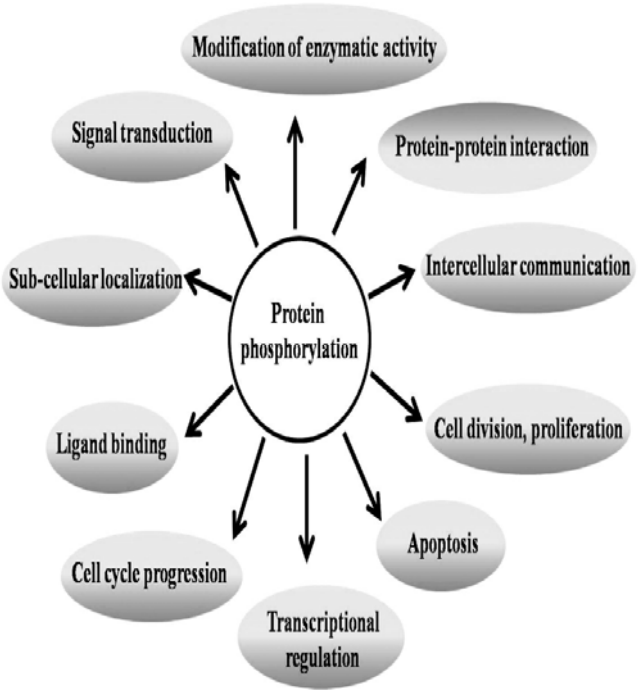

Fig. 2. An illustration of diverse cellular functions associated with protein phosphorylation

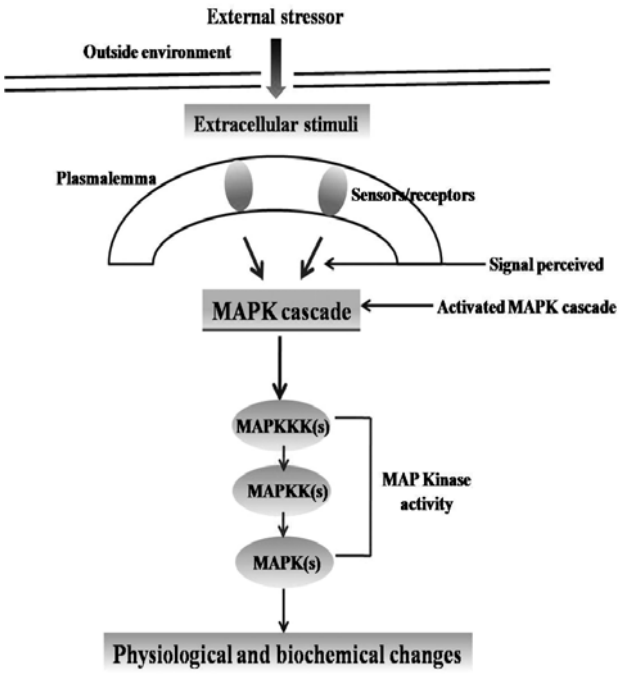

Fig. 3. The mitogen-activated protein kinase (MAPK) cascade is one of the major pathways by which extracellular stimuli are transuded into intracellular responses in eukaryotic cells. In a MAPK cascade the activation of upstream MAPKKKs leads to the sequential phosphorylation and subsequent activation of downstream MAPKKs and MAPKs

Arabidopsis thaliana has about 1003 different kinases and 200 phosphatases and 20 % of the genes in Arabidopsis are kinases (Umezawa *et al.,* 2013). Genomic sequences have revealed that 2–3% of all eukaryotic genes are kinases and there are more than100 protein phosphatases in human genome, highlighting the ubiquitous role of protein phosphorylation (Manning *et al.,* 2002; Venter *et al.,* 2001). Considering the importance of phosphoproteins, significant advances in mass spectrometry based phosphoproteomics have taken place in the past decade, including phosphoprotein/phosphopeptide enrichment, detection and quantification and phosphorylation site localization. Therefore, the present compilation discuss about the steps involved in a phosphoproteomic study which includes sample preparation and a variety of separation and enrichment methods for phosphoproteins and phosphopeptides with an overview of different analytical strategies for characterization of phosphoproteins including data acquisition from databases and informatics interpretation. In addition, application of phosphoproteomics in life sciences is highlighted.

A typical phosphoproteomic study involves the steps listed below:

- Protein extrection
- Proteolytic digestion
- Phosphoprotein/Phosphopeptide enrichment
- Separation/fractionation of phosphoproteins
- LC-MS/MS
- Data analysis

Protein extraction and proteolytic digestion– Protein is extracted using a suitable extraction buffer and it is then further digested which includes the steps of reduction, alkylation and trypsin digestion. Dithotheritol (DTT) is added to reduce disulphide bonds in cysteine residues and iodoacetamide is added for alkylation. Trypsin is then used to break the proteins into peptide fragments.

Phosphopeptide enrichment–Due to the low abundance of phosphoproteins, phosphopeptide enrichment is a very crucial and important step in a

phosphoproteomic study. Phosphopeptide enrichment allows the maximum amount of phosphopeptides to be collected. Studies have shown that phosphopeptides can be maximally enriched by employing more than one method. The methods for enrichment of phosphoproteins illustrated in Thingholm *et al.* (2009) are explained below:

(a) Immunoprecipitation–Phosphoproteins can be purified from a cell lysate by using specific antibodies against phosphorylated serine, threonine and tyrosine residues or kinase consensus sites.

(b) Immobilized metal ion affinity chromatography (IMAC)–Metal ions such as Al^{3+}, Fe^{3+}, Ga^{3+} are chelated to magnetic beads or silica based resins which forms a stationary phase to which negatively charged phosphopeptides present in the mobile phase binds and can be eluted.

(c) Metal oxide affinity chromatography (MOAC)–Spherical particles of titanium dioxide (TiO_2) bound to a resin forms the stationary phase to which phosphopeptides binds. The phosphopeptides are trapped in TiO_2 column under acidic condition, while they can be eluted under alkaline conditions. It is a very efficient method of phosphopeptide enrichment since TiO_2 resins binds phosphopeptides with a high affinity.

(d) Chemical derivatisation–This method convert the phosphopeptides in other forms such as β-elimination or addition of sulphydryl group. Moreover, this conversion tags the phosphate groups so that they can be easily separated and identified. β-elimination of phosphate groups on serine and threonine produces dehydroalanine and β methyldehydroalanine. Addition of a free sulphydryl group called Michael addition creates a di-thiol that may serve as cross linker to a biotin tag or may be directly purified through affinity chromatography.

Seperation/fractionation of phosphoproteins–To increase sampling depth of the phosphoproteome, multidimensional Chromatographic separation has become a common practice for sample fractionation (Riley and Coon, 2015). Reverse phase liquid chromatography (RPLC) is widely used in phosphoproteomic investigations. It employs a polar mobile phase and a hydrophobic stationary phase promoting phosphopeptides to elute first. Ion exchange chromatography such as strong cation exchange (SCX) and strong anion exchange (SAX) are also extensively used separations approaches (Silva-Sanchez *et al.,* 2015). Hydrophilic interaction chromatography (HILIC) uses a polar stationary phase and an organic-to-polar mobile phase gradient on which the retention of phosphopeptide is based on its hydrophilicity. Another form of chromatography employed is Electrostatic repulsion-hydrophilic interaction liquid chromatography (ERLIC) which combines the principles of HILIC and anion exchange chromatography (Riley and Coon, 2015).

Protein separation on two dimensional gel electrophoresis and specific staining of phosphoproteins–Proteins are separated employing two-dimensional gel electrophoresis; after the electrophoretic separation, gels are stained with Pro-Q Diamond phosphoprotein gel stain which specifically stains the phosphoproteins blue in colour followed by SYPRO Ruby protein gel stain that stains total protein pink in colour. The result shows a global map of phosphorylated proteins compared to non-phosphorylated counterparts and therefore provides a convenient method for selectively staining the phosphoproteins in a 2-D gel (Li *et al.,* 2015). Pro-Q Diamond and SYPRO Ruby are fluorescent dyes that are fully compatible with mass spectrometry.

LC-MS/MS–The combination of phosphoprotein/phosphopeptide enrichment along with tandem mass spectrometry has been employed as a powerful tool to study phosphorylation of a protein and its biological significance (Chen and White, 2004). Recent developments in mass spectrometry-based technology allow the large-scale analysis of protein phosphorylation. Phosphopeptide sequences can be identified by liquid chromatography-tandem mass spectrometry (LC-MS/MS). Combining the liquid chromatography separations with MS allows for analysis of thousands of phosphoproteins per measurement (Angel *et al.,* 2012). Analysis of proteins and peptides in the mass spectrometer requires the analyte to form a charged ion in the gas phase. The most commonly applied soft ionization processes are matrix assisted laser desorption ionization (MALDI) and electrospray ionization (ESI). LC-MS/MS involves the preliminary mass spectrum (MS1) of the intact (precursor) peptide, dissociation of the isolated precursor ion of interest into smaller fragments followed by the mass analysis of fragments (MS2). The process is repeated for the duration of liquid chromatographic separation of the peptide mixture

(Angel *et al.,* 2012). Employment of MS technology has advanced the study of protein phosphorylation. It not only tells the quantitative phosphopeptides but also the identification and quantification of the phosphorylated sites (Riley and Coon, 2015).

Data analysis–Once the data sets are acquired and processed, extracting biological knowledge from the data is a significant procedure which is accomplished by data mining from different databases and computer technology associated with protein phosphorylation. Databases help to identify the number and sites of protein phosphoryltion. Some databases that find significance with relation to phosphoproteins are listed below:

PHOSIDA (Posttranslational Modification Database (http://141.61.102.18/phosida/index/aspx)- It is a post translational modification database that allows the retrieval of phosphorylation, acetylation, and N-glycosylation datasets. It lists posttranslational modification sites associated with any protein or protein group of interest. In addition, structural and evolutionary information on each modified protein and posttranslational modification site can be obtained

PHOSIDA (The PHOsphorylation SIte DAtabase) (P^{3}DB 3.0, http://www.p3db.org)–For each phosphosite, PHOSIDA lists matching kinase motifs, predicted secondary structures and conservation patterns. PHOSIDA provides the evolutionary conservation of each phosphosite at three levels which are conservation of phosphoproteins, regions surrounding the site and the phosphosite itself. In addition, it includes large-scale phosphoproteomes from various eukaryotic and prokaryotic organisms, providing information about the evolution of phosphorylation events.

NETPHOS 2.0 (http://www.cbs.dtu.dk/services/NetPhos-2.0/)–It is a data base for the identification of phosphosites in a phosphopeptide. It analyzes eukaryotic proteins for the presence of serine, threonine and tyrosine phosphorylation sites. It has features for sequence and structure based prediction of eukaryotic protein phosphorylation sites. It predicts post translational phosphorylation of proteins from amino acid sequence.

PhosPhAt (http://phosphat.mpimp-golm.mpg.de)–It is the Arabidopsis Protein Phosphorylation Site Database. The database contains experimental phosphopeptide information from published data sets and simultaneously it contains the phosphorylated serine predictions for the entire Arabidopsis annotated proteome comprising 31, 921 proteins available from The Arabidopsis Information Resource (TAIR). Currently the experimental data contains 1187 defined tryptic peptides matching 1053 distinct proteins from *Arabidopsis thaliana.*

Few other data bases that needs to be mentioned, and are equally important includes Plant PTM viewer, Motif–x, MMMph, Medicago PhosphoProtein database and MASCP Gator.

Applications of Phosphoproteomic study finds its importance in

- Signaling pathway and construction of signaling networks
- Cross talk with other post-translational modifications
- Stress induced kinome profiling
- Kinase or phosphatase substrate identification
- Obtain temporal profiles of protein phosphorylation upon specific treatment
- Stress-responsive phosphorylation events in plants in order to understand the chain of events at larger scale
- Profiling tissue specific phosphorylation helps to identify markers of a particular disease
- Cancer treatment by identifying specific kinases and development of their drug targets

Concluding remarks and future prospects

Phosphoproteomics is a fast growing field; however the novel techniques for its better understanding are still evolving and far from optimal. No single method is sufficient for a comprehensive phosphoproteome analysis, therefore combinations of different approaches and techniques for enrichment can improve the thorough understanding of phosphoproteins. It is required to develop more powerful plant specific phosphorylation site database and computational methods for genome-wide prediction of phosphorylation sites which may help to step up the functional analysis of mapped phosphorylation sites. Quantification and identification of specific phosphorylation sites under different treatment conditions has provided and will

continue to provide valuable information about functional aspects of specific proteins in a given biological context to exhibit many biological questions which have not been addressed so far. Still a plethora of data in relation to phosphoproteomics is published in the field of biomedical sciences; therefore a thrust in the plant phosphoproteomics study is need of the hour.

References

Angel TE, Aryal UK, Hengel SM, Baker ES, Kelly RT, Robinson EW, Smith RD (2012) Mass spectrometry-based proteomics: existing capabilities and future directions. Chem Soc Rev 41:3912-28.

Chen WG, White FM (2004) Proteomic analysis of cellular signaling. Expert Rev proteomic 1:343-54.

Graves JD, Krebs EG (1999) Protein phosphorylation and signal transduction. Pharmacol Therapeut 82:111-21.

Li J, Silva-Sanchez C, Zhang T, Chen S, Li H (2015) Phosphoproteomics technologies and applications in plant biology research. Front Plant Sci 6:430.

Manning G, Whyte DB, Martinez R, Hunter T, Sudarsanam S (2002) The protein kinase complement of the human genome. Science 298:1912-34.

Riley NM, Coon JJ (2015) Phosphoproteomics in the age of rapid and deep proteome profiling. Anal Chem 88:74-94.

Silva-Sanchez C, Li H, Chen S (2015) Recent advances and challenges in plant phosphoproteomics. Proteomics 15:1127-1141.

Thingholm TE, Jensen ON, Larsen MR (2009) Analytical strategies for phosphoproteomics. Proteomics 9:1451-68.

Umezawa T, Sugiyama N, Takahashi F, Anderson JC, Ishihama Y, Peck SC, Shinozaki K (2013) Genetics and phosphoproteomics reveal a protein phosphorylation network in the abscisic acid signaling pathway in *Arabidopsis thaliana*. Sci Signal 6,rs 8:1-13

Venter JC, Adams MD, Myers EW, Li PW, Mural RJ, Sutton GG, Smith HO, Yandell M, Evans CA, Holt RA, Gocayne JD (2001) The sequence of the human genome. Science 291:1304-51.

Vu LD, Stes E, Van Bel M, Nelissen H, Maddelein D, Inzé D, Coppens F, Martens L, Gevaert K, De Smet I. Up-to-date workflow for plant (phospho) proteomics identifies differential drought-responsive phosphorylation events in maize leaves (2016) Journal Proteome Res 15:4304-17.

●

REGULATION OF PROKARYOTIC TRANSCRIPTION

A. SRIVASTAVA R. MONDAL* S. YADAV* S. BISWAS* AND DR. YOGESH MISHRA#*

Transcription is an imperative step in gene expression and prior to research in molecular and cellular biology, understanding of it, is very important. Transcription in prokaryotes is firmly regulated process and by precisely tuning this process transcriptional regulators, help the organism to percept environmental stress and subsequently assists in transduction of stress signals to acclimatize environmental perturbations (Balleza *et al*., 2009). Transcriptional regulation ensures that correct genes are expressed at the right time in appropriate amount at appropriate place.

Transcription in prokaryotes is driven by a large, highly conserved multi-subunit enzyme, RNA polymerase (RNAP). RNA polymerase is the central enzyme of gene expression and therefore represents a major target for gene regulation. Most of the work on prokaryotic RNA polymerase has been done on the gram negative bacteria, *Escherichia coli* that have led to a breakthrough in our understanding of the molecular mechanisms of transcription and its regulation. Core RNA polymerase (RNAP) from *E. coli* contain five subunits, a dimer of α subunit and monomer of β, β' and ω subunit (Keller *et al*., 2014, Browning and Busby, 2016) and this arrangement of core RNA polymerase (RNAP) is conserved among all eubacteria. Core enzyme is capable of non-specific DNA binding and initiation of transcription from DNA nicks, requires σ-factor for initiating transcription from specific locus upstream of the gene known as promoters (Ishihama *et al*., 2000). It has been reported in *E. coli* that transcription is initiated by binding of RNA polymerase to specific DNA sequences referred as promoter. Following promoter recognition RNA polymerase unwinds the promoter DNA and forms open promoter complex. In presence of nucleotide substrates, an initial transcription complex forms and RNA synthesis begins. But before transitioning to a stable elongation complex, RNA polymerase engages in abortive transcription because of steric clashes in RNA transcripts and elements of σ. In abortive initiation RNA polymerase, without dissociating from promoter repeatedly generates and releases short RNA transcript (Lerner *et al*., 2016). At the time when RNA transcript reaches the length of 17 nucleotides, σ dissociates from core RNA polymerase and begins the transition to stable elongation complex (Singh and Grainger, 2013).

Successful transcription initiation requires several key component such as (i) DNA sequence and topology that allow promoter recognition collectively known as cis-elements, (ii) σ- factor which recognise promoters, (iii) Free RNA polymerase for recruitment to the promoter, (iv) Trans-acting transcriptional regulators and their small molecule modulators that enables condition dependent differential gene expression (Seshasayee *et al*., 2011). Transcriptional regulation comes up from the interaction between trans-acting transcriptional regulators that bind to cis-regulatory elements (Sarkar *et al*., 2017). Cis-elements comprise all those DNA regions which are present in the vicinity of a gene such as the promoter, where the RNA polymerase initially binds and transcription factor-binding sites (TFBS), where transcription factors (TFs) bind to modulate the binding of the RNA polymerase (Browning & Busby, 2004) and all the diffusible cellular molecules that are able to bind to the DNA are the trans factors such as σ- factor and transcription factors. The coactivity of these molecular commodities composes the minimal transcriptional regulatory system in all living organisms. In prokaryotic chromosomes, a transcription unit (TU) is the ordered assembly of the following genetic entities: a regulatory region, a transcription start site, one or more open reading frames (ORFs) and a transcription termination site. If more than one ORF is present in TU, the transcribed m RNA is called polycistronic; otherwise, it is called monocistronic (Balleza *et al*., 2008). Here mainly we have focused on the trans-acting transcriptional regulators:

Trans-acting Transcriptional Regulators: Essential factor in context of transcription regulation

Trans-acting transcriptional regulators are diffusible cellular molecules which carry out condition dependent gene expression and include two classes of

∗Research Scholar, Deptt. of Botany, Centre of Advanced Study in Botany, Institute of Science, Banaras Hindu University.
#Corresponding author, Deptt. of Botany, Centre of Advanced Study in Botany, Institute of Science, Banaras Hindu University.

factor named as σ-factors and transcription factors.

II σ- Factors: Regulatory members of RNA polymerase

σ- Factor in complex with Core RNA polymerase (RNA) provide determinants for promoter recognition and open complex formation, therefore they provide most fundamental level of control for gene expression. All prokaryotes have a primary σ-factor that suffices for growth under normal conditions. In *E. coli*, the primary σ-factor is σ^{70} (70,000 Da). Besides primary σ-factor, most bacteria also have "minor" σ-factors, as in *E. coli* its number is six (Saecker *et al*., 2011). Holoenzymes containing minor σ-factors recognize promoters of genes that endow the organism to survive in various adverse conditions. σ-Factors are divided into two main phylogenetic families: σ^{70} and σ^{54}. The σ^{70} family includes the housekeeping σ that is important for expression of genes under normal conditions. Usually, every bacterium has one protein member from the σ^{54} family. RNA polymerase assembled with a member of this family, recognizes promoters quite different from those exclusively recognized when assembled with a member of σ^{70} (Balleza *et al*., 2008). *E. coli* K12 contains six members of the family σ^{70} (RpoD, RpoH, RpoS, RpoE, FliA and FecI) but only one σ^{54} protein (RpoN). Various σ-factors, by competing for a limited number of Core RNA polymerase (RNAP) molecules helps in switching on transcription in response to different environmental signals (Wosten, 1998). The mechanism of this intense competition depends on few factors that include relative concentration of different σ-factors, presence of anti- σ-factor protein , presence of small modulating molecule second messenger such as (p)ppGpp (Hauryliuk *et al*, 2015), small non coding RNA such as 6S RNA (Seshasayee *et al*., 2011), presence of H-NS (Singh and Grainger, 2013), affinity with which σ-factor binds to core RNA Polymerase and finally the ability of σ-factor to recognize evolutionary divergent promoter.

1.1 Transcriptional regulation by switching of σ-factor

In bacteria during the change from exponential to stationary phase or subject to environmental stresses, reprogramming of transcription specificity is very important. Number of genes, expressed under high yield condition is no longer requiring in stationary phase and genes which are silent under exponential growth must be preferentially synthesized under conditions of generally shrinking resources. Hence, the shift to stationary growth conditions is firmly regulated to reduce the useless transcription of genes in favour to the stationary phase-specific genes expression and this adaptive reaction is accomplished mainly by use of distinct σ-factors. The number of core RNA Polymerase molecules is limited inside the cell and their number remains almost constant under different physiological states (Grigorova *et al*., 2006). However, at the time when changes in environment takes place (e.g. stationary phase or heat shock), levels of some of the alternative σ increases, RpoS (e.g. σ^{38} and σ^{32} respectively). During the exponential phase, the level of the housekeeping σ-factor σ^{70} in *E. coli* is the maximum, followed by σ^{28} and σ^{54} (50% and 10% of σ^{70}, respectively); σ^{38} which acts as master regulator for acclimation to stationary phase, are below the detection limits in high yield condition but prior to the stationary phase, the levels of σ^{38} increases up to 30% of the σ^{70} levels (Jishage *et al*., 1996). Besides the intracellular concentration, another factor which is very important for σ-factor association with core RNA polymerase is the affinity with which it binds to core RNA polymerase. Housekeeping σ factor, σ^{70}, has the highest affinity for core RNA polymerase and σ^{38} has the lowest (Maeda *et al*., 2000). However during stationary phase σ^{38} concentration rises, but only increased level can not compensate for the lack of affinity for core RNA polymerase (Lord *et al.*, 1999).

This apparent problem has been solved by the discovery of cellular regulators, which reduces the activity of σ^{70}, such as 6S RNA which selectively inhibits σ^{70} RNA polymerase holoenzyme, protein Rsd which acts as anti σ-factor for σ^{70} and lastly the presence of (p)ppGpp which during starvation condition reduces transcription from σ^{70}. Upon exposure to stresses, such as nutrient deprivation or heat shock, the cellular concentration of 6S RNA, protein Rsd and (p)ppGpp increases, which orchestrates concentration-dependent reprogramming of transcription initiation. Histone-like Nucleoid Structuring (H-NS) presence on chromosomal DNA also negatively regulates the transcription initiation by σ^{70}. Further, activity of stress σ-factor (RpoS) can also be enhanced by presence of A/T DNA sequence upstream and sometime downstream of the promoter. Thus the combination of Trans acting transcriptional regulators and cis-regulatory elements, determines the condition dependent dominance of distinct σ-factor (Seshasayee *et al*., 2011).

2. Transcription factors (TFs)

TFs are protein that binds on specific DNA sequence near the target genes, thus control the rate of transcription of genetic information from DNA to messenger RNA (Latchman, 1997). TFs can up-regulate or down-regulate the rate of gene transcription depending where they bind relative to transcription start site of target genes (Browning & Busby, 2004). There are four methods by acquiring those method TFs can activate transcription : (i) class 1 activation where TFs bind upstream of the core promoter and interacts with the flexible α subunit of RNA polymerase, (ii) class 2 activation where TFs bind directly adjacent to core promoter and promotes σ-factor binding (iii) activation by changing DNA conformation level in which TFs after binding with core promoter, enable it to bound by σ-factor and (iv) activation by precisely modulating the repressor, mitigating the effect of repressor.

Similarly four methods for repression mediated by TFs are (i) repression by steric clashes, often by binding of repressor between or on the core promoter, (ii) repression by binding on the start of coding region results in blocking of transcription elongation (iii) repression by DNA looping and (iv) by modulating the activator. Each TF mainly regulates a specific set of genes, in response to specific environmental condition. A defining feature of TFs is that they contain at least one DNA- binding domain (DBD), which attaches to specific sequence of DNA present in the vicinity of target gene which is being regulated (Mitchell & Tjian, 1989) and on the basis of DBDs, transcription factors are classified in different families that includes helix-turn-helix motif, zinc fingers, leucine zippers and basic helix-loop-helix etc. In prokaryotes helix-turn-helix motif is very common. Bacteria with comparatively large genome (*E. coli*) requires large amount of TFs in order to regulate functionally specialised groups of genes. The *E. coli* genome is predicted to code 271 TFs which accounts for ~6% of their gene counts. On the other hand, organisms in host associated symbiosis or parasitism have extremely poor gene content because they lack the need for sensing and responding to changing environments. Cyanobacteria, an ancient group of gram-negative bacteria, in context of morphologically, physiologically and ecological niche they are extremely diverse. They exhibit remarkable genome size variation ranging from about 1.6 to 9.1Mb. To date, according to Cyanobase which is a cyanobacterial genome database, 85 genomes have been sequenced completely. Undoubtly these data are very important which provide us opportunity for genome-wide analysis of TFs. *Nostoc puctiforme*, filamentous nitrogen fixing bacterium which has largest genome size, exhibits extraordinary adaptation in extreme condition. According to DBD which is database of predicted transcription factor in completely sequenced genomes, 159 putative TFs have been identified from its genome representing the most abundant from all sequenced genomes of cyanobacteria, 140 has been identified from *Nostoc* sp. PCC 7120 and *Prochlorococcus* sp. which is supposed to contain smallest genome, lives in oligotrophic open ocean and possess less than 30 putative TFs.

2.1 Regulation of Transcription by protein-protein communication: interplay between RNA polymerase and transcription factors

Prokaryotic signal transduction pathway comprises of sensor, regulators (TFs) and RNA polymerase. Sensor receives the external stimulus and transfers it to transcription factors (regulatory protein). Activated TFs interacts with the holoenzyme $E\sigma^{70}$ and $E\sigma^{54}$ and further differentiates into various forms of transcription apparatus which can either repress or de-repress the transcription process (Ishihama, 1993). Few of these regulatory factors bind to RNA polymerase in the absence of DNA, but mostly they prefer to binding with the enzyme only when both components are aligned on DNA and leads to transcription activation by facilitating either RNA polymerase binding to the promoter or initiation of RNA synthesis. Interaction between RNA polymerase and a regulatory protein that binds to neighbouring DNA sites at the promoter results in cooperative binding of both components. Binding of a protein molecule to a stronger affinity DNA site favours the binding of a second molecule to a weak affinity site, thereby increasing the effective concentration of the second molecule for binding to the weaker site. This type of Protein-protein communication help to place the RNA polymerase in register with the promoter or increase the rate of isomerization of the RNA polymerase-promoter complex from the closed to open state. RNA polymerase and transcription factors have short peptide segments on the exposed surface, interaction between them determines the specificities of protein-protein contacts (Ishihama, 1992).

Two contact sites on *E. coli* RNA polymerase for TFs has been identified, one in the C-terminal region

of α subunit (contact site I) and another in the C-terminal region of the σ^{70} subunit (contact site II). TFs which require contact site I for transcription activation are Ada, CRP, IHF, ompR, oxyR and those require contact site II are CRP (in case of gal activation) and phoB (Ishihama, 1992).

3 Classification of TFs based on their regulatory scope: Global and Local Regulators

A Single regulatory protein which can regulate the large number of genes or operons is known as global regulator and here TFs amplify their range of control to encompass a set of indirectly regulated genes. Thus, global TFs regulated genes are the sum of genes regulated directly and indirectly (Madan babu & Teichmann, 2003). *E. coli* has seven global TFs: the catalytic responsive CRP, anaerobiosis regulators FNR and ArcA, the feast or famine LRP, and three other DNA structuring proteins FIS, IHF and H-NS. On the other hand most of the remaining TFs specifically dedicated to regulates genes from a single metabolic pathway and known as local TFs.

Table 1. List of prokaryotic TFs in relation to specific environmental conditions

S. N.	TF	TF family	TF class	Description
1.	AdpA	AraC/Xyls	Global	AdpA is a key transcriptional regulator involved in complex growth cycle of *Streptomyces*.
2.	AraC	AraC/Xyls	Global	AraC is the founding member of AraC/Xyls family of transcriptional regulators. Its the first identified positive regulator of transcription, activating transcription of *E. coli* araBAD, araFGH, araE, and araJ in presence of l-arabinose.
3.	ArcA	OmpR/PhoB	Global	When oxygen is available in less amount , the membrane bound sensor ArcB is auto phosphorylated and activates ArcA by transferring phospho- group which results a change in oligomeric state subsequently DNA binding. In aerobic condition ArcA is switched off.
4.	DNR	FNR/CRP	Global	DNR (dissimilative nitrate respiration regulator) controls the expression of denitrification gene cluster.
5.	FNR	FNR/CRP	Global	FNR is a DNA binding protein which regulates a large family of genes involved in cellular respiration and carbon metabolism in anaerobic condition.
6.	Fur	Fur	Local	In *E. coli* and other prokaryotes, Fur negatively regulates many genes involved in ferric iron uptake from the environment.
7.	H-NS	H-NS	Global	It is a canonical member of H-NS family of nucleoid regulator.
8.	LexA	LexA	Local	LexA is transcriptional repressor of SOS regulons.
9.	NtrC	FIS	Global	It is a nitrogen metabolism transcriptional regulator.
10.	TrpR	TrpR	Local	When intracellular level of tryptophan increases TrpR repress the transcription of tryptophan synthesizing genes.

4. Future prospects: Genome-scale studies of distinct mechanism for modulating gene expression are growing worldwide. Last two decade have revealed enormous quantities of information describing the location of binding sites, have been reported from different prokaryotes. However, our understanding about how, all these binding events leads to regulation of transcription is still very less. So over the next decades it would be major challenge to know, how transcriptional regulation of every gene takes place specially in prokaryotes

References

1. Balleza *et al* (2009). Regulation by transcription factors in bacteria: beyond description. *FEMS microbiol rev.,* 33, 133-151

2. Browning & Busby (2004). The regulation of bacterial transcription initiation. *Nat. Rev. Microbiol.*, 2, 57-65.

3. Browning and Busby (2016). Local and global regulation of transcription initiation in bacteria. *Nat. Rev. Microbiol.*, 14, 638-650

4. Grigorova, *et al* (2006). Insights into transcriptional regulation and σ competition from an equilibrium model of RNA polymerase binding to DNA. *Proc. Natl. Acad. Sci.*, 103, 5332-5337.

5. Hauryliuk *et al* (2015). Recent functional insights into the role of (p) ppGpp in bacterial physiology. *Nat. Rev. Microbiol.,* 13, 298-309.

6. Ishihama, A. (1992). Role of the RNA polymerase α subunit in transcription activation. *Mol. microbiol.*, 6, 3283-3288.

7. Ishihama, A. (1993). Protein-protein communication within the transcription apparatus. *J. Bacteriol.*, 175, 2483.

8. Ishihama, A. (2000). Functional modulation of *Escherichia coli* RNA polymerase. *Annu. Rev. Microbiol.*, 54, 499-518.

9. Jishage *et al* (1996). Regulation of RNA polymerase sigma subunit synthesis in *Escherichia coli*: intracellular levels of four species of sigma subunit under various growth conditions. *J. bacteriol.*, 178, 5447-5451.

10. Keller *et al* (2014). ε, a new subunit of RNA polymerase found in Gram-positive bacteria. *J. bacteriol.*, 196, 3622-3632.

11. Latchman (1997). Transcription factors: an overview. *Int. J. biochem. cell biol.* , 29, 1305-1312.

12. Lerner *et al* (2016). Backtracked and paused transcription initiation intermediate of *Escherichia coli* RNA polymerase. *Proc. Natl. Acad. Sci.*, 113, 6562-6571.

13. Lord *et al* (1999). Replacement of vegetative σA by sporulation-specific ςσF as a component of the RNA polymerase holoenzyme in sporulating *Bacillus subtilis. J. bacteriol.,*181, 2346-2350.

14. Madan Babu & Teichmann (2003). Evolution of transcription factors and the gene regulatory network in *Escherichia coli. Nucleic acids res.*, 31, 1234-1244.

15. Maeda *et al.* (2000). Competition among seven *Escherichia coli* σ subunits: relative binding affinities to the core RNA polymerase. *Nucleic acids res.,* 28, 3497-3503.

16. Mitchell & Tjian (1989). Transcriptional regulation in mammalian cells by sequence-specific DNA binding proteins. *Science*, 245, 371-378.

17. Saecker & Record (2011). Mechanism of bacterial transcription initiation: RNA polymerase-promoter binding, isomerization to initiation-competent open complexes, and initiation of RNA synthesis. *J. mol. Biol.*, 412, 754-771.

18. Sarkar *et al* (2017). Phenotypic consequences of RNA polymerase dysregulation in *Escherichia coli. Nucleic acids res.,*45,11131-11143

19. Seshasayee *et al* (2011). An Overview of Prokaryotic Transcription Factors. *In A Handbook of Transcription Factors* (pp. 7-23). Springer Netherlands.

20. Singh & Grainger (2013). H-NS can facilitate specific DNA-binding by RNA polymerase in AT-rich gene regulatory regions. *PLoS genet.*, 9, 1003589.

21. Wösten (1998). Eubacterial sigma-factors. *FEMS microbiol. rev.*, 22, 127-150.

●

UNDERSTANDING CREATIVITY

DR. SANJUKTA GHOSH*

There is an object in front of us. It has a structure. The structure consists of bits and pieces. The light from those bits is reflected on our eyes. We perceive the object as an image. This is the traditional view of how we see something. But this is not the entire story.

Recent work on visual cognition reveals that we see what we construct. The object contributes in this process by providing a specific structure. But the structure is an imperfect one consisting of some pieces. The viewer completes the structure by filling the gaps. Take for example the following pictures:

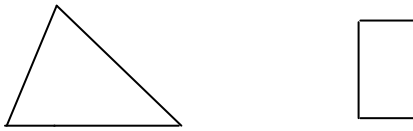

1

2

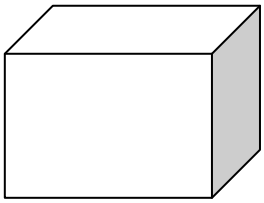

3

If one were asked to describe the picture, the most probable answers would be 1) a triangle, 2) a rectangle and 3) a cube. But we all know that none of them is a perfect example of the objects named. We are even imagining a two-dimensional picture as a 3-D object in case of the cube. The viewer does not notice the small gaps in the structure and is capable of constructing a whole image from some pieces. Therefore, an image emerges out of interplay between the fragmentary objects in front of us and our imagination to complete that object. In this process of construction, the background knowledge of the constructor plays a vital role. We can construct the image of only those things for which we have a prior knowledge. Therefore, extending this to other cases of perception we can say that we perceive what we construct. In other words, we perceive only those things what we want to perceive.

Perception is a major source of our knowledge and our understanding of the world around us. It leads to the conclusion that our conception of the world indirectly depends upon what we construct.

Construction is a creation of an image from some fragments of information using some background knowledge or conceptions. This conception is again a result of our perception. So what comes out at the end of this whole process?

- There is a recycling of the knowledge or conception.
- What new in any construction are the pieces of information constantly coming from various sources.
- The process of construction is only intelligent manipulation of new pieces of information using the old knowledge.

The question comes up from the discussion is whether this construction is constrained by the property of the object and the knowledge or conception of the constructor. The most likely answer is ‘yes’.

The problem

How do I relate creativity with this process? Is it something similar or different? I will take the area of language and text and try to explain the notion of creativity related to that context.

Creativity around us

Author’s creativity vs. Speaker’s creativity

I open up the discussion by the distinction between these two notions.

When is an author considered to be very creative? The author who plays with the language and content creating maximum anomaly is considered to be more creative. The input for this creativity is the information collected from the environment and the artistic and intelligent manipulation of that information by using the conceptual structure within him/her. All of us are surrounded by that information but only a

∗Assistant professor, Deptt. of Linguistics, Banaras Hindu University

'creative' person uses them so that something novel comes up. As known from the cognitive science research, creativity is not a magical gift bestowed to some people only but part of general cognitive faculty. An intelligent creative author is more capable of relating certain things with others and restructuring the domain of knowledge by this process. However, an author is also restricted in a domain of creation by the constraints posed by his/her conceptual structure and the outside world's object.

The author's creativity is different from a speaker's creativity each time he/ she is uttering a new sentence. (S)he is using a finite set of principles available to him/her for constructing sentences in a particular language with the help of a finite set of vocabulary of that language. With these two finite tools, the speaker of a language makes wonder! (S)he can create a new sentence every time (s)he speaks. Therefore, creativity is a process that results from manipulation of the existing a few number of tools.

Reader's creativity vs. listener's creativity

How does a reader interpret a text? (S)he is also involved in some creative process. The text for him/her is the object of study providing new information and (S)he is trying to find out the possibilities of meaning from that using his/her own knowledge structure. The text has its own constraints to limit the probable interpretations as well with the constraints posed by knowledge structure of the reader. Within these two types of constraints, only a limited number of creative interpretations can evolve. Therefore, there is limitation in creation; it can never be infinite in number. To understand creativity we have to understand the domain-specific cognitive processes involved in the creation.

The listener is also 'creative' in understanding the utterance of the speaker but again constrained by his/her own conceptual structure and the structure of the utterance. The information comes to listener in small bits like packets of quanta and he/she constitutes the whole from those pieces filling the gaps here and there by his/her background knowledge and imagination. The listener is like a perceiver of an image, constructing the image the way he/she wants to construct setting some filter.

The listener and the reader have some important difference. For the reader, the text comes at some stage as a whole but for the listener it is always the bit which comes to his/her ear at a point of time and disappears and the next bit comes. Both of them start with a linear processing, some bottom-up method but the reader can use easily after certain time the top-down approach to infer meaning. The listener, we believe, also does that but depends upon the immediate memory to access the whole.

The theoretical framework of the work is based on the interactivist approach in cognitive science where the constraints in any creative process play an important role. We relate this interactivist approach to the idea of Bhartrhari, a 5^{th} century Indian grammarian and philosopher of language. Bhartrhari concentrated on the spoken form of language and realized the importance of the listener in the interpretation of meaning of any utterance. However, he also agreed that a linguistic sign has its own structure and that contributes to the meaning of that sign. The interplay of a sign and the listener (with her cultural and linguistic baggage) gives birth to a meaning. Therefore, we believe, to understand the process of creativity in any text interpretation we need to follow the cognitive processes associated with that interpretation.

Questions and Future Direction of Research

1 Taking clue from the process of cognition of an utterance or a text, can we explain the process of creativity?

2. From ancient Indian tradition and from some writings of the creative writers about their experiences while writing, we know a creator is also a seer. The creators of Vedas were actually the seers or drastas. Does it mean that at some point of creative processes which are nothing but some basic cognitive operations, the whole image of the object to be created flashes in front of the creator? How can we explain this flash (*sphota* in Bhatrhari in the context of language cognition) that is the basis of any cognition? Is it the one percent inspiration of creativity (Edison)? AI researchers are working on the 99% perspiration of creativity but unless this 1% inspiration can be understood we cannot provide a theory of creativity. Experiments can be done to understand the processes involved in understanding a small text where there is a scope using inference to understand the meaning of the text. Questions can be modeled on the basis of the text in such a way so that the reader constructs some

answers not directly found in the text. Experiments can also be done for online processing of the utterance by a listener under a noisy or imperfect environment where comprehension needs some kind of construction using inference and background knowledge. In comparison to these two situations two more situations can be given where a single simple utterance is processed by a listener and simple one - line text without any inferential meaning is processed by a reader. How are these two situations different from the previous two in terms of brain activity? Can it throw light on the process of creating extra level of meaning from some basic level?

References

1. Bickhard Mark H. Interactivism: A Manifesto. Paper downloadable from the author's homepage.

2. Vakyapadiya of Bhartrhari. 1971. ed and tr by K. Raghavan Pillai. Varanasi: Motilal Banarasidass. Cantos I & II.

●

INTERPRETATION ISSUES OF POLYSEMOUS PARTICALES

DR. ANIL THAKUR*

Sense interpretation and identification constitute one most important problem as well as step in multilingual processing of a natural language text (Kay 1996). And, for this task, what could be a more complex category than particle elements. A particle is a word that does not belong to one of the main classes of word (noun, verb, adjective, adverb, etc.), is invariable in form, and typically has grammatical roles and/or pragmatic meanings. In English, *too*, *only*, *as*, *such*, etc. are particles. They have multiple senses interpretation. The senses are context-dependent: pragmatic. In Hindi, *hii*, *to*, *na*, etc, are particle elements with similar nature, distribution, and complexity.

Particles have posed much more complexity (in comparison to nouns, verbs, adjectives, etc.) for their analysis. They are complex to formalize, their occurrence is less predictable - can occur in different forms and functions; their classification is not easy - spread across various grammatical classes. The major research issues pertaining to particle elements include even defining a particle element: as tough a task as to identify and categorize them, - they may be adverbs, conjunctions, prepositions, interjections, sentence adverbs, negation, focus and emphatic expressions, etc. Some common interpretation of particle expressions include modal particles, focus particles, comparative particles, answering particles, negation particles, etc. The research question is then focussed on the role that particles play in the semantic structure of a sentence and the kind of connection they have in the syntactic structure of a language (Möllering 2001).

Motivation for such a study comes from the fact that particles play a significant role in the grammar of a natural language. In recent years, particle elements got much attention. Some of the reasons are: the emergence of computational applications of natural languages, a significant role of corpus in developing knowledgebase for NLP applications, for corpus-based language learning-teaching, contrastive grammars, and divergence grammars. Particles have been discussed in some way or the other in linguistic description of a language. In most of the grammar books, the term 'particle' is often used as a catch-all term for a heterogeneous set of words that lack a precise description (Wikipedia). In modern linguistics, a lot of works are being done on particle elements. Languages like Chinese and Japanese, well known to have a large number of particle elements, have a large amount of works on particles.

In this paper, I take one particle element in Hindi *to* and present a classification based on its sense interpretation, along with the mapping patterns for Hindi-to-English MT. In the next section (2) some of the major sense interpretations of the particle are listed with discussion on the context-identification and mapping patterns. The section 3 presents the concluding remarks.

Interpretation of particle elements

I. **Hindi Particle *to***

Particle *to* in Hindi is one of the most complex expressions to interpret (and formalize) for the various possible senses that it has. Some of the major senses of *to* can be identified as below:

i. Sentential Connective (SC)
ii. Discourse Marker (DM)
iii. Topic Marker (TM)
iv. Pragmatic Question Marker (PQM)
v. Conditional Question Marker (CQM)
vi. Emphatic Marker (EM)
vii. Contrastive Connective (CC)

i. Sentence Connective (SC): The sentence connective interpretation of *to* is available particularly in conversational discourse or narrative texts. The uses can be identified analyzing of a large corpus. This occurrence is attested particularly in sentence-initial position. The mapping pattern of this use of *to* is *so* in English.

to: SC

1. *to party kaa sahaaraa bhii jaataa rahaa*

{SC party of support too going kept}

'So, party support too declined.'

*Assistant Professor, Deptt. of Linguistics, Banaras Hindu University.

The sentence in (1) is part of a bigger discourse text in a novel and the interpretation (as well as the mapping) can be fully understood in that context only.

ii. Discourse Marker (DM): The discourse marker interpretation of *to* is a much broader interpretation and may include a number of subtle differences in interpretation. The use is attested in a discourse text and the particle *to* occurs generally between one or more sentences where sentences connect an idea in the narrative. The sentence in (2) is an illustrative example. The English mapping of *to* in this use is mostly by zero marker, however, in certain cases, it may be mapped by some exclamation expressions, too.

to: DM

2. *to, andherii raat thii aur ham haath meN Dandaa liye saTaasat cale aa rahe the, tabhii ek peR*

ke piche se kisii ne kahaa, "khabardaar".

{DM dark night was and we hand in sticks taking quickly moving then one tree behind from someone said stop}

'It was a dark night and we were walking quickly carrying sticks in our hand when suddenly from behind a tree someone said, 'stop'.'

Although, it is not quite easy to formalize all the contexts of occurrence of discourse marker use of *to*, an analysis of with a good corpus, certain strategies can be devised to identify them.

iii. Topic Marker (TM): The topic marker interpretation of *to* is one of the most frequent in the naturally occurring text. The context of this occurrence varies across categories (noun/pronoun, verb, adjective. adverb) where it occurs after the category that gives topic interpretation. In sentence (3a-b), it occurs after the subject pronoun *maiN/aap* and in (3c) it occurs with a location noun with the same topic marking effect. In (3d), it occurs with the verb and gives it topic reading. So we see that there are a number of options for *to* to occur across categories and across grammatical positions in a sentence.

to: TM

3a. *maiN to apnaa kismat kaa phaislaa kiye baiThaa thaa*

{I TM self fate of decision did sat was}

'I had already decided my fate.'

b. *aap to banaras aaye the.*

{you TM Banaras came pst}

'You had been to Banaras.'

c. *aap banaras to aaye the.*

{you Banaras TM came pst}

'You had been to Banaras.'

d. *aap banaras aaye to the.*

{you Banaras came TM pst}

'You had been to Banaras.'

The identification strategy of this interpretation is based on the position of its occurrence in a sentence, i.e., immediately after either a noun (phrase) or a verb (in certain cases, it can be some adverbial element, too. E.g. *yahii to rakhaa thaa* 'it was kept here itself.').

iv. Pragmatic Question Marker (PQM): *to* occurs in a negation sentence to neutralize the negation effect. In such cases, *to* functions as pragmatic question marker because it is mostly in a question sentence that a negation marker is used in a hope/assurance to get contradictory response. In (4), the speaker asks the question to make sure that the hearer is safe from the bite. This has a negative overtone. This question can be used only in the context where the predicate event is not contrary to the speaker's expectation. The context identification of this sense interpretation of *to* should be relatively an easier task, however, in certain cases, some other interpretations cannot be completely ruled out.

to: PQM

4. *tumheN isne kaaT to nahiiN liyaa.*

{you it bite PQM not took}

'It did not bite you, I hope.'

The identification rule for this interpretation of *to* is based on the typical position of occurrence of *to* between the verb (main) and the negation particle *nahiiN*, as in (4). As mentioned above, we need to check this with a very large corpus; till then this should be the default rule.

v. Conditional Question Marker (CQM): This kind of interpretation of particle *to* is mostly to assure and make careful moves with certain degree of fear. The sentence is not actually a question sentence but give an impression of that. In sentence, (5), this *to* occurs in the sentence-final position and acts like a conditional marker.

to: CQM

5. *dekhnaa koi jaag gayaa to?*

{see, someone wakes up CQM}

'Be careful, if someone may wake up.'

The context identification of this sense interpretation of *to* is overtly a question sentence with *to* occurring in the sentence-final position, however, with a number of overlapping with sense interpretation.

vi. Emphatic Marker (EM): This sense interretation of *to* is very clearly to give an emphatic response to certain information (accusation, etc.).

to: EM

6. *nahiiN to*

{no EM}

'NO'

The context identification is based on the fact that this generally occurs after the negation particle in a reply sentence for yes-no question.

vii. Contrastive Connective (CC): In contrastive connective sense interpretation, *to* is used like a connective particle joining two clauses with certain sense of contradiction, as in sentence (7) below.

to: CC

7. *ek viir hE to dusraa mahaaviir.*

{one valiant is CC other more valiant}

'When the one is valiant, the other one is more valiant.'

The context identification can be obtained by identifying the nature of the two clauses that to joins. It may vary from certain adjectives to certain nouns that may occur as contrasting pairs.

The exhaustive context identification rules need to be formalized with a large Hindi-English parallel corpus. Although, certain cases are much more difficult to formalize, many of these sense interpretation are amenable to formalization.

Concluding Remarks

There are much more interesting (from discourse marking perspective) and complex to formalize particles in Hindi that can be examined for their sense interpretation and proper classification. This is a useful exercise for the development of knowledgebase for a number of multilingual natural language applications. Particles such as English *yes*, *no*, *well*, *ok* and Hindi *Thiik hE*, *haaN*, *calo*, etc. are quite common in spontaneous speech. Despite their significant role in information structure in dialogue/conversational speech, they have not been given due attention in traditional grammatical study. In the present paper, I have made an attempt to argue for a detailed study of particle elements. Only one particle element has been illustrated to show the complexity involved in the sense interpretation of such lexical expressions in a natural language. Much more complex instances are those of phrasal chunks such as 'let's see', 'by the way', 'in the meanwhile' (in English), *calo choRo* (*jaane do*), *dekho* (*buRaa mat maano*), etc. (in Hindi). All the examples presented here are taken from different literary pieces. Particles and their word senses are not exhaustively presented.

References

1. Byron, D. K., and Heeman, P. A. (1997). "Discourse marker use in task-oriented spoken dialog". In *Proceedings of the 5*th *European Conference on Speech Communication and Technology (Eurospeech).*
2. DeRose, S.J. (1988). "Grammatical Category Disambiguation by Statistical Optimization". *Computational Linguistics, 14(1):* 31-39.
3. Kay, Martin (1996). “Multilinguality”. In Cole, et al (edited) (1996). *Survey of the State of the Art in Human Language Technology*. Online Version.
4. Möllering, Martina (2001). Teaching German Modal Particles: A Corpus-based Approach. In *Language Learning and Tecchnology*, Vol. 5, No. 3, pp. 130-151.
5. Thakur, Anil & Parul U. (2011). “Tag Disambiguation of Discourse Particles”. Presented at POS Annotation for Indian Languages: Issues & Perspectives, LDC-IL, CIIL Mysore, 20

HUMAN-ANIMAL STUDIES: AN EMERGING FIELD OF STUDY

PROF. JAI SHANKAR JHA* AND SUBODH MAHATO**

"….there is no religion without love, and people may talk as much as they like about their religion, but if it does not teach them to be good and kind to man and beast, it is all a sham…."

(Sewell 2012: 51)

Almost one hundred and fifty years ago, popular English writer, Anna Sewell pen-pictured beautifully about the animals or particularly about the emotion and pain of animals in her epoch-making book, *Black Beauty* (1877). It's a book which was written from the perspective of a horse and was the first of its kind where the life of animal was focal. There is no doubt that the use of animals can be seen before in ancient stories and fables like *Aesop's Fables*, *Panchatantra*, *Jataka Tales* but those are mostly intended to teach moral and ethical values. Animals have been often marginalized or they are mentioned as mere companions to human beings. Neither the role of non-human animal in human life is given importance nor is the relationship between human and non-human animal highlighted. But towards the last decades of the twentieth century, various books, journals, articles, essays flourished which basically talked about the relationship between human and non-human animals; a relationship that not only shows human's dependence upon animals in work or travelling or security purpose but also emotional and spiritual dependence. We may think that only humans have the capacity to think and judge which animals have not but at the same time, we can't deny that animals are human's one of the most valuable companions in the world. So, use of animals in literary works is not new but scholarly and critical approach to the human-animal relationship, termed as Human-Animal Studies, is relatively new compared to some other fields of literary domain.

Now, what is Human-Animal Studies? Human-Animal Studies (H. A. S), sometimes known as Animal Studies, is an interdisciplinary field that explores the spaces that animals occupy in the social and cultural world of human and also the interactions human have with them. But how does the word, 'animal' come to the forefront so that it constitutes a field as 'Animal Studies' in literary academia by naming after it? To the human-world, animal generally meant, at least till the recent past, a species of furs, feathers or scales which is either fierce or meek. They were thought incapable of communicating with the human-world as they don't have any intelligible 'language' and also, they lack the 'reason'. We have seen the emergence and rapid growth of this new field of multidisciplinary and inter-disciplinary inquiry in the last few decades. Contribution to this field draws upon a wide range of disciplinary formations such as sociology, philosophy and history, studies of literature, the visual arts, cinema and popular culture. What unites H. A. S. works from all these disciplines is a determination to find new ways of thinking about animals and about the relationship between human and animal. Primary focuses of this burgeoning field are:

* Examining the treatment and actions of animals in human practices.

* Critically analysing the representation of animals in literature, film, television, visual arts and other cultural forms.

* Researching the history of human's changing attitudes towards animals.

Thus, Human-Animal Studies is not about understanding the animal behaviour but its chief focus is to understand animals in the context of human society. Animals matter because they not only live but have lives--- lives that we have every reason to believe are filled with joy and pain. We often forget the degree to which our engagements with animals build the world in which our lives unfold from the very beginning. We feature animals in our stories of creation and our scientific evolutions. We conduct millions of dollars in trade associated with animal products, build tourist industries around watching wildlife. As children we hear about animals in the stories of our parents/grandparents who tell these tales before we go to sleep. We love to watch animals in cartoons and documentaries, in zoos or in national

∗Professor, Deptt. of English, Faculty of Arts, Banaras Hindu University.
∗∗Research Scholar, Deptt. of English, Faculty of Arts, Banaras Hindu University.

parks. Study of the relations between nonhuman animals and humans in the humanities is divided between the analysis of the representation of animals in history and culture and the philosophical consideration of animal rights or the ethical questions about animal. Ethical questions were given renewed impetus by Peter Singer's revolutionary work, *Animal Liberation* (1975). Singer draws upon arguments first put forward by Utilitarian philosopher, Jeremy Bentham (1748-1832) who suggested that cruelty to animals is analogous to slavery and claimed that the capacity to feel the pain, not the power of reason, entitled a being to moral consideration. Singer gives the term 'speciesism' to the irrational prejudice that Bentham identifies as the basis of our different treatment of animals and humans. Just as women or Africans had been mistreated on the grounds of morally irrelevant physiological differences, animals suffer for the lack of 'reason'. Both Jeremy Bentham and Peter Singer oppose Rene Descartes who 'hyperseperated' reason from emotion and mind from body. Shockingly, he claimed that animals were effectively 'complex machines'. Bentham was by no means the only eighteenth-century intellectual to contradict Descartes. As Philip Armstrong, an eminent scholar in the field of Human-Animal studies, suggests, "the greater part of English writing on the subject scrutinized it sceptically and, more often than not, rejected it" (Armstrong 2008. 7). For many, Cartesian rationalism contradicted their daily experiences with working and wild animals. Famous philosopher Jacques Derrida (1930-2004) also made a crucial contribution to contemporary animal studies, particularly through one essay entitled 'The Animal that therefore I Am' (2008). The title deliberately plays with Descartes' assertion in an essay entitled, 'I think, Therefore I Am'.

Present Context

Historically, non-human animals have been placed outside the realm of human-society. Often relegated to being part of 'nature', non-human animals are often represented as the passive and subordinate counterpart of 'culture'. These social constructions and representation of other animals have contributed to the sustainment of human-supremacy. Over the past decades, a growing body of literature, cultural texts, children's literature and scholarly works have dealt critically with the human-animal relationship, devaluation and misrepresentation of other animals. Influenced by the 'animal turn' in the humanities and social sciences, this scholarship has examined both the presence and absence of nonhuman-animals in society. This contributes to an altered view on non-human animals, whether they are living within or in the periphery of human societies.

Overview

The publication of two major philosophical works on animals--Peter Singer's *Animals Liberation* (1975) and Tom Regan's *The Case for Animal Rights* (1983), led to create interest for animals in academics as well as animal advocates and the general public. Outside the philosophy, a number of scholars began writing about animals in the later stages. Including them are historians, anthropologists, sociologists, psychologists and feminist scholars. One of the earliest attempts was historian Keith Thomas's book, *Man and the Natural World: A History of the Modern Sensibility* (1983) which explores the origin of the concept of "nature" in Western thought. Robert Darnton published *The Great Cat Massacre and Other Episodes in French Cultural History* in 1984, in which Darnton considered the torture of cats by a group of eighteenth-century working class men from Paris, who used cats as substitute for their feelings of hatred toward their bosses and their cat-loving wives. Coral Lansbury's *The Old Brown Dog: Women, Workers and Vivisection in Edwardian England* (1985) looks at the intersection between class and gender in the early anti-vivisection movement in Victorian England. The launch of first journal devoted to H.A.S took place in 1987 by the name *Anthrozoos***,** published by The International Society for Anthrozoology. At the beginning of the 1990s, the field began to grow with major new works published throughout the decade. Aubrey Manning and James Serpell's edited collection *Animal and Human Society: Changing Perspectives* (1994) looks at the role played by animals in human societies. The chapters in this book range from images of animals in medieval times to nineteenth century attitudes toward animals. The same year, feminist scholars Carol Adams and Josephine Donovan's edited collection, *Animals and Women: Feminist Theoretical Explorations* became the first major work to consider the issue of animals and feminism. In 1998, the first major text on the link between animal cruelty and human violence--Randall Lockwood and Frank Ascione's edited collection *Cruelty to Animals and Interpersonal Violence***,** was published. These are some of the path-breaking books of the emerging field, Human-Animal studies.

Among the literary texts, *Moby Dick*, written by Herman Melville, is noteworthy on human-animal studies. In the twentieth and twenty-first centuries, animals continue to be major characters in literature in the West. Writers have been grappling with a number of different issues through which animals can play their roles. Famous writer of this age, Franz Kafka uses animality as a way to understand what it is that makes us human in two of his popular stories named, 'The Metamorphosis'(1915) and 'A Report to the Academy'(1917). Ernest Hemingway, one of the greatest novelists of all time, uses immensely animal characters in almost all of his novels. African-American writer, Alice Walker, wrote the short story, 'Am I Blue' (1989) about a horse named Blue and her feelings of loss when her companion horse, Brown is taken away. Walker empathizes heavily with Blue and wants the reader to recognize that animals have feelings and that those feelings need to be acknowledged. In the twenty-first century, J. M. Coetzee can be easily called the 'advocate' of animal studies. Very often his protagonists can relate themselves or their conditions with animals. Not only the personal life but also the entire political scenario of South Africa at that period of time is effortlessly represented through the presence of animals. From *Dusklands* (1974) to *Life and Times of Michael K* (1983); from *Foe* (1986) to *Elizabeth Costello* (2003)—animal characters or the violence and exploitations of them at the hands of human is considerably written out. A recipient of the Nobel Prize for literature in 2003 and the Booker Prize twice, Coetzee is arguably the first major modern writer to take the matter seriously. Novels like *Disgrace* (1999), *The Lives of Animals* (1999), and *Elizabeth Costello* (2003) are all narratives about the animal's condition in human society. Another novelist is Zakes Mda whose novel, *The Whale Caller* (2006) delineates the emotional entanglement between a person and a whale. He is one of those writers who are concerned a lot about the eco-criticism in South Africa, particularly about the relationship between human and animals. He frankly exposes the tourism economy's disenfranchisement of both animals and people. He bolsters the arguments for reintegrating concerns about animals, land and people in the background of disharmony and discord of politically disturbed country which is dazed and baked by the flickers of apartheid movement. Great Canadian novelist, Margaret Atwood has mentioned the place of animals in Canadian life and literature clearly. Another famous Canadian novelist is Yann Martel whose novels are swarmed with the animal- characters. His world-famous novel, *Life of Pi* (2001) is an enchanting story of the main protagonist, Pi, and a Royal Bengal tiger. How both survive in the sea for so many days and how they become solace and inspiration to each other to remain alive is beautifully depicted. Some other works that are based on animals are *Bear* (1976), a novel by Marian Engel; 'Animal in that Country' (1968), a poetry collection by Margaret Atwood; *The Edible Woman* (1969), also a novel by Atwood, etc. Yann Martel and Marian Engel both belonged to a literary tradition which has a long association with the creatures of furs and feathers. For Margaret Atwood, Canadian animal stories are unique for their realism and "because the stories are told from the point of view of animal". Marian Engel's work, *Bear* (1976), depicts an erotic love between a librarian and a bear. The relationship between them is not only sexual but also spiritual. In the literature of New Zealand as well as in their culture, role of animals is profound and very familiar. In the works of writers like Albert Wendt, Keri Hulme and Witi Ihimaera, animals always enjoy a great concern and importance. *Wish*, a novel written by Australian novelist Peter Goldsworthy in 1995, is a heart-touching story about the emotional bond between a guerrilla and a man. Philip Armstrong's work, *What Animals Mean in the Fiction of Modernity* (2008) is another important work about the role played by animals in English fiction.

If we take a glance at the Indian literary scene, it is revealed that there are only a few writers who have focused on man-animal relationship through their fictional texts. Among them, R.K. Narayan, Amitav Ghosh etc are noteworthy.

Present Literary Scenario

It has been more than thirty years since Peter Singer introduced the term 'speciesism' into philosophical arena and wrote eloquently against a form of discrimination that went largely unnoticed in academia. Since Aristotle, man has been defined as a 'rational animal', distinguished from other animals by his or her ability to think. But this distinctive difference has come under the scanner in recent years as we learn almost daily how many other species do something that appears to be thoughtful. In his essay,

"What Is Called Thinking?" , Martin Heidegger said that we, the human, have not yet really begun to think because we have not thought in the ways that only our humanity could have allowed us. Heidegger was particularly critical of the distinction of 'rational animal' because it insisted too much on animality as the basis for human rationality. French philosopher, Jacques Derrida highly claims that "the kind of thinking that has not been done and that has become all the more urgent to do is a thinking that happens through recognition and acknowledgement of the animals we are and with whom we share our world".

Thinkers like Derrida, South African novelist and Nobel laureate, J. M. Coetzee, American theorist Donna Haraway have not only contributed to this 'animal turn', but also helped in initiating Human-Animal studies. In studies of literature and the visual arts, in cultural history and the analysis of popular culture, the extent to which human-animal relations have been central to the mission of modernity is becoming apparent. As a resource for thought and knowledge, the generic notion of 'animal' has provided modernity with a term against which we can define its most crucial categories: 'humanity', 'culture', 'reason' and so on. For many contemporary scholars, the starting place for considering the relationship between modernity, animals and cultural representation is John Burger's essay, 'Why Look at Animals?' (1980). From Marxist perspective, Berger argues that the relation between human and non-human animal was utterly reconfigured by the emergence of industrial capitalism. In particular, he suggests that a profound separation between humanity and the natural world was instituted, resulting in the alienation of modern citizens from a working engagement with nature, the isolation of urban dwellers, the artificiality of contemporary relation to animals, and the degradation of the non-human world by industrial technologies. It is true that for centuries, nonhuman animals have been locked in the representations authored by humans, representations that moreover have justified the uses and abuses of nonhuman animals by human. Unlike women's studies or ethnic studies, however, animals or the objects of animal studies can't speak for themselves or can't speak any of the languages that the academy recognises as necessary for representations. Many of those who have taken nonhuman animals as their object of studies over the past ten or fifteen years, have nevertheless worked to prove that many animal species possess the basic capacities such as self-consciousness, rational agencies, and the capacity to learn languages. Given a long tradition in Western philosophy that has declared the capacity for rational thought and its manifestation in language as that which distinguishes human from nonhuman animals such finding as ape's proven ability to learn and teach sign language to other apes aims to show that human-animal divide is untenable and confirms Darwin's view that human and ape are not so different.

Indian Context

Many universities in the countries like New Zealand, Canada, Australia and South Africa have started courses and projects focusing on the human-animal relationships. If we look at the syllabus and programs of the leading institutions of our country, we find that development in the field of Human-Animal studies is not even in the toddling stages compared to the aforementioned countries. Though epic like *The Ramayana* or *The Mahabharata* is replete with significant non-human characters like Hanuman, the monkey-God; Jatayu, the mythical bear, and that a key battle was won by Lord Rama with the help of monkeys; it forms only a peripheral context. In books like *Vedas, Puranas*, or *Panchatantra,* various animal-characters feature only with moral lessons that are unlike human-characters as found in both of our epics. The earliest Indian use of animals in literature was probably in the form of similes. As Stephanie Jamison has pointed out, such similes abound even in the *Rig Veda*, the earliest literary product of India. A god is compared to a bull or a horse. Tenderness is like a cow lowing for her calf. We have the metaphors of 'narasimha', 'pungava' etc. What is significant in these metaphors for later animal tales is that a particular characteristic is singled out as defining a particular animal and constituting its nature. Talking animals or 'anthropomorphised' animals first appeared in *Rig Veda*. The monkey, Vrsakapi and Sarama, the messenger bitch of the god, Indra—both of them have speaking roles there. There are several other talking animals, including the fish who instructs Manu about building a boat in the story of great flood. Such anthropomorphism, adopted in India, was shaped by its religious and cultural backdrop. However, one thing is certain that in these texts, human-beings or human-gods are highly dependent on animals, either spiritually or emotionally. This forms the central concern of human-animal studies.

There may be reasons behind the different growth of Human-Animal Studies in Indian

universities and the universities of aforementioned countries. In the countries like Canada, Australia and New Zealand, the enormous settlements or industrial developments have been very high in last 30-40 years. Naturally, the places of 'wilderness' as well as the habitats of wildlife have been disturbed and marred by humans' greed. Modern lifestyle and expansion of the wheel of development have encroached upon the nature as well as the habitats of nature adversely. So a wide split is seen in the connection between human and non-human animals in those countries. In the name of modern civilization, they forget that our long-time non-human companions have been valuable and integral to our lives. That is something which is expressed by the present-day literary personas of those countries. In India, the situation has not worsened to that extent. Many animals are thought sacred in our culture. But we are also moving gradually to that misled direction. Few writers like Amitav Ghosh, Geeta Mehta etc have warned us about these in their works distinctively. To some extents, Human-Animal Studies and Eco-criticism are similar as both are concerned with non-human lives. As eco-criticism in literature deals with the present concerns about nature, Human-Animal Studies focuses on the various roles and connections between non-human animals and humans.

Ethical Question

Not only in India but also all over the world, animals suffice human-need in more than one ways. May be their products, by-products, and food---human beings are heavily dependent upon them. Millions of animals are slaughtered everyday to meet the human-needs. Not only that, animals have been shoved into various kinds of sports, as bullfight, cockfight and festivals like Jallikattu, just for the fun and entertainment of human beings. In many places, animal-sports have been banned. So, the pertinent question is whether these kinds of activities are ethically/morally right? For these things, animals have to bear lots of pain. It's already been proved that only human beings are not capable of feeling pain but non-human animals also do feel the same. In the cult text, *Black Beauty* (1877), Anna Sewell narrates about the painful, tortured condition of the horses in the streets of London and other places of Victorian England. Though ethical questions about animals are the chief concern of Critical Animal Studies (C. A. S.), and are not the primary focus of Human-Animal Studies but these remain the significant issues.

Conclusion

Contemporary thought has increasingly highlighted the ways in which human beings imagine themselves everywhere--in their subjectivity, in their ethics—with and through animals. Animals, are so deeply enmeshed in human thought and perception that if they did not exist, may be, we would need to invent them. In a letter to his South African counterpart William Plomer, the British writer, J. R. Ackerley admits that he makes no distinction between humans and animals, stating further that "if the word 'human' had never been invented we might all be a great deal happier than we are"(*Ackerley: A Life of J. R. Ackerley*). But we have made significantly less progress towards the realisation of the ideals. Lives and relationships, in which our instinctive empathy for animals lies, can neither be scornfully dismissed nor systematically suppressed. So, emergence of a new field like Human-Animal studies in literary domain is not surprising at all rather inevitable and the scope of finding various horizons here is a great possibility.

References

Armstrong, Philip. (2008) *What Animals Mean in the Fiction of Modernity*. London: Routledge.

Coetzee, J. M. (2001) *The Lives of Animals,* New Jersey: Princeton University Press.

DeMello, Margo. (2012) *Animals and Society*: *An Introduction to Human-Animal Studies,* New York: Columbia University Press.

Garrard, Greg. (2004) *Ecocriticism,* London: Routledge.

Griffin. S. (1978) *Woman and Nature: The Roaring Inside Her,* London: Women's Press.

Haraway, D. (1991) *Simians, Cyborgs and Women: The Reinvention of Nature,* London: Free Association.

Huggan, G. and Tiffin, H. (2010) *Postcolonial Ecocriticism: Literature, Animals and Environment,* Abingdon: Routledge.

Sewell, Anna. (2012) *Black Beauty,* Oxford: Oxford University Press.

Weil, Kari. (2012) *Thinking Animals: Why Animal Studies Now?* New York: Columbia University Press.

●

त्रिदिवसीय अन्तरराष्ट्रीय संगोष्ठी के समापन–सत्र के
अध्यक्ष – कुलपति, प्रो. राकेश भटनागर
हिन्दी भवन के सभागार में उपस्थित श्रोताओं को सम्बोधित करते हुये–

दिनांक 29 अप्रैल 2018 सायं 4:30 बजे
अन्तरराष्ट्रीय संगोष्ठी का केन्द्रीय विषय
'भारतीय सांस्कृतिक चेतना के प्रमुख आयाम और विश्वकवि तुलसीदास'

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

BANARAS HINDU UNIVERSITY

ISSN:0554-9884
(यू.जी.सी. द्वारा स्वीकृत सूची में
क्रमांक जर्नल नं.- 40698 अंकित)

सर्वविद्या की राजधानी

विश्वविद्यालय के उद्देश्य

1. अखिल जगत् की सर्वसाधारण जनता के एवं मुख्यतः हिन्दूओं के लाभार्थ हिन्दू शास्त्र तथा संस्कृत साहित्य की शिक्षा का प्रसार करना, जिससे प्राचीन भारत की संस्कृति और उसके विचार-रत्नों की रक्षा हो सके, तथा प्राचीन भारत की सभ्यता में जो कुछ महान् तथा गौरवपूर्ण था, उसका निदर्शन हो।
2. साधारणतः कला तथा विज्ञान की समस्त शाखाओं में शिक्षा तथा अन्वेषण के कार्य की सर्वतोन्मुखी उन्नति करना।
3. भारतीय घरेलू धन्धों की उन्नति और भारत की द्रव्य-सम्पदा के विकास में सहायक आवश्यक व्यावहारिक ज्ञान से युक्त वैज्ञानिक, तकनीकी तथा व्यावसायिक शिल्प कलादि सम्बन्धी ज्ञान का प्रचार और प्रसार करना।
4. धर्म तथा नीति को शिक्षा का आवश्यक अंग मानकर नवयुवकों में सुन्दर चरित्र का गठन करना।

Objectives of the University

1. To promote the study of the Hindu Shastras and of Samskrit literature generally as a means of preserving and popularizing for the benefit of the Hindus in particular and of the world at large in general, the best thought and culture of the Hindus, and all that was good and great in the ancient civilization of India;
2. To promote learning and research generally in Arts and Sciences in all branches;
3. To advance and diffuse such scientific, technical and professional knowledge, combined with the necessary practical training as is best calculated to help in promoting indigenous industries and in developing the material resources of the country; and
4. To promote the building up of character in youth by religion and ethics as an integral part of education.